ऋषि दयानन्द सरस्वती
के
शास्त्रार्थ और प्रवचन

सम्पादक—
डा० भवानीलाल भारतीय
युधिष्ठिर मीमांसक

ASG

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विषय संख्या .... आगत नं० 891734

लेखक ....

शीर्षक ....

....

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या
12 [illegible] 2011			
	24422		

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

१५.१
८६

89173H

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

वर्ग संख्या.....................आगत संख्या 89173H

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

15 FEB 1988

3 AUG 1988

31 MAR 1995

A-2/4/2

RENEWED

26/8/94

18 AUG 2009

F-23/45/2

RENEWED

26/5/94

89173H

15.1,89
89173H

COMPILED

❁ ओ३म् ❁

ऋषि दयानन्द सरस्वती
के
शास्त्रार्थ और प्रवचन

89173H

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

89173

शास्त्रार्थ-सम्पादक
डा० भवानीलाल भारतीय

प्रवचन-अनुवादक
युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशकः—
श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट,
५. लेलिन सरणी
कलकत्ता ७०००१३

वितरकः—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

१५.१
८६

प्रथम संस्करण १०००
आश्विन सं० २०३९
अक्टूबर सन् १९८८
मूल्य ३०-०० (लागतमात्र)

मुद्रकः—
शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

प्राक्कथन

श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता की ओर से सं० २०३७ वि० में **गोपथ ब्राह्मण** (मूल) का आज तक मुद्रित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है।

सम्प्रति उक्त ट्रस्ट की ओर से एक साथ दो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। उन में एक है—**निरुक्त-श्लोक-वार्तिक**। यह निरुक्त पर केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित श्लोकबद्ध प्राचीन टीका है। इस का एक ही ताड़पत्र पर लिखित हस्तलेख मद्रास में है। उसकी बड़े यत्न से सन् १९६५ में मैंने प्रतिलिपि प्राप्त की थी। उसी के आधार पर इसका सम्पादन रामलाल कपूर ट्रस्ट के पाणिनीय विद्यालय के आचार्य डा० श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि ने बड़ी लगन और प्रयत्न से किया है। दूसरा ग्रन्थ है—**ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**।

ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थों का संग्रह और उनके पूना के प्रवचनों का संग्रह रामलाल कपूर ट्रस्ट ८-१० वर्ष पूर्व पृथक् पृथक् प्रकाशित कर चुका था। शास्त्रार्थ-संग्रह में तो पूर्व संस्करण से विशेष भिन्नता नहीं है, परन्तु प्रवचन-संग्रह के इस संस्करण में पूर्व संस्करण की अपेक्षा अनेक विशेषताएं हैं। यथा—

१—पूना के प्रवचनों का जो संग्रह पहले पूना-प्रवचन के नाम से छपा था, वह परम्परा प्राप्त आर्यभाषानुवाद का ही संशोधित संस्करण था। परन्तु इस बार पूना के प्रवचन-काल (सन् १८७५) में ही प्रवचनों की मराठी भाषा में जो प्रतिदिन पुस्तिकाएं (ट्रैक्ट) छपी थीं, उन्हें लगभग १५ वर्ष के प्रयास के पश्चात् प्राप्त करके मूल मराठी संस्करण से सीधा अनुवाद करके छापा है। पूर्व सभी स्थानों से प्रकाशित संस्करणों में अनुवादकों ने बड़ी स्वतन्त्रता बरती थी। कहीं पाठ अपनी ओर से बढ़ा दिया था, तो कहीं घटा दिया था। हमने इस संस्करण में प्रवक्ता के भाव की रक्षा करते

हुए यथासम्भव प्रत्येक शब्द का अनुवाद देने का प्रयास किया है। अपनी ओर से अनुवाद में न कहीं बढ़ाया है और न कहीं घटाया है। हां, जहां कहीं वाक्य-संगति के लिये दो एक पद बढ़ाने आवश्यक थे, उन्हें [ ] कोष्ठक में रखा है। इसी प्रकार कहीं कहीं प्रवक्ता के भाव को स्पष्ट करने के लिये 'अर्थात्' पद देकर जो पाठ बढ़ाया है उसे ( ) कोष्ठक में रखा है।

इस दृष्टि से पूना-प्रवचन का यह संस्करण अन्य पुराने सभी संस्करणों की अपेक्षा अत्यन्त प्रामाणिक बन गया है। अतः अब पुराने सभी संस्करण इस संस्करण की उपस्थिति में अप्रामाणिक तथा हेय हो गये हैं।

२—ऋषि दयानन्द सन् १८८२ में जनवरी से जून तक लगभग ६ मास बम्बई में रहे थे। वहां उनके विविध विषयों पर अत्यन्त सार-गर्भित २४ प्रवचन हुए थे। उन प्रवचनों का गुजराती रूपान्तर उस समय के वहां के गुजराती पत्रों (जामेजमशेद, मुम्बई-समाचार) में छपे थे। उन्हें तो हम प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु उन प्रवचनों का संक्षिप्त सारांश उसी समय की गुजराती लिपि वा भाषा में लिखित 'कार्यवाही-संचिका' में संगृहीत है। यह कार्यवाही-संचिका आर्य-समाज काकड़वाड़ी बम्बई के कार्यालय में सुरक्षित है। उससे बम्बई में किये गये २४ प्रवचनों का सार सर्वप्रथम हम इस संस्करण में **बम्बई-प्रवचन** के नाम से संगृहीत कर रहे हैं। इस में ३-४ प्रवचन बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

३—हमारा पहले से विचार था कि शास्त्रार्थ-संग्रह और पूना-प्रवचन को रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कार-विधि और दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह के समान उत्तम कागज पर विविध टिप्पणियों, परिशिष्टों तथा सूचियों के सहित प्रकाशित करना चाहिये, परन्तु यह विचार कई वर्षों तक कार्यरूप में परिणत न हो सका। इधर गत वर्ष 'सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' के संस्थापक श्री बाबू मोहनलाल जी बागड़िया के अनुरोध पर इसे फर्वरी ८२ तक प्रकाशित करने की योजना बनाई। परन्तु दैव-गति से शास्त्रार्थ-संग्रह भाग के मुद्रण होने तक छपते-छपते विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता के संग्रह में सन् १८७५ के छपे प्रवचनों के १२ ट्रैक्ट विद्यमान हैं। इस कारण उनकी प्राप्ति-पर्यन्त

पूना-प्रवचन का मुद्रण रोक दिया। फर्वरी ८२ में इन्हें प्राप्त करने के लिये मैं स्वयं कलकत्ता गया, परन्तु वहां जाने पर इनकी उपलब्धि नहीं हुई। इसी बीच भण्डारकर प्राच्यशोध प्रतिष्ठान, पूणें से १३ व्याख्यान हमें उपलब्ध हो गये। आरम्भ के कुछ व्याख्यानों का मराठी संस्करण परोपकारिणी सभा अजमेर सं० २०२० में प्रकाशित कर चुकी थी। इस प्रकार सम्पूर्ण १५ प्रवचन मूल रूप में मराठी भाषा में हमें उपलब्ध हो गये।

इस प्रकार इस संस्करण को हम अपनी इच्छा के अनुरूप विविध टिप्पणियों, परिशिष्टों एवं सूचियों से युक्त प्रकाशित कर रहे हैं। अपनी इस इच्छा की पूर्ति में सहायक 'सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' के संस्थापक श्री बाबू मोहनलाल जी बागड़िया का धन्यवाद करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

आशा ही नहीं, हमें पूर्ण विश्वास है कि **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन** संज्ञक संग्रह का प्रस्तुत संस्करण शोध-कर्त्ताओं एवं विज्ञ-पाठकों को विशेष लाभकारी सिद्ध होगा।

धन्यवाद—पूना-प्रवचन के प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में हमें माननीय श्री० प्रा० राजेन्द्र जी जिज्ञासु से उर्दू भाषा में छपी उपदेश-मंजरी की भूमिका की प्रतिलिपि, यत्र तत्र पाठों की तुलना आदि में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं, आपने उपदेश-मञ्जरी के दुर्लभ उर्दू सस्करण को भी मेरी प्रार्थना पर कुछ समय के लिये भेजने का कष्ट किया। उर्दू संस्करण की प्राप्ति से ही यह गुत्थी सुलझ सकी कि पं० बदरीदत्त शर्मा ने प्रवचन संख्या १०-१५ का जो आर्य भाषानुवाद किया है, उसका आधार क्या है?

पाठकों से विशेष प्रार्थना—पूना प्रवचन के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट (पृष्ठ ४८०-४८२) में जो परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन दर्शाये हैं उनमें से संशोधनों को, तथा प्रस्तुत संग्रह के अन्त में पृष्ठ ५५७ पर दर्शाये संशोधनों को प्रथम यथा-स्थान शुद्ध करके ग्रन्थ का पाठ करें, तो अच्छा होगा। अन्यथा कहीं-कहीं भ्रान्ति हो सकती है।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)
प्रथम आश्विन, पूर्णिमा, सं० २०३९

ऋ० द० के शास्त्रार्थ और प्रवचनों को विषय-सूची

१—शास्त्रार्थ-संग्रह की विषय-सूची

संख्या	नाम	काल	पृष्ठ
१—	शास्त्रार्थ काशी	कार्तिक सुदी १२, स० १९२६	९
२—	शास्त्रार्थ हुगली	चैत्र सुदि ११, सं० १९३०	४५
३—	सत्यधर्म-विचार (मेला चांदापुर)	चैत्र सुदि ४,५, सं० १९३४	७१
४—	शास्त्रार्थ जालन्धर	आश्विन बदि २, सं० १९३४	१०५
५—	शास्त्रार्थ अजमेर	मार्गशीर्ष सुदि ५, सं० १९३५	११८
६—	शास्त्रार्थ बरेली (सत्यासत्य-विवेक)	भाद्र सुदि ७,८,९, सं० १९३६	१२९
७—	शास्त्रार्थ मसूदा (१)	श्रावण वदि २, सं० १९३८	१७२
	शास्त्रार्थ मसूदा (२)	श्रावण सुदि ४, सं० १९३८	१८६
८—	शास्त्रार्थ उदयपुर	भाद्र बदि १४, सुदि १,५, सं० १९३९	१९१

प्रथम परिशिष्ट—सम्पादक आर्य-दर्पण को भेजा गया पत्र २०६

द्वितीय परिशिष्ट—पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ-काशी का विवरण २११

तृतीय परिशिष्ट—सहायक ग्रन्थ-सूची २३९

पृष्ठ २०१ की टिप्पणी का अवशेष २४०

(विस्तृत विषय-सूची पृष्ठ २ से ४ तक देखें)

२—पूना-प्रवचन की विषय-सूची

संख्या	नाम	काल	पृष्ठ
१—	ईश्वर-सिद्धि	४ जुलाई १८७५	२६५
२—	ईश्वर-विषयक प्रश्नोत्तर	६ जुलाई ,,	२७१
३—	धर्माधर्म	८ जुलाई ,,	२७८

४— धर्माधर्म-विषयक प्रश्नोत्तर १० जुलाई १८७५ २९१
५— वेद १३ जुलाई ,, ३०३
६— जन्म १७ जुलाई ,, ३१८
७— यज्ञ और संस्कार २० जुलाई ,, ३३६
८— इतिहास (१) २४ जुलाई ,, ३५५
९— इतिहास (२) २५ जुलाई ,, ३७१
१०— इतिहास (३) २७ जुलाई ,, ३७७
११— इतिहास (४) २९ जुलाई ,, ३९२
१२— इतिहास (५) ३१ जुलाई ,, ४०४
१३— आह्निक अथवा नित्यकर्म और मुक्ति २ अगस्त ,, ४१६
१४— इतिहास (६) ३ अगस्त ,, ४२५
१५— अपना पूर्व चरित्र ४ अगस्त ,, ४३२
प्रथम परिशिष्ट—पूना-प्रवचन और सत्यार्थप्रकाश (प्रथम सं०) ४४५
द्वितीय परिशिष्ट—ऋषि दयानन्द द्वारा स्वलिखित जीवन-चरित्र (मूल हस्तलेख से) ४५६
तृतीय परिशिष्ट—म० मुंशीराम (स्वा० श्रद्धानन्द) जी द्वारा लिखित उपदेश-मञ्जरी (उर्दू) की भूमिका ४७६
चतुर्थ परिशिष्ट—पूना-प्रवचन में परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन ४८०

३—बम्बई-प्रवचन की विषय-सूची

संख्या विषय तारीख पृष्ठ
१— धर्मोन्नति (१) १ जनवरी १८८२ ४८७
२— धर्मोन्नति (२) ८ जनवरी ,, ४८८
३— धर्मोन्नति (३) १५ जनवरी ,, ४९०
४— अहिंसा और ईसाइयत (१) २२ जनवरी ,, ४९१
५— अहिंसा और ईसाइयत (२) २७ जनवरी ,, ४९२
६— अहिंसा २९ जनवरी ,, ४९३
७— मनुष्योन्नति (१) ५ फर्वरी ,, ४९४
८— मनुष्योन्नति (२) १२ फर्वरी ,, ४९६
९— मनुष्योन्नति (३) १९ फर्वरी ,, ४९७

१०— अवतार २३ फर्वरी १८८२ ४९९
११— पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (१) २६ फर्वरी " ५००
१२— पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (२) ५ मार्च " ५०१
१३— पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (३) १० मार्च " ५०१
१४— मादक-द्रव्य-निषेध १२ मार्च " ५०२
१५— वेद (१) २० मार्च " ५०३
१६— वेद (२) २२ मार्च " ५०४
१७— आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी का संबध २६ मार्च " ५०४
१८— वेद (३) ३० मार्च " ५०६
१९— ब्राह्मसमाज प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज के नियम २ अप्रेल " ५०६
२०— देशोन्नति (१) १८ मई " ५०७
२१— देशोन्नति (२) ३ जून " ५१२
२२— मूर्ति-मन्त्र-देव-ऋषि-पितृ-उपासनादि कर्तव्य ११ जून " ५१३
२३— [पूर्व विषय का शेष] १३ जून " ५१६
२४— योग-विद्या १७ जून " ५१६
१—ऋ० द० के शास्त्रार्थ और प्रवचन में उद्धृत वचनों की सूची ५२१
२—" " " " ग्रन्थों की सूची ५३३
३—" " " " व्यक्ति देश नगरादि नामों की सूची ५३९
४—" " " " परिवर्धन एवं संशोधन ५५७

—:०:—

दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह

महर्षि दयानन्द के पुस्तकाकार एवं जीवन-चरितों में
पूर्णतया प्रकाशित प्रामाणिक शास्त्रार्थों का
शोध-पूर्ण भूमिका तथा टिप्पणियों से युक्त
अनुसन्धानात्मक दृष्टि से सम्पादित
विशिष्ट संस्करण

15.1,89
89173H

सम्पादक—डा० भवानीलाल भारतीय
एम० ए०, पी-एच० डी०, सिद्धान्त-वाचस्पति

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्राक्कथन (सम्पादकीय)	५
१. शास्त्रार्थ-काशी [कार्त्तिक सुदि १२, सं० १९२६; १६ नवम्बर, १८६९, मंगलवार]	
सम्पादकीय	९
भूमिका	२०
शास्त्रार्थ-काशी	३३
२. शास्त्रार्थ-हुगली [चैत्र सुदि ११, सं० १९३०; ८ अप्रेल, १८७३, मंगलवार]	
सम्पादकीय	४५
शास्त्रार्थ-हुगली	४९
[पूर्व-पीठिका]	४९
[शास्त्रार्थ]	५०
प्रतिमादि-शब्द विचार	५९
३. सत्यधर्म-विचार=मेला चांदापुर [चैत्र सुदि ४-५, सं० १९३४; १९-२० मार्च १८७७]	
सम्पादकीय	७१
सत्यधर्म विचार=मेला चांदापुर	७१
[भूमिका]	७६
पहले दिन की सभा	७७
दूसरे दिन की सभा (प्रातः काल)	८१
,, ,, ,, (दोपहर पश्चात्)	८३
४. शास्त्रार्थ-जालन्धर [आश्विन बदि २, संवत् १९३४; २४ सितम्बर, १८७७ सोमवार]	
सम्पादकीय	१०५

शास्त्रार्थ-जालन्धर १०८
चमत्कार-विषय में प्रश्नोत्तर १०८
पुनर्जन्म-विषय में प्रश्नोत्तर ११३

५. शास्त्रार्थ-अजमेर [मार्गशीर्ष सुदि ५, सं० १९३५; २८ नवम्बर १८७८, सोमवार]

सम्पादकीय ११८
शास्त्रार्थ-अजमेर ११९
[पूर्व-पीठिका] ११९
प्रश्नोत्तर १२१

६. शास्त्रार्थ बरेली सत्यासत्य-विवेक [भाद्र सुदि ७-८-९, सं० १९३६; २५-२६-२७ अगस्त १८७९]

सम्पादकीय १२९
शास्त्रार्थ-बरेली १३३
पुनर्जन्म [२५ अगस्त १८७९] १३३
क्या ईश्वर देह धारण करता है ? [२६ अगस्त १८७९] १४४
क्या ईश्वर पाप क्षमा भी करता है ? [२७ अगस्त १८७९] १५७

७. शास्त्रार्थ-मसूदा

सम्पादकीय १७२
शास्त्रार्थ-मसूदा (१) [श्रावण बदि २, सं० १९३८; १३ जुलाई १८८१, बुधवार] १७४
[जैन साधु सिद्धकरण के साथ] १७४
[पूर्व पीठिका] १७५
[प्रश्नोत्तर] १७६
शास्त्रार्थ-मसूदा (२) [श्रावण सुदि ४, सं० १९३८; ३० जुलाई १८८१, शनिवार] १८६
[बाबू बिहारीलाल ईसाई के साथ रावराज मसूदा का] १८६
कबीर पन्थी साधु के प्रश्नोत्तर] १८९

८. शास्त्रार्थ-उदयपुर [भाद्र बदि १४, भाद्र सुदि १, ५ सं० १९३९; ११,१३,१७ सितम्बर १८८२, सोम, बुध, रवि]
सम्पादकीय १९१
शास्त्रार्थ-उदयपुर १९३
प्रथम प्रश्न [११ सितम्बर १८८२] १९३
दूसरा प्रश्न " " " १९६
तीसरा प्रश्न " " " १९८
चौथा प्रश्न [१३ सितम्बर १८८२] १९८
पांचवां प्रश्न [१७ सितम्बर १८८२] २०२
छठा प्रश्न " " " २०३
प्रथम परिशिष्ट—सम्पादक आर्यदर्पण को भेजा गया पत्र २०६
द्वितीय परिशिष्ट—[पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ-विवरण] २११
सम्पादकीय २११
काशीस्थ-राजसभायां प्रतिमापूजन-विचारः २१४
तृतीय परिशिष्ट—सहायक ग्रन्थ-सूची २३९

प्राक्कथन[१]

इस युग में वैदिक-चर्चा के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने मन्तव्यों तथा विचारों के प्रसार के लिये व्याख्यान, प्रवचन, शंका-समाधान तथा शास्त्रार्थ की प्रणालियों को स्वीकार कर देश में सर्वत्र धर्मान्दोलन उपस्थित किया था। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ आज से १०१ वर्ष पूर्व काशी में हुआ था, जिसमें उन्होंने प्रतिमापूजन का खण्डन किया था,तथा वाराणसी की पण्डित-मण्डली को मूर्तिपूजा-विधान की वैदिकता सिद्ध करने के लिये ललकारा था। उसके पश्चात् तो वे अपने जीवन के अवशिष्ट काल में सर्वत्र वैदिकेतर मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करते दिखाई पड़ते हैं। पौराणिक पण्डितों के अतिरिक्त मौलवियों, पादरियों तथा जैन साधुओं से भी उनके शास्त्रार्थ हुये। उनके द्वारा किये गये समग्र शास्त्रार्थों की संख्या लगभग ५० ठहरती है।

ये शास्त्रार्थ लिखित और मौखिक दोनों रीतियों से होते थे। जहां शास्त्रार्थ का विवरण लेखक द्वारा लिपि-बद्ध कर लिया जाता, वहां उसे यथासुविधा प्रकाशित भी कर दिया जाता था। ऐसे शास्त्रार्थ कालान्तर में पुस्तकाकार छप भी गये। गत वर्ष आर्य जगत् ने महर्षि दयानन्द के काशी-शास्त्रार्थ का शताब्दी-उत्सव मनाया था। तब यह अनुभव किया गया कि महर्षि के उन समस्त शास्त्रार्थों को एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में सम्पादित कर प्रकाशित किया जाय। इसी योजना को क्रियान्वित करने हेतु इस शास्त्रार्थ-संग्रह का सम्पादन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री महाराज के ८ शास्त्रार्थों का विवरण संगृहीत किया गया है। इन शास्त्रार्थों का चयन करने में मुख्य दृष्टि यह रही है कि इनमें उन्हीं शास्त्रार्थों को संगृहीत किया जाय, जो पुस्तकाकार छप चुके हैं। इस दृष्टि से **काशी-शास्त्रार्थ, शास्त्रार्थ-हुगली, सत्यधर्म-विचार मेला चांदापुर, शास्त्रार्थ-जालन्धर, सत्यासत्य विवेकशास्त्रार्थ बरेली** उल्लेखनीय हैं। शेष शास्त्रार्थ अजमेर,उदयपुर तथा मसूदा के अद्यापि पुस्तक रूप में नहीं छपे, परन्तु उनका विशद विवरण स्वामी जी के जीवन-चरित तथा अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह में शास्त्रार्थों का मूलपाठ वही रखा गया है, जो या

---

[१] यह प्राक्कथन वि० सं० २०२७ में प्रकाशित 'दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह' के लिये लिखा गया था। यु० मी०

तो तत् तत् पुस्तक में उपलब्ध है अथवा तत्कालीन किसी पत्र-पत्रिका अथवा महर्षि के जीवन-चरित में वर्णित हुआ है। जो शास्त्रार्थ स्वामी जी के जीवन-काल में पुस्तकाकार प्रकाशित हुये वे अन्यत्र भी छपे थे। इस दृष्टि से यहां हमने प्रत्येक शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में तत् तत् शास्त्रार्थ का ऐतिहासिक विवेचन करते हुये उसके सम्बन्ध के प्रत्येक उल्लेखयोग्य तथ्य को प्रकाशित करने का प्रयास किया है।

इस सम्बन्ध में जिस आधारभूत सामग्री की सहायता ली गई है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—मुन्शी बख्तावर सिंह सम्पादित **आर्य-दर्पण** आर्य समाज की सर्वाधिक प्राचीन मासिक पत्रिका थी। इसके पुराने अंकों में **काशी-शास्त्रार्थ, हुगली-शास्त्रार्थ, मेला चांदापुर** तथा **शास्त्रार्थ-अजमेर** का विवरण प्रकाशित हुआ था, प्रथम तीन शास्त्रार्थ, जो कालान्तर में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुये, उनका मूल आधार 'आर्यदर्पण' में प्रकाशित यही विवरण है। फर्रुखाबाद निवासी पं० गोपाल शास्त्री शर्मा लिखित **दयानन्द-दिग्विजयार्क** के प्रथम खण्ड में काशी-शास्त्रार्थ, जालन्धर-शास्त्रार्थ, अजमेर-शास्त्रार्थ, मेला चांदापुर तथा बरेली-शास्त्रार्थ का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित हुआ था। श्री महाराज का यह जीवन-चरित उनके जीवन काल में ही सन् १८८१ ई० में प्रकाशित हो चुका था। इसमें बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री मौजूद है। मसूदा (जिला अजमेर) में स्वामीजी का जैन साधु सिद्धकरण से जो लिखित शास्त्रार्थ हुआ था उसे अजमेर आर्यसमाज के मुख-पत्र **देश-हितैषी** ने अपने ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष सं० १९३९ के प्रारम्भिक अङ्कों (खण्ड १, अङ्क २, ४, ५, ६, ७, ८) में धारावाही रूप में प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के सम्पादन में इन सभी आधारभूत पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों से सहायता ली गई है।

स्वामीजी के जीवन-चरितों में स्व० पं० लेखराम संगृहीत सामग्री के आधार पर लिखित उर्दू जीवन-चरित का महत्त्व निर्विवाद है। इस अकेली पुस्तक में ही स्वामी जी के उपर्युक्त सभी शास्त्रार्थ न्यूनाधिक रूप में संगृहीत किये गये थे। पं० जगत्कुमार शास्त्री सम्पादित 'श्रीमद्दयानन्द ग्रन्थ संग्रह' में संगृहीत 'सत्यासत्य विवेक' (शास्त्रार्थ बरेली) उपर्युक्त जीवन-चरित से ही संकलित किया गया है। इसी वर्ष 'आर्ष साहित्य प्रचारक ट्रस्ट' दिल्ली द्वारा '**दयानन्द**

शास्त्रार्थ-संग्रह' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें स्वामीजी के ९१ शास्त्रार्थों (?) का विवरण छपा है। वस्तुतः इसमें वास्तविक शास्त्रार्थों के साथ साथ सामान्य रूप से किये गये शंका-समाधान, प्रश्नोत्तर तथा विज्ञापनादि अवान्तर सामग्री को भी शास्त्रार्थ के नाम से प्रकाशित कर दिया गया है। इस पुस्तक के सम्पादक ने पं० लेखराम संगृहीत महर्षि का जीवन-चरित तथा पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय रचित महर्षि के जीवन-चरित को ही अपनी सामग्री का आधार बताया है। इस ग्रन्थ के छप जाने के उपरान्त भी हमने महर्षि के शास्त्रार्थों को पृथक् से सम्पादित करने की आवश्यकता अनुभव की, तो उसका मुख्य कारण यही था कि उपर्युक्त ग्रन्थ में शास्त्रार्थों तथा सामान्य प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गई थी, जिसके आधार पर पाठक यह समझ सकें कि शास्त्रार्थ निश्चित एवं पूर्व निर्धारित विषय या विषयों पर न्यायदर्शन प्रतिपादित वाद-प्रणाली का आश्रय लेकर किया गया है, जब कि प्रश्नोत्तर अथवा शंका-समाधान का विचार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर हमने उन्हीं शास्त्रार्थों का सम्पादन किया है, जो पुस्तक रूप में छपे अथवा जिनका पूर्ण विवरण हमें उपलब्ध हो सका।

आर्य समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् तथा लेखक पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने **'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'** लिख कर महर्षि के समग्र लिखित, प्रकाशित तथा अप्रकाशित वाङ्मय का ऐतिहासिक, तथ्यपरक एवं वस्तु-निष्ट विवरण आर्य जनता के समक्ष सर्वप्रथम उपस्थित किया। कहना नहीं होगा। कि यह अपनी दृष्टि से किया गया प्रथम तथा अद्वितीय प्रयास था। समृद्ध भाषाओं के लेखकों तथा साहित्यकारों के ग्रन्थों तथा उनके लेखन-कार्य का समग्र विवेचन करने की परम्परा रही है। आर्य-समाज जैसी युग-परिवर्त्तनकारी संस्था के प्रवर्त्तक के वाङ्मय का इस दृष्टि से विवेचन तथा मूल्यांकन करना आवश्यक भी था। 'दयानन्द ग्रन्थ संग्रह' के सम्पादक पं० जगत्कुमार शास्त्री ने भी स्वामी जी के प्रत्येक ग्रन्थ के विषय में जो अलोचनात्मक भूमिका लिखी है, वह भी मीमांसक जी के द्वारा निरूपित सामग्री पर ही आधृत है। ऋषि के ग्रन्थों के इतिहास के साथ साथ पं० भगवद्दत्त

द्वारा सम्पादित '**ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**' भी स्वामी जी के शास्त्रार्थों के इतिवृत्त का संग्रह करने में अभूतपूर्व सहायता करता है । प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में इन दोनों ग्रन्थों से प्रचुर सहायता ली गई है । कारण यह है कि श्री मीमांसक जी ने तो अपनी पुस्तक में स्वामी जी के प्रकाशित शास्त्रार्थों पर एक स्वतन्त्र अध्याय ही लिखा है, तथा उसमें अद्यतन उपलब्ध सभी सामग्री का पूर्णतया उपयोग कर शास्त्रार्थों के विवरण को सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयास किया गया है ।

गत मई में मेरी एक अन्य पुस्तक '**आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी**' प्रकाशित हुई थी । इसके अनन्तर जब श्री मीमांसक जी ने मुझे स्वामी जी के शास्त्रार्थों के सम्पादन का कार्य सौंपा, तो मैंने इसे सहर्ष स्वीकार किया । पाठक देखेंगे कि अन्य शास्त्रार्थों की अपेक्षा काशी-शास्त्रार्थ विषयक आलोचनात्मक भूमिका ने ग्रन्थ का पर्याप्त कलेवर घेर लिया है । इसका कारण भी प्रत्यक्ष है । इस शास्त्रार्थ का महत्त्व स्वामी दयानन्द के जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन करने की दृष्टि से भी निर्विवाद है । पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी लेखनी से इस शास्त्रार्थ का जो विवरण '**प्रत्नकम्रनन्दिनी**' में प्रकाशित किया था, उसे अनूदित कर आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित उद्धृत करना, इस ग्रन्थ की एक मुख्य विशेषता मानी जा सकती है । पुस्तक के सम्पादन में ऐतिहासिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है, जो वैज्ञानिक शोध एवं अनुसंधान की दृष्टि से भी आवश्यक है ।

ग्रन्थ सम्पादन की मूल प्रेरणा श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से प्राप्त हुई, तदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना तो आवश्यक है ही, श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के श्रीमद्दयानन्द पुस्तकालय से **आर्य-दर्पण, देश-हितैषी** आदि प्राचीन पत्रों तथा महर्षि के काशी, चांदापुर आदि शास्त्रार्थों के प्राचीन संस्करण देखने का भी अवसर प्राप्त हुआ, तदर्थ यह लेखक सभा के मान्य मन्त्री श्री श्रीकरण जी शारदा तथा पुस्तकाध्यक्ष पं० भगवानस्वरूप जी न्यायभूषण का आभार मानता है ।

विदुषां वशंवदः,
भवानीलाल भारतीय
एम. ए;पी-एच. डी.

श्रीमद्दयानन्दाश्रम, अजमेर
श्रावणी पूर्णिमा २०२७ वि०

१. शास्त्रार्थ-काशी

सम्पादकीय

पौराणिक मत तथा मूर्ति-पूजा के सुदृढ़ दुर्ग काशी की विद्वन्मण्डली को शास्त्रार्थ-समर में पराजित कर निग्रह-स्थान पर पहुंचाने वाले पुण्य-श्लोक स्वामी दयानन्द सरस्वती कार्तिक कृष्णा २ या ३ संवत् १९२६ वि० तदनुसार २२ या २३ अक्टूबर १८६९ ई०[1] को काशी नगर में अवस्थित हुये। प्रथम उन्होंने गोसाईं जी के बाग में निवास किया, पुनः अमेठी के राजा के आनन्द बाग में जो दुर्गाकुण्ड पर है, चले गये। काशी के पण्डितों से उनका जगत्-प्रसिद्ध शास्त्रार्थ कार्तिक शुक्ला द्वादशी, १९२६ वि० मंगलवार तदनुसार १६ नवम्बर[2] १८६९ को हुआ। उसी वर्ष वि० सं० १९२६ में इस शास्त्रार्थ का विवरण काशी-स्थित मुन्शी हरिवंशलाल के लाइट प्रेस से छप कर प्रकाशित हुआ। यह सम्भवतः केवल संस्कृत[3] में ही था, तथा इसका नाम **'सत्यधर्म-विचार'**[4] या **'धर्म-विचार'** था।

वैदिक-यंत्रालय की स्थापना काशी में माघ शुक्ला २ सं० १९३६ वि० को लक्ष्मी-कुण्ड पर महाराज विजयनगराधिपति के स्थान पर हुई। मुन्शी बख्तावरसिंह इसके प्रथम प्रबन्धक थे। मुन्शीजी ने अपने मासिक पत्र 'आर्य-दर्पण' (जो आर्यसमाज का प्रथम मासिक पत्र था) के जनवरी १८८० ई० के अंक में इस शास्त्रार्थ का विवरण हिन्दी और उर्दू में समानान्तर कालमों में प्रकाशित किया था, जो आज भी वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर द्वारा प्रकाशित काशी-शास्त्रार्थ के संस्कृत पाठ के साथ हिन्दी अनुवाद के

---

[1] देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत सामग्री के आधार पर पं० घासीराम रचित महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग १ पृ० १९७ चतुर्थावृत्ति।

[2] देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित दयानन्द-चरित्र में यह तिथि १७ नवम्बर दी हुई है, जिसे कालान्तर में उन्होंने स्वयं शुद्ध कर लिया था।

[3] पं० लेखराम के लेखानुसार हिन्दी अनुवाद भी छपा था (द्र० महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, हिन्दी संस्क० पृष्ठ १५६)। यु० मी०

[4] द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ४७, पं० १।

रूप में प्रकाशित होता है। 'आर्य दर्पण' में काशी शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में भूमिका रूप में मुन्शी बख्तावरसिंह ने लिखा है—

> "हम उस शास्त्रार्थ को, कि जो संवत् १९२६ में स्वामी जी और काशी के पण्डितों में महाराजे काशी नरेश के सामने आनन्द बाग में दुर्गाकुण्ड के समीप हुआ था, यहाँ लिखते हैं, क्योंकि उसके ठीक-ठीक वृत्तान्त को बहुत ही कम लोग जानते हैं, कुछ तो उसको और का और ही समझ गये हैं और कुछ कि जिन्होंने ठीक शास्त्रार्थ को कि जिसको काशी में मुन्शी हरिवंश लाल ने 'लाइट प्रेस' (बनारस) में मुद्रित करवा कर प्रकाशित किया था उसको देखा ही नहीं, केवल उसी को कि जो 'दयानन्द-पराभूति' के नाम से काशी नरेश के यंत्रालय में कुछ का कुछ छपा है, और जिसमें कि स्वामी जी की बातों को उनके अभिप्राय से बहुत उलटा प्रकाशित कर दिया है, उसी को ठीक शास्त्रार्थ समझ गये हैं। जब ये लोग स्वामीजी के व्याख्यान सुनते हैं और उनके रचित पुस्तकों को देखते हैं तो उसको इनसे उलटा ही पाकर भ्रम में पड़ जाते हैं। और एक बड़ी भारी बात भ्रम में पड़ने की यह भी हुई है कि वह शास्त्र केवल संस्कृत में ही हुआ था कि जिसको बहुत ही कम लोग समझ सकते थे। तब तो इस समय को बड़े भाग्य से आया समझ कर पोपों ने कुछ का कुछ ही लोगों पर विदित कराके अपनी जय प्रसिद्ध कर दी, अब हम इन सब भ्रम की बातों के नाश के लिये उस शास्त्रार्थ को कि जिसको मुन्शी हरिवंश लाल ने संवत् १९२६ में छपवाया था, शुद्ध करके और उस पर कितने एक नोट[1] लिखके यहाँ आर्य भाषा और उर्दू में ठीक-ठीक प्रकाशित करते हैं। आशा है कि सब सज्जन मनुष्य पक्षपात रहित होकर इसको देखेंगे, और स्वामीजी और काशी के पण्डितों की व्यवस्था को ठीक-ठीक जान लेवेंगे।"

इस प्रारम्भिक टिप्पणी के पश्चात् उक्त अंक के पृष्ठ १० से पृष्ठ २० पर्यन्त काशी शास्त्रार्थ का विवरण हिन्दी और उर्दू में छापा गया है। पृ० २१ से पृ० २४ पर्यन्त **'एडीटोरियल नोट्स'** शीर्षक एक टिप्पणी और है। वह किञ्चित् परिवर्तन के साथ वैदिक यंत्रालय से प्रकाशित होने वाले संस्करण की भूमिका के रूप में

---

[1] इससे स्पष्ट है कि काशी-शास्त्रार्थ की पुस्तक में छपी टिप्पणियां मुन्शी बख्तारसिंह की हैं,संस्कृत टिप्पणियां उन्होंने किसी से अनूदित करवाई होंगी।

छपती आ रही है। मुन्शी बख्तावरसिंह ही इस भूमिका के लेखक थे, और प्रथम दो संस्करणों (१९३७ वि० तथा १९३९ वि०) को छोड़ कर शेष संस्करणों की भूमिका के अन्त में प्रकाशित होने वाला 'प्रबंधकर्ता वैदिक यंत्रालय' शब्द उक्त मुन्शीजी का ही सूचक है।

वंगाल के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी न केवल इस शास्त्रार्थ में उपस्थित ही थे, अपितु दोनों पक्षों की ओर से उन्हें लेखक चुना गया था, यह उन्हीं के द्वारा रचित '**ऐतरेयालोचन**' ग्रन्थ से विदित होता है।[1] सामश्रमी जी ने इस शास्त्रार्थ का विवरण अपनी संस्कृत मासिक-पत्रिका '**प्रत्नकम्रनन्दिनी**', जिसका अंग्रेजी नाम 'The Hindu commentator' था, के दिसम्बर १८६९ (वि० सं० १९२६) के संख्या २८ अंक में प्रकाशित किया था। इसके कुछ अंश को 'आर्यदर्पण' के फरवरी १८८० के अंक में किसी व्यक्ति ने सम्पादक के नाम लिखे गए अपने पत्र में कतिपय आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित प्रकाशित किया था। उस अंश को हम पाठकों के मनोरञ्जनार्थ ग्रन्थ के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में दे रहे हैं।

श्री महाराज के जीवनी लेखकों ने सामश्रमीजी के इसी उद्धरण को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। यथा पं० भीमसेन शर्मा के जामाता पं० सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी ने 'श्री १०८ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरितम्' शीर्षक 'वेद-प्रकाश यंत्रालय' इटावा से प्रकाशित जीवन चरित के पृ० १३७ से १४० तक **प्रत्नकम्रनन्दिनी** में प्रकाशित काशी-शास्त्रार्थ के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण को ही उद्धृत किया है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत सामग्री पर आधृत जीवन-चरित के प्रथम भाग में भी इसी संस्कृत अंश का हिन्दी अनुवाद दिया गया है। गत वर्ष[2] जब काशी में काशी-शास्त्रार्थ की शताब्दी का उत्सव आर्यसमाज द्वारा आयोजित किया गया, तो आर्यसमाज के इस आयोजन की प्रतिद्वन्द्विता में पौराणिकों द्वारा 'सनातनधर्म विजयोत्सव' मनाया गया। इसके उपलक्ष्य में स्वामी केशवपुरी ने 'काशी के विद्वानों और दयानन्दजी का सच्चा काशी शास्त्रार्थ' प्रकाशित किया। वस्तुतः इस पुस्तक का

---

[1] परमहो ! काश्यानन्दोद्यानविचारे, यत्र वयमास्म मध्यस्थाः, विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभय पक्षतोनियुक्तः,··· – । एतरेयालोचन पृष्ठ १२७।

[2] सं० २०२६ वि०।

प्रथम संस्करण साहित्योपाध्याय विद्यावारिधि पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने वी० एल० पावगी के 'हितचिंतक प्रेस' रामघाट बनारस सिटि से १९१६ ई० में प्रकाशित किया था। यह उसका दूसरा संस्करण है। इस ग्रन्थ की भूमिका में दीक्षितजी ने इसे 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' से उद्धृत किया बताया है, तथा यह भी लिखा है कि गवर्नमेंट लाईब्रेरियन पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद जी से उन्हें उक्त पत्रिका प्राप्त हुई थी। पं० माधवाचार्य द्वारा प्रकाशित 'लोकालोक पत्रिका' के विशेषांक (फरवरी १९७०) में भी इसी विवरण को उद्धृत किया गया है।

काशी-शास्त्रार्थ की महत्ता और उसके लोकव्यापी प्रभाव का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि समकालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं ने उसकी चर्चा की। अनेक पत्रों के सम्पादकों ने उस पर अपनी टिप्पणियां लिखीं तथा पक्ष-विपक्ष में अनेक मत अभिव्यक्त किये गये। देवेन्द्रबाबू ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तत्तत् पत्रों में प्रकाशित सम्मतियों का संग्रह किया था। पाठकों के सूचनार्थक उन पत्रों का विवरण यहां दिया जाता है——

१. एक सज्जन ने A. M. K. के नाम से २० नवम्बर सन् १८६९ को काशी से एक पत्र लिखकर The Poineer नामक अंग्रेजी पत्र में प्रकाशित कराया, जिसमें काशी के विद्वानों के स्वामीजी के प्रति किये गये व्यवहार की आलोचना की गई थी।

२. एक अन्य ईसाई लेखक ने A. F. R. H. के नाम से The christian Intelligeneer के मार्च १८७० के अंक में स्वामी जी के शास्त्रार्थ के विषय में निष्पक्ष भाव से लेख लिखा।

३. The Hindoo Patriot के १७ जनवरी १८७० के अंक में भी एक ऐसा ही लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें पण्डितों के व्यवहार को निन्दास्पद बताया गया।

४. उक्त 'पायोनियर' पत्रिका के ८ जनवरी १८८० के अंक में (शास्त्रार्थ के लगभग ११ वर्ष पश्चात्) एक व्यक्ति ने शास्त्रार्थ का पूर्वाग्रह-युक्त विवरण प्रस्तुत करते हुये स्वामी जी को पराजित घोषित किया। इस पक्षपातपूर्ण वृत्तान्त में तो यहां तक लिखा गया—"The Swami hung down his head, and the Pandits clapped their hands in triumph" अर्थात् स्वामीजी ने अपना सिर झुका लिया और विजयी पण्डितों ने करतल ध्वनि की। आगे चलकर इसी लेखक ने लिखा—"The Swami remained at Banaras for some days but he had lost his prestige." स्वामी कुछ दिनों तक बनारस में रहे, परन्तु उनकी प्रतिष्ठा भंग हो गई।

इस विवरण को यद्यपि लेखक ने अनतिरञ्जित और यथार्थ (unvarnished account) बताया है, तथापि पायोनियर के ही १५ जनवरी १८८० के अंक में एक अन्य व्यक्ति ने उक्त अंक में प्रकाशित शास्त्रार्थ के पूर्वाग्रह एवं पक्षपातपूर्ण विवरण का प्रतिवाद करते हुये इस सम्पूर्ण विवाद में पण्डितों की तर्क-प्रणाली की आलोचना करते हुए पूछा है—"उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वामीजी पण्डितों से पराजित हो हो गये थे ?"[1]

उपर्युक्त अंग्रेजी पत्रों के अतिरिक्त कतिपय अन्य देशी भाषाओं के पत्रों ने भी शास्त्रार्थ पर अपनी निष्पक्ष सम्मति व्यक्त की।

ब्रह्मसमाज के प्रधानाचार्य महर्षि-कल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्तित तथा अक्षयकुमार दत्त द्वारा सम्पादित 'तत्त्व-बोधिनी पत्रिका के ज्येष्ठ १७९४ बङ्गाब्द[2] के अंक में लिखा गया—वर्तमानिक काशी नरेश के उद्योग से नाना देशों के पण्डित गणों ने उक्त मत खण्डन करने के अर्थ विचार किया। जैसा कि 'धर्म-विचार'[3] पुस्तक के पढ़ने से विदित होता है कि "वेद से प्रतिमापूजन-व्यवस्था देकर कोई पण्डित स्वामी दयानन्दजी को न हरा सका, इसलिए स्वामीजी को बड़ा वेद-वेत्ता समझना चाहिये।"

पुनः इसी पत्रिका के आसौज १७९४ शालिवाहन संवत् के

---

[1] "How can in the face of the above facts boldly assert that the Swami got the worst of the fight ? I leave for your impartial readars to judge."

[2] यहां 'शकाब्द' होना चाहिये। अगले पैरे में भी शालिवाहन संवत (शकाब्द)का निर्देश है। सम्प्रति सं० २०३८ में बङ्गाब्द १३८८ है। यु० मी०

[3] इससे अनुमान होता है कि काशी-शास्त्रार्थ के प्रथम संस्करण का नाम 'धर्म विचार' या 'सत्यधर्म-विचार' जैसा ही कुछ था।—सम्पादक

अन्त में दुर्गोत्सव का वर्णन करते हुये उक्त पत्रिका के सम्पादक ने लिखा—"इस समय स्वामी दयानन्द नामी एक वेदज्ञ संन्यासी काशी आदि नगरों में आकर घंटा-घोष से मूर्तिपूजा को वेद-विरुद्ध प्रतिपादन करता था। इस विषय में काशी नरेश की पण्डित-सभा तथा अन्य देशों के विद्वान् भी उपस्थित थे, परन्तु किसी ने भी वेदों से प्रतिमा-पूजन न दिखाया।"

'रुहेलखण्ड-समाचार' के नवम्बर १८६९ ई० के अंक में लिखा गया—"दयानन्द सरस्वती स्वामी······काशी के पण्डितों को उन्होंने जीत लिया, और काशी के पण्डितों ने झूठ ही अपनी जय की धूम मचा दी"।

ब्रह्मसमाज के पंजाब-प्रान्तीय नेता श्री नवीनचन्द्र राय द्वारा सम्पादित 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' लाहौर के अप्रेल १८७० के अंक में लिखा गया—"शास्त्रार्थ में दोनों ओर से व्यर्थ वितण्डावाद बहुत हुआ, और इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिमापूजन वेदों से पण्डित सिद्ध न कर सके।"

पत्र-पत्रिकाओं में अभिव्यक्त शास्त्रार्थ-विषयक सम्मतियों से जिन लोगों को सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त कर शास्त्रार्थ के फलागम को जानने का प्रयास किया। श्रीमहाराज के जीवन-काल में ही उनकी जीवन-गाथा को **'दयानन्द-दिग्विजयार्क'** शीर्षक से तीन खण्डों में निबद्ध करनेवाले पंडित गोपालराव हरि ने उपर्युक्त ग्रन्थ के सं० १९३८ में प्रकाशित प्रथम खण्ड के ३० वें पृष्ठ पर लिखा—"उन्हीं दिनों की बात है, हमको माह अगहन में मुकाम जौन्हरी परगना एत्मादपुर जिला आगरा में दो अच्छे विद्वान् संन्यासी एक कुएं पर बैठे मिले। वे काशी से आये थे, मथुरा को जाते थे। उनके मुख से प्रथम इस शास्त्रार्थ का समाचार वहां मिला था। उनने स्पष्ट काशीवालों की हार बताई और उनकी विद्या तथा बुद्धि और चाल-चलन पर उन लोगों ने अत्यन्त ही शोक किया। पीछे से मुकाम फर्रुखाबाद में एक महाराष्ट्र के परमहंस आत्मानन्द जी मिले, जो खुद शास्त्रार्थ के समय ऐन स्वामीजी के निकट बैठे थे। उन्होंने ठीक वैसा ही सब हाल कहा जैसा कि पुस्तक शास्त्रार्थ में लिखा है और स्वामीजी को जीत बताई और

बहुत कुछ काशी वालों के कर्मों पर बारम्बार धिक्कारते थे। तत्पश्चात् प्रसिद्ध साहूकार लाला पन्नीलालजी मिले। उनने भी सब हाल ऐसा ही कहा। वे खुद खास इसी बात की तहकीकात को फर्रुखाबाद से काशी गये थे। अनन्तर जब हमको काशी जाने का प्रसङ्ग हुआ तो वहां भी हमारे बहुत से मिलापी और रिश्तेदारों ने स्वामी जी की अतिप्रशंसा के साथ उनकी जीत और काशी वालों की हार बताई।"

इस उद्धरण से काशी-शास्त्रार्थ के प्रत्यक्ष-दर्शियों की साक्षी श्री महाराज के विजयी होने का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

काशी की पण्डित-मण्डली को श्री महाराज की शास्त्रार्थ में विजय के समाचारों ने इतना व्यथित और व्याकुल बना दिया कि उन्होंने अविलम्ब दो पुस्तकें 'दयानन्द-पराभूति' संस्कृत में तथा 'दुर्जन-मुखमर्दन' भाषा में लिख कर काशीराज के यन्त्रालय से प्रकाशित की। इन पुस्तकों का अन्वेषण किया जाना चाहिये। स्वामी जी की इस वाराणसी-विजय ने उस नगर के निवासियों को कितना आकुल व्याकुल तथा आन्दोलित कर दिया, यह इस बात से भी जाना जाता है, कि वल्लभ-सम्प्रदायानुयायी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे प्रबुद्ध साहित्यकार भी अपने आपको तटस्थ नहीं रख सके। उन्होंने ६४ प्रश्नों की एक 'दूषण-मालिका' शीर्षक पुस्तक लिख कर उसे 'मूर्ति-पूजन का निषेध करने वाले दयानन्द प्रभृति लोगों के गले की 'दूषण-मालिका' का अभिधान प्रदान किया। यह पुस्तक सर्व प्रथम १९२७ वि० में काशी की 'लाजरस कम्पनी' के मेडिकल हाल प्रेस में छपी। इसका द्वितीय संस्करण १८८८ ई० में 'खड्ग-विलास' प्रेस बांकीपुर पटना में छपा। मूर्तिपूजा जैसे कुसंस्कार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाने वाले परिव्राजक दयानन्द को अपनी आलोचना का शिकार बनाते हुये हरिश्चन्द्र ने अपनी भूमिका में लिखा—

श्री श्रीवल्लभो विजयते

भूमिका

अथ दयानन्द नामी क्या जाने कौन जाति वा किस आश्रम के कोई नग्न पुरुष सब देशों में भ्रमण करते हुये सनातन सद्धर्म्म

रूपी सूर्य को राहु की भांति ग्रास करते हुये इसी बहाने अपना नाम लोगों में विदित करते हुए और अपने वाक्य वना के आडम्बर से साधु लोगों का हृदय दहन करते हुये काशी में आये और दुर्गाकुण्ड निवासियों के सहवासी हुये, और उनने जो व्यर्थ उपद्रव किये वह सब पर विदित है। अब उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक[1] छपवा कर लोगों पर यह विदित करना चाहा है कि मैं हारा नहीं। इससे मैंने ऐसा विचार किया कि ऐसे मनुष्य से सम्भाषण करना उचित नहीं और पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करना जिसमें सब लोगों पर सदसत् का प्रकाश और हारने जीतने का निश्चय हो जाय, इस हेतु यह दूषणमालिका उनके गले में पहनाई जाती है। उनको उचित है कि इन सब प्रश्नों का प्रतिपद उत्तर दें और इसी प्रकार से बराबर शास्त्रार्थ होय। और इतने प्रश्नों का एक जीतने के इश्तिहार की भांति उत्तर न दिया जाय, क्योंकि इन शब्दों के प्रतिशब्द का उत्तर न देने से परास्त समझे जायेंगे, और प्रश्नोत्तर करते करते जो थक जाय और जिसकी बुद्धि में उत्तर देने की युक्ति न आवे वह हारा समझा जायेगा।

१८७० ई.

काशी

हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित दूषण-मालिका की इस भूमिका के कतिपय शब्द और शैली स्वामी दयानन्द रचित 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' के वेद-संज्ञा-विचार प्रकरण की आलोचना में लिखित संस्कृत-पुस्तक 'महामोह-विद्रावण' की शैली और शब्दावली[2] से मिलते हैं। इसे आकस्मिक संयोग कहा

---

[1] यह पुस्तिका सम्भवतः वही होगी, जिसे मुन्शी हरिवंशलाल ने लाईट प्रेस बनारस से सं० १९२६ में ही प्रकाशित किया था।

[2] "अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां वाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजशिरोमणिः पुण्यजनप्रवर इति समधिगतः पङ्कबहुलाल्पजलात् पल्वलात् सद्यः काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद् भिक्षुवेषी देवनिन्दा-घोरशब्दघुरघुरायितमुखः कलंकयन्निव स्वत्रेषं प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगद-शेषं, संजयन्निव सतां चेतसः क्लेशं, वञ्चयन्निव स्वदेशं वस्तुतः स्वात्मानमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्।" महामोह-विद्रावण का उक्त वाक्य दूषण-मालिका की भूमिका के प्रारम्भिक वाक्य से किञ्चित् समानता रखता है।

जाय या हरिश्चन्द्र की शैली का अनुकरण महामोह-विद्रावण के लेखक ने किया, यह पृथक् विचारणीय है। अस्तु।

भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत ६४ प्रश्न तो अत्यन्त साधारण कोटि के हैं, तथा उनसे लेखक की शास्त्रीय योग्यता का दिवालियापन ही झलकता है। जिस विद्वन्मूर्धन्य दयानन्द की तेजस्वी प्रज्ञा के सम्मुख बाल शास्त्री और विशुद्धानन्द जैसे पण्डित गण भी दिङ्मूढ़ से हो गये, उन सर्वशास्त्र-निष्णात महर्षि को भारतेन्दु जैसे हिन्दी लेखक द्वारा शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया जाना विडम्बना ही कही जा सकती है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने काशी-शास्त्रार्थ का जो विस्तृत विवरण अपनी '**प्रत्नकम्रनन्दिनी**' पत्रिका में प्रकाशित किया था, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह विवरण उसी मूल लेख पर आश्रित है, जिसे उन्होंने काशी-शास्त्रार्थ के समय लेखनी-बद्ध किया था। हम उसे हिन्दी-अनुवाद तथा आवश्यक आलोचनात्मक टिप्पणियों के सहित इस संग्रह के अन्त में द्वितीय परिशिष्ट में दे रहे हैं।

शास्त्रार्थ में सम्मिलित विशिष्ट पौराणिक विद्वान्

प्रतिमा-पूजन को वेदोक्त सिद्ध करने हेतु इस शास्त्रार्थ में जिन विद्वानों ने भाग लिया उनमें से कतिपय प्रमुख व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती (२) दाक्षिणात्य पं० बाल शास्त्री (३) पं० शिवसहाय शास्त्री (४) माधवाचार्य (५) वामनाचार्य (६) देवदत्त शर्मा (७) जयनारायण तर्कवाचस्पति (८) चन्द्रदत्त त्रिपाठी (९) राधामोहन तर्कवागीश (१०) दुर्गादत्त (११) बस्तीराम दूबे (१२) काशीप्रसाद शिरोमणि (१३) हरिकृष्ण व्यास (१४) अम्बिकादत्त व्यास (१५) घनश्याम (१६) ठाकुरदत्त (१७) हरिदत्त दूबे (१८) भैरवदत्त (१९) श्रीधर शुक्ल (२०) विश्वनाथ मैथिल (२१) नवीननारायण तर्कालंकार (२२) मदनमोहन शिरोमणि (२३) कैलाशचन्द्र शिरोमणि (२४) मायाकृष्ण वेदान्ती (२५) धनीराम (२६) नारायण शास्त्री (२७) देवधर (२८) नरसिंह शास्त्री (२९) परमहंस जवाहरदास उदासी (३०) ताराचरण तर्करत्न (३१) गणेशप्रसाद श्रोत्रिय (३२) स्वामी निरंजनानन्द (३३) राम शास्त्री (३४) शालिग्राम (३५) ढुण्ढिराज शास्त्री (३६) राम मिश्र शास्त्री (३७)

भारद्वाज शास्त्री (३८) रामकृष्ण शास्त्री (३९) दामोदर शास्त्री (४०) बाबू प्रमदादास मित्र ।

उपर्युक्त विद्वान् पण्डितों के अतिरिक्त स्वयं काशी-नरेश, उनके भ्राता, उनके राजकुमार आदि काशी राजपरिवार के लोगों के साथ-साथ फतहनारायणसिंह शर्मा, ऐश्वर्यनारायणसिंह शर्मा, तेजसिंह वर्मा रईस मैनपुरी, राव कृष्णदेवशरणसिंह, चौधरी गुरुदत्तसिंह शर्मा, हजारी यदुनन्दन नागल, बा० हरिश्चन्द्र गुप्त (भारतेन्दु) तथा बाबू गोकुलचन्द (भारतेन्दु के अनुज) जैसे प्रतिष्ठित पुरुष भी शास्त्रार्थ में विद्यमान थे ।

उपर्युक्त ५१ व्यक्ति तथा मूर्तिपूजनादि अवैदिक मन्तव्यों के निर्भीक आलोचक स्वामी दयानन्द सरस्वती कोतवाल रघुनाथप्रसाद सहित दालान में बैठे । दालान से बाहर तीन सौ व्यक्ति बैठे थे । बाहर मैदान में अनुमान साठ हजार जनता शास्त्रार्थ देखने के लिये उमड़ पड़ी । जिस आनन्द बाग में यह शास्त्रार्थ हुआ वह अमेठी नरेश माधवसिंह जी का था । उनके पौत्र राजकुमार रणञ्जयसिंह जी आर्यसमाज के श्रद्धालु भक्त तथा अनुयायी हैं । उन्होंने स्व० पं० महेशप्रसाद जी मौलवी, आलिम फाजिल (फारसी एवं अरबी विभाग के अध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की प्रेरणा से निम्न शिलालेख उस स्थान पर लगा दिया है, जहां यह शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ था ।

शास्त्रद्वन्द्वाङ्कचन्द्रेऽब्दे वैक्रमे कार्तिके सिते ।
भौमे भास्वत्तिथौ दिव्ये मूर्तिपूजा-विनिर्णये ।।
अमेठ्यानन्द-बागेऽस्मिन् काशिराज-सभापतौ ।
जनौघे विपुले वादः प्रवृत्तः श्रुतितत्परः ।।
विशुद्धानन्दसुप्रज्ञैर्बालशास्त्र्यादिभिर्बुधैः ।
शास्त्रार्थमकरोत् साकं दयानन्दो यतिर्महान् ।।
भगवान्बख्शभूपाल-वचनात् तत्सुतः सुधीः ।
अलेखयच्छिलालेखं श्रीमान् राजा रणञ्जयः ।।

अर्थात् १९२६ वि० कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष मंगलवार द्वादशी के दिन मूर्तिपूजा का निर्णय करने हेतु अमेठी नरेश के इस बाग में काशीराज के सभापतित्व में विपुल जन समूह के बीच

वेद पर आधारित शास्त्रार्थ हुआ। विशुद्धानन्द तथा बाल शास्त्री जैसे लोक-विश्रुत विद्वानों के साथ महान् यति दयानन्द ने शास्त्रार्थ किया। राजा भगवान् बख्श की आज्ञा से उनके पुत्र विद्वान् राजा रणञ्जय सिंह ने इस शास्त्रार्थ की स्मृति में यह लेख लगवाया है।

काशी-शास्त्रार्थ भारत के धर्मक्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न करने वाला महासमर था, जिसमें अविचल ईश्वर-विश्वासी दयानन्द एकमेव परमात्मा के विश्वास पर ही विचार-संग्राम में अवतीर्ण हुआ। "शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पूर्व श्री महाराज ने क्षौर कराया, स्नान किया और अपने सुन्दर शरीर पर मृत्तिका लगाई पुनः पद्मासनस्थ होकर थोड़ी देर परमेश्वर का ध्यान किया और फिर भोजन किया।" यह विवरण श्री महाराज जी के जीवन-चरित में उपलब्ध होता है। पौराणिकों के आसन्न दुर्व्यवहार की आशंका से भयभीत अपने भक्त बलदेव को महाराज ने इन शब्दों में आश्वस्त किया था। ऐ "बलदेव, क्या चिन्ता है, एक मैं हूं, एक ईश्वर है, एक धर्म है और कौन है?"

जिन लोगों ने इस शास्त्रार्थ में स्वामी जी के प्रति सदाशयता का व्यवहार किया, उनमें कोतवाल रघुनाथप्रसाद का नाम उल्लेखनीय है, जिसने श्रीमहाराज के लोक-कल्याण हेतु समर्पित अमूल्य शरीर की रक्षा ही नहीं की, अपितु वह उनके व्यक्तित्व के प्रति प्रणत भाव भी रखता था। साथ ही स्वामी जी के हितेच्छु पं० ज्योतिस्वरूप उदासी, साधु जवाहरदास उदासी तथा उन अज्ञातनामा परमहंसों का भी आर्यसमाज को कृतज्ञ होना चाहिये जो यद्यपि साक्षात्‌रूप से मूर्तिपूजा का खण्डन करने में अपने को असमर्थ पाते थे, परन्तु स्वामीजी को अपने वर्ण का संन्यासी समझकर उनके प्रति अपूर्व सहानुभूति का भाव रखते थे।

काशी शास्त्रार्थ के विभिन्न संस्करण तथा तत्-सम्बंधी साहित्य

१. काशी-शास्त्रार्थ का मुन्शी हरिवंशलाल के स्टार प्रेस से प्रकाशित १९२६ वि० का प्रथम संस्करण।

२. वैदिक यन्त्रालय का संस्करण—(१९६९ ई० तक १३ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।)

३. आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर का संस्करण।

४. गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली का संस्करण।

५. शास्त्रार्थ-काशी भाषा व उर्दू।

६. काशी के विद्वानों और दयानन्द जी का सच्चा काशी-शास्त्रार्थ—मथुराप्रसाद दीक्षित।

७. काशी-शास्त्रार्थ का इतिवृत्त—आचार्य विश्वश्रवाः व्यास २०२६ वि० में प्रकाशित।

काशी-शास्त्रार्थ-विषयक इस आलोचनात्मक भूमिका के पश्चात् वैदिक-यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ का मूल-पाठ यंत्रालय के तत्कालीन प्रबन्धकर्त्ता की भूमिका सहित आगे दिया जाता है।

भूमिका

हम पाठकों को इस काशी के शास्त्रार्थ का (जो कि संवत् १९२६ वि० कार्तिक सुदि १२ मंगलवार के दिन "स्वामी दयानन्द सरस्वती जी" का काशीस्थ 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती' तथा 'बाल शास्त्री' आदि पण्डितों के साथ हुआ था) तात्पर्य सहज में प्रकाशित होने के लिये विदित करता हूँ।

इस संवाद में स्वामी जी का पक्ष पाषाणमूर्तिपूजनादिखण्डन विषय और काशीवासी पण्डितजनों का मण्डन विषय था। उनको वेदप्रमाण से मण्डन करना उचित था, सो कुछ भी न कर सके। क्योंकि जो कोई भी पाषाणादिमूर्तिपूजनादि में वैदिक प्रमाण होता तो क्यों न कहते और स्वपक्ष को वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किये विना वेदों को छोड़कर अन्य मनुस्मृति आदि ग्रन्थ वेदों के अनुकूल हैं वा नहीं, इस प्रकरणान्तर में क्यों जा गिरते? क्योंकि जो पूर्व-प्रतिज्ञा को छोड़ के प्रकरणान्तर में जाना है, वही पराजय का स्थान है। ऐसे हुए पश्चात् भी जिस जिस ग्रन्थान्तर में से जो जो पुराण आदि शब्दों से ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थों को सिद्ध करने लगे थे सो भी सिद्ध न

कर सके, पश्चात् प्रतिमा शब्द से मूर्तिपूजा को सिद्ध करना चाहा था वह भी न हो सका। पुनः पुराण शब्द विशेष्य वा विशेषणवाची है, इस में स्वामी जी का पक्ष विशेषणवाची और काशीस्थ पण्डितों का पक्ष विशेष्यवाची सिद्ध करना था, इसमें बहुत इधर-उधर के वचन बोले परन्तु सर्वत्र स्वामीजी ने विशेषणवाची पुराण शब्द को सिद्ध कर दिया और काशीस्थ पण्डित लोग विशेष्यवाची सिद्ध नहीं कर सके। सो आप लोग देखिये कि शास्त्रार्थ की इन बातों से क्या ठीक-ठीक विदित होता है?

89173H

और भी देखने की बात है कि जब माधवाचार्य्य दो पत्र निकाल के सबके सामने पटक के बोले थे कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है? उस पर स्वामीजी ने उसको भी विशेषणवाची सिद्ध कर दिया, परन्तु काशी निवासी पण्डितों से कुछ भी न बन पड़ा। एक बड़ी शोचनीय बात उन्होंने की, जो किसी सभ्य मनुष्य के करने योग्य न थी, कि ये लोग सभा में काशीराज महाराज और काशीस्थ विद्वानों के सन्मुख असभ्यता का वचन बोले। क्या स्वामी जी के कहने पर भी काशीराज आदि चुप होके बैठे रहें और बुरे वचन बोलने वालों को न रोकें? क्या स्वामीजी का पांच मिनट दो पत्रों के देखने में लगा के प्रत्युत्तर देना विद्वानों की बात नहीं थी? और क्या सबसे बुरी बात यह नहीं थी कि सब सभा के बीच ताली शब्द लड़कों सदृश किया, और ऐसे महा असभ्यता के व्यवहार करने में कोई भी उनको रोकने वाला न हुआ? और क्या एक दम उठके चुप होके बगीचे से बाहर निकल जाना और क्या सभा में वा अन्यत्र झूठा हल्ला करना धार्मिक और विद्वानों के आचरण से विरुद्ध नहीं था?

यह तो हुआ सो हुआ परन्तु एक महा खोटा काम उन्होंने और किया, जो सभा के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है, कि एक पुस्तक स्वामीजी की झूठी निन्दा के लिये काशीराज के छापेखाने में छपा कर प्रसिद्ध किया और चाहा कि उनकी बदनामी करें और करावें, परन्तु इतनी झूठी चेष्टा किये पर भी स्वामीजी उनके कर्मों पर ध्यान न देकर वा उपेक्षा करके पुनरपि उनको वेदोक्त उपदेश प्रीति से आज तक बराबर करते ही जाते हैं, और उक्त २६ के संवत् से लेके अब संवत् १९३७ तक छठी वार काशीजी में आके सदा

१५.८
२६

विज्ञापन लगाते जाते हैं कि पुनरपि जो कुछ आप लोगों ने वैदिक प्रमाण वा कोई युक्ति पाषाणादि मूर्तिपूजा आदि के सिद्ध करने के लिए पाई हो तो सभ्यतापूर्वक सभा करके फिर भी कुछ कहो वा सुनो, इस पर भी कुछ नहीं करते, यह भी कितने निश्चय करने की बात है। परन्तु ठीक है कि जो कोई दृढ़ प्रमाण वा युक्ति काशीस्थ पण्डित लोग पाते अथवा कहीं वेद शास्त्र में प्रमाण होता तो क्या सम्मुख होके अपने पक्ष को सिद्ध करने न लगते और स्वामीजी के सामने न होते ?

इस से यही निश्चित सिद्धान्त जानना चाहिये कि जो इस विषय में स्वामीजी की बात है वही ठीक है। और देखो स्वामीजी की यह बात संवत् १९३६ के विज्ञापन[१] से भी, कि जिस में सभा के होने के अत्युत्तम नियम छपवा के प्रसिद्ध किये थे, सत्य ठहरती है।

उस पर पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य्य ने अनर्थयुक्त विज्ञापन छपवा के प्रसिद्ध किया था, उस पर स्वामीजी के अभिप्राय से युक्त दूसरा विज्ञापन[१] उस के उत्तर में पण्डित भीमसेन शर्मा ने छपवा कर कि जिसमें स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी और बालशास्त्रीजी से शास्त्रार्थ होने की सूचना थी प्रसिद्ध किया था। उस पर दोनों में से कोई एक भी शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त न हुआ, क्या अब भी किसी को शङ्का रह सकती है कि जो जो स्वामीजी कहते हैं वह सत्य है वा नहीं ? किन्तु निश्चय करके जानना चाहिये कि स्वामीजी की सब बातें वेद और युक्ति के अनुकूल होने से सर्वथा सत्य ही हैं। और जहां छान्दोग्य उपनिषद आदि को स्वामीजी ने वेद नाम से कहा है वहां वहां उन पण्डितों के मत के अनुसार कहा है किन्तु ऐसा स्वामी जी का मत नहीं। स्वामीजी तो मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानते हैं, क्योंकि जो मन्त्रसंहिता हैं, वे ईश्वरोक्त होने से निर्भ्रान्त सत्यार्थ-युक्त हैं, और ब्राह्मणग्रन्थ जीवोक्त अर्थात् ऋषि मुनि आदि के कहे हैं वे भी प्रमाण तो हैं, परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण हो भी सकते हैं, और मन्त्रसंहिता तो किसी के विरुद्धार्थ होने से अप्रमाण कभी नहीं हो सकती, क्योंकि [वेद] तो स्वतःप्रमाण हैं॥

प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक यंत्रालय
काशी

संवत् १९३७, सन् १८८०

---

[१] द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, सं० ३, पूर्णसंख्या २५०,२६०।

शास्त्रार्थ-काशी

धर्माधर्मयोर्मध्ये शास्त्रार्थविचारो विदितो भवतु ।

एको दिगम्बरस्सत्यशास्त्रार्थविद् दयानन्दसरस्वती स्वामी गङ्गातटे विहरति । स ऋग्वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वैवं वदति—

"वेदेषु पाषाणादिमूर्त्तिपूजनविधानं शैवशाक्तगाणपतवैष्णवादिसम्प्रदाया रुद्राक्षत्रिपुण्ड्रादिधारणं च नास्त्येव, तस्मादेतत् सर्वं मिथ्यैवास्ति, नाचरणीयं कदाचित् । कुतः ? एतत् वेदविरुद्धाप्रसिद्धाचरणे[1] महत् पापं भवतीतीयं वेदादिषु[2] मर्यादा लिखितास्ति ।"

एक दयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी दिगम्बर गङ्गा के तीर विचरते रहते हैं, जो सत्पुरुष और सत्यशास्त्रों के वेत्ता हैं। उन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदादि का विचार किया है, सो ऐसा सत्यशास्त्रों को देख निश्चय करके कहते हैं कि—"पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, शैव, शाक्त गाणपत और वैष्णव आदि संप्रदायों, और रुद्राक्ष-तुलसी-माला त्रिपुण्ड्रादि-धारण का विधान कहीं भी वेदों में नहीं है, इससे ये सब मिथ्या ही हैं, कदापि इनका आचरण न करना चाहिए। क्योंकि वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध के आचरण से बड़ा पाप होता हैं, ऐसी मर्यादा वेदादि में लिखी है।"

एवं हरिद्वारमारभ्य गङ्गातटे अन्यत्रापि यत्र कुत्रचिद् दयानन्दसरस्वती स्वामी खण्डनं कुर्वन् सन् काशीमागत्य दुर्गाकुण्डसमीप आनन्दारामे यदा स्थितिं कृतवान् तदा काशीनगरे महान् कोलाहलो जातः । बहुभिः पण्डितैर्वेदादि-

---

[1] वेद-विरुद्धं च अप्रसिद्धं च, वेदविरुद्धाप्रसिद्धे, तयोराचरणमित्यर्थः । अप्रसिद्धत्वं चाप्तपुरुषेषु । वेदविरुद्धाचरणे असदाचरणे च महत् पापमाहुराप्ताः ।

[2] आदिपदेन धर्मशास्त्रादीनि ।

पुस्तकानां मध्ये विचारः कृतः, परन्तु क्वापि पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिविधानं न लब्धम् ।

इस हेतु से उक्त स्वामजी हरिद्वार से लेकर सर्वत्र इसका खण्डन करते हुए काशी में आके दुर्गाकुण्ड के समीप आनन्दबाग में स्थित हुए । उनके आने की धूम मची, बहुत से पण्डितों ने वेदों के पुस्तकों में विचार करना आरम्भ किया, परन्तु पाषाणादि मूर्तिपूजा का विधान कहीं भी किसी को न मिला ।

प्रायेण बहूनां पाषाणपूजनादिष्वाग्रहो महान् अस्ति, अतः काशीराजमहाराजेन बहून् पण्डितान् आहूय पृष्टं कि कर्त्तव्यमस्ति ? तदा सर्वैर्जनैर्निश्चयः कृतः—येन केन प्रकारेण दयानन्दस्वामिना सह शास्त्रार्थं कृत्वा बहुकालात् प्रवृत्तस्याचारस्य स्थापनं यथा भवेत् तथा कर्त्तव्यमेवेति ।

बहुधा करके इसके पूजन में आग्रह बहुतों को है । इससे काशीराज महाराज ने बहुत से पण्डितों को बुलाकर पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिए ? तब सब ने ऐसा निश्चय करके कहा कि किसी प्रकार से दयानन्द सरस्वती स्वामी के साथ शास्त्रार्थ करके बहुकाल से प्रवृत्त आचार को जैसे स्थापन हो सके करना चाहिये ।

पुनः कार्त्तिकशुक्लद्वादश्यामेकोनविंशतिशतषड्विंशतितमे संवत्सरे (१९२६) मङ्गलवासरे महाराजः काशीनरेशो बहुभिः पण्डितैः सह शास्त्रार्थकरणार्थमानन्दारामं यत्र दयानन्दस्वामिना निवासः कृतः, तत्रागतः ।

तदा दयानन्दस्वामिना महाराजं प्रत्युक्तम्—वेदानां पुस्तकान्यानीतानि न वा ?

निदान कार्तिक सुदी १२ सं० १९२६ मङ्गलवार को महाराज काशीनरेश बहुत से पण्डितों को साथ लेकर जब स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने के हेतु आए, तब दयानन्द स्वामीजी ने महाराज से पूछा कि आप वेदों की पुस्तक ले आए हैं वा नहीं ।

तदा महाराजेनोक्तम्—वेदाः पण्डितानां कण्ठस्थाः सन्ति किं प्रयोजनं पुस्तकानामिति ?

महाराज ने कहा कि सम्पूर्ण वेद पण्डितों को कण्ठस्थ हैं, पुस्तकों का क्या प्रयोजन है ?

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—पुस्तकैर्विना पूर्वापरप्रकरणस्य यथावद् विचारस्तु न भवति। अस्तु तावत् पुस्तकानि नानीतानि।

तब दयानन्द सरस्वतीजी ने कहा कि पुस्तकों के विना पूर्वापर प्रकरण का विचार ठीक-ठीक नहीं हो सकता। भला पुस्तक नहीं लाए तो नहीं सही, [1][परन्तु किस विषय पर विचार होगा ?

पण्डितों ने कहा कि तुम मूर्तिपूजा का खण्डन करते हो, हम लोग उसका मण्डन करेंगे।

पुनः स्वामीजो ने कहा कि जो कोई आप लोगों में मुख्य हो वही एक पण्डित मुझ से संवाद करे।]

तदा पण्डितरघुनाथप्रसादकोटपालेन नियमः कृतः—दयानन्दस्वामिना सहैकैकः पण्डितो वदतु, न तु युगपदिति।

पण्डित रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने यह नियम किया कि स्वामीजी से एक एक पण्डित विचार करे।

तदादौ **ताराचरणनैयायिको** विचारार्थमुद्यतः तं प्रति **स्वामिदयानन्देनोक्तम्**—युष्माकं वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमस्ति न वेति ?

पुनः सबसे पहिले **ताराचरण नैयायिक** स्वामीजी से विचार के हेतु सम्मुख प्रवृत्त हुए।

स्वामीजी ने उन से पूछा कि आप वेदों का प्रमाण मानते हैं वा नहीं ?

तदा ताराचरणेनोक्तम्—सर्वेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदेषु प्रामाण्यस्वीकारोऽस्तीति।

---

[1] कोष्ठान्तर्गतपाठस्य संस्कृतभागो नोपलभ्यते।—यु० मी०

उन्होंने (=**ताराचरण ने**) उत्तर दिया कि **जो** वर्णाश्रम में स्थित हैं, उन सब को वेदों का प्रमाण ही है[१]

तदा **दयानन्दस्वामिनोक्तम्**–वेदे पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत् तत् दर्शनीयम्,नास्ति चेद् वद नास्तीति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि कहीं वेदों में पाषाणादि मूर्त्तियों के पूजन का प्रमाण है वा नहीं ? यदि हो तो दिखाइये, और जो नहीं, तो कहिये कि नहीं है ।

तदा **ताराचरणभट्टाचार्येणोक्तम्**–वेदेषु प्रमाणमस्ति वा नास्ति, परन्तु वेदानामेव प्रामाण्यं नान्येषामिति यो ब्रूयात् तं प्रति किं वदेत्[२] ?

पण्डित **ताराचरण** ने कहा कि वेदों में प्रमाण है वा नहीं, परन्तु जो एक वेदों ही का प्रमाण मानता है औरों का नहीं उसके प्रति क्या कहना चाहिये ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**–अन्यो विचारस्तु पश्चाद् भविष्यति वेदविचार एव मुख्योऽस्ति, तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्यः, कुतो वेदोक्तकर्मैव मुख्यमस्त्यतः । मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि औरों का विचार पीछे होगा, वेदों का विचार मुख्य है, इस निमित्त से इसका विचार ही पहिले करना चाहिये, क्योंकि वेदोक्त ही कर्म्म मुख्य है । और मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं इससे इनका भी प्रमाण है, क्योंकि जो जो वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध हैं उनका प्रमाण नहीं होता ।

तदा **ताराचरणभट्टाचार्येणोक्तम्**—मनुस्मृतेः क्वास्ति वेदमूलमिति ?

---

[१] इससे यह समझना कि स्वामीजी भी वर्णाश्रमस्थ हैं, वेदों को मानते हैं ।

[२] 'वदेयम्' इति युक्तं स्यात् ।

पण्डित **ताराचरण** ने कहा कि मनुस्मृति का वेदों में कहां मूल है ?

स्वामिनोक्तम्—यद् वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायै'[1] इति सामवेदे[2] ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि जो जो मनुजी ने कहा है सो सो औषधों का भी औषध है, ऐसा सामवेद के ब्राह्मण में कहा है[3] ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्"[4] इत्यस्य व्याससूत्रस्य किं मूलमस्तीति ?

[तब] **विशुद्धानन्द स्वामी** ने कहा कि 'रचना की अनुपपत्ति होने से अनुमान-प्रतिपाद्य प्रधान, जगत् का कारण नहीं', व्यासजी के इस सूत्र का वेदों में क्या मूल है ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्य प्रकरणस्योपरि विचारो न कर्त्तव्य इति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि यह प्रकरण से भिन्न बात है, इस पर विचार न करना चाहिये ।

पुनर्विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—वदैव त्वं यदि जानासीति ।

फिर **विशुद्धानन्द स्वामी** ने कहा कि यदि तुम जानते हो तो अवश्य कहो ।

तदा दयानन्दस्वामिना प्रकरणान्तरे गमनं भविष्यतीति मत्वा नेदमुक्तम् ।

---

[1] ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।७।। प्रकरणानुसारमत्र वैवस्वतमनोर्निर्देशः, न स्वायम्भुवमनोः, येन मनुस्मृतेः प्रवचनं विहितम् । तुलना कार्या—तै० सं० २।२।१०।। मै० सं० २।१।६।। काठक सं० ११।१५।।—यु० मी०

[2] पण्डितानामेव मतमङ्गीकृत्योक्तमतो नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम् ।

[3] यह कहना उन पण्डितों के मत के अनुसार ठीक है, परन्तु स्वामीजी तो ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते, किन्तु मन्त्रभाग ही को वेद मानते हैं ।

[4] वेदान्त २।२।१।।

कदाचित् कण्ठस्थं यस्य न भवेत् स पुस्तकं दृष्ट्वा वदेदिति ।

इस पर **स्वामीजी** ने यह समझ कर कि प्रकरणान्तर में वार्त्ता जा रहेगी, इससे न कहा । [पुनः कहा—] जो कदाचित् किसी को कण्ठ न हो तो पुस्तक देख कर कहा जा सकता है ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—कण्ठस्थं नास्ति चेच्छास्त्रार्थं कर्तुं कथमुद्यतः काशीनगरे चेति ।

तब **विशुद्धानन्द** स्वामी ने कहा कि जो कण्ठस्थ नहीं है, तो काशी नगर में शास्त्रार्थ करने को क्यों उद्यत हुए ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—भवतः सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति ?

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि आप को सब कण्ठाग्र है ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—मम सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति ।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि हां हम को [सब] कण्ठस्थ है ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—धर्मस्य किं स्वरूपमिति ?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि कहिये धर्म का क्या स्वरूप है ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति ।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो वेद-प्रतिपाद्य फलसहित अर्थ है, वही धर्म कहलाता है ।

स्वामिनोक्तम्—इदन्तु तव संस्कृतं, नास्त्यस्य प्रामाण्यं, कण्ठस्थां श्रुतिं स्मृतिं वा वदेति ।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह आपका संस्कृत है, इसका क्या प्रमाण ? [कण्ठस्थ] श्रुति [वा] स्मृति कहिये ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"[1] इति जैमिनिसूत्रमिति[2] ।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि जो चोदनालक्षण अर्थ है सो धर्म कहलाता है, यह जैमिनि का सूत्र है।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—चोदना का? चोदना नाम प्रेरणा, तत्रापि श्रुतिर्वा स्मृतिर्वा वक्तव्या यत्र प्रेरणा भवेत् ।

[इस पर] **स्वामीजी** ने कहा कि यह सूत्र है, यहां श्रुति वा स्मृति को कण्ठ से क्यों नहीं कहते ? और चोदना नाम प्रेरणा का है वहां भी श्रुति वा स्मृति कहना चाहिये जहां प्रेरणा होती है।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिना** किमपि नोक्तम् ।

तब इसमें **विशुद्धानन्द स्वामी** ने कुछ भी न कहा।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—अस्तु तावद्धर्मस्वरूपप्रतिपादिका श्रुतिर्वा स्मृतिस्तु नोक्ता, किं च धर्मस्य कति लक्षणानि भवन्ति वदतु भवानिति ?

तब **स्वामीजी** ने कहा कि अच्छा आपने धर्म का स्वरूप [प्रतिपादक श्रुति वा स्मृति] तो न कहा, परन्तु धर्म के कितने लक्षण हैं कहिये ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनो**—एकमेव लक्षणं धर्मस्येति ।

विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि धर्म का एक ही लक्षण है।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—किं च तदिति ?

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि वह कैसा है ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिना** किमपि नोक्तम् ।

तब **विशुद्धानन्द स्वामी** ने कुछ भी न कहा।

---

[1] इदन्तु सूत्रमस्ति, नेयं श्रुतिर्वा स्मृतिः, सर्वं मम कण्ठस्थमस्तीति प्रतिज्ञायेदानीं कण्ठस्थं नोच्यत इति प्रतिज्ञाहानेस्तस्य कुतो न पराजय इति बोध्यम् ?

[2] मीमांसा १।१।२।।

तदा **दयानन्दस्वामिनोक्तम्**—धर्मस्य तु दश लक्षणानि सन्ति, भवता कथमुक्तमेकमेवेति ?

तब **स्वामी जी** ने कहा कि धर्म के तो दश लक्षण हैं, आप एक ही क्यों कहते हैं ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—कानि तानि लक्षणानीति?

तब **विशुद्धानन्द स्वामी** ने कहा कि वे कौन से दश लक्षण हैं ?

तदा स्वामिनोक्तम्—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[1] ।।

इति मनुस्मृतेः श्लोकोऽस्ति[2] ।

इस पर **स्वामीजी** ने मनुस्मृति का यह वचन कहा कि—धर्य्य १ क्षमा २ दम ३ चोरी का त्याग ४ शौच ५ इन्द्रियों का निग्रह ६ बुद्धि ७ विद्या का बढ़ाना ८ सत्य ९ और अक्रोध अर्थात् क्रोध का त्याग १० ये दश धर्म के लक्षण हैं, फिर आप कैसे एक ही लक्षण कहते हैं ?

तदा **बालशास्त्रिणोक्तम्**—अहं सर्व धर्म्मशास्त्रं पठितवानिति ।

तब **बालशास्त्री** ने कहा कि हां हमने सब धर्मशास्त्र देखा है।

तदा **दयानन्दस्वामिनोक्तम्**—त्वमधर्म्मस्य लक्षणानि वदेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि आप अधर्म का लक्षण कहिये ?

तदा **बालशास्त्रिणा** किमपि नोक्तम् ।

तब **बालशास्त्री** ने कुछ भी उत्तर न दिया।

तदा **बहुभिर्युगपत् पृष्टम्**—प्रतिमा शब्दो वेदे नास्ति किमिति ?

फिर बहुत से पण्डितों ने इकट्ठे हल्ला करके पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है वा नहीं ?

---

[1] अत्रापि तस्य प्रतिज्ञाहानेर्निग्रहस्थानं बोध्यम् ।

[2] मनु० ६।९२।।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—प्रतिमाशब्दस्त्वस्तीति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो है ।

तदा तैरुक्तम्—क्वास्तीति ?

फिर उन लोगों ने कहा कि कहां पर है ?

तदा स्वामिनोक्तम्—सामवेदस्य ब्राह्मणे चेति ।

इस पर स्वामीजो ने कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में है ।

तदा तैरुक्तम्—किं च तद्वचनमिति ?

फिर उन लोगों ने कहा कि वह कौनसा वचन है ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—"देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति"[1] इत्यादीनि ।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह है—देवता के स्थान कम्पायमान और प्रतिमा हंसती है इत्यादि[2] ।"

तदा तैरुक्तम्—प्रतिमाशब्दस्तु वेदे[3] वर्तते, भवान् कथं खण्डनं करोति ?

फिर उन लोगों ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में भी है फिर आप कैसे खण्डन करते हैं ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—प्रतिमाशब्देनैव पाषाणपूजनादेः प्रामाण्यं न भवति, प्रतिमाशब्दस्यार्थः कर्त्तव्य इति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि प्रतिमा शब्द से पाषाणादि मूर्त्तिपूजनादि का प्रमाण नहीं हो सकता है, इसलिये प्रतिमा शब्द का अर्थ करना चाहिये, इसका क्या अर्थ है ?

---

[1] षड्विंश ब्रा० ५।९॥

[2] यह वेदवचन नहीं किन्तु सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण का है, परन्तु वहां भी यह प्रक्षिप्त है† क्योंकि वेदों से विरुद्ध है ।

[3] अत्रापि तेषामवेदे ब्राह्मणग्रन्थे वेदबुद्धित्वाद् भ्रान्तिरेवास्तीति वेद्यम् ।

---

† वस्तुतः षड्विंशब्राह्मण पञ्चविंशब्राह्मण अर्थात् ताण्ड्यब्राह्मण का परिशिष्ट है । अतः यह सारा ब्राह्मण ही उत्तरकालीन है । —यु० मी०

तदा तैरुक्तम्—यस्मिन् प्रकरणेऽयं [1]मन्त्रोऽस्ति तस्य कोऽर्थ इति !

तब उन लोगों ने कहा कि जिस प्रकरण में यह मन्त्र[2] है, उस प्रकरण का क्या अर्थ है ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—"अथातोऽद्भुतशान्ति व्याख्यास्यामः"[3] इत्युपक्रम्य त्रातारमिन्द्रमित्यादयस्तत्रैव सर्वे मूलमन्त्रा लिखिताः, एतेषां मध्यात् प्रतिमन्त्रेण त्रित्रिसहस्राण्याहुतयः कार्यास्ततो व्याहृतिभिः पञ्चपञ्चाहुतयश्चेति लिखित्वा सामगानं च लिखितम् । अनेनैव कर्म्मणाद्भुतशान्तिर्विहिता । यस्मिन्मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपि तु ब्रह्मलोकविषय एव । तद्यथा—"स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेति" प्राच्या दिशोऽद्भुतदर्शनशान्तिमुक्त्वा ततो दक्षिणस्याः पश्चिमाया दिशः शान्तिं कथयित्वा उत्तरस्या दिशः शान्तिरुक्ता, ततो भूमेश्चेति मर्त्यलोकस्य प्रकरणं समाप्यान्तरिक्षस्य शान्तिरुक्ता, ततो दिवश्च शान्तिविधानमुक्तम्, ततः परस्य स्वर्गस्य[4] च नाम ब्रह्मलोकस्यैवेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि यह अर्थ है—'अब अद्भुत शान्ति की व्याख्या करते हैं', ऐसा प्रारम्भ करके फिर रक्षा करने के लिये ['त्रातारम् इन्द्र'] इत्यादि सब मूलमन्त्र वहीं सामवेद के ब्राह्मण में लिखे हैं। इनमें से प्रतिमन्त्र करके तीन तीन हजार आहुति करनी चाहियें, इसके अनन्तर व्याहृति करके

---

[1] नायं मन्त्रः, अपि तु ब्राह्मणवाक्यम् ।—यु० मी०

[2] यह ब्राह्मणवचन है, मन्त्र नहीं है । अतः इसे मन्त्र कहना पण्डितों का भ्रम है । —यु० मी०

[3] ष० ब्रा० ५।१।।

[4] स परं दिवमन्वावर्तते ··· । ष० ब्रा० ५।१०।।

पांच पांच आहुति करनी चाहियें, ऐसा लिख के सामगान भी करना लिखा है । इस क्रम करके अद्भुत शान्ति का विधान किया है । जिस मन्त्र में प्रतिमा शब्द है, सो मन्त्र मृत्युलोक विषयक नहीं, किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है । सो ऐसा है कि 'जब विघ्नकर्त्ता देवता पूर्व दिशा में वर्त्तमान होवे' इत्यादि मन्त्रों से अद्भुत दर्शन की शान्ति कहकर फिर दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, और उत्तर दिशा, इसके अनन्तर भूमि की शान्ति कहकर मृत्युलोक का प्रकरण समाप्त कर अन्तरिक्ष की शान्ति कहके, इसके अनन्तर स्वर्गलोक फिर परमस्वर्ग अर्थात् ब्रह्मलोक की शान्ति कही है । इस पर सब चुप रहे ।

तदा **बालशास्त्रिणोक्तम्**—यस्यां यस्यां दिशि या या देवता तस्यास्तस्या देवतायाः शान्तिकरणेन दुष्टविघ्नोपशान्तिर्भवतीति ।

फिर **बालशास्त्री** ने कहा कि जिस-जिस दिशा में जो-जो देवता है उस-उस की शान्ति करने से अद्भुत देखने वालों के विघ्न की शान्ति होती है ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—इदं तु सत्यम्, परन्तु विघ्नदर्शयिता कोऽस्तीति ?

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि यह सत्य है, परन्तु इस प्रकार विघ्न दिखाने वाला कौन है ?

तदा **बालशास्त्रिणोक्तम्**—इन्द्रियाणि दर्शयितॄणीति ।

तब **बालशास्त्री** ने कहा कि इन्द्रियां दिखाने वाली हैं ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—इन्द्रियाणि तु द्रष्टॄणि भवन्ति न तु दर्शयितॄणि, परन्तु 'स प्राचीं दिशमन्वार्त्ततेऽथेति' अत्र स शब्दवाच्यः कोऽस्तीति ?

इस पर स्वामी जी ने कहा कि इन्द्रियां तो देखने वाली हैं दिखाने वाली नहीं, परन्तु "स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेति" इत्यादि में 'स' शब्द का वाच्यार्थ क्या है ।

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम् ।

तब बालशास्त्री ने कुछ न कहा ।

तदा **शिवसहायेन** प्रयागस्थेनोक्तम्—अन्तरिक्षादिगमनं शान्तिकरणस्य फलमनेनोच्यते चेति ।

फिर पण्डित **शिवसहाय** ने कहा कि अन्तरिक्ष आदि गमन, [और] शान्ति करने का फल इस मन्त्र करके कहा जाता है ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—भवता तत्प्रकरणं दृष्टं किम् ? दृष्टं चेत्तर्हि कस्यापि मन्त्रस्यार्थं वदेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि आपने वह प्रकरण देखा है ? [यदि देखा है] तो किसी मन्त्र का अर्थ तो कहिये ।

तदा शिवसहायेन मौनं कृतम् ।

तब शिवसहाय चुप हो गये ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—वेदाः कस्माज्जाता इति?

फिर **विशुद्धानन्दस्वामीजी** ने कहा कि वेद किससे उत्पन्न हुए हैं?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—वेदा ईश्वराज्जाता इति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—कस्मादीश्वराज्जाताः? किं न्यायशास्त्रोक्ताद्वा योगशास्त्रोक्ताद्वा वेदान्तशास्त्रोक्ताद्वेति?

फिर **विशुद्धानन्दस्वामीजी** ने कहा कि किस ईश्वर से ? क्या न्यायशास्त्र-प्रसिद्ध ईश्वर से वा योगशास्त्र-प्रसिद्ध ईश्वर से अथवा वेदान्तशास्त्र-प्रसिद्ध ईश्वर से ? इत्यादि ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—ईश्वरा बहवो भवन्ति किमिति ?

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि क्या ईश्वर बहुत से हैं ?

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—ईश्वरस्त्वेक एव, परन्तु वेदाः कीदृग्लक्षणादीश्वराज्जाता इति ?

तब **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि ईश्वर तो एक ही है, परन्तु वेद कौन से लक्षणवाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—सच्चिदानन्दलक्षणादीश्वराद् वेदा जाता इति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि 'सच्चिदानन्द' लक्षणवाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—कोऽस्ति सम्बन्धः ? किं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा जन्यजनकभावो वा समवायसम्बन्धो वा स्वस्वामिभाव इति तादात्म्यभावो वेति ?

फिर **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि ईश्वर और वेदों का क्या सम्बन्ध है ? क्या प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव वा जन्य-जनकभाव अथवा समवायसम्बन्ध वा स्वस्वामिभाव अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है ? इत्यादि ।

तदा **स्वामीनोक्तम्**—कार्यकारणभावः सम्बन्धश्चेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि कार्य्यकारणभाव सम्बन्ध है ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत',[1] 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'[2] इति यथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालिग्रामपूजनमपि ग्राह्यमिति ।

फिर **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि जैसे 'मन में ब्रह्मबुद्धि और 'सूर्य्य में ब्रह्मबुद्धि' करके प्रतीक उपासना कही है, वैसे ही शालिग्राम के पूजन का ग्रहण करना चाहिये ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—'यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादिवचनं वेदेषु[3] दृश्यते तथा 'पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत' इति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते, पुनः कथं ग्राह्यं भवेदिति ?

---

[1] छां० उ० ३।१८।१।।

[2] तु० आदित्यो ब्रह्म' । छां० उ० ३।१९।१।।

[3] इदमपि पण्डितानां मतानुसारेणोक्तम्, नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम् ।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि जैसे "मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन वेदों[1] में देखने में आते हैं, वैसे "पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन वेदादि में नहीं देख पड़ता, फिर क्योंकर इसका ग्रहण हो सकता है ?

तदा माधवाचार्य्येणोक्तम्—'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च'[2] इति मन्त्रस्थेन पूर्त्तशब्देन कस्य ग्रहणमिति ?

तब माधवाचार्य ने कहा कि "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयञ्च०" इस मन्त्र में पूर्त्त शब्द से किसका ग्रहण है ?

तदा स्वामिनोक्तम्—वापीकूपतडागारामाणामेव[3] नान्यस्येति ।

इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि वापी, कूप, तड़ाग और आराम का ही ग्रहण है [अन्य का नहीं] ।

तदा माधवाचार्य्येणोक्तम्—पाषाणादिमूर्त्तिपूजनमत्र कथं न गृह्यते चेति ?

माधवाचार्य्य ने कहा कि इससे पाषाणादि मूर्तिपूजन का ग्रहण क्यों नहीं होता है ? ।

तदा स्वामिनोक्तम्—पूर्त्तशब्दस्तु पूर्त्तिवाची वर्त्तते, तस्मान्न कदाचित् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनग्रहणं सम्भवति । यदि शङ्कास्ति तर्हि निरुक्तम्[4] अस्य मन्त्रस्य पश्य ब्राह्मणं[5] चेति ।

---

१. यह भी उन्हीं पण्डितों का मत है, स्वामी जी का नहीं, क्योंकि स्वामी जी तो ब्राह्मण पुस्तकों को ईश्वरकृत नहीं मानते ।

२. यजु० १५।१४॥

३. कोशेषु पूर्तशब्दस्येम एवार्था निर्दिश्यन्ते । —यु० मी०

४. निरुक्ते त्वयं मन्त्रो नोपलभ्यते । —यु० मी०

५. शत० ८।६।३।२३॥

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि पूर्त्त शब्द पूर्ति का वाचक है, इससे कदाचिद् पाषाणादि मूर्तिपूजन का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि शङ्का हो तो इस मन्त्र का निरुक्त और ब्राह्मण देखिये।

ततो **माधवाचार्येणोक्तम्**–पुराणशब्दो वेदेष्वस्ति न वेति?

तब **माधवाचार्य** ने कहा कि पुराण शब्द वेदों में है वा नहीं?

तदा **स्वामिनोक्तम्**–पुराणशब्दस्तु बहुषु स्थलेषु वेदेषु[1] दृश्यते, परन्तु पुराणशब्देन कदाचिद् ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थानां ग्रहणं न भवति, कुतः? पुराणशब्दस्तु भूतकालवाच्यस्ति सर्वत्र द्रव्यविशेषणं चेति।

[इस पर] **स्वामीजी** ने कहा कि पुराण शब्द तो बहुत सी जगह वेदों में है, परन्तु पुराण शब्द से ब्रह्मवैवर्त्तादिक ग्रन्थों का कदाचित् ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि पुराण शब्द भूतकालवाची है और सर्वत्र द्रव्य का विशेषण ही होता है।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**–"एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानि"[2] इत्यत्र बृहदारण्यकोपनिषदि पठितस्य सर्वस्य प्रामाण्यं वर्त्तते न वेति?

फिर **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मन्त्र में कि **"एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनुव्याख्यानानीति"**[2] यह सब जो पठित है, इसका प्रमाण है वा नहीं?

---

[1] इदमपि पण्डितानामेव मतमाश्रित्योक्तम्।—यु० मी०

[2] बृ० उ० २।४।१०॥

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्त्येव प्रामाण्यमिति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा—हां प्रमाण है।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—श्लोकस्यापि प्रामाण्यं चेत्तदा सर्वेषां प्रामाण्यमागतमिति ।

फिर **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि यदि श्लोक का भी प्रमाण है, तो सब का प्रमाण आया ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—सत्यानामेव श्लोकानां प्रामाण्यं नान्येषामिति[1] ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि सत्य श्लोकों ही का प्रमाण होता है औरों का नहीं ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमिति ?

तब **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

तदा स्वामिनोक्तम्—पुस्तकमानय पश्चाद्विचारः कर्त्तव्य इति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि पुस्तक लाइये, तब, इसका विचार हो ।

तदा माधवाचार्य्येण वेदस्य[2] द्वे पत्रे निस्सारिते, अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्त्वेति ।

[तब] **माधवाचार्य** ने वेदों[3] के दो पत्रे निकाले, और कहा कि यहां पुराण शब्द किस का विशेषण है ?

---

[1] द्र०—'यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम्' । महाभाष्य १।१। आ० १।।

[2] इदमपि पण्डितानां मतम्, नैव स्वामिन इति वेद्यम् ।

[3] यह भी उन्हीं का मत है, स्वामीजी का नहीं । क्योंकि ये गृह्यसूत्र के पत्रे थे ।

तदा स्वामिनोक्तम्—कीदृशमस्ति वचनं पठ्यतामिति ।

[इस पर] **स्वामीजी** ने कहा कि कैसा वचन है, पढ़िये।

तदा माधवाचार्य्येण पाठः कृतस्तत्रेदं वचनमस्ति—"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति" ।

तब माधवाचार्य्य ने यह पढ़ा '**ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति**' ।

तदा स्वामिनोक्तम्—पुराणानि ब्राह्मणानि नाम सनातनानीति विशेषणमिति ।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि यहां पुराण शब्द ब्राह्मण का विशेषण है, अर्थात् पुराने नाम सनातन ब्राह्मण हैं।

तदा बालशास्त्र्यादिभिरुक्तम्—ब्राह्मणानि नवीनानि भवन्ति किमिति ?

तब **बालशास्त्री** आदि ने कहा कि ब्राह्मण कोई नवीन भी होते हैं ?

तदा स्वामिनोक्तम्—नवीनानि ब्राह्मणानीति कस्यचिच्छङ्कापि माभूदिति विशेषणार्थः ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि नवीन ब्राह्मण नहीं हैं, परन्तु ऐसी शङ्का भी किसी को न हो, इसलिये यहां यह विशेषण कहा है।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—इतिहासशब्दव्यवधानेन कथं विशेषणं भवेदिति ?

तब **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने कहा कि यहां इतिहास शब्द के व्यवधान होने से कैसे विशेषण होगा ?

तदा स्वामिनोक्तम्—अयं नियमोऽस्ति किं व्यवधानाद्विशेषणयोगो न भवेत्, सन्निधानादेव भवेदिति ?

'अजो नित्यश्शाश्वतोऽयम्पुराणो न' इति दूरस्थस्य

---

१. गीता २।२०॥

देहिनो विशेषणानि गीतायां कथम्भवन्ति ? व्याकरणेऽपि नियमो नास्ति समीपस्थमेव विशेषणं भवेन्न दूरस्थमिति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि क्या ऐसा नियम है कि व्यवधान से विशेषण नहीं होता, और अव्यवधान ही में होता है। क्योंकि [गीता के] **"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"**[1] इस श्लोक में दूरस्थ देही के भी क्या विशेषण नहीं हैं ? और कहीं व्याकरणादि में भी यह नियम नहीं किया है कि समीपस्थ ही विशेषण होते हैं दूरस्थ नहीं ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्**—इतिहासस्यात्र पुराणशब्दो विशेषणं नास्ति, तस्मादितिहासो नवीनो ग्राह्यः किमिति ?

तब **विशुद्धानन्द स्वामी जी** ने कहा कि यहां इतिहास का तो पुराण शब्द विशेषण नहीं है, इस से क्या इतिहास नवीन ग्रहण करना चाहिये ?

तदा **स्वामिनोक्तम्**—अन्यत्रास्तीतिहासस्य पुराणशब्दो विशेषणं तद्यथा—इतिहासः पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः'[2] इत्युक्तम् ।

इस पर **स्वामी जी** ने कहा कि और जगह पर इतिहास का विशेषण पुराण शब्द है। सुनिये—**"इतिहासः पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः**[2] इत्यादि में कहा है ।

तदा **वामनाचार्यादिभिरयं** पाठ एव वेदे नास्तीत्युक्तम् ।

तब **वामनाचार्य** आदिकों ने कहा कि वेदों में यह पाठ ही कहीं भी नहीं है ।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—यदि [3]'वेदेष्वयं पाठो न भवे-

---

[1] गीता २।२०।।

[2] छां० उ० ७।१।४।। 'इतिहासपुराणः' इति पाठः । 'इतिहासपुराणं' इति छां० उ० ७।७।१ पाठः ।

[3] इदमपि तन्मतमनुसृत्योक्तं, नेदं स्वामिनो मतमिति वेदितव्यम ।

च्चेन्मम पराजयः, यद्ययं पाठो वेदे यथावद्भवेत् तदा भवतां पराजयश्चेयं प्रतिज्ञा लेख्येत्युक्तम्, तदा सर्वैर्मौनं कृतमिति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि यदि वेद[1] में यह पाठ न होवे तो हमारा पराजय हो, और जो हो तो तुम्हारा पराजय हो, यह प्रतिज्ञा लिखो, तब सब चुप हो रहे ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—इदानीं व्याकरणे 'कलमसंज्ञा' क्वापि लिखिता न वेति ?

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि व्याकरण जानने वाले इस पर कहें कि व्याकरण में कहीं 'कलमसंज्ञा' करी है वा नहीं ?

तदा **बालशास्त्रिणोक्तम्**—एकस्मिन् सूत्रे संज्ञा तु न कृता परन्तु महाभाष्यकारेणोपहासः कृत इति ।

तब **बालशास्त्री** ने कहा कि संज्ञा तो नहीं की है, परन्तु एक सूत्र में भाष्यकार ने उपहास किया है ।

तदा **स्वामिनोक्तम्**—कस्य सूत्रस्य महाभाष्ये संज्ञा तु न कृतोपहासश्चेत्युदाहरणप्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं वदेति ।

इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि किस सूत्र के महाभाष्य में संज्ञा तो नहीं की और उपहास किया है ? यदि जानते हो तो इसके उदाहरण [प्रत्युदाहरण] पूर्वक समाधान कहो ?

[तदा] **बालशास्त्रिणा** किमपि नोक्तमन्येनापि चेति ।

तब **बालशास्त्री** और औरों ने कुछ भी न कहा ।

तदा **माधवाचार्येण** द्वे पत्रे वेदस्य[2] निस्सार्य्य सर्वेषां पण्डितानां मध्ये प्रक्षिप्ते । अत्र 'यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे

---

१. यह उन्हीं पण्डितों के मतानुसार कहा है, क्योंकि स्वामीजी तो छान्दोग्य उपनिषद् को वेद नहीं मानते ।

२. एते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्य भवेतामिति ।

पुराणानां पाठं शृणुयाद्' इति लिखितम्, अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणम् ? इत्युक्तम् ।

तदा **विशुद्धानन्दस्वामिना** दयानन्दस्वामिनो हस्ते पत्रे दत्ते ।

[तब] **माधवाचार्य** ने दो पत्रे वेदों[1] के निकालकर सब पण्डितों के बीच में रख दिये और कहा कि यहां 'यज्ञ के समाप्त होने पर यजमान दशवें दिन पुराणों का पाठ सुने' ऐसा लिखा है। यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

[2][**स्वामीजी** ने कहा कि पढ़ो इसमें किस प्रकार का पाठ है ? जब किसी ने पाठ न किया तब विशुद्धानन्दजी ने पत्रे उठा के स्वामीजी की ओर करके कहा कि तुम ही पढ़ो ।

स्वामीजी ने कहा कि आप ही इसका पाठ कीजिए । तब विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि मैं ऐनक के बिना पाठ नहीं कर सकता, ऐसा कहके] वे पत्रे उठाकर **विशुद्धानन्द स्वामीजी** ने दयानन्द स्वामीजी के हाथ में दिये ।

तदा **स्वामी** पत्रे द्वे गृहीत्वा पञ्चक्षणमात्रं विचारं कृतवान् । तत्रेदं वचनं वर्तते—"दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराणविद्यावेदः, इत्यस्य श्रवणं यजमानः कुर्य्यादिति"[3] ।

अस्यायमर्थः—पुराणी चासौ विद्या च पुराणविद्या पुराणविद्येव वेदः पुराणविद्यावेद इति नाम ब्रह्मविद्यैव ग्राह्या, कुतः ? एतदन्यत्रर्ग्वेदादीनां[4] श्रवणमुक्तं न चोपनिषदाम् ।

---

१. पत्रे गृह्यसूत्र के पाठ के थे, वेदों के नहीं ।

२. कोष्ठान्तर्गत भाषा-पाठ का संस्कृत-पाठ नहीं है । सम्भवतः वह पाठ यहां भ्रष्ट हो गया है ।—यु. मी.

३. अर्थतोऽयमनुवादः स्यात् । शत० १३।४।३।१३ कण्डिकायां नवमेऽहनि पुराणपाठनिर्देश उपलभ्यते ।

४. द्र० शत० १३।४।३।३-८।।

तस्मादुपनिषदामेव ग्रहणं नान्येषाम् । पुराणविद्यावेदोऽपि ब्रह्मविद्यैव भवितुमर्हति नान्ये नवीना ब्रह्मवैवर्त्तादयो ग्रन्थाश्चेति । यदि ह्येवं पाठो भवेद् ब्रह्मवैवर्त्तादयोष्टादश ग्रन्थाः पुराणानि चेति क्वाप्येव वेदेषु[1] पाठो नास्त्येव, तस्मात् कदाचित्तेषां ग्रहणं न भवेदेवेत्यर्थकथनस्येच्छा कृता[तावत्येव]।

इस पर स्वामीजी दोनों पत्रे लेकर [पांच क्षणमात्र] विचार करने लगे। [वहां इस प्रकार पाठ है—"यज्ञ समाप्ति पर दशवें दिन यजमान पुराणविद्यावेद का श्रवण करे।]

[इसका यह अर्थ है –]"पुरानी जो विद्या है उसे पुराणविद्या कहते हैं, और जो पुराणविद्या वेद है वही पुराणविद्या-वेद कहाता है, इत्यादि से यहां ब्रह्मविद्या ही का ग्रहण है। क्योंकि पूर्व प्रकरण में ऋग्वेदादि चारों वेद आदि का तो श्रवण कहा है, परन्तु उपनिषदों का नहीं कहा, इसलिये यहां उपनिषदों का ही ग्रहण है, औरों का नहीं। पुरानी विद्या वेदों ही को ब्रह्मविद्या है। इससे ब्रह्मवैवर्तादि नवीन ग्रन्थों का ग्रहण कभी नहीं कर सकते, क्योंकि जो यहां ऐसा पाठ होता कि ब्रह्मवैवर्त्तादि १८ (अठारह) ग्रन्थ पुराण हैं, सो तो वेद में[2] कहीं ऐसा पाठ नहीं है, इसलिए कदाचित् अठारहों पुराणों का ग्रहण नहीं हो सकता"। ज्यों ही यह उत्तर कहना चाहते थे कि—

तदा विशुद्धानन्दस्वामी मम विलम्बो भवतीदानीं गच्छामीत्युक्त्वा गमनायोत्थितोऽभूत् । ततः सर्वे पण्डिता उत्थाय कोलाहलं कृत्वा गताः । एवं च तेषां कोलाहलमात्रेण सर्वेषां निश्चयो भविष्यति दयानन्दस्वामिनः पराजयो जात इति ।

अथात्र बुद्धिमद्भिर्विचारः कर्त्तव्यः कस्य जयो जातः कस्य पराजयश्चेति ?

दयानन्दस्वामिनश्चत्वारः पूर्वोक्ताः पूर्वपक्षास्सन्ति । तेषां चतुर्णां प्रामाण्यं नैव वेदेषु निःसृतम्,तुनस्तस्य पराजयःकथं भवेत्?

---

१. इदमपि तन्मतमेवास्ति, न स्वामिन इति ।

२. यह पण्डितों के मतानुसार कहा है, यह स्वामीजी का मत नहीं है ।

पाषाणादिमूर्तिपूजन[त्रिपुण्ड्रादि]रचनादिविधायकं वेदवाक्यं सभायामेतैः सर्वैर्नोक्तम् । येषां वेदविरुद्धेषु वेदाप्रसिद्धेषु च पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिषु शैवशाक्तवैष्णवादिसंप्रदायादिषु रुद्राक्षतुलसीकाष्ठमालाधारणादिषु त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरचनादिषु नवीनेषु ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थेषु च महानाग्रहोऽस्ति तेषामेव पराजयो जातः, इति तथ्यमेवेति ।

विशुद्धानन्द स्वामीजी उठ खड़े हुए और कहा कि हमको विलम्ब होता है हम जाते हैं, तब सब के सब [पण्डित] उठ खड़े हुए और कोलाहल करते हुए चले गये । इस अभिप्राय से कि लोगों पर विदित हो कि दयानन्द स्वामीजी का पराजय[1] हुआ ।

[यहां बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये कि] जो दयानन्द स्वामीजी के ४ पूर्वोक्त प्रश्न हैं, उनका वेदों में तो प्रमाण ही न निकला. फिर क्योंकर उनका पराजय हुआ ?

[पाषाणादि-मूर्ति-पूजन और त्रिपुण्ड्रादि रचनादि विधायक एक भी वेद-वचन सभा में इन लोगों में से किसी ने भी नहीं कहा । इससे जिनका वेदों से विरुद्ध और वेदों से सिद्ध न किये जा सकने वाले पाषाणादि-मूर्ति-पूजन, शैव-शाक्त-वैष्णवादि सम्प्रदायों, रुद्राक्ष तुलसी-काष्ठ-मालादि धारण करने, त्रिपुण्ड्र ऊर्ध्वपुण्ड्रादि लगाने, और नवीन ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थों में पूर्ण विश्वास है, उनका ही पराजय हुआ, यही सत्य है ।]

॥ इति ॥

---

[1] क्या किसी का भी इस शास्त्रार्थ से ऐसा निश्चय हो सकता है कि स्वामी जी का पराजय और काशीस्थ पण्डितों का विजय हुआ ? किन्तु इस शास्त्रार्थ से यह तो ठीक निश्चय होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का विजय हुआ और काशीस्थों का नहीं । क्योंकि स्वामीजी का तो वेदोक्त सत्य मत है, उनका विजय क्योंकर न होवे ? काशीस्थ पण्डितों का पुराण और तन्त्रोक्त मत, जो पाषाणादि मूर्त्तिपूजादि है, उनका पराजय होना कौन रोक सकता है ? यह निश्चय है कि असत्य पक्ष वालों का पराजय और सत्य वालों का सर्वदा बिजय होता है ।

२. शास्त्रार्थ-हुगली

संपादकीय

काशी नरेश के सभा-पण्डित ताराचरण तर्करत्न से स्वामी दयानन्द सरस्वती का **प्रतिमा-पूजन की वैदिकता या अवैदिकता** पर सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ चैत्र शुक्ला ११ सं० १९३० वि० मंगलवार को हुगली में हुआ। पं० ताराचरण अपने युग के प्रसिद्ध नैयायिक विद्वान् थे। स्वामी जी से उनका साम्मुख्य काशी-शास्त्रार्थ के प्रसंग में भी हो चुका था। चौबीस परगना (बंगाल) जिले के हुगली नदी के बांये तट पर विद्यमान 'भाटपाड़ा' ग्राम निवासी पं० ताराचरण से श्रीमहाराज का यह शास्त्रार्थ ८ अप्रैल १८७३ के दिन हुगली नगर में वृन्दावनचन्द्र मण्डल के निवास-स्थान पर हुआ था।

पं० लेखराम ने श्रीमहाराज के उर्दू जीवन-चरित में इस शास्त्रार्थ के प्रसंग में लिखा था—

"सं० १९३० में यह शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में हुआ। उसी समय उनका अनुवाद बंगला भाषा में मुद्रित किया गया। और बहुत शीघ्र ही सं० १९३० वि० (१८७३ ई०) में 'लाइट प्रेस, बनारस' से २८ पृष्ठ का बा० हरिश्चन्द्र एक मूर्तिपूजक ने जो कि गोकुलियो गोस्वामी मत में था, उसे शब्दशः आर्यभाषा में छपवा कर मुद्रित किया। वह आज तक पांच बार छप चुका है, परन्तु पृथक् पुस्तक (अर्थात् हुगली शास्त्रार्थ) विक्रयार्थ नहीं मिलता।" द्र०—उर्दू जीवन-चरित पृ० ७९१, १८९७ तथा हिन्दी संस्क० पृष्ठ ८१७।

उपर्युक्त उल्लेख से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं— (१) हुगली-शास्त्रार्थ का विवरण सर्वप्रथम बंगला भाषा में मुद्रित हुआ, परन्तु उस बंगला पुस्तक का कुछ अता पता आज तक नहीं चल सका। (२) जिन हरिश्चन्द्र ने उसे आर्यभाषा (हिन्दी) में अनूदित कर प्रकाशित किया, वे हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और लेखक स्वनाम-धन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। उनके द्वारा प्रकाशित 'प्रतिमा-पूजन-बिचार' शीर्षक यह शास्त्रार्थ १८×२२ के आठ पृष्ठ वाले

आकार में २८ पृष्ठों में छपा[1]। उसके मुख-पृष्ठ का ब्यौरा इस प्रकार था—

प्रतिमा-पूजन-विचार

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामी और ताराचरण तर्करत्न का शास्त्रार्थ, जो कि हुगली में हुआ था, उसे बाबू हरिश्चन्द्र की आज्ञा से बनारस लाइब छापेखाने में गोपीनाथ पाठक ने मुद्रित किया सं० १९३० ।

Printed At "THE LIGHT PRESS" BENARES. 1873

पं० लेखराम के कथनानुसार इस पुस्तक के पांच संस्करण उस समय तक निकल चुके थे। इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण भारतेन्दु की मृत्यु (१८८५ ई०) के तीन वर्ष पश्चात् १८८८ ई० में 'खड्ग विलास प्रेस' बांकोपुर पटना से प्रकाशित हुआ। इसके मुख पृष्ठ पर निम्न बातें अंकित हैं—

Reg under Act of 1847

प्रतिमा-पूजन-विचार

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामी और ताराचरण तर्करत्न का शास्त्रार्थ
जो कि हुगली में हुआ था
भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र संगृहीत
जिसको हिन्दी भाषा के प्रेमी तथा रसिकजनों के मनोविलास के लिए क्षत्रिय-पत्रिका सम्पादक श्री म० कु० बाबू रामदीन सिंह ने प्रकाशित किया।
पटना खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर
साहिब प्रसाद सिंह ने मुद्रित किया
१८८८ मूल्य =)

इस द्वितीय संस्करण की एक प्रति आर्यसमाज अजमेर के 'श्री मुन्नालाल नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय' में विद्यमान है।

जिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८६९ ई० के काशी-शास्त्रार्थ के तुरन्त बाद ही "दूषण-मालिका" लिख कर स्वामीजी पर आक्षेपों

---

[1] इसकी एक प्रति पं० भगवद्दत्त जी के माडल टाउन लाहौर स्थित संग्रह में थी। १९४७ के उपद्रवों में वह पुस्तक-संग्रह नष्ट हो गया।

की वृष्टि की थी, उन्हीं वल्लभ-सम्प्रदायानुयायी भारतेन्दु ने १८७३ ई० में उन्हीं स्वामी दयानन्द के प्रतिमा-पूजन विषयक शास्त्रार्थ को प्रकाशित किया, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है। इससे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि प्रगतिशील विचारधारा के अनुयायी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वामी दयानन्द के युग-परिवर्तनकारी क्रान्तिकारी विचारों के अन्तःकरण से समर्थक थे।[1]

मुन्शी बख्तावर सिंह सम्पादित 'आर्य-दर्पण' के फरवरी १८८० के अंक में 'शास्त्रार्थ-हुगली, जो संवत् १९२९[2] में स्वामी दयानन्द सरस्वती और पंडित ताराचरण के बीच हुआ था' इस शीर्षक से पृष्ठ ३५ से पृष्ठ ४२ पर्यन्त उर्दू तथा हिन्दी में समानान्तर कालमों में प्रकाशित हुआ। परन्तु यह उस पुस्तक का पूर्वार्द्ध मात्र ही था, जिसमें स्वामी जी तथा पं० तर्करत्न के शास्त्रार्थ का विवरण दिया गया है। 'प्रतिमा-पूजन-विचार' शीर्षक के अन्तर्गत जो प्रतिमा शब्द तथा तत् सम्बन्धी अन्य विषयों का शास्त्रीय विवेचन स्वामीजी ने किया, वह इस पत्र में प्रकाशित नहीं हुआ। पं० लेखराम द्वारा रचित उर्दू जीवन चरित तथा देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत जीवन चरित में भी ग्रन्थ का पूर्वभाग (संक्षिप्त रूप से) क्रमशः पृष्ठ २०१-२०८ तथा पृष्ठ २७०-२७३ (द्वितीय भाग) दिया गया है। परन्तु पाठ भेद सर्वत्र है। पूर्वार्द्ध का यही अंश पं० गोपालराव शर्मा (अथवा पं० गोपालशास्त्री शर्मा) रचित 'दयानन्द दिग्विजयार्क' प्रथम खण्ड के तृतीय मयूखान्तर्गत भी प्रकाशित हुआ। इसके अन्त में 'दिग्विजयार्क' के लेखक की निम्न टिप्पणी बड़ी मार्मिक है—

"आर्यगण! पं. ताराचरणजी जो अपने असत्य-भाषण का कारण अपना पेट दिखाते हैं; सो बहुत ही ठीक है। यही हाल देश भर के पण्डित और पुजारी वैरागियों का जानो कि विचारे पेट के मारे चारनाचार (?) असत्य को सत्य ठहरा रहे हैं, परन्तु नहीं मालूम कि

---

१. श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रकाशित 'हरिश्चन्द्रपत्रिका' के सम्पादक मण्डल में 'स्वामी दयानन्द' का नाम भी रहता था। द्र० धर्मयुग, १२ सितम्बर १९७६, पृष्ठ २१। यु० मी०

२. यहां सं० १९३० चाहिये।

इनको छोड़ बाकी रहे लोग किमर्थ अन्धे बहरे बन रहे हैं। ये वही राजपंडित हैं जो प्रथम काशी के शास्त्रार्थ में अगुआ बन बोले थे।"

'आर्यदर्पण,' पं. लेखराम रचित जीवन चरित तथा 'दयानन्द दिग्विजयार्क' में उद्धृत हुगली-शास्त्रार्थ पूर्वार्द्ध के पाठ में पर्याप्त भेद है। उसका कारण लिपि-कर्त्ताओं की भूल ही मानी जा सकती है। परन्तु ग्रन्थ का मूल सही पाठ वही है, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा १८७३ ईस्वी में प्रकाशित किया गया था, तथा जिसका द्वितोय संस्करण १८८८ ई० में पटना से प्रकाशित हुआ था। इसे ही पण्डित भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' (द्वितीय संस्करण २०१२ वि.) में पृष्ठ ५—१७ पर्यन्त[1] तथा पं. जगत्कुमार शास्त्री सम्पादित 'ऋषि-दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह' में पृष्ठ ३०३—३१३ पर्यन्त प्रकाशित किया गया है। गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने इसे पृथक् पुस्तकाकार भो प्रकाशित किया था। **'प्रतिमा-पूजन-विचार'** के 'प्रतिमा' तथा 'पुराण' विषयक विवेचनोय अंशों को भी मुन्शी बख्तावरसिंह ने 'आर्य-दर्पण' के मार्च १८८० ईस्वी (पृष्ठ ५०—५३) तथा जून १८८० ई० (पृ० १२५-१२७) के अंकों में उर्दू हिन्दी के समानान्तर कालमों में 'यथार्थ-प्रकाश' ३-४ शीर्षक से प्रकाशित किया था। ग्रन्थान्त के निम्न श्लोक तथा पुष्पिका के वाक्य से इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत भाग श्री महाराज ने स्वयं बनाया होगा, ऐसा अनुमान होता है—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना ।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा [2]राष्ट्रिशरणा
स को दान्तः शान्तो विदितविदितो वेदविदितः ॥
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम् ॥

यहां भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत 'प्रतिमा-पूजन-विचार' का मूल पाठ **'शास्त्रार्थ-हुगली'** शोर्षक से आगे दिया जा रहा है।

---

[1] नये तृतीय संस्करण में पृष्ठ ९ से ३१ तक छपा है।

[2] 'राष्ट्रिन्' शब्दो निघण्टौ [२।२२] ईश्वरनामसु पठितम्। यु०मी०

शास्त्रार्थ-हुगली

चैत्र शुक्ला एकादशी संवत् १९३० अर्थात् ८ अप्रैल १८७३

[पूर्व पीठिका]

एक पण्डित ताराचरण तर्करत्न नामक भाटपाड़ा ग्राम[1] के निवासी हैं, जो कि ग्राम हुगली के पास है। उस ग्राम में उनका जन्मभूमि है, परन्तु आजकल श्रीयुत काशीराज महाराज के पास रहते हैं। संवत् १९२९ में वे अपनी जन्मभूमि में गये थे। वहां से कलिकाता में भी गये थे और किसी स्थान में ठहरे थे।

जिन के स्थान में मैं ठहरा था, उनका नाम श्रीयुत राजा ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर तथा श्रीयुत राजा शौरिन्द्रमोहन ठाकुर है। उन के पास तीन बार जा-जा करके ताराचरण ने प्रतिज्ञा की थी कि हम आज अवश्य शास्त्रार्थ करने को चलेंगे। ऐसे ही तीन दिन तक कहते रहे, परन्तु एक बार भी न आये। इससे बुद्धिमान् लोगों ने उनकी बात झूठी ही जान ली।

मैं कलिकाता से हुगली में आया और श्रीयुत वृन्दावनचन्द्र मण्डल जी के बाग में ठहरा था। सो एक दिन उन्होंने अपने स्थान में सभा की। उसमें मैं भी वक्तृत्व करने के लिए गया था, तथा बहुत पुरुष सुनने को आये थे। उन से मैं अपना अभिप्राय कहता था, वे सब लोग सुनते थे। उसी समय में ताराचरण पण्डित जी भी वहां आये। तब उनसे वृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप सभा में आइए, इच्छा हो सो कहिए। परन्तु सभा के बीच में पण्डित ताराचरण नहीं आए, किन्तु ऊपर जाकर दूर से गर्जते थे।

वहां भी उन्होंने जान लिया पण्डित जी कहते तो हैं परन्तु समीप क्यों नहीं जाते? इस से जैसे वे ताराचरण जी थे, वैसे ही उन्होंने जान लिये। फिर जब नव घण्टा बज गया, तब लोगों ने मेरे से कहा कि अब समय दश घण्टा का है। उठना चाहिए, बहुत रात आ गई।

---

[1] भाटपाड़ा ग्राम हुगली नदी के बांये तट पर है, और हुगली ग्राम दाहिने तट पर।

फिर मैं और सब सभास्थ लोग उठे, उठके अपने-अपने स्थान में चले गये। फिर मैं बाग में चला आया। उसके दूसरे दिन बृन्दावनचन्द्र मंडल जी ने मेरे से कहा कि उस वक्त ताराचरण भी आये थे। जब मैंने उनसे कहा कि सभा में क्यों नहीं आए ? उन्होंने कहा कि वे तो बड़ा अभिमान करते हैं। तब मैंने उनसे कहा—जो अभिमान करता है, सो पण्डित नहीं होता, किन्तु वह काम मूर्ख का ही है। और जो पण्डित होता है, सो तो कभी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता। जो ताराचरण पण्डित जी अभिमान में डूबे जावें, तब तो उनको मेरे पास एक वार ले आइये। फिर वे अभिमान-समुद्र में डूबने से बच जायें तो अच्छा हो।

तब बृन्दावनचन्द्रादिकों ने कहा कि आप बाग में चलिए, और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा शास्त्रार्थ कीजिए। पण्डित जी की कुछ इच्छा न देखी, तब वृन्दावनचन्द्र से मैंने कहा कि आप उनसे कहें कि कुछ चिन्ता आप न करें। स्वामी जी ने हम से कह दिया है कि पण्डित जी प्रसन्नता से आवें, मैं किसी से विरोध नहीं रक्खता। तब तो पण्डित जी ने कहा—हम चलेंगे।

[शास्त्रार्थ]

सो मंगलवार की सन्ध्या समय में बहुत लोग नगर से शास्त्रार्थ सुनने को आये[1]। वृन्दावनचन्द्र भी बहुत लोगों के साथ आये। तथा पाठशालाओं के अध्यक्ष श्री भूदेव मुकुर्ज्या आये, तथा श्री हरिहर तर्कसिद्धान्त पंडित भी आये। उसके पीछे पंडित ताराचरण जी सशिष्य तथा अपने ग्राम-निवासियों के साथ आये, जो कि उनके पक्षपाती थे।

ये सब लोग आ के सभा के स्थान में इकट्ठे भये। तब मैं भी उस स्थान में आया, फिर सब यथायोग्य बैठे। तब ताराचरण जी ने प्रतिज्ञा को कि हम प्रतिमा का स्थापन पक्ष लेते हैं। फिर मैंने कहा कि जो आपकी इच्छा हो सो लोजिये, मैं तो इस बात का खण्डन ही करूंगा।

तब उन ने मुझसे कहा कि इस संवाद में वाद होना ठीक है, वा जल्प अथवा वितण्डा ? उनसे मैंने कहा कि वाद ही होना उचित

---

[1] चैत्र सु० ११ संवत् १९३० अर्थात् ८ एप्रिल १८७३।

है, क्योंकि जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना कभी उचित नहीं, [किन्तु] वाद गोतमोक्त[1] लेना । तब उन्होंने भी स्वीकार किया ।

फिर दूसरी यह प्रतिज्ञा उस समय में की गई कि चार वेद तथा चार उपवेद, छः वेदों के अंग और छः दर्शन मुनियों के किये, तथा मुनि और ऋषियों के किये छः शास्त्रों के व्याख्यान, उन्हों के वचन प्रमाण से ही कहना, अन्य कोई का प्रमाण नहीं । तब उन ने भी स्वीकार किया, मैंने भी ।

तर्करत्न[2]—पातंजल-सूत्रम्—

चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः । इति व्यासवचनम् ।

स्वामी—[3]तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी, उसको देखा, तब भी मिथ्या ही उनने लिखा । क्योंकि योगशास्त्र पढ़ा होय, तब उस शास्त्र को जान सकता है । तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं, इसमे उनने अशुद्ध लिखा । जो पढ़ा भया होता है, सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता[4] । देखना चाहिये कि ऐसा पातञ्जल-शास्त्र में सूत्र ही नहीं है । किन्तु ऐसा सूत्र तो है—

[5]**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी,** इति[6] । सो इस सूत्र के व्याख्यान में "**नासिकाग्रे धारयतः**" इत्यादिक वहां लिखा है । यह तो उनने जाना भी नहीं, इससे उनका लिखना भ्रष्ट है ।

फिर लिखते हैं कि—**इति व्यासवचनम्** । इस प्रकार का

---

[1] अर्थात् न्याय-शास्त्र-प्रतिपादित —'**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।**
न्याय० १।२।१।।

[2] जहां-जहां तर्करत्न शब्द आवे, वहां-वहां ताराचरण पण्डित जी को जान लेना । और जहां-जहां स्वामी शब्द आवे. वहां-वहां दयानन्द सरस्वती स्वामीजी को जान लेना ।

[3] यहां से अगला पाठ स्वामी जी का समालोचनात्मक लेख रूप है ।

[4] इस पद से तथा आगे प्रयुक्त ऐसे शब्दों से विदित होता है कि यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ था ।—यु०मी०

[5] योग० १।३५।।

[6] संस्कृत-शास्त्रार्थ के संकेत मात्र यहां उद्धृत हैं । पूरा पाठ अनुवादक ने सम्भवतः छोड़ दिया ।—यु०मी०

वचन व्यास जी ने कहीं योगशास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इससे यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है। फिर यह लिखा कि—

तर्करत्न—स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा आभोगः स च स्थूल-विषयत्वात् स्थूलः, इत्यादि।

स्वामी—यह भी उनका लिखना अशुद्ध ही है। क्योंकि प्रतिज्ञा तो ऐसी पूर्व की गई थी कि वेदादिक शास्त्र-वचनों से ही प्रतिमा-पूजन का स्थापन हम करेंगे, और वचन फिर लिखा **वाचस्पति** का। इस से तर्करत्न की प्रतिज्ञा-हानि हो गई। प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया। क्योंकि—**प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम्**[1] इत्यादिक निग्रहस्थान होते हैं। यद्यपि हमको जय और पराजय की इच्छा कभी नहीं है, तथापि गोतम मुनिजी ने छब्बीस निग्रहस्थान लिखे हैं। निग्रहस्थान सब पराजय के स्थान ही होते हैं। और पहिले प्रतिज्ञा की थी कि जल्प और वितण्डा न करेंगे, फिर जाति-साधन से प्रतिमा का स्थापन करने लगे, क्योंकि प्रतिमा भी स्थूल-साधर्म्य से आती है।

यावान् जागरितावस्थाविषयः तावान् सर्वः स्थूलः कुतः? इत्यादि। मैंने उनको ज्ञापक से जना दिया कि ये गृहस्थ हैं, इनकी अप्रतिष्ठा न हो जाय, तदपि उनने कुछ भी नहीं जाना। जानें तो तब जब कुछ शास्त्र पढ़ा हो, अथवा बुद्धि शुद्ध हो। **साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्ष०**[2] इत्यादिक चौबीस प्रकार का शास्त्रार्थ जाति के विषय में गोतम मुनि जी ने लिखा है। इसके नहीं जानने से जल्प और वितण्डा तर्करत्न ने किये। क्योंकि—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥१॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥२॥[3]

जैसा कि इन सूत्रों का अभिप्राय है, वैसा ही तर्करत्न जी ने

---

[1] न्याय० ५।२।११॥

[2] न्याय० ५।१।१॥

[3] न्याय० १।२।२-३॥

प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने में जल्प और वितण्डा ही किया। इससे दूसरे बेर प्रतिज्ञाहानि उनने की। अतः द्वितीय पराजय उनका हुआ।

तर्करत्न—यदुक्तं भवता तेनैव प्रतिमापूजनमेव सिद्ध्यत्येव तस्य स्थूलत्वात्।

स्वामी—इसमें तीन बेर **'एव'** शब्द लिखने से यह जाना गया कि ताराचरणजी को संस्कृत का यथावत् बोध भी नहीं है। इससे तर्करत्न जी अभिमान में डूबे जाते हैं। क्योंकि हम बड़े पण्डित हैं, इस प्रकार का जो स्वमुख से कहना है, सोई विद्याहीनता को जनाता है।

फिर **लोकान्तरस्थ** शब्द से मैंने उनको जनाया कि जो चतुर्भुज को आप लेते हो, सो तो वैकुण्ठ में सुने जाते हैं, [उनकी] "**उप**" अर्थात् समीप "**आसना**" अर्थात् स्थिति सो मनुष्यलोक में रहने वाला कैसे कर सकेगा? कभी नहीं। और जो पाषाणादिक की मूर्ति शिल्पी की रची भई, सो तो विष्णु है नहीं। तब भी पण्डित जी कुछ नहीं समझे। क्योंकि जो कुछ विद्या पढ़ी होती अथवा सत्पुरुषों का संग किया होता, तो समझ जाते। सो तो कभी किया नहीं, इससे ताराचरण जी उस बात को न समझ सके। फिर एक कहीं से सुनी सुनाई ब्राह्मण की श्रुति बिना प्रसंग से पढ़ी। सो यह है—

तर्करत्न—अब स यदा पितृनावाहयति पितृलोकेन तेन सम्पन्नो महीयते। इस श्रुति से लोकान्तरस्थ की भी उपासना आती है, इस अभिप्राय से देखना चाहिए।

स्वामी—इस श्रुति में उपासना लेशमात्र नहीं आती, क्योंकि यह श्रुति जिस योगी को अणिमादिक सिद्धि हो गई हैं, वह सिद्ध जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, उस उस लोक को उसी समय प्राप्त होता है। सो जब पितृलोक में जाने की इच्छा करता है, पितृलोक को प्राप्त होके आनन्द करता है। क्योंकि—**'तेन पितृलोकेन महीयते'** इत्युक्तत्वात्। ऐसे इच्छा मात्र से ही ब्रह्मलोकादिक में विहार करता है। इससे इस श्रुति में मरकर उस लोक में जाता है, अथवा पितरों की उपासना इस लोक में करता है, इस अभिप्राय के नहीं होने से ताराचरण जी का कहना मिथ्या ही है। इससे क्या आया कि

अर्थान्तर का जो कहना है, सो निग्रहस्थान ही है। निग्रहस्थान के होने से पराजय हो गया।

'सर्वः स्थूल इत्यनेन' इत्यादिदेहान्तरगतस्य प्राप्तित्वादिति दिव्ययोगदेहप्राप्तित्वाद्योगिनो न तु प्राकृतदेहस्य माहात्म्यमिदमित्यर्थस्य जागरूकत्वात् देहान्तरम्।

अर्थात् जो दिव्य योग-सिद्धियों से प्राप्त होता है, उस देह से यह बात होती है। और जो अयोगी का देह नाम शरीर उससे कभी यह बात नहीं होती।

तर्करत्न—प्रथमतः अस्माभिरित्यादि०।

स्वामी—दूषण अथवा भूषण का ज्ञान तो विद्या होने से होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि दूषण तो आपके वचनों में हैं, परन्तु आपने नहीं जाने। यह आपकी बुद्धि का दोष है, जो आपने प्रत्यक्ष दिखाये दूषणों को भी नहीं जाना। ऐसे दूषणों को तो बालक भी जान सकता है।

तर्करत्न—तन्मध्ये प्रतिमापि वर्तते इत्येव, इत्यादि।

स्वामी—आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प और वितण्डा कभी नहीं। फिर बार-बार स्थूलत्व-साधर्म्य से ही प्रतिमा-पूजन स्थापन किया चाहते हो, सो अपनी प्रतिज्ञा को आप ही नाश करते हो, और फिर चाहते हो कि हमारा विजय होवे, सो कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि विजय तो पूर्ण विद्या और सत्य-भाषण करने से होता है, सो आप में एक भी नहीं। इससे आप विजय की इच्छा कभी मत करो, किन्तु आपको अपने पराजय की इच्छा करनी उचित है। किंच जो आप लोगों की इच्छा होवे, तो वेदादिक सत्यशास्त्रों को अर्थ-ज्ञान सहित पढ़ेंगे, तथा पढ़ावेंगे, तब फिर आप लोगों का पराजय कभी न होगा, किन्तु सर्वत्र विजय ही होगा, अन्यथा नहीं।

तर्करत्न—दृष्टान्तत्वेनेत्यादि० छान्दोग्य० दहरविद्यायामित्यादि० चेति।

स्वामी—उस श्रुति का एक अंश दार्ष्टान्त में नहीं मिलने से यह आपका कहना मिथ्या ही है। सो मैंने कह दिया है, पहिले उससे जान लेना।

यह किसने कहा कि जीवता पुरुषों को उपासना का अधिकार नहीं है ? सो यह आपका कहना मिथ्या ही है । क्योंकि ब्रह्मविद्या का और पाषाणादिक मूर्तिपूजन का क्या प्रसंग है ? कुछ भी नहीं । इससे यह भी अर्थान्तर है, अर्थान्तर के होने से निग्रहस्थान अर्थात् पराजय-स्थान आपका है । सो आप यथावत् विचार करके जान लेवें ।

तर्करत्न—प्रथमतः **अस्माभिः यत् भवत्पक्ष इत्यादि, तत्र प्रतिमापि वर्त्तते इत्येवेति ।**

स्वामी—आप जान लेवें कि साधर्म्य-हेतुप्रमाण से ही बोलते हैं । इससे आपके कहे जितने दूषण हैं, वे सब आपके ऊपर ही आ गये । क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा अर्थात् वाद ही हम करेंगे, ऐसी प्रथमतः कर चुके हैं, फिर भी जल्प और वितण्डा ही बारम्बार करते हैं । इससे अपना पराजय आप ही कर चुके । क्योंकि आपको जो विद्या और बुद्धि होती, तो कभी ऐसी भ्रष्ट बात न करते और निग्रहस्थान में बारम्बार न आते । आपको संस्कृत भाषण करने का भी यथावत् ज्ञान नहीं है । क्योंकि **प्रथमतः अस्माभिः यत्** ऐसा भ्रष्ट[1] असम्बद्ध भाषण कभी न करते । किंच **प्रथमतोऽस्माभिर्यत्** ऐसा श्रेष्ठ और संबद्ध संस्कृत ही कहते ।

तर्करत्न—दृष्टान्ते सर्वविषयाणां साम्यप्रयोजनं नास्तीति ।

स्वामी—यह भी आपका कहना भ्रष्ट ही है । क्योंकि मैंने कब ऐसा कहा था कि सब प्रकार से दृष्टान्त मिलता है । वह श्रुति एक अंश से आपके अभिप्राय से मिलती नहीं । इसमें मैंने कहा कि इस श्रुति का पढ़ना आपका मिथ्या ही है । ऐसा ही आपका कहना सब भ्रष्ट है ।

भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते०[2] । यह आप का जो कहना है, सो प्रतिज्ञान्तर ही है । क्योंकि स्थूलत्व तुल्य जो प्रतिमा में और गर्दभादिकों में है, इस हेतु से ही प्रतिमा-पूजन का स्थापन करा चाहते हो । सो फिर भी जल्प

---

[1] सन्ध्यभावरूप भ्रष्ट ।

[2] यह ताराचरण का बचन है

और वितण्डा ही आती है, वाद नहीं। इससे वारम्बार आपका पराजय होता गया, फिर भी आपको बुद्धि वा लज्जा न आई। यह बड़ा आश्चर्य जानना चाहिये कि अभिमान तो पण्डितता का करें; और काम करें अपण्डित का।

तर्करत्न—प्रतिमापि वर्त्तते इत्यादि, अयं तु प्रकृतविषयस्य साधकः, न तु प्रतिज्ञान्तरम्, इत्यादि ।

स्वामी—प्रकृत विषय यही है कि प्रतिमा-पूजन का स्थापन, सो स्थापन वाद से और वेदादिक सत्यशास्त्रों के प्रमाण से ही करना। फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ के जल्प, तथा वितण्डा और मिथ्या-कल्पित बचन ये वाचस्पत्यादिकों के उनसे स्थापन करने में लग गये। अहो अत्याश्चर्य कि ताराचरण जी की बुद्धि विद्या के विना बहुत छोटी है, जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आपका दोष नहीं, किन्तु आपकी बुद्धि का दोष है, और आपके काम क्रोध अविद्या लोभ मोह भय विषयासक्त्यादिक दोषों का दोष है। तर्करत्न जी ! यह आप देख लीजिये कि कितने बड़े-बड़े दोष आप में हैं ?

प्रथम तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन पक्ष लेके फिर जब कुछ भी स्थापन न हो सका, तब **उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्**[1]। [इस प्रकार] अपने आप ही खण्डन प्रतिमा-पूजन का करने लगे कि भ्रम-मूल अर्थात् प्रतिमा-पूजन मिथ्या ही है। इससे आपके पक्ष का आपने ही खण्डन कर दिया, फिर मिथ्या ग्रन्थ जो **पञ्चदशी**, उसके प्रमाण देने लग गये। और जो प्रथम वेदादिक जो बीस[2] सनातन ऋषि मुनियों के किये मूल और व्याख्यान तथा परमेश्वर के किये चार वेद इनके प्रमाण से बोलेंगे, सो आपकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। प्रतिज्ञा के मिथ्या होने से आपका पराजय भी हो गया।

फिर—'**भ्रान्तिरस्माकं न दूषणीया** यह भी पहिले आपका कहना है, सो कोई भी पण्डित न कहेगा कि भ्रान्ति भूषण होता

---

[1] ताराचरण का कथन ।

[2] पूर्व पृष्ठ ५१ पर गिनाये गये । ६ शास्त्रों की व्याख्याओं का संबन्ध करने से २६ होते हैं ।—यु०मी०

है। यह तो आपकी भ्रान्त बुद्धि का ही वैभव है, और जो सज्जन लोग हैं, वे तो भ्रान्ति को दूषण ही जानते हैं। तथा—[1]भ्रमः खलु द्विविधः, इत्यादि० यह पञ्चदशी का वचन है। यह भी प्रतिज्ञा से विरुद्ध ही है, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में इसकी गणना नहीं है।

पाषाणादि की रचित मूर्त्ति में देवबुद्धि का जो करना है, सो दीप-प्रभा में मणिभ्रम की नांई ही है, क्योंकि दीप तो कभी मणि न होगा, और मणि तो सदा मणि ही रहेगा। सो आपने मुख से कहा परन्तु हृदय में शून्यता के होने से कुछ भी नहीं जाना। ऐसा ही आपका सब कथन भ्रष्ट है। आपको जो कुछ भी ज्ञान होय तब तो जान सकते, अन्यथा नहीं।

तर्करत्न जी ने आगे-आगे जो कुछ कहा है, सो-सो भ्रष्ट ही है। बुद्धिमान् लोग विचार लेवें। ताराचरण जी इस प्रकार के मनुष्य हैं कि कोई बुद्धिमान् [के] सामने जैसा बालक। और भाषण वा श्रवण करने के योग्य भी नहीं, क्योंकि जिसको बुद्धि और विद्या होती है, सोई कहने वा श्रवण में समर्थ होता है। सो तर्करत्न जी [में] न बुद्धि है, और न कुछ विद्या है, इससे न कहने न सुनने में समर्थ हो सकते हैं। इनका नाम जो तर्करत्न कोई ने रखा है, सो अयोग्य ही रखा है। क्योंकि—

अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।[2]

यह गोतम मुनि जी का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् जिसका यथावत् स्वरूपज्ञान न होवे, उसके ज्ञान के वास्ते कारण अर्थात् हेतु और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उपपत्ति अर्थात् यथावत् युक्ति से ऊह नाम वितर्क अर्थात् विविध वचार और युक्तिपूर्वक विविध वाक्य कहना विनयपूर्वक श्रेष्ठों से, उसे 'तर्क' कहते हैं। तर्क—सो इसका लेशमात्र सम्बन्ध भी ताराचरण जी में नहीं होने से तर्करत्न तो नाम अनर्थक है।

किन्तु इनके कथन में थोड़े से दोष मैंने दिखाये हैं, जैसा कि समुद्र के आगे एक बिन्दु। किन्तु उनके भाषण में केवल दोष ही हैं, गुण एक भी नहीं, सो विद्वान् लोग विचार कर लेवें।

---

१. ताराचरण का कथन।

२. न्याय १।१।४०॥

वेई ये ताराचरण जी हैं कि जब काशी नगर के पण्डितों से आनन्द बाग में सभा[1] भई थी, उसमें विशुद्धानन्द स्वामी तथा बालशास्त्री इत्यादिक पण्डित आये थे। उनके सामने डेढ़ पहर तक एक बात में मौन करके बैठे रहे थे, दूसरी बात भी मुख से नहीं निकाली थी। और जो उनका कुछ भी सामर्थ्य होता, तो अन्य पण्डित लोग क्यों शास्त्रार्थ करते ?

जव उनने--**उपासनामात्रमेव भ्रमसूलम्** [कहा, तब] उसी वक्त श्री भूदेव मुखर्ज्या आदिक श्रेष्ठ लोग उठ गये कि पण्डित आये तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने को किन्तु वह अपना आप खण्डन कर चुके। ये पण्डित कुछ भी नहीं जानते हैं, ऐसा कहके उठ के चले गये। फिर अन्य पुरुषों से उनने कहा कि पण्डित हार गया।

श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविघातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु—ताराचरण जी से मैंने कहा कि आपके कहने से ही प्रतिमा-पूजन का विघात अर्थात् खण्डन हो गया, [यह भद्र जन विचार लें] और मैं तो खण्डन करता ही हूं।

फिर पण्डित जी चुप होके ऊपर के स्थान में चले गये। उसके पीछे मैं भी ऊपर जाने को चला। तब पण्डित सीढ़ी में मिले। मैंने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा कि ऊपर आओ। फिर ऊपर जाके सब वृन्दावनचन्द्रादिकों के सामने उन पण्डित ताराचरण से मैंने कहा कि आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं ?

तब वे बोले कि **मैं तो काक-भाषा का खण्डन करता हूँ, और सत्यशास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूं, और पाषाणादिक मूर्त्ति-पूजन भी मिथ्या ही जानता हूं। परन्तु मैं जो सत्य-सत्य कहूं, तो मेरी आजीविका नष्ट हो जाये, तथा काशीराज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर कर देवें। इससे मैं सत्य-सत्य नहीं कह सकता हूं, जैसे कि आप सत्य-सत्य कहते हैं।**

देखना चाहिए कि इस प्रकार के मनुष्यों से जगत् का उपकार तो कुछ नहीं बनता, किन्तु अनुपकार ही सदा बनता है। बिना सत्य

---

[1] अर्थात् काशी-शास्त्रार्थ।

उपदेश के उपकार कभी नहीं हो सकता । इतना मुझको अवकाश नहीं है कि मिथ्यावादी पुरुषों के साथ सम्भाषण किया करूं । जो-जो मैंने लिखा है, इसमें इसी से सज्जन लोग जान लेवें ।[1]

[प्रतिमादि-शब्द-विचार]

इसके आगे जिन शब्दों के अर्थ के नहीं जानने से टीकाकारों को भ्रम हो गया है, तथा नवीन ग्रन्थ बनाने वाले और कहने वाले तथा सुनने वाले को भी भ्रम होता है, उन शब्दों का शास्त्र-रीति तथा प्रमाण और युक्ति से जो ठीक-ठीक अर्थ है, उन्हीं का प्रकाश संक्षेप से लिखा जाता है ।

प्रथम तो एक **प्रतिमा** शब्द है—

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा अर्थात् प्रतिमानम् – जिससे प्रमाण अर्थात् परिमाण किया जाये, उसको कहना 'प्रतिमा' । जैसे कि छटांक, आधपाव, पावसेर, सेर, पंसेरी इत्यादि और यज्ञ के चमसादिक पात्र । क्योंकि इनसे पदार्थों के परिमाण किये जाते हैं, इससे इन्हों का ही नाम है – 'प्रतिमा' । यही अर्थ मनु भगवान् ने मनुस्मृति में लिखा है—

तुलामानं प्रतिमानं, सर्वं च स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु, पुनरेव परीक्षयेत् ।।[2]

पक्ष-पक्ष में वा मास-मास में, अथवा छठ-छठवें मास तुला की राजा परीक्षा करे । क्योंकि तराजू की दण्डी में भीतर छिद्र करके पारा उसमें डाल देते हैं । जब कोई पदार्थ को तौल के लेने लगते हैं, तब दण्डी को पीछे नमा देते हैं, फिर पारा पीछे जाने से चीज अधिक आती है । और जब देने के समय में दंडी आगे नमा देते हैं, उससे चीज थोड़ी जाती है । इससे तुला की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये । तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा [राजा] अवश्य

---

[1] यहां तक शास्त्रार्थ का वृत्तान्त है । इससे आगे प्रतिमा-पूजन की विस्तृत आलोचना है ।—यु. मी.

[2] मनु ८।४०३।।

करें जिससे कि अधिक न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हों का नाम 'प्रतिमा'। इसी वास्ते प्रतिमा के भेदक अर्थात् घाट बाढ़ तौलने वाले के ऊपर दण्ड लिखा है:—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च ॥[1]

यह मनु जी का श्लोक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि, जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है, और प्रतिमा छटांक आदिक बटखरे इन तीनों को जो तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे, और जैसा जिसका ऐश्वर्य उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे। जो कुछ धनाढ्य होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे। और जो बहुत धनाढ्य होवे, उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे। इससे सज्जन लोग बटखरा तथा चमसादिक यज्ञ के पात्र उन्हों को ही 'प्रतिमा' शब्द से निश्चित जानें।

दूसरा **पुराण** शब्द है—

पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।
जो पुराण पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराण। सो सदा विशेषण वाची ही रहता है, तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक सब शब्द हैं। तथा उनके विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषणवाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है, तथा यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। यह पदार्थ पुराना है अर्थात् नया नहीं, और यह पदार्थ नया है अर्थात् पुराना नहीं। जहां-जहां वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं; वहां-वहां इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गोतम मुनि जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य, उसमें लिखा है[2]। वहां ब्राह्मण पुस्तक जो शतपथादिक, उनों का ही नाम 'पुराण' है।

---

१. मनु ९।२८५॥
२. लोकव्यवस्थापनमितिहासपुराणस्य। ४।१।६२॥

तथा शंकराचार्य जी ने भी शारीरिक-भाष्य में और उपनिषद्-भाष्य में ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही 'पुराण' शब्द से ग्रहण किया है[1]। जो देखना चाहे, सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहां-जहां प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवे, उसका नाम 'इतिहास' है। और जहां-जहां वंश-कथा होवे ब्राह्मण पुस्तकों में, उसका नाम 'पुराण' है। और ऐसे जो कहते हैं कि अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योंकि उस बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में प्रमाण कहीं नहीं है, और कथा भी इनों में अयुक्त ही है। इनों का नाम कोई पुराण रक्खे, तो इनों से पूछना चाहिये कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं? सब ग्रन्थों से वेद ही पुराने हैं।

और यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्ति हो जाय, उसके दस दिन पुराण की कथा यजमान सुने[2]। सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक को कथा सुने, और जो ऐसा कहे कि ब्रह्मवैवर्तादिकों की क्यों नहीं सुने? उससे पूछना चाहिये कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे, तब-तब किस की कथा सुनी थी? क्योंकि उस वक्त व्यास जी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहां थे?

---

[1] १. बृ० उ० २।४।१० में पठित इतिहास पुराण के उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों के ही दिये हैं। यथा—**इतिहास इति—उर्वशीपुरुरवसोः संवादादिः, "उर्वशी ह्यप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि।** सायणाचार्य ने भी तै० आ० ८।२१ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—**ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम्। तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते—इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि** (बृ० उ० २।४।१०) इति। आगे सायण ने भी शंकराचार्य के समान ही इन के उदाहरणों के रूप में ब्राह्मण वाक्य ही उद्धृत किये हैं।

[2] २. शतपथ में अश्वमेध के नवम दिन पुराण सुनने का विधान है—**अथ नवमेऽहन्— तानुपदिशति पुराणं वेदः सोयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत।** शत० १३।४।३।१३॥ शांखायन श्रौत० १६।२।२५-२७ में भी नवम दिन में पुराण पाठ का निर्देश है। आश्व० श्रौत० १०।७ में अष्टम दिन में पुराण श्रवण का विधान है।

और जो ऐसा कहे कि व्यास जी युग-युग में थे, यह बात भी उसकी मिथ्या है। क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है।[1] उसी वक्त व्यास जी और व्यास जी की माता आदिक वर्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या ही है।

पुराण जितने हैं ब्रह्मवैवर्त्तादिक, वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते बना लिये हैं। व्यास जी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का किया एक भी पुराण नहीं है, क्योंकि वे बड़े विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन सत्य ही है, तथा छः दर्शनों में उनों के सत्यवचन देखने में आते हैं, मिथ्या एक नहीं। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब नष्ट [=भ्रष्ट] हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।

तीसरा **देवालय**, और चौथा **देवपूजा** शब्द है—

देवालय, देवायतन, देवागार तथा देवमन्दिर इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही हैं। क्योंकि जिस स्थान में देवपूजा होवे, उनके नाम हैं देवालयादिक। और देव संज्ञा है परमेश्वर की, तथा परमेश्वर की आज्ञा जो वेद उसके मन्त्रों की भी देव संज्ञा है। देव जो होता है, सोई देवता है। यह बात पूर्वमीमांसा शास्त्र में विस्तार से लिखी है।[2] जिसको देखने की इच्छा हो, वह उस शास्त्र में देख ले, जो कि शास्त्र कर्मकांड के ऊपर है, वे जैमिनि मुनि के किये सूत्र हैं। यहां तक उसमें लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादिक देव जो देवलोक में रहते हैं, उनका भी पूजन कभी न करना चाहिये,[3] एक परमेश्वर के विना। सो वेद में इस प्रकार से निषेध किया है कि—

---

१. यहां सम्भवतः पाण्डवों के किले की ओर यह संकेत है।

२. मीमांसा ९।१।६-९ के मन्त्र-देवताधिकरण में मन्त्र को ही देवता माना गया है।—यु० मी०

३. मीमांसा ९।१।६-९ के मन्त्र-देवताधिकरण में विग्रहवती=शरीरधारी देवता का खण्डन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। इस से स्पष्ट है कि यदि ब्रह्मा विष्णु महेशादिक कोई देव लोक में रहने वाले देवता हों, तो भी वे यज्ञ में आहूत=बुलाये नहीं जाते।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।[१]

यह यजुर्वेद की श्रुति है। ब्रह्मादिक जो देव वे जब यज्ञ करते हैं, तब उनों से अन्य कौन देव हैं, जो कि उनके यज्ञों में आके भाग लेवें। सो उनों से आगे कोई देव नहीं है। और जो कोई मानेगा तो उसके मत में अनवस्था दोष आवेगा। इससे परमेश्वर और वेदों के मन्त्र उनों को ही **देव** और देवता मानना उचित है, अन्य कोई नहीं।

अग्निर्देवता[२] इत्यादिक जो यजुर्वेद में लिखा है, सो अग्नि आदिक सब नाम परमेश्वर ही के हैं, क्योंकि देवता शब्द के विशेषण देने से। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणम् ॥१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुष परम् ॥२॥
एतमग्निं वदन्त्येके, मनुमेके प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥३॥[३]

इन श्लोकों से आत्मा—जो परमेश्वर—उसी का देवता नाम है, और अग्न्यादिक जितने नाम हैं, वे भी परमेश्वर के ही हैं। परन्तु जहां-जहां ऐसा प्रकरण हो कि उपासना, स्तुति, प्रार्थना तथा इस प्रकार के विशेषण, वहां-वहां परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं[४]। किन्तु **'सर्वमात्मन्यवस्थितम्'** सिवाय परमेश्वर के कोई में सब जगह नहीं ठहर सकता, और **'प्रशासितारं सर्वेषाम्'** इत्यादिक विशेषणों से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं; क्योंकि सब का शासन करने वाला विना परमेश्वर से कोई नहीं; तथा सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पर-पुरुष परमेश्वर से भिन्न ऐसा कोई नहीं हो सकता है।

निरुक्त में भी यह लिखा है कि—**यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः।**[५] जहां-जहां देवता शब्द आवे, तहां-तहां उस नाम वाले मन्त्र

---

[१] यजुः ३१।१६॥ [२] यजुः १४।२०॥
[३] मनु १२।११९,१२२,१२३॥ [१२३ पाठान्तर से है।]
[४] तुलना करो सत्यार्थप्रकाश प्रथम समु०।
[५] निरुक्त में ऐसा साक्षात् वचन नहीं है। यह तदर्थ-प्रतिपादक वचन है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी ऐसा ही वचन पढ़ा है।

को ही लेना। जैसा कि—**'अग्निर्देवता'**[1] इसमें अग्नि शब्द आया सो जिस मन्त्र में अग्नि शब्द होवे, उस मन्त्र का ही ग्रहण करना। **'अग्निमीडे पुरोहितम्'**[2] इति, यह मन्त्र ही देवता है, अन्य कोई नहीं। इससे क्या आया कि **परमेश्वर और वेदों के मन्त्र ही 'देव' और 'देवता' हैं।**

जिस स्थान में होम, परमेश्वर का विचार ध्यान और समाधि करें, उसके नाम हैं देवालयादिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण भी है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिसेवनम्॥१॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैर्नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥२॥[3]

इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है सोई देवपूजा है, अन्य कोई नहीं। और होम-स्थान जितने हैं वे ही देवालयादिक शब्दों से लिये जाते हैं। **पूजा नाम सत्कार**, क्योंकि **'अतिथिपूजनम्', होमैर्देवानर्चयेत्'**— अतिथियों का पूजन नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार इसका नाम है 'पूजा', अन्य का नहीं। और **पाषाणादि-मूर्ति-स्थान** देवालयादिक शब्दों से भी नहीं लेना। तथा घण्टानादादि पूजा शब्द से भी कभी नहीं लेना।

देवल और देवलक शब्द का अर्थ है कि—

यद्वित्तं यज्ञशीलानां, देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं प्रचक्षते॥[4]

यह मनु का श्लोक है। इसका यह अभिप्राय है कि जिन्हों का यज्ञ करने का शील अर्थात् स्वभाव होवे, उनका सब धन यज्ञ के वास्ते ही होता है अर्थात् देवार्थ धन है। **'यद्दैवं तदेव देवस्वम्'** अर्थात् होम के लिये जो धन होवे, उसका नाम **देवस्व** है। सो भिक्षा अथवा प्रतिग्रह करके यज्ञ के नाम से धन लेके यज्ञ तो करे नहीं, और उस धन से अपना व्यवहार करे, इसका नाम है

---

[1] यजुः १४।२०॥
[2] ऋक् १।१।१॥
[3] मनु ३।७०, ८१॥
[4] मनु ११।२०॥ ['यद् धनं' पाठ-भेद से]

'देवल'। सो इसकी शास्त्र में निन्दा लिखी है। देवपितृकार्य में उसको निमन्त्रण कभी न करना चाहिये, ऐसा उसका निषेध लिखा है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह होता है **'देवलक'**। **कुत्सितो देवलो देवलकः। 'कुत्सिते'[1] इत्यनेन कन् प्रत्ययः।** देवलक तो अत्यन्त निन्दित है।

एक यह अन्धकार लोगों का देखना चाहिये कि **'विद्वान् भोजनीयः सत्कर्तव्यश्चेति'**–विद्वान् को भोजन कराना चाहिये और उसका सत्कार भी करना चाहिये। इससे कोई की ऐसी बुद्धि न होगी कि पाषाणादिक मूर्ति को भोजन कराना वा उसका सत्कार करना चाहिये। वह भी बात ऐसी ही है।

एक बात वे लोग कहते हैं कि पाषाणादिक तो देव नहीं हैं, परन्तु भाव से वे देव हो जाते हैं। उनसे पूछना चाहिये कि भाव सत्य होता है वा मिथ्या?[2] जो वे कहें कि भाव सत्य होता है, फिर उनसे पूछना चाहिये कि कोई भी मनुष्य दुःख का भाव नहीं करता, फिर उसको क्यों दुःख होता है? और सुख का भाव सब मनुष्य चाहते हैं, फिर उनको सुख सदा क्यों नहीं होता? फिर वे कहते हैं कि यह बात तो कर्म से होती है। अच्छा तो आपका भाव कुछ भी नहीं ठहरा, अर्थात् मिथ्या ही हुआ है, सत्य नहीं हुआ। आपसे मैं पूछता हूं कि अग्नि में जल का भाव करके हाथ डाले, तो क्या वह न जल जायेगा? किन्तु जल ही जायेगा। इससे क्या आया— पाषाण को पाषाण ही मानना और देव को देव मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इससे जो जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसको सज्जन लोग मानें।

काश्यादिक स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम शिव कृष्णादिक नाम स्मरण, तथा तोबा शब्द वा यीसू के विश्वास से पापों का छूटना और मुक्ति का होना, तिलक छाप माला धारण, तथा शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव, क्रिश्चन और मुहम्मदी और नानक, कबीर आदिक सम्प्रदाय, इन्हीं से पाप सब छूट जाते हैं और मुक्ति भी हो जाती है—यह अन्यथा बुद्धि ही

---

[1] अष्टा० ५।३।७४।।

[2] यह विचार 'सत्यार्थ प्रकाश' समु० ११ में भी किया गया है।–यु.मी.

है। क्योंकि इस प्रकार के सुनने और मिथ्या निश्चय के होने से सब लोग पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं; कोई न भी होगा।

कभी कोई मनुष्य पाप करने में भय नहीं करते हैं। जैसे—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, काशीक्षेत्रे विनश्यति।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति ॥१॥
पंचक्रोश्यां कृतं पापमन्तर्गृह्यां विनश्यति।
अन्तर्गृह्यां कृतं पापमविमुक्ते विनश्यति ॥२॥
अविमुक्ते कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा ॥३॥

इत्यादि श्लोक काशीखण्डादिकों में लिखे हैं। '**काश्यां मरणान्मुक्तिः**' कोई पुरुष इसको श्रुति कहता है। सो यह वचन उसका मिथ्या ही है, क्योंकि चारों वेदों के बीच में कहीं नहीं है। कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद्[1] रच लिया है, किन्तु अथर्ववेद के संहिता में तथा कोई वेद के ब्राह्मण में इस प्रकार की श्रुति है नहीं। इनसे यह श्रुति तो कभी नहीं हो सकती, किन्तु कोई ने मिथ्या कल्पना कर ली है, जैसे कि '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं०**' इत्यादि मिथ्याश्लोक बना लिये हैं। इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से सदा पाप-प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे सब सज्जन लोगों को निश्चित जानना चाहिये कि जितने-जितने इस प्रकार के माहात्म्य लिखे हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। इन्हीं से मनुष्य का बड़ा अनुपकार होता है। जो कोई धर्मात्मा बुद्धिमान् राजा होवे, तो इन पुस्तकों का पठन-पाठन, सुनना-सुनाना बन्द कर दे, और वेदादि सत्य शास्त्रों की यथावत् प्रवृत्ति करा देवे, तब इस उपद्रव की यथावत् शांति होने से सब मनुष्य शिष्ट हो जायें, अन्यथा नहीं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। [योग० समा० सू० ३५] इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति।

---

[1] जाबालोपनिषद् २। मुक्तिकोपनिषद् १।१८॥ दोनों स्थानों पर वह भाव है, पाठ नहीं।

इससे प्रतिमा-पूजन कभी नहीं आ सकता, क्योंकि इन्हों में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और बाह्यमुख जो वृत्ति उसको भीतरमुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना योगी लोग को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और जो होवे तो मूर्तिमान् धन पुत्र दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है, परन्तु चित्त की स्थिरता कोई की भी नहीं होती।

इस वास्ते यह सूत्र लिखा—**विशोका वा ज्योतिष्मती**। [योग० समा० सू० ३६] इसका यह भाष्य है—

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो बुद्धिसंवित् बुद्धसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पन्तत्र स्थिति-वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चित निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत् संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिनश्चितं स्थितिपदं लभत इति।

इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारणा चित्त की लिखी। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य चन्द्र ग्रह मणि इन्हों की जैसी प्रभा, वैसी ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मितामात्रा अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, ऐसा साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरङ्ग अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एक रस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरुपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे यही मेरा स्वरूप है, अर्थात् मेरा आत्मा है—सो विगत अर्थात् शोकरहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं, तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।

सू०—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । [योग० समा० सू० ३८]

भाष्य—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानावलम्बनं वा तदाकार योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ।

जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है, तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में जब योगी ध्यान करता है। इस प्रकार आलम्ब से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है।

सू०—यथाभिमतध्यानाद्वा । [योग० समा० सू० ३९]

भाष्य—'यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्, तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ।

नासिकाग्रे धारयतो [ऽस्य] या [दिव्य] गन्धसंवित्' [व्यास भाष्य समा० सूत्र ३५] इससे लेके **'निद्राज्ञानालम्बनं वा'** [व्यास भाष्य समाधि० सूत्र ३८] यहां तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे हैं, इन्हों में से कोई स्थान में योगी चित्त को धारण करे। जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये।

सू०—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । [योग० विभू० सू० १]

भाष्य—नाभिचक्र हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति । बन्धो धारणा नाभि-हृदय-मूर्द्धा-ज्योति० ।

अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे। तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र, इसमें चित्त लगावे, हृदय से। क्योंकि—

सू०—तज्जपस्तदर्थभावनम् । [योग० विभू० सू० २८]

यह सूत्र है योग का। इस [ओङ्कार] का योगी जप अर्थात् चित्त से पुनः पुन आवृत्ति करे, और इसका अर्थ जो ईश्वर उसको हृदय में विचारे।

सू०—तस्य वाचकः प्रणवः । [योग० समा० सू० २७]

ओङ्कार का वाच्य ईश्वर है। और उस का वाचक ओङ्कार है। बाह्य विषय से इनको ही लेना, और कोई को नहीं। क्योंकि अन्य में प्रमाण कहीं नहीं।

सू०—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । [योग० विभू० सू० २]

भाष्य--तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

तीन देशों में अर्थात् नाभि आदिकों में, ध्येय जो आत्मा उस आलम्बन की और चित्त की एकतानता, अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से भिन्न न रहे तथा आत्मा चित्त से पृथक् न रहे, उसका नाम है—सदृशप्रवाह। जब चित्त से प्रत्येक चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय कोई पदार्थान्तिर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ ।

सू०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
[योग० विभू० सू० ३]

जब ध्याता ध्यान और ध्येय इन तीनों का पृथक् भाव न रहे; तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गयी ।

सू०--त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः । [योग० विभू० सू० ७]

यमादिक पांच अंगों से धारणा ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग है, और यमादिक बहिरङ्ग हैं ।

सू०—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२६॥ **चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्** ॥२७॥
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२८॥ **नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्** ॥२९॥
मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥ **प्रातिभाद्वा सर्वम्** ॥३३॥
[योग० विभू० पाद सू०]

इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है कि धारणादिक तीन अंग आभ्यन्तर के हैं। सो हृदय में ही योगी परमाणु-पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग-ज्ञान से ही जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता, किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जानें । क्योंकि:—

सू०—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । [योग० समा० सू० २]

सू०—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । [योग० समा० सू० ३]

जब योगी चित्तवृत्तियों का निरोध करता है बाहर और भीतर से, उसी वक्त द्रष्टा जो आत्मा उस चेतन स्वरूप में ही स्थित हो जाता है, अन्यत्र नहीं।

सू०—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् [योग० समा० सू०८]

विपरीत ज्ञान जो होता है, उसी को मिथ्याज्ञान कहते हैं। उसको तो योगी छोड़ के ही होता है, अन्यथा कभी नहीं। इससे क्या आया कि कोई योगशास्त्र से पाषाणादिक मूर्त्ति का पूजन कहे, सो मिथ्या ही कहता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

श्लोक

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटिगुणा [1]राष्ट्रिशरणा,
स को दान्तः शान्तो विदितविदितौ वेद्यविदितः॥

श्रीदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम्॥

—:o:—

---

[1] 'राष्ट्रिन्' शब्द निघण्टु [२।२२] में ईश्वर-नामों में पढ़ा है।

३. सत्यधर्म-विचार-मेला-चांदापुर

सम्पादकीय

उत्तर-प्रदेश के शाहजहांपुर जिलान्तर्गत चांदापुर कस्बे में मुन्शी प्यारेलाल नामक एक कबीरपन्थी कायस्थ जमींदार निवास करते थे। उन्होंने परस्पर धर्म-चर्चा के लिये दिनांक १९, २० मार्च सन् १८७७ (तदनुसार चैत्र शु० ५, ६ सं० १९३४ वि०) को एक मेले का आयोजन किया। इस धर्म-चर्चा-प्रसंग में ईसाई पादरी, मुसलमान मौलवी तथा पण्डित-गण एकत्रित हुए। आर्य धर्म का प्रतिनिधित्व स्वामी दयानन्द तथा मुन्शी इन्द्रमणि मुरादाबादी ने किया। स्वामी जी की हार्दिक इच्छा थी कि यह मेला निरन्तर दो सप्ताह तक चलता रहे, ताकि सभी विचारणीय एवं विवाद-ग्रस्त विषयों पर तात्त्विक-निर्णय हो सके, परन्तु मौलवियों और पादरियों की असहमति के कारण यह मेला अधिक दिन तक नहीं चल सका। **इसमें निम्न विचारणीय विषय रक्खे गये थे—**

१. ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से किस समय और किस उद्देश्य से रचा ?

२. ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं ?

३. ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है ?

४. वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर का वाक्य होने में क्या प्रमाण है ?

५. मुक्ति क्या पदार्थ है और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

समय के अभाव के केवल प्रथम तथा पञ्चम विषय पर ही विचार हो सका। 'मेला-चांदापुर' के नाम से जो पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसके अन्त में ग्रन्थ-रचना के समय का सूचक निम्न श्लोक मिलता है—

ऋषिकालाङ्कब्रह्माब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ।
द्वादश्यां मंगलवारे ग्रन्थोऽयं पूरितो मया॥

अर्थात् १९३७ वि० श्रावण शुक्ला द्वादशी मंगलवार (=१७ अगस्त १८८०) को यह ग्रन्थ लिखा गया।

१२ अप्रेल १८७८ के ऋषि के एक पत्र से विदित होता है कि

मेला-चांदापुर के शास्त्रार्थ का वृत्तान्त उर्दू भाषा में लिखा जाकर उक्त तिथि से पूर्व ही प्रकाशित हो गया था, तथा उसका मूल्य पांच पैसे था।[1] परन्तु उक्त उर्दू-संस्करण के उपलब्ध न होने से यह ज्ञात नहीं होता कि उसका लेखक तथा प्रकाशक कौन था? मार्च सन् १८८०[2] के 'आर्य-दर्पण' मासिक पत्र में मुन्शी बख्तावरसिंह ने **'सत्यधर्म विचार'** शीर्षक से इस शास्त्रार्थ का विवरण उर्दू और हिन्दी में पृथक्-पृथक् समानान्तर कालमों में प्रकाशित किया था। यह विवरण उक्त पत्र के पृष्ठ ५३ से पृष्ठ ९० तक छपा था। इसी विवरण को उसी प्रकार उर्दू व हिन्दी में 'वैदिक यन्त्रालय, काशी' से १९३७ वि० में पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। यही इस शास्त्रार्थ का प्रथम संस्कार माना जा सकता है। थोड़े समय पश्चात् इसका पृथक् उर्दू संस्करण भी छपा, जिसकी सूचना हमें 'दयानन्द दिग्विजयार्क' खण्ड २ पृष्ठ ५ पर छपे विज्ञापन से मिलती है। यहां इस उर्दू संस्करण को **'सत्यासत्य-विवेक'** का नाम दिया गया है। यद्यपि स्वामी जी के प्रकाशित शास्त्रार्थों में पादरी टी. जी. स्काट से हुये बरेली के शास्त्रार्थ को 'सत्यासत्य विवेक' के नाम से प्रकाशित किया गया है। बात यह है कि उस युग में सत्य-धर्म विचार, सत्यासत्य-विवेक, सत्यमत-निरुपण जैसे नाम सामान्यतया हर ऐसे ग्रन्थ के लिये प्रयुक्त होते थे, जिनमें परस्पर धर्म-चर्चा या वास्तविक धर्म-जिज्ञासा निहित रहती थी। मेला-चांदापुर में हुए इस शास्त्रार्थ का विवरण मुसलमानों की ओर से **'मुबाहसा शाहजहांपुर'** नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ था। 'मुजतबाई प्रेस' दिल्ली में छपी इस पुस्तक को पं० महेशप्रसाद जी ने १९१४ में देखा था।

चांदापुर-शास्त्रार्थ का संक्षिप्त विवरण पं० गोपाल शास्त्री, शर्मा रचित 'दयानन्ददिग्विजयार्क' भाग १ के मयूख ६ में छपा है। उसे हम पाठकों के मनोरञ्जनार्थ यहां उद्धत करते हैं—

खुलासा हाल—मेला चांदापुर, जिला शाहजहांपुर

यह मेला कबीरपन्थी मुन्शी प्यारेलाल साहब रईस कौम कायस्थ ने अपना हजारहा रुपया लगाकर सत्य-धर्म के निर्णयार्थ

---

[1] द्र० 'ऋ०द० के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ १४५, तृतीय सं०। यहां पुराना 'पांच पैसा' अभिप्रेत है। यह वर्तमान के ७½ साढ़े सात पैसे के बराबर था।

[2] इस तारीख का पूर्वोक्त पुस्तक के लेखन काल से विरोध पड़ता है। इस पर विचार होना चाहिये। यु०मी०

अपने ग्राम चांदापुर में लगाया था। इसकी मन्जूरी जनाब मिस्टर रावर्ट साहिब हाकिम जिला से लेकर इश्तिहार बहुत दिन पहले से सर्वत्र भेजा गया था, कि जो साहब इस मेले में आयेंगे उनका बहुत अच्छी प्रकार आतिथ्य होगा। तदनुसार चारों तरफ से हजारों आलिम व फाजिल आर्य व मुसलमान व ईसाई आदि लोग एकत्र हुये थे, उनमें से विशेष प्रसिद्धों का नाम अन्त में लिखा है।

मिती चैत्र सुदी चौथ व पंचमी संवत् १९३४ विक्रमी मुताबिक तारीख १९ व २० मार्च सन् १८७७ ई० को यह अपूर्व मेला बड़ी धूमधाम और आनन्द के साथ हुआ था। प्रथम दिवस मेला के प्रबन्ध और नियम इस प्रकार बांधे गये कि ईसाई व मुसलमानों में से पांच पांच और आर्यों में से केवल दो मनुष्य अर्थात् श्रीयुत स्वामीजी व मुन्शी इन्द्रमणि जी शास्त्रार्थ करने को प्रधान सभासद रहें। और ये लोग मुन्शी प्यारेलाल जी के अधोलिखित पांचों प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार अपने-अपने मतानुसार प्रीतिपूर्वक देवें कि जिससे हाजिरीन जलसा तृप्त होवे। और इन तीनों में से किसका मत (मजहब) सत्य है, यह अच्छी प्रकार सब को प्रतीति हो जावे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर प्रथम पादरी नोबिल वा स्काट साहब आदि, बाद मौलवी कासिम साहब आदि, पश्चात् स्वामी जी महाराज देवें। जो कोई किसी पर प्रश्न करे वह १० मिनट में करे और हर एक का उत्तर आधे घन्टे में पूरा हो जाया करे।

दूसरे दिन बाग में दिन के साढ़े सात बजे से ११ बजे तक और १ बजे से ४ बजे तक शास्त्रार्थ होकर मेला समाप्त हुआ। स्वामीजी चाहते थे कि और भी कुछ दिन इसकी यथेच्छ चर्चा रहे, परन्तु पादरी व मौलवी लोग न जमे। तथापि उतने ही अवसर में सबको निश्चित हो गया कि सच्चा धर्म वैदिक ही है। सब लोग स्वामी जी के गुणों की तारीफ करते व उनको अन्तःकरण से समर्पित धन्यवाद देते हुये निज-निज स्थानों को गये। समाप्ति के समय मौलवी लोगों ने बड़ा गड़बड़ डाल दिया था। इसलिये कि गमारों को अपनी जीत प्रकाशित होंवे, परन्तु तारीफ है पादरी लोगों की कि जिनने सिर तक ऊपर नहीं किया, बल्कि शास्त्रार्थ के समय मौलवी लोगों से स्पष्ट कहा कि भाई मौलवी

लोगो ! स्वामीजी ऐसी बातों का उत्तर हजार प्रकार से दे सकते हैं। हम तुम हजारों मिलकर भी इनसे बातें करें तो भी इनके बराबर नहीं हो सकते। इसलिये इस विषय में अब अधिक खींचातानी करना सभ्यधर्म नहीं। इसके बाद पादरी लोग रात को स्वामीजी के डेरे पर गये, वहां अपनी तरफ से पुनर्जन्म पर चार घण्टा वार्ता करके निःसन्देह होकर चले गये।

तारीख २१ व २२ को खत बनाम मुन्शी इन्द्रमणि जी मोती-मियां साहब रईस शाहजहांपुर ने इस मजमून के भेजे कि आप स्वामीजी को साथ ले इसी जगह तशरीफ लावें, तो आपसे मौलवी अहमद अली साहब पुनर्जन्म के बारे में बहस करेंगे। उसके अनुसार ये दोनों साहब ता० २२ की दोपहर को शाहजहांपुर पहुँच कर डिप्टी साहिब के मकान पर ता० २३ के दोपहर तक ठहरे और इन्तजार किया, परन्तु कोई भी सामने नहीं आया ? क्या आते, वह तो केवल मुसलमानों की गीदड़ भभकी थी।

नाम शख्श मोतबिरान हाजिरीन मेला चांदापुर

शाहजहांपुर के बाबू हरगोबिन्द साहब हेडक्लर्क कलक्टरी, मौलवी मोती मियां साहब, लाला रामप्रसाद साहब आनरेरी मजिस्ट्रेट, लाला बनवारीलाल, बाबू बिहारीलाल, मुन्शी सोहन लाल, मुहम्मद हैदर अली मुख्त्यार, हाफिजउल्ला खां, मुहम्मद अली साहब व सखावत हुसैन साहब वकील आदि बहुत से। लखनऊ के राजाराम खजानची आदि बहुत से रईस। मुरादाबाद के मुन्शी जगन्नाथ प्रसाद साहब रईस आदि। अमरोहा के पं० बद्रीदास आदि रईस। अलीगढ़ के कुंवर मुकुन्दसिंह आदि रईस। बरेली के पं० मथुराप्रसाद आदि रईस। बनारस के मुन्शी दयाशंकर साहब डिप्टी आदि। देहली के मौलवी अब्दुल मनसूर आदि। इस प्रकार और भी कानपुर व फर्रुखाबाद आदि नगरों के बहुत से सभ्य लोग मौजूद थे। जिसको इस मेले की कैफियत विस्तारपूर्वक देखनी होवे वह =)भेजकर इसकी जुदी बनी हुई किताब 'वैदिक-यन्त्रालय' इलाहाबाद से मंगवा लेवे, जो देखने के लायक और नागरी लिपि की भी मिलेगी।

'सत्य-धर्म-विचार' के निम्न संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—

१. वैदिक-यंत्रालय का संस्करण।

२. आर्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर।

३. गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली संस्करण। सम्पादक पं० जगत्कुमार शास्त्री।

४. Mela Chandapur (Translated into English) by the late Bawa Arjan Singh, Editor Arya Patrika and Revised by Bawa Chhajju Singh. अंग्रेजी का यह संस्करण The Aryan Printing, Publishing and General Trading Company Limited, Lahore द्वारा प्रकाशित हुआ था।

यहाँ आगे **'सत्यधर्मविचार'** का वैदिक यंत्रालय द्वारा प्रकाशित पाठ दिया जाता है।

—:o:—

❀ ओं खम्ब्रह्म ❀

सत्यधर्म-विचार—मेला-चांदापुर

१९-२० मार्च १८७७=चैत्र सुदी ४-५, सं० १९३४ वि०

[जिसको मुन्शी बखतावरसिंह एडीटर 'आर्य-दर्पण' ने शोधकर भाषा और उर्दू में वैदिक यन्त्रालय, काशी में अपने प्रबन्ध से छापकर प्रकाशित किया था।]

[भूमिका]

धर्मचर्चा-ब्रह्मविचार मेला चांदापुर[1], कि जिसमें बड़े बड़े विद्वान्[2] आर्य्यों, ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से एक सत्य के निर्णय के लिए, इकट्ठे हुए थे; सज्जन पाठकगणों के हितार्थ मुद्रित किया जाता है कि जिससे प्रत्येक मतों का अभिप्राय सब पर प्रकाशित हो जावे। सब सज्जनों को, किसी मत के क्यों न हों, उचित है कि पक्षपातरहित होकर इसको सुहृद्भाव से देखें।

विदित हो कि यह मेला दो दिन रहा। मेले के आरम्भ से पूर्व कई लोगों ने स्वामीजी के समीप जाकर कहा कि आर्य और मुसलमान मिल के ईसाईयों का खण्डन करें तो अच्छा है। इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि यह मेला सत्य और असत्य के निर्णय के लिये किया गया है। इसलिए हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें, किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं।

इसके पश्चात् विचार का समय नियत किया गया। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं ठहर सकते, और यही विज्ञा- को में भी छापा गया था। इस पर **स्वामीजो** ने कहा कि हम इस

---

[1] यहां यह मेला मुन्शी प्यारेलाल साहब की ओर से प्रतिवर्ष हुआ करता है।

[2] इस धर्मचर्चा में आर्य्यों की ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और मुन्शी इन्द्रमणिजी, ईसाईयों की ओर से पादरी स्काट साहब, पादरी नोबिल साहब, पादरी पार्कर साहब और पादरी जान्सन साहब और मुसलमानों की ओर से मौलवी मोहम्मद कासम साहब, सैयद अब्दुल मंसूर साहब विचार के लिये आये थे।

प्रतिज्ञा पर आये थे कि मेला कम से कम पांच और अधिक से अधिक आठ दिन तक रहेगा । क्योंकि इतने दिनों में सब मतों का अभिप्राय अच्छे प्रकार ज्ञात हो सकता है । जब इस प्रकार वे लोग प्रसन्न न हुये तब **मुन्शी इन्द्रमणिजी** ने कहा कि स्वामीजी ! आप निश्चिन्त रहें । सच्चा मत एक दिन में प्रकट हो जावेगा ।

फिर निम्नलिखित **पांच प्रश्नों** पर विचार करना सब ने स्वीकार किया ।

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज से किस समय और किस लिये बनाया ?

२—ईश्वर सब में व्यापक है वा नहीं ?

३—ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार ?

४—वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है ?

५—मुक्ति क्या है और किस प्रकार मिल सकती है ?

पहिले दिन की सभा

मुन्शी प्यारेलाल साहब ने खड़े होकर सबसे पहिले कहा—

"प्रथम ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्य्यामी है । हम लोगों के बड़े भाग्य हैं कि उसने हम सब को ऐसे राजप्रबन्ध के समय में उत्पन्न किया कि जिसमें सब लोग निर्विघ्नता से निर्भय होकर मतमतान्तरों का विचार कर सकते हैं । धन्य है इस आज के दिन को और बड़े भाग्य हैं इस भूमि के कि ऐसे सज्जन पुरुष और ऐसे ऐसे विद्वान् मतमतान्तरों के जानने वाले यहां सुशोभित हुए हैं । आशा है कि सब विद्वान् अपने अपने मतों की वार्ताओं को कोमल वाणी से कहेंगे, कि जिससे सत्य और असत्य का निर्णय होकर मनुष्यों की सत्यमार्ग में प्रवृत्ति हो जावेगी ।"

इसके पश्चात् जब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से पांच पांच मनुष्य और आर्यों की ओर से **स्वामीजी** और **मुन्शी इन्द्रमणिजी** दो ही विचार के लिये नियत किये गए, तब मौलवियों और पादरियों ने हठ किया कि आर्य्यों की ओर से भी पांच मनुष्य होने चाहियें । इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि आर्य्यों की ओर से हम दो ही बहुत हैं ।

तब मौलवियों ने पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी का नाम अपने ही आप पादरियों से लिखवाना चाहा। तब स्वामीजी ने उनसे तो यह कहा कि आप लोगों को अपनी अपनी ओर के मनुष्यों के लिखवाने का अधिकार है, हमारी ओर का कुछ नहीं, और पण्डितजी से यह कहा कि आप नहीं जानते, ये लोग हमारे और तुम्हारे बीच विरोध कराके आप तमाशा देखना चाहते हैं। इस बात के कहने पर भी एक मौलवी ने पण्डितजी का हाथ पकड़ के उनसे कहा कि तुम भी अपना नाम लिखवा दो, इनके कहने से क्या होता है? तिस पर स्वामी जी ने कहा, कि अच्छा जो सब आर्य्य लोगों की सम्मति हो तो इनका भी नाम लिखवा दो, नहीं तो केवल आप लोगों के कहने से इनका नाम नहीं लिखा जावेगा। फिर एक **मौलवी साहब** उठकर बोले कि सब हिन्दुओं से पूछा जावे कि इन दोनों के नाम लिखाने में सब की सम्मति है वा नहीं? इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि जैसे आपको सिवाए फिर्के सुन्नत जमात के अहले शिया आदि फिर्कों ने सम्मति करके नहीं बिठलाया, और जैसे कि पादरी साहब को रोमन कैथोलिक फिर्कों ने नियत नहीं किया, ऐसे ही आर्य्य लोगों में भी बहुतसों की हमारे बिठलाने में सम्मति और बहुतसों की असम्मति होगी। परन्तु आप लोगों को हमारे बीच गड़बड़ मचाने का कुछ अधिकार नहीं है। **मुन्शी इन्द्रमणिजी** ने कहा कि हम सब आर्य्य लोग वेदादि शास्त्रों को मानते हैं, और पण्डितजी भी इन्हीं को मानते हैं। जो किसी का मत आर्य्य लोगों से वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध हो, तो चौथा पन्थ नियत करके भले ही बिठला दीजियेगा।

इन बातों से मौलवियों का यह अभिप्राय था कि ये लोग आपस में झगड़ें तो हम तमाशा देखें। पण्डितजी का नाम लिखना आर्य्य लोगों ने योग्य न समझा। फिर मौलवी लोग नमाज पढ़ने को चले गये, और जब लौट कर आये तब उनमें से मौलवी मुहम्मद कासम साहब ने कहा कि प्रथम मैं एक घन्टे तक उन प्रश्नों के सिवाए और कुछ अपने मत के अनुसार कहना चाहता हूं। उस में जो किसी की कुछ शंका होगी तो उसका मैं समाधान करूंगा। इसको सब ने स्वीकार किया। मौलवी साहब के कथन का तात्पर्य यह है—

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् यह कहा कि—जिस जिस समय में जो जो हाकिम हो उसी की सेवा

करनी उचित है। जैसे कि इस समय जो गवर्नर है, उसी की सेवा करते और उसी की आज्ञा मानते हैं, और जिसकी कि आज्ञापालन का समय व्यतीत हो गया, न कोई उसकी सेवा करता है और न उसकी आज्ञा को मानता है। और जैसे जब कोई कानून व्यर्थ हो जाता है, तो उसके अनुसार कोई नहीं चलता; परन्तु जो कानून उसकी जगह नियत किया जाता है, उसी के अनुसार सब को चलना होता है। तो इन्हीं दृष्टान्तों के समान जो जो अवतार और पैगम्बर पूर्व समय में थे और जो जो पुस्तकें तौरेत जबूर बाईबल उनके समय में उतरी थीं, अब उनके अनुसार न चलना चाहिये। इस समय के सब से पिछले पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब हैं, इसलिये उनको पैगम्बर मानना चाहिए, और जो ईश्वरवाक्य अर्थात् कुरान उनके समय में उतरा है, उस पर विश्वास करना चाहिए। और हम श्रीराम और श्रीकृष्ण आदि और ईसामसीह की निन्दा नहीं करते, क्योंकि वे अपने अपने समय में अवतार और पैगम्बर थे, परन्तु इस समय तो हजरत मुहम्मद साहब का ही हुकुम चलता है, दूसरे का नहीं। जो कोई हमारे मजहब वा कुरान शरीफ वा हजरत मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा, वह मारे जाने के योग्य है।

पादरी नोबिल साहब—मुहम्मद साहब के पैगम्बर और कुरान के ईश्वरीय वाक्य होने में सन्देह है, क्योंकि कुरान में जो जो बातें लिखी हैं सो-सो बाइबिल की हैं, इसलिये कुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता। और हजरत ईसामसीह के अवतार होने में कुछ सन्देह नहीं, क्योंकि उसके व्याख्यान से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सत्य मार्ग बतलाने वाला था। केवल उसके व्याख्यान से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है, और उसने चमत्कार भी दिखलाये थे।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—हम हजरत ईसा को अवतार तो मानते हैं, और बाइबिल को आसमानी पुस्तक भी मानते हैं, परन्तु ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत बढ़त कर दी है, इसलिये यह वही मूल नहीं है। और जो कि उसका कुरान ने खण्डन भी कर दिया है, इसलिये वह विश्वास के योग्य नहीं रही। और हमारे हजरत पैगम्बर साहब का अवतार सबसे पिछला है, इसलिये हमारा मत सच्चा है।

फिर और मौलवियों ने बाइबिल में से एक आयत पादरी साहब को दिखलाई, और कहा कि देखिये आप ही लोगों ने लिखा है कि इस आयत का पता नहीं लगता।

पादरी नोबिल साहब—जिस मनुष्य ने यह लिखा है, वह सत्यवादी था, जो उसने लेखक-भूल को प्रसिद्ध कर दिया, तो कुछ बुरा नहीं किया। और हम लोग सत्य को चाहते हैं, असत्य को नहीं, इसलिये हमारा मत सत्य है।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—यह तो ठीक है कि कुछ बुरा नहीं किया, परन्तु जबकि किसी पुस्तक में वा दस्त वेज में एक भी बात झूठ लिखी हुई विदित हो जावे,तो वह पुस्तक कदाचित् माननीय नहीं रहती,और न वह दस्तावेज ही अदालत में स्वीकार हो सकता है।

पादरी नोबिल साहब—क्या कुरान में लेखक-दोष नहीं हो सकता? इस बात पर हठ करना अच्छा नहीं। और जो हम सत्य ही को मानते हैं और सत्य ही की खोज करते हैं, इस कारण उस लेखक-भूल को हमने स्वीकार कर लिया। और तुम्हारे कुरान में बहुत घटत बढ़त हुई, जिसके प्रमाण में एक मौलवी ईसाई ने अरबी भाषा में बहुत कुछ कहा और सूरतों के प्रमाण दिये।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—आप बड़े सत्य के खोजी हैं! (मुख बनाकर) जो आप सत्य ही को स्वीकार करते हैं तो तीन ईश्वर क्यों मानते हो?

पादरी नोबिल साहब—हम तीन ईश्वर नहीं मानते, वे तीनों एक ही हैं, अर्थात् केवल एक ईश्वर से ही प्रयोजन है। ईसामसीह में मनुष्यता और ईश्वरता दोनों थीं, इस कारण वह दोनों व्यवहारों को करता है, अर्थात् मनुष्य के आत्मा से मनुष्यों का व्यवहार और ईश्वर के आत्मा से ईश्वर का व्यवहार अर्थात् चमत्कार दिखलाना।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—वाह वाह! एक घर में दो तलवार क्योंकर रह सकती हैं? यह कहना पादरी साहब का अत्यन्त मिथ्या है। उसने तो कहीं नहीं कहा कि मैं ईश्वर हूँ, तुम हठ से उसको ईश्वर बनाते हो।

पादरी नोबिल साहब—एक आयत अंजील की पढ़ी, और कहा कि यह एक आयत है जिसमें मसीह ने अपने आपको ईश्वर कहा है,

ग्रौर कई एक चमत्कार भी दिखलाये हैं । इससे उसके ईश्वर होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता ।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—जो वह ईश्वर था, तो ग्रपने ग्रापको फाँसी से क्यों न बचा सका ?

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—कुरान में कई एक ग्रायतों का परस्पर विरोध दिखलाया, ग्रौर कहा कि हुकुम का खण्डन हो सकता है, समाचार का नहीं हो सकता । सो ग्रापके कुरान में समाचारों का खण्डन है । पहिले बैतूलमुकद्दस की ग्रोर शिर नमाते थे, फिर काबे की ग्रोर नमाने लगे । ग्रौर कई ग्रायतों का ग्रर्थ भी सुनाया, ग्रौर कहा कि ईसामसीह पर विश्वास लाये विना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती । ग्रौर तुम्हारे कुरान में बाइबिल का ग्रौर ईसामसीह का मानना लिखा है । तुम लोग क्यों नहीं मानते हो ?

ऐसी ही बातों के होते होते सन्ध्या हो गयी ।

दूसरे दिन की सभा

प्रातःकाल के साढ़े सात बजे सब लोग ग्राये, ग्रौर वे पाँच प्रश्न कि जो स्वीकार हो चुके थे पढ़े गये । **वे पांच प्रश्न ये हैं—**

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज से किस समय ग्रौर किसलिए बनाया ?

२—ईश्वर सब में व्यापक है वा नहीं ?

३—ईश्वर न्यायकारी ग्रौर दयालु किस प्रकार है ?

४—वेद, बाईबिल ग्रौर कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है ?

५—मुक्ति क्या है ग्रौर किस प्रकार मिल सकती है ?

इसके पश्चात् कुछ देर तक यह बात ग्रापस में होती रही कि एक दूसरे को कहता था कि पहिले वह वर्णन करे । तदनन्तर **पादरी स्काट साहब** ने पहिले प्रश्न का उत्तर देना ग्रारम्भ किया, ग्रौर यह भी कहा यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं । मेरी समझ में ऐसे प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ है, परन्तु जबकि सब की सम्मति है तो मैं इसका उत्तर देता हूं—

पादरी स्काट साहब—यद्यपि हम नहीं जानते कि ईश्वर ने यह संसार किस चीज ने बनाया है, परन्तु इतना हम जान सकते हैं कि अभाव से भाव में लाया है, क्योंकि पहिले सिवाय ईश्वर के दूसरा पदार्थ कुछ न था। उसने अपने हुकुम से सृष्टि को रचा है। यद्यपि यह भी हम जान नहीं सकते कि उसने कब संसार को रचा, परन्तु उसका आदि तो है। वर्षों की गणना हमको नहीं जान पड़ती, और न सिवाय ईश्वर के कोई जान सकता है। इसलिए इस बात पर अधिक कहना ठीक नहीं। ईश्वर ने किसलिए इस जगत् को रचा? यद्यपि इसका भी उत्तर हम लोग ठीक ठीक नहीं जान सकते, परन्तु इतना हम जानते हैं कि संसार के सुख के लिये ईश्वर ने यह सृष्टि की है, कि जिसमें हम लोग सुख पावें और सब प्रकार के आनन्द करें।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—उसने अपने शरीर से प्रकट अर्थात् उत्पन्न किया। उससे हम अलग नहीं, जो अलग होते तो उसकी प्रभुता में न होते। कब से यह संसार बना, यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि हमको रोटी खाने से काम है; न यह कि रोटी कब बनी है? यह जगत् सृष्टि के लिये रचा गया है, क्योंकि सब पदार्थ मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचे हैं। और हमको अपनी भक्ति के लिए ईश्वर ने रचा है। देखो! पृथिवी हमारे लिए है, हम पृथिवी के लिए नहीं, क्योंकि जो हम न हों तो पृथिवी की कुछ हानि नहीं, परन्तु पृथिवी के न होने से हमारी बड़ी हानि होती है। ऐसे ही जल, वायु, अग्नि आदि सब पदार्थ मनुष्य के लिए रचे गये हैं। मनुष्य सब सृष्टि में श्रेष्ठ है, उसको बुद्धि भी इसी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए दी है, अर्थात् मनुष्य को अपनी भक्ति के लिए और इस जगत् को मनुष्य के लिए ईश्वर ने रचा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—पहिले मेरी सब मुसलमानों और ईसाइयों और सुनने वालों से यह प्रार्थना है कि यह मेला केवल सत्य के निर्णय के लिए किया गया है। और यह ही मेला करने वालों का प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौनसा मत सत्य है। जिसको सत्य समझें उसको अंगीकार करें। इसलिये यहाँ हार और जीत की अभिलाषा किसी को न करनी चाहिये, क्योंकि सज्जनों का यह ही मत होना चाहिये कि सत्य की सर्वदा जीत और

असत्य की सर्वदा हार होती रहे। परन्तु जैसे मौलवी लोग कहते हैं कि पादरी साहब ने यह बात झूठ कही ऐसे ही ईसाई कहते हैं कि मौलवी साहब ने यह बात झूठी कही, ऐसी वार्ता करना उचित नहीं। विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें, कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि वह हारा और मैं जीता, ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्य-भाषण करना उचित है, और एक दूसरे से विरोधवाद करना यह अविद्वानों का स्वभाव है, विद्वानों का नहीं। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि कोई इस मेले में अथवा और कहीं कठोर वचन का भाषण न करें।

अब मैं इस पहले प्रश्न का उत्तर कि "ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से और किस समय और किसलिये रचा है?" अपनी छोटी सी बुद्धि और विद्या के अनुसार देता हूं।

परमात्मा ने सब संसार को प्रकृति से अर्थात् जिसको अव्यक्त अव्याकृत और परमाणु नामों से कहते हैं, रचा है। सो यह ही जगत् का उपादान कारण है, जिसका वेदादि शास्त्रों में नित्य करके निर्णय किया है, और यह सनातन है। जैसे ईश्वर अनादि है वैसे ही सब जगत् कारण भी अनादि है। जैसे ईश्वर का आदि और अन्त नहीं, वैसे ही इस जगत् के कारण का भी आदि और अन्त नहीं है। जितने इस जगत् में पदार्थ दीखते हैं, उनके कारण से एक परमाणु भी अधिक वा न्यून कभी नहीं होता। जब ईश्वर इस जगत् को रचता है, तब कारण से कार्य रचता है, सो जैसा कि यह कार्यजगत् दीखता है, वैसा ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिला कर स्थूल द्रव्यों को रचता है, तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य होते हैं। और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है, उसको इसी कारण से ईश्वर ने रचा है। जब प्रलय करता है, तब इस स्थूल के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है। क्योंकि जो जो स्थूल से सूक्ष्म होता है, वह आंखों से दीखने में नहीं आता; तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह

द्रव्य नहीं रहा। परन्तु वह सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है, क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता। और नाश अदर्शन को कहते हैं, अर्थात् वह देखने में न आवे। जब एक एक परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब उनका दर्शन[1] नहीं होता। फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं, तब दृष्टि में आते हैं। यह नाश और उत्पत्ति की व्यवस्था ईश्वर सदा से करता आया है, और ऐसे ही सदा करता जायगा। इसकी संख्या नहीं कि कितनी बार ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की, और कितनी बार कर सकेगा। इस बात को कोई नहीं कह सकता।

अब इस विषय को जानना चाहिये कि जो लोग 'नास्ति' अर्थात् अभाव से 'अस्ति' अर्थात् भाव मानते हैं, और शब्द[2] से जगत् की उत्पत्ति जानते हैं, उनका कहना किसी प्रकार से ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव से भाव का होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने आंखों से देखा, तो जो उसके पुत्र होता तो वन्ध्या क्यों कहलाती? फिर उसके पुत्र का अभाव होने से उसके पुत्र का विवाह कब हो सकता है? और जैसे कोई कहे कि मैं किसी स्थान में नहीं था और यहां आया हूं, अथवा सर्प बिल में न था और निकल भी आया, तो ऐसी वार्ता विद्वानों की नहीं होती। इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं

---

[1] जब कोई वस्तु अत्यन्त छोटी हो जाती है, तो फिर उसे और छोटा करना असम्भव है। जो किसी वस्तु के टुकड़े करते-करते उसको इतना छोटा कर दें कि फिर उसके टुकड़े होना असम्भव हो जावे तो उसको 'परमाणु' कहते हैं। जितनी वस्तुएं संसार में हैं, वे सब परमाणु से बनती हैं। जब किसी पत्थर को तोड़ डालते हैं, और उसके अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं, तो वे परमाणु कि जिनके इकट्ठे होने से फिर पत्थर बनता है, सदा किसी न किसी स्वरूप से बने रहते हैं। एक परमाणु का भी इस संसार में से अभाव नहीं होता, केवल स्वरूप और गुणों में भेद हुआ करता है। जब मोम की बत्ती को जलाते हैं, तो देखने में यह जान पड़ता है कि थोड़ी देर में सब बत्ती नहीं रहती, न जाने कि क्या हो गयी। परन्तु वे परमाणु जितने बत्ती में थे और ही प्रकार रूप में वायु के सदृश हो जाते हैं। उनमें के एक परमाणु का भी अभाव कदाचित् नहीं होता।

[2] 'कुन' या 'हो जा' कहने से।

फिर वह क्यों कर हो सकती है ? जैसे कि हम लोग अपने-अपने स्थानों में न होते तो यहाँ चाँदापुर में कभी न आ सकते। देखो शास्त्र में भी लिखा है कि—"**नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्**"[२] अर्थात् जो है सो आगे को होता है, और जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका कारण कोई न हो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव से भाव अर्थात् अस्ति से अस्ति होता है। नास्ति से अस्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह "**वदतो व्याघात**" अर्थात् अपनी बात को आप ही काटने के सदृश बात है। पहिले किसी वस्तु का अत्यन्त अभाव कहकर फिर यह कहना कि उसका भाव हो गया, पूर्वापर विरोध है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता, और न किसी प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है कि विना कारण के कोई कार्य हो सके। इसलिये अभाव से भाव अर्थात् नास्ति से वा हुकुम से जगत् की उत्पत्ति का होना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि ईश्वर ने जगत् के अनादि उपादान कारण से ही सब संसार को रचा है, अन्यथा नहीं।

यहां दो प्रकार का विचार [उप]स्थित होता है,**एक**—यह कि जो जगत् का कारण ईश्वर हो तो ईश्वर ही सारे जगत् का रूप हुआ; तो ज्ञान, सुख, दुःख, जन्म, मरण, हानि, लाभ, नरक, स्वर्ग, क्षुधा, तृषा, ज्वर आदि रोग, बन्ध और मोक्ष सब ईश्वर में ही घटते हैं। फिर कुत्ता, बिल्ली, चोर, दुष्ट आदि सब ईश्वर ही बन गया। **दूसरा**—यह कि जो सामग्री मानें तो ईश्वर कारीगर के समान होता है। तो **उत्तर** यह है कि कारण तीन प्रकार का होता है। एक उपादान—कि जिसको ग्रहण करके किसी पदार्थ को बनावें। जैसे मिट्टी लेकर घड़ा और सोना लेकर गहना और रुई लेकर कपड़ा बनाया जाय। दूसरा निमित्त—जैसे कुम्हार अपनी विद्या और सामर्थ्य के साथ घड़े को बनाता है। तीसरा साधारण—जैसे चाक आदि साधन और दिशा, काल इत्यादि।

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ गीता २।१६॥

अब जो ईश्वर को जगत् का उपादन कारण मानें तो ईश्वर ही जगत्रूप बनता है, क्योंकि मिट्टी से घड़ा अलग नहीं हो सकता। और जो निमित्त मान तो जैसे कुम्हार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता और जो साधारण मानें जैसे मिट्टी से अपने आप विना कुम्हार के घड़ा नहीं बन सकता। इन दोनों व्यवस्थाओं में वह पराधीन वा जड़ ठहरता है। इसलिये जो यह कहते हैं कि ईश्वर जगत् रूप बन गया है, तो उनके कहने से चोर आदि होने का दोष ईश्वर में आता है। इससे ऐसी व्यवस्था माननी चाहिये कि जगत् का कारण अनादि है, और नाना प्रकार के जगत् को बनाने वाला परमात्मा है। और इसी प्रकार जीव भी अपने स्वरूप से अनादि हैं, और स्थूल कार्य जगत् तथा जीवों के कर्म नित्यप्रवाह से अनादि हैं। ऐसे माने विना किसी प्रकार से निर्वाह नहीं हो सकता।

अब यह कि ईश्वर ने किस समय जगत् को बनाया है अर्थात् संसार को बने हुये कितने वर्ष हो गये ? इसका **उत्तर** दिया जाता है—

सुनो भाइयो ! इस प्रश्न का हम लोग तो उत्तर दे सकते हैं, आप लोग नहीं दे सकते। क्योंकि जब आप लोगों के मतों में से कोई अठारहसौ वर्ष से, कोई तेरहसौ वर्ष से और कोई पांचसौ वर्ष से उत्पत्ति कहता है, तो फिर आप लोगों के मत में जगत् के इतिहास के वर्षों का लेख किसी प्रकार नहीं हो सकता। और हम आर्य लोग सदा से कि जब से यह सृष्टि हुई बराबर विद्वान् होते चले आये हैं। देखो ! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है। इस बात में सब देश वालों के इतिहासों का प्रमाण है कि आर्यावर्त्त देश से मिस्र देश में और वहाँ से यूनान और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली है। इसलिए इसका इतिहास किसी दूसरे मत में नहीं हो सकता।

देखो ! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में वेद आदि शास्त्रों की रीति से सदा से जानते हैं, कि हजार चतुर्युगियों का एक ब्राह्म दिन और इतने ही युगों की एक ब्राह्म-रात्रि होती है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होके जब तक कि वर्त्तमान होता है, उसका नाम ब्राह्म-दिन है। और प्रलय होके जब तक हजार चतुर्युगी पर्य्यन्त उत्पत्ति नहीं होती, उसका नाम ब्राह्म-रात्रि है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं,और एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का

होता है[1]। सो इस समय सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर वर्त्तमान हो रहा है। और इससे पहिले ये छः मन्वन्तर बीत चुके हैं–स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष। अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्षों[2] का भोग हो चुका है, और अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। सो हमारे देश के इतिहासों में यथार्थ क्रम से बातें लिखी हैं। और ज्योतिष शास्त्र में भी मितीवार प्रति संवत् घटाते बढ़ाते रहे हैं। और ज्योतिष की रीति से जो वर्षपत्र बनता है उसमें भी यथावत् सबको क्रम से लिखते चले आते हैं। अर्थात् एक-एक वर्ष घटाते और एक-एक वर्ष भोगने में आज तक बढ़ाते आये हैं। इस बात में सब आर्य्यावर्त्त देश के इतिहास एक हैं। किसी में कुछ विरोध नहीं।

फिर जब कि जैन मतवाले और मुसलमान इस देश के इतिहासों को नष्ट करने लगे, तब आर्य लोगों ने सृष्टि के इतिहास को कण्ठ कर लिया। सो बालक से लेके वृद्ध तक नित्यप्रति उच्चारण करते हैं कि जिसको संकल्प कहते हैं, और वह यह है:—

---

[1] एक ब्राह्म दिन में १४ मन्वन्तर, १ मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी = १४ × ७१ = ९९४ चतुर्युगियां इस गणना से होती हैं। ऊपर १००० चतुर्युगियों का ब्राह्म दिन और ब्राह्म रात्रि स्पष्ट निर्दिष्ट है। यह ६ चतुर्युगियों के बराबर का काल प्रत्येक मन्वन्तर में होने वाली अवान्तर प्रलयों के सन्धिकाल का है। एक सन्धिकाल एक कृतयुग के बराबर = १७२८००० वर्ष का होता है। एक ब्राह्मदिन के १४ मन्वन्तरों के आद्यन्त की १५ सन्धियां होती हैं।
—यु० मी०

[2] इसी प्रकार की वर्ष-गणना 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'सत्यार्थ-प्रकाश' में भी उपलब्ध होती है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने जिन 'सूर्य-सिद्धान्त' और 'मनुस्मृति' के आधार पर यह गणना लिखी है, उन में प्रतिमन्वन्तर के पश्चात् सन्धिकाल का निर्देश है। तदनुसार उपरि लिखित काल-संख्या में गत ७ सन्धियों का १२०१६००० वर्ष और जोड़ने से वास्तविक गत काल १९७२९४८९७६ होता है। इसी प्रकार अवशिष्ट उत्तर काल गणना में ८ सन्धियों का १३८२४००० काल सम्मिलित करने पर २३४७०५१०२४ वर्ष सृष्टि के शेष रहते हैं। इस विषय के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पृष्ठ २६-२७ देखें।—यु० मी०

ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्य्यावर्त्तान्तरैकदेशेऽमुकनगरेऽमुकसंवत्सरायनर्तु मासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्त्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा ।

जो इसको ही विचार लें, तो इससे सृष्टि के वर्षों की गणना बराबर जान पड़ती है ।

जो कोई यह कहे कि हम इस बात को नहीं मान सकते, तो उसका उत्तर यह है कि जो परम्परा से मिती वार दिन चढ़ाते चले आते हैं, और जबकि इतिहासों और ज्योतिषशास्त्रों में भी इसी प्रकार लिखा है, तो फिर इसको मिथ्या कोई नहीं कह सकता । जैसे कि बहीखाते में प्रतिदिन मितीवार लिखते हैं और उसको कोई झूठ नहीं कह सकता । और जो यह कहता है उससे भी पूछना चाहिये कि तुम्हारे मत में सृष्टि की उत्पति को कितने वर्ष हुए हैं ? तब वह या तो छः हजार या सात हजार या आठ हजार वर्ष बतलावेगा । तो वह भी अपने पुस्तकों के अनुसार कहता है, तो इसी प्रकार उसको भी कोई नहीं मानेगा, क्योंकि यह पुस्तक की बात है ।

और देखो ! भूगर्भविद्या से जो देखा जाता है उससे भी यह ही गणना ठीक आती है । इसलिये हम लोगों के मत में तो जगत् के वर्षों की गिनती बन सकती है, और किसी के मत में कदाचित् नहीं । इसलिये यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों की सबको ठीक माननी उचित है ।

अब यह कि ईश्वर ने किसलिए सृष्टि को उत्पन्न किया ? इसका उत्तर दिया जाता है—

जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि, और जीव के कर्म तथा कार्य जगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं । जब प्रलय होता है तब जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो उनके भोग करानेके लिए और फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि को रचता है, और अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है । ईश्वर में जो ज्ञान, बल, दया आदि और रचने की अनन्त शक्ति है, उनके सफल करने के लिए उसने सृष्टि रची है । जैसे आंख देखने के लिए और कान सुनने के

लिये हैं, वैसे ही रचनाशक्ति रचने के लिये है। सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिये ईश्वर ने इस जगत् को रचा है कि सब लोग सब पदार्थों से सुख पावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचे हैं। इसी प्रकार सृष्टि के रचने में और भी अनेक प्रयोजन हैं, कि जो समय कम रहने से अब नहीं कहे जा सकते। विद्वान् लोग आप जान लेंगे।

पादरी स्काट साहब—जिसकी सीमा होती है वह अनादि नहीं हो सकता। जगत् की सीमा का निरूपण है, इसलिये वह अनादि नहीं हो सकता। कोई पदार्थ अपने आप को नहीं रच सकता, परन्तु ईश्वर ने जगत् को अपनी सामर्थ्य से रचा है। कोई नहीं जानता कि ईश्वर ने किस पदार्थ से रचा है, और पंडित जी ने भी नहीं बताया कि किस पदार्थ से जगत् को रचा?

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—जब कि सब पदार्थ सदा से हैं तो ईश्वर को मानना व्यर्थ है। कोई उत्पत्ति का समय नहीं कह सकता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(पादरी साहब के उत्तर में)—पादरी साहब मेरे कहने को नहीं समझे। मैं तो केवल जगत् के कारण को ही अनादि कहता हूं, और जो कार्य है सो अनादि नहीं होता। जैसे मेरा शरीर साढ़े तीन हाथ का है, सो उत्पन्न होने से पहिले ऐसा न था और न नाश होने के पश्चात् ही ऐसा रहेगा। पर इसमें जितने परमाणु हैं वे नष्ट नहीं होते। इस शरीर के परमाणु पृथक्-पृथक् होकर आकाश में बने रहते हैं, और उन परमाणुओं में जो संयोग और वियोग[1] की शक्ति है, तो वह सदा

---

[1] सब लोग देखते हैं कि अग्नि में बहुत से पदार्थ जल जाते हैं। अब विचार करना चाहिये कि जब कोई पदार्थ जल जाता है, तो क्या हो जाता है? देखने में आता है कि लकड़ी जल कर थोड़ी सी राख रह जाती है। तो अब यह विचारना चाहिये कि जलने से वह पदार्थ ही नष्ट हो जाता है, वा उसका स्वरूप ही बदल जाता है? जब मोमबत्ती जलाते हैं, तो देखने में वह मोम नहीं रहता। यह नहीं जान पड़ता कि कहां गया? परन्तु उस मोम का स्वरूप बदल कर वायु के सदृश हो जाता है, और इसी कारण वायु में मिल जाने से दृष्टि में नहीं आता।

इसकी परीक्षा के लिए एक बोतल के भीतर मोमबत्ती जलाओ और

उनमें रहती है। जैसा मिट्टी से घड़ा बनाया जो कि बनाने से पहिले नहीं था और नाश होने के पश्चात् भी नहीं रहेगा, परन्तु उसमें जो मिट्टी है वह नष्ट नहीं होती। और जो गुण अर्थात् चिकनापन उसमें है कि जिससे वह पिण्डाकार होता है, वह भी मिट्टी में सदा से है। इससे यह समझना चाहिये कि जिन परमाणु द्रव्यों से यह जगत् बना है वे द्रव्य अनादि हैं, कार्य द्रव्य नहीं। और मैंने यह कब कहा था कि जगत् के पदार्थ स्वयं अपने को बना सकते हैं। मेरा कहना तो था कि ईश्वर ने उस कारण से जगत् को रचा है।

और जो पादरी साहब ने कहा कि शक्ति से जगत् को रचा है, तो मैं पूछता हूं कि शक्ति कोई वस्तु है वा नहीं ? जो कहो कि है, तो वह अनादि हुई, और जो कहो कि नहीं, तो उससे आगे को दूसरी कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। और जो पादरी साहब ने यह कहा कि पण्डितजी ने यह नहीं बताया कि किससे यह जगत् बना है ? कदाचित् पादरी साहब ने नहीं सुना होगा। मैंने तो जिससे यह कार्य जगत् बना है उसको प्रकृति आदि नामों से कि जिसको परमाणु भी कहते हैं; कहा था।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—सब पदार्थों का कारण अनादि है, तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है, क्योंकि मिट्टी में यह सामर्थ्य

उसका मुख बन्द कर दो, तो उस बत्ती का जितना भाग वायु के सदृश हो जावेगा, वह बोतल से बाहर नहीं जा सकेगा। पर थोड़ी देर के पीछे यह दिखलाई देगा कि वह बत्ती बुझ गई। अब यह सोचना चाहिये कि बत्ती क्यों बुझ गई ? और बोतल के वायु में अब कुछ भेद हुआ वा नहीं ? इस बात की परीक्षा इस प्रकार होगी कि थोड़ा सा चूने का पानी उस बोतल में, और एक और बोतल में कि जिसमें केवल वायु भरा हुआ हो और उसमें कोई बत्ती न जली हो, डालो; तो दिखलाई देगा कि जिस बोतल में बत्ती जली है उसमें चूने का रंग दूध सा हो जावेगा, और दूसरी बोतल का जैसे का तैसा रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि बत्ती के जलाने से कोई नई वस्तु बोतल के वायु में मिल गई है। वह एक वस्तु वायु के सदृश है कि दृष्टि में नहीं आता। अब देखना चाहिये कि मोमबत्ती का कोई परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जिन पदार्थों से वह बत्ती बनी है उनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।

नहीं कि आप से आप घड़ा बन जाये। जो कारण होता है वह आप कार्यरूप नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें बनने का ज्ञान नहीं होता। और कोई जीव भी उसको नहीं बना सकता, आज तक किसी ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई। जैसा कि यह मेरा रोम है, ऐसी वस्तु कोई नहीं बना सकता। और आज तक ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ और न है कि जो परमाणुओं को पकड़ के किसी युक्ति से उनसे ऐसी वस्तु बना सके। कोई दो त्रसरेणुओं का भी संयोग नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल उस परमेश्वर की ही यह सामर्थ्य है कि सब जगत् को रचे।

देखो! एक आंख की रचना में ही कितनी विद्या का दृष्टान्त है। आज तक बड़े बड़े वैद्य अपनी बुद्धि लगाते चले आते हैं, तो भी आंख की विद्या अधूरी ही है। कोई नहीं जानता कि किस-किस प्रकार और क्या-क्या गुण ईश्वर ने उसमें रक्खे हैं। इसलिये सूर्य, चांद आदि जगत् का रचना और धारण करना ईश्वर ही का काम है। तथा जीवों के कर्म्मों के फल का पहुंचाना, यह भी परमात्मा ही का काम है, किसी दूसरे का नहीं। इससे ईश्वर को मानना अवश्य है।

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—जब दो वस्तु हैं—एक कार्य दूसरा कारण, तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। इससे ईश्वर ने नास्ति से अस्ति अपनी सामर्थ्य से की है।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—गुण दो प्रकार के होते हैं—एक अन्तस्थ, दूसरे बाह्य। अन्तस्थ तो अपने में होते हैं, और बाह्य दूसरे से अपने में आते हैं। और अन्तस्थ गुण दूसरे में जाकर वैसे ही बन जाते हैं, परन्तु जिसके गुण होते हैं वह उससे पृथक् होता है जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस बर्तन में पड़ता है वैसा ही बन जाता हैं, परन्तु सूर्य नहीं हो जाता। वैसे ही ईश्वर ने हमको अपनी इच्छा से बनाया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी—(ईसाई साहब के उत्तर में)—आप दोनों के अनादि होने में क्यों शंका करते हैं? क्योंकि जितने पदार्थ इस जगत् में बने है, उन सबका कारण अर्थात् परमाणु आदि सब अनादि हैं। और जीव भी अनादि हैं, कि जिनकी संख्या कोई

नहीं बता सकता। और नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, सो मैं पहिले कह चुका हूं। परन्तु आप जो कहते हैं कि शक्ति से बनाया, तो बतलाओ कि शक्ति क्या वस्तु है? जो कहो कि कोई वस्तु है, तो फिर वही कारण ठहरने से अनादि हुई। और ईश्वर के नाम, गुण, कर्म सब अनादि हैं, कोई अब नहीं बने।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—आप जो यह कहो कि भीतर के गुणों से जगत् बना है, तो भी नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य के विना अलग नहीं रह सकते, और गुण द्रव्य से बन भी नहीं सकता। जब भीतर के गुणों से जगत् बना है, तो जगत् भी ईश्वर हुआ। जो यह कहो कि बाहर के गुणों से जगत् बना, तो ईश्वर के सिवाय आपको भी वे गुण और द्रव्य अनादि मानने पड़ेंगे। और जो यह कहो कि इच्छा से हम लोग बन गये, तो मेरा यह प्रश्न है कि इच्छा कोई वस्तु है वा गुण हैं? जो वस्तु कहोगे तो वह अनादि ठहर जायेगी, और जो गुण मानोगे तो जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता, परन्तु मिट्टी से बनता है, तो वैसे ही इच्छा से हम लोग नहीं बन सकते।

पादरी स्काट साहब—हम लोग इतना जानते हैं कि नास्ति से अस्ति को ईश्वर ने बनाया। यह हम नहीं जानते किस पदार्थ से और किस प्रकार यह जगत् बनाया। इसको ईश्वर ही जानता है। मनुष्य कोई नहीं जान सकता।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—ईश्वर ने अपने प्रकाश से जगत् बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में) कार्य को देखकर कारण को जानना चाहिये कि जो वस्तु कार्य है वैसा ही उसका कारण होता है। जैसे घड़े को देखकर उसका कारण मिट्टी जान लिया जाता है कि जो वस्तु घड़ा है वही वस्तु मिट्टी है। आप कहते हैं कि अपनी शक्ति से जगत् को रचा, सो मेरा यह प्रश्न कि वह शक्ति अनादि है वा पीछे से बनी है? जो अनादि है तो द्रव्यरूप उसको मान लो, तो उसी को जगत् का अनादि कारण मानना चाहिये।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—नूर कहते हैं प्रकाश को, उस प्रकाश से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। परन्तु वह नूर मूर्त्तिमान् द्रव्य को प्रसिद्ध = दिखला सकता है, और वह प्रकाश करने वाले पदार्थ के बिना अलग नहीं रह सकता। इससे जगत् का जो कारण प्रकृत्ति आदि अनादि है, उसको माने बिना किसी प्रकार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। और हम लोग भी कार्य को अनादि नहीं मानते, परन्तु जिससे कार्य बना है उस कारण को अनादि मानते हैं।

एक हिन्दुस्तानी ईसाई साहब—जो ईश्वर ने अपनी प्रकृति से सब संसार को रचा, तो उसकी प्रकृति में सब संसार सनातन था, और वह उसकी प्रकृति में अनादि था, तो ईश्वर की सीमा हो गई।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—जबकि ईश्वर की प्रकृति में सब जगत् था, तब ही तो वह अनादि हुआ, और वही अनादि वस्तु रचने से सीमा में आई अर्थात् लम्बा-चौड़ा, बड़ा-छोटा आदि सब प्रकार का ईश्वर ने उसमें से बनाया। इसलिये रचे जाने से केवल जगत् ही की सीमा हुई, ईश्वर की नहीं।

अब देखिये मैंने जो पहिले कहा था कि नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती किन्तु भाव से ही भाव होता है, सो आप लोगों के कहने से भी वह बात सिद्ध हो गई कि जगत् का कारण अनादि है।

ईसाई साहब—सुनो भाई मौलवी साहबो! कि पण्डितजी इसका उत्तर हजार प्रकार से दे सकते हैं। हम और तुम हजारों मिलकर भी इन से बात करें तो भी पण्डितजी बराबर उत्तर दे सकते हैं। इसलिये इस बिषय में अधिक कहना उचित नहीं।

[ग्यारह बजे तक यह वार्त्ता सिद्ध हुई। फिर सब लोग अपने अपने डेरों को चले गये। और सब जगह मेले में यही बातचीत होती थी कि जैसा पण्डितजी को सुनते थे, उससे सहस्रगुणा पाया।]

दोपहर के पश्चात् की सभा

फिर एक बजे सब लोग आये और इस पर विचार किया कि अब समय बहुत थोड़ा और बातें बहुत बाकी हैं, इसलिये केवल मुक्ति विषय पर विचार करना उचित है। प्रथम थोड़ी देर तक ये बातें होती रहीं कि पहिले कौन वर्णन करे? एक दूसरे पर टालता था।

तब स्वामीजी ने कहा कि उसी क्रम से भाषण होना चाहिये, अर्थात् पहिले पादरी साहब, फिर मौलवी साहब और फिर मैं। परन्तु जब पादरी साहब और मौलवी साहब दोनों ने कहा कि हम पहिले न बोलेंगे, तब स्वामी जी ने ही पहिले कहना स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी–मुक्ति कहते हैं छूट जाने को, अर्थात् जितने दुःख हैं उनसे सब [प्रकार] छूटकर एक सच्चिदानन्द-स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना, और फिर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में नहीं गिरना[1], इसी का नाम मुक्ति है। वह किस प्रकार से होती है ? इसका पहला साधन सत्य का आचरण , और वह सत्य आत्मा और परमात्मा की साक्षी से निश्चय करना चाहिये, अर्थात् जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी न हो, वह असत्य है। जैसे किसी ने चोरी की, जब वह पकड़ा गया उससे राजपुरुष ने पूछा कि तूने चोरी की या नहीं ? तब वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की। परन्तु उसका आत्मा भीतर से कह रहा है कि मैंने चोरी की है। तथा जब कोई झूठ की इच्छा करता है तब अन्तर्यामी परमेश्वर उसको जता देता है कि यह बुरी बात है, इसको तू मत कर। और लज्जा शंका और भय आदि उसके आत्मा में उत्पन्न कर देता है। और जब सत्य की इच्छा करता है, तब उसके आत्मा में आनन्द कर देता है, और प्रेरणा करता है कि यह काम तू कर। अपना आत्मा जैसे सत्य काम करने में निर्भय और प्रसन्न होता है, वैसे झूठ में नहीं होता। जब परमात्मा की आज्ञा को तोड़कर बुरा काम कर लेता है, तब उसकी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और उसी को असुर, दुष्ट, दैत्य और नीच कहते हैं इसमें वेद का **प्रमाण** है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजुर्वेद, अध्याय ४०, मन्त्र ३॥

---

[1] इन शब्दों का तात्पर्य मुक्ति के काल तक सीमित है। **सर्वत्वँ वाऽधिकारिकम्** (१।२।१६) इस मीमांसा सूत्र के अनुसार सदा नित्य शाश्वत् आदि शब्द सापेक्ष हैं। जैसे प्यासे को पानी पिलाकर पूछो कि और कुछ चाहिए ? वह कहेगा कि बस सब कुछ पा लिया। (**सर्वंरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्**–निरुक्त १।१६)। इसकी विशेष व्याख्या सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास में देखनी चाहिये।

आत्मा का हिंसन करने वाला अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा को तोड़ता है, अपने आत्मा के ज्ञान के विरुद्ध बोलता करता और मानता है, उसी का नाम असुर, राक्षस, दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है।

मुक्ति के मिलने के साधन ये हैं—१—सत्य का आचरण। २—सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेदविद्या को यथावत् पढ़कर ज्ञान की उन्नति और सत्य का पालन यथावत् करना। ३—सत्यपुरुष ज्ञानियों का संग करना। ४—योगाभ्यास करके अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना। ५ परमेश्वर की स्तुति करना अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना। ६—प्रार्थना कि जो इस प्रकार होती है कि—हे जगदीश्वर! हे कृपानिधे! हे अस्मत्पितः! असत्य से हम लोगों को छुड़ा के सत्य में स्थिर कर, और हे भगवान्! हम को अन्धकार अज्ञान और अधर्म आदि दुष्ट कामों से अलग करके विद्या और धर्म आदि श्रेष्ठ कामों में सदा के लिये स्थापन कर, और हे ब्रह्म! हम को जन्म मरणरूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर अपनी कृपाकटाक्ष से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।[1]

जब सत्य मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता-पिता के पास नीचे आना चाहता है वा नीचे के ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यकता के कामों को भी माता-पिता छोड़कर और दौड़कर अपने लड़के को उठाकर गोद में लेते है, कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा तो उस को चोट लगने से उसको दुःख होगा। और जैसे माता-पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब वह अनन्तशक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिये रखता है, फिर उस को किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है, और वह सदा आनन्द में रहता है।

---

[1] असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय इति।

पक्षपात को छोड़कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग कर के अर्थ को सिद्ध करना चाहिये । देखो ! सब अन्याय अधर्म और पक्षपात से होता है । जैसे कि मौलवी साहब का वस्त्र बहुत अच्छा है, मुझको मिले तो मैं उसको ओढ़कर सुख पाऊं । इसमें अपने सुख का पक्षपात किया और मौलवी साहब के सुख दुःख का कुछ विचार न किया । इसी प्रकार पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है । अधर्म से काम को सिद्ध करना इसी को **अनथ** कहते हैं । और धर्म और अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इसी को **काम** कहते हैं । और अधर्म अर्थात् अनर्थ से काम को सिद्ध करना इसको **कुकाम** कहते हैं । इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है । इसमें यह बात है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना इसको **धर्म** और उसकी आज्ञा का तोड़ना इसको **अधर्म** कहते हैं । सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं, और कोई नहीं । और मुक्ति सत्य पुरुषार्थ से सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं ।

पादरी स्काट साहब—पण्डितजी ने कहा कि सब दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है, परन्तु मैं कहता हूं कि सब पापों से बचने और स्वर्ग में पहुंचने का नाम मुक्ति है । कारण यह कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने उसको बहका के उससे पाप करा दिया, इससे उसकी सब सन्तान भी पापी हैं । जैसे घड़ी बनाने वाले ने उसकी चाल स्वतन्त्र रक्खी है और वह आप ही चलती है, ऐसे ही मनुष्य भी अपनी इच्छा से पाप करते हैं, तो फिर अपने ऐश्वर्य से मुक्ति नहीं पा सकते और न पापों से बच सकते हैं । इसलिये प्रभु ईसामसीह पर विश्वास किये विना मुक्ति नहीं हो सकती । जैसे हिन्दू लोग कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों को पाप कराके बिगाड़ता है, इससे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती । परन्तु ईसामसीह पर विश्वास करने से वे भी बच सकते हैं ।

प्रभु ईसामसीह जिस देश में गये, अर्थात् उसकी शिक्षा जहां जहाँ गई है, वहां-वहाँ मनुष्य पापों से बचते जाते हैं । देखो ! इस समय सिवाय ईसाइयों के और किसी के मत में भलाई और अच्छे गुणों की उन्नत्ति है ? मैं एक दृष्टान्त देता हूं कि जैसे पण्डितजी बलवान् हैं, ऐसे ही इङ्गलिस्तान में एक मनुष्य बलवान् था । परन्तु

वह मद्यपान, चोरी, व्यभिचार आदि बुरे काम करता था। जब वह ईसामसीह पर विश्वास लाया तब सब बुराइयों से छूट गया। और मैंने भी जब मसीह पर विश्वास किया, तब मुक्ति को पाया और बुरे कामों से बच गया। सो ईसामसीह की आज्ञा के विरुद्ध आचरण से मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये सबको ईसामसीह पर विश्वास लाना चाहिये। उसी से मुक्ति हो सकती है, और किसी प्रकार नहीं।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—हम लोग यह नहीं कह सकते कि पण्डितजी ने जो मुक्ति के साधन कहे, केवल उनसे ही मुक्ति हो सकती है। क्योंकि ईश्वर की इच्छा है, जिसको चाहे उसको मुक्ति दे और जिसको न चाहे न दे। जैसे समय का हाकिम जिस अपराधी से प्रसन्न हो उसको छोड़ दे, और जिससे अप्रसन्न हो उसको कैद में डाल दे। उसकी इच्छा है जो चाहे सो करे, उस पर हमारा ऐश्वर्य नहीं है। न जाने ईश्वर क्या करेगा। पर समय के हाकिम पर विश्वास रखना चाहिये। इस समय का हाकिम हमारा पैगम्बर है, उस पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है। हां! यह बात अवश्य है कि विद्या से अच्छे काम हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति तो केवल उसी के हाथ में है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)—आपने जो यह कहा कि दुःखों से छूटना मुक्ति नहीं। पापों से छूटने का नाम मुक्ति है। सो मेरे अभिप्राय को न समझ कर यह बात कही। क्योंकि मैं तो पहिले साधन में ही सब पापों अर्थात् असत्य कामों से बचना कह चुका हूं। और बुरे कामों का फल भी दुःख कहाता है, अर्थात् जब पाप करेगा तो दुःख से नहीं बच सकता। इसके अनन्तर और साधनों में भी स्पष्ट कहा है कि अधर्म छोड़कर धर्म का आचरण करना मुक्ति का साधन है। जो पादरी साहब इन बातों को समझते तो कदाचित् ऐसी बात न कहते।

दूसरे, जो आप यह कहते हैं कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने बहकाकर पाप करा दिया, तो उसकी संतान भी इसी कारण से पापी हो गई। सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आप

लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते ही हैं। सो जबकि ईश्वर के पवित्र बनाये आदम को शैतान ने बिगाड़ दिया, और ईश्वर के राज्य में विघ्न करके ईश्वर की व्यवस्था को तोड़ डाला, तो इससे ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता। और ईश्वर की बनाई हुई वस्तु को कोई नहीं बिगाड़ सकता है।

और एक आदम ने पाप किया, तो उसकी सारी सन्तान पापी हो गई, यह सर्वथा असम्भव और मिथ्या है। जो पाप करता है वही दुःख पाता है, दूसरा कोई नहीं पा सकता। और ऐसी बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। और देखो एक आदम और हव्वा से किसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि बहन और भाई का विवाह होना बड़े दोष की बात है। इसलिये ऐसी व्यवस्था मानना चाहिये कि सृष्टि के आदि में बहुत से पुरुष और स्त्री परमेश्वर ने रचे।

और जो यह कहा कि शैतान बहकाता है, तो मेरा यह प्रश्न है कि जब शैतान ने सबको बहकाया तो फिर शैतान को किसने बहकाया? जो कहो कि शैतान आप से आप ही बहक गया, तो सब जीव भी आप से आप ही बहक गये होंगे, फिर शैतान को बहकाने वाला मानना व्यर्थ है। जो कहो कि शैतान को भी किसी ने बहकाया है, तो सिवाय ईश्वर के दूसरा कोई बहकाने वाला शैतान को नहीं है। तो फिर जब ईश्वर ने ही सबको बहकाया, तब मुक्ति देने वाला कोई भी आप लोगों के मत में न रहा और न मुक्ति पाने वाला। क्योंकि जब परमात्मा ही बहकाने वाला ठहरा, तो बचाने-वाला कोई नहीं हो सकता। और यह बात परमात्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है, क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कामों का कर्त्ता है तथा अच्छे कामों में ही प्रसन्न होता है। वह किसी को दुःख देने वाला और बहकानेवाला नहीं।

और देखो! कैसे आश्चर्य की बात है कि यदि शैतान ईश्वर के राज्य में इतना गड़बड़ करता हैं, फिर भी ईश्वर उसको न दण्ड देता है, न मारता है, न कारागृह में डालता है। इससे स्पष्ट परमात्मा की निर्बलता पाई जाती है। और विदित होता है कि परमात्मा ही को बहकाने की इच्छा है। इससे यह बात ठीक नहीं। और न शैतान कोई मनुष्य है। जब तक शैतान के मानने वाले शैतान को

मानना न छोड़ेंगे, तब तक पाप करने से नहीं बच सकते, क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो पापी ही नहीं । जैसा शैतान ने आदम को और उसकी सन्तान को बहका के पापी किया, वैसा ही परमात्मा ने आदम की सन्तान के पाप के बदले में अपने एकलौते बेटे को शूली पर चढ़ा दिया, फिर हम को क्या डर है । और जो हम से कुछ पाप भी होता है, तो हमारा विश्वास ईसामसीह पर है, वह आप क्षमा कर देगा, क्योंकि उसने हमारे पापों के बदले में जान दी है । इसलिये ऐसी व्यवस्था माननेवाले पापों से नहीं बच सकते ।

और जो घड़ी का दृष्टान्त दिया था सो ठीक है, क्योंकि सब अपने-अपने काम करने में स्वतन्त्र हैं । परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिये है, बुरे के लिये नहीं । और जो आपने यह कहा कि स्वर्ग में पहुंचना मुक्ति है । शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में शक्ति नहीं कि पापों से छूट कर मुक्ति पा सकें, यह बात भी ठीक नहीं । क्योंकि जब मनुष्य स्वतन्त्र हैं और शैतान कोई मनुष्य नहीं, तो आप दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति को पा सकते हैं । और स्वर्ग से आदम गेहूं खाने के कारण निकाला गया, और यह ही आदम को पाप हुआ कि गेहूं खाया, तो मैं आप से पूछता हूं कि आदम ने तो गेहूं खाया और पापी हो गया और स्वर्ग से निकाला गया । आप लोग जो स्वर्ग की इच्छा करते हैं, तो क्या आप लोग वहाँ सब पदार्थ खावेंगे ? तो क्या पाप नहीं होगा ? और वहाँ से निकाले नहीं जाओगे ? इससे यह बात भी ठीक नहीं हो सकती ।

और आप लोगों ने ईश्वर को मनुष्य के सदृश माना होगा, अर्थात् जैसे मनुष्य सर्वज्ञ नहीं वैसे ही आपने परमात्मा को भी माना होगा कि जिससे आप वहां गवाही और वकील की आवश्यता बतलाते हैं । परन्तु आपके ऐसे कहने से ईश्वर की ईश्वरता सब नष्ट हो जाती है । वह सब कुछ जानता है, उसको गवाही और वकील की कुछ आवश्यकता नहीं है । और उसको किसी की सिफारिश की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि सिफारिश न जानने वाले से की जाती है । और देखिये ! आपके कहने से परमात्मा पराधीन ठहरता है, क्योंकि विना ईसामसीह की गवाही वा सिफारिश के वह किसी को मुक्ति नहीं दे सकता, और कुछ भी नहीं जानता । इससे परमात्मा में

अल्पज्ञता आती है कि जिससे वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ किसी प्रकार नहीं हो सकता। और देखो जब कि वह न्यायकारी है, तो किसी की सिफारिश और मिथ्या प्रशंसा से न्याय के विरुद्ध कदाचित् नहीं कर सकता, जो विरुद्ध करता है तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता।

इसी प्रकार जो आप मनुष्य हाकिम के सदृश ईश्वर के दरबार में फरिश्तों का होना मानोगे, तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे। इससे ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि जो सर्वव्यापक है तो शरीर वाला न होना चाहिये। और जो सर्वव्यापक नहीं है, तो अवश्य है कि शरीरवाला हो, और शरीर वाला होने से उसकी शक्ति सब पर घेरने वाली न हुई। और शरीरवाला जितना दूर का ज्ञान रखता है पर उसको पकड़ और मार नहीं सकता। और जो शरीरवाला होगा उसका जन्म और मरण भी अवश्य होगा। इसलिए ईश्वर को किसी एक जगह पर और फरिश्तों का उसके दरबार में होना, ऐसी बातें मानना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। नहीं तो ईश्वर की सीमा हो जायेगी।

देखो! हम आर्य्य लोगों के शास्त्रों को यथावत् पढ़े विना लोगों को उलटा निश्चय हो जाता है, अर्थात् कुछ का कुछ मान लिया जाता है। जो पादरी साहब ने कलियुग के विषय में कहा, सो ठीक नहीं। क्योंकि हम आर्य्य लोग युगों की व्यवस्था इस प्रकार से नहीं मानते। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—

कलिश्शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन्॥

ऐत० पञ्जिका ७। कण्डिका १५॥

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है और नाममात्र धर्म करता है उसको कलि, और जो आधा अधर्म और आधा धर्म करता है उसको द्वापर, और एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है उसको त्रेता, और जो सर्वथा धर्म करता है उसको सतयुग कहते हैं।

इसके जाने विना कोई बात कह देना ठीक नहीं हो सकती। इससे जो कोई बुरा काम करता है, वह दुःख पाने से कदाचित् नहीं

बच सकता। और जो कोई अच्छा काम करता है, वह दुःख पाने से बच जाता है, किसी ही देश में चाहे क्यों न हो ?

क्या ईसामसीह के विना ईश्वर अपने सामर्थ्य से भक्तों को नहीं बचा सकता ? वह अपने भक्तों को सब प्रकार से बचा सकता है। उसको किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं। हाँ ! यह सच है कि जब जिस-जिस देश में शिक्षा करने वाले धर्मात्मा उत्तम पुरुष होते हैं उस-उस देश के मनुष्य पापों से बच जाते है, और उन्हीं देशों में सुख और गुणों की वृद्धि होती है। यह भी सब लोगों के लिए सुधार है, इसका कुछ मत से प्रयोजन नहीं। देखो ! आर्य्य लोगों में पूर्व उपदेश की व्यवस्था अच्छी थी। इससे उस समय में वे सुधरे हुए थे। इस समय में अनेक कारणों से सत्य उपदेश कम होने से जो किसी बात का विगाड़ हो तो इससे आर्य लोगों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आ सकता। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के समय से ले के आज तक आर्य्यों ही का मत चला आता है। वह कुछ बहुत नहीं बिगड़ा।

देखो ! जितने १८०० वा १३०० वर्षों के भीतर ईसाइयों और मुसलमानों के मतों में आपस के विरोध से फिरके हो गये हैं, उनके सामने जो १९६०८५२९७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में बिगाड़ हुआ तो वह बहुत ही कम है। और आप लोगों में जितना सुधार है सो मत के कारण नहीं, किन्तु पार्लियामेण्ट आदि के उत्तम प्रबन्ध से है, जो ये न रहें, मत से कुछ भी सुधार न हो। और पादरी साहब ने जो इङ्गलिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिलाकर दिया, सो इस प्रकार कहना उनको योग्य न था। परन्तु न जाने किस प्रकार से यह बात भूल से उनके मुख से निकली।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—ईश्वर चाहे सो करे, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह पूर्ण विद्या और ठीक-ठीक न्याय पर सदा रहता है। किसी का पक्षपात नहीं करता। इस कहने से कि जो चाहे सो करे, यह भी आता है कि ईश्वर ही बुराई भी करता होगा और उसी की इच्छा से बुराई होती है, यह कहना ईश्वर में नहीं बनता। ईश्वर जो कोई मुक्ति का काम करता है उसी को मुक्ति देता है। मुक्ति के काम के विना किसी को मुक्ति नहीं देता,

क्योंकि वह अन्याय कभी नहीं करता । जो विना पाप-पुण्य के देखे जिसको चाहे दुःख देवे और जिसको चाहे सुख, तो ईश्वर में अन्याय आदि प्रमाद लगता है। सो वह ऐसा कभी नहीं करता। जैसे अग्नि का स्वभाव प्रकाश और जलाने का है, इनके विरुद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही परमात्मा भी अपने न्याय के स्वभाव से विरुद्ध पक्षपात से कोई व्यवस्था नहीं कर सकता।

सब समय का हाकिम मुक्ति के लिये परमेश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं । और जो कोई दूसरे को माने, उसका मानना व्यर्थ है। मुक्ति दूसरे पर विश्वास करने से कभी नहीं हो सकती । क्योंकि ईश्वर जो मुक्ति देने में दूसरों के अधीन है, या दूसरे के कहने से दे सकता है, तो मुक्ति देने में ईश्वर पराधीन है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। वह किसी का सहाय अपने काम में नहीं लेता, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मैं जानता हूं कि सब विद्वान् ऐसा ही मानते होंगे। जो पक्षपात से औरों के दिखाने को न मानते हों तो दूसरी बात है।

इसमें मुझको बड़ा आश्चर्य है कि परमात्मा को "लाशरीक" भी मानते हैं, और फिर पैगम्बरों को भी मुक्ति देने में उनके साथ मिला देते हैं। यह बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर धर्मात्मा मनुष्यों को मुक्ति के काम करने से मुक्ति स्वतन्त्रता से दे सकता है, किसी की सहायता से अधीन नहीं। मनुष्य को ही आपस में सहायता की आवश्यकता है; ईश्वर को नहीं। न वह मिथ्या प्रसन्न होने वाला है, जो मिथ्या प्रसन्न होकर अन्याय करे । वह तो अपने सत्य धर्म और न्याय से सदा युक्त है, और अपने सत्य प्रेम से भरे हुए भक्तों को यथावत् मुक्ति देकर और सब दुःखों से बचाकर सदा के लिये आनन्द में रखता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं ।।

इतने में चार बज गये । स्वामीजी ने कहा कि हमारा व्याख्यान बाकी है। मौलवी साहब ने कहा कि हमारे नमाज का समय आ गया । पादरी स्काट साहब ने स्वामीजी से कहा कि हमको आप से एकान्त में कुछ कहना है। सो वे दोनों तो उधर गये। इधर एक ओर तो एक मौलवी मेज पर जूता पहने हुए खड़े होकर और दूसरी ओर पादरी अपने मत का व्याख्यान देने लगे।

और कितने ही लोगों ने यह उड़ा दिया कि मेला हो चुका। तब स्वामीजी ने पादरी और आर्य लोगों से पूछा कि यह क्या गड़बड़ हो रहा है? मौलवी लोग नमाज पढ़कर आये वा नहीं? उन्होंने उत्तर दिया कि मेला हो चुका। इस पर **स्वामीजी** बोले कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया? न किसी की सम्मति ली गई, न किसी से पूछा गया। अब आगे कुछ बातचीत होगी वा नहीं?

जब वहां बहुत गड़बड़ देखी और संवाद की कोई व्यवस्था न जान पड़ी, तो लोगों ने स्वामीजी से कहा कि आप भी चलिये। मेला पूरा हो ही गया। इस पर **स्वामीजी** ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि कम से कम पांच दिन मेला रहता। इसके उत्तर में **पादरी साहबों** ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। फिर स्वामीजी आकर अपने डेरे पर धर्मसंवाद करने लगे। उस दिन रात को पादरी स्काट साहब और दो पादरियों के साथ स्वामीजी के डेरे पर आये। स्वामीजी ने कुरसियां बिछवा कर आदरपूर्वक उनको बिठलाया और आप भी बैठ गये। फिर आपस में बातचीत होने लगी—

पादरी साहबों ने पूछा कि—आवागमन सत्य है वा असत्य? और इसका क्या प्रमाण है?

स्वामीजी ने कहा कि—आवागमन सत्य है, और जो जैसे कर्म करता है वैसा ही शरीर पाता है। जो अच्छे काम करता है तो मनुष्य का, और जो बुरे करता है तो पक्षी आदि का शरीर पाता है। और जो बहुत उत्तम काम करता है वह देवता अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है। देखो! जब बालक उत्पन्न होता है, तब उसी समय अपनी माता का दूध पीने लगता है। कारण यही है कि उसको पहिले जन्म का अभ्यास बना रहता है। यह भी एक प्रमाण है। और धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी अनेक प्रकार के ऊंच-नीच देखने से विदित होता है कि कर्मों का फल है। कर्म से देह और देह से आवागमन सिद्ध है। जीव अनादि हैं कि जिनका आदि और अन्त नहीं। जिस योनि में जीव जन्म लेता है उसका कुछ स्वभाव भी बना रहता है। इसी कारण मनुष्य आदि विचित्र स्वभाव और प्रकृति आदि के होते हैं। इससे भी आवागमन सिद्ध होता है।

इसी प्रकार और बहुत से प्रमाण आवागमन के हैं। परन्तु जीव का एक बार उत्पन्न होना और फिर कभी न होना, इसका कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो मैंने कहा उसके विरुद्ध होना चाहिये था, सो ऐसा होना असंभव है। और फिर यह बात कि मरा और हवालात हुई अर्थात् जब कयामत होगी तब उसका हिसाब किताब होगा, तब तक बेचारा हवालात में रहा मानना अच्छा नहीं।

फर पादरी साहब चले गये। मौलवियों ने शाहजहांपुर जाकर मुन्शी इन्द्रमणिजी को लिखा कि जो आप यहां आवें तो हम आप से शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, परन्तु जब स्वामीजी और मुन्शीजी वहाँ पहुंचे, तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम तक भी न लिया।

ऋषिकालाङ्कब्रह्माब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ।
द्वादश्यां मंगले वारे ग्रन्थोऽयं पूरितो मया॥

—:o:—

४. शास्त्रार्थ-जालन्धर

सम्पादकीय

पं० सुन्दरलाल जी के नाम ऋषि दयानन्द के द्वारा लिखे गये १३ मई १८८२ ई० के पत्र से ज्ञात होता है कि **'जालन्धर की बहस'** शीर्षक कोई पुस्तक प्रकाशित हुई थी। निश्चय ही उसमें उस शास्त्रार्थ का उल्लेख था, जो २४ सितम्बर १८७७ ई० (आश्विन कृष्ण २, सं० १९३४ वि० सोमवार) को प्रातः ७ बजे जालन्धर में मौलवी अहमद हुसैन से हुआ था। शास्त्रार्थ का विषय था **'पुनर्जन्म और चमत्कार'**। यह शास्त्रार्थ सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया की उपस्थिति में हुआ। पं० लेखराम द्वारा संगृहीत ऋषि के उर्दू जीवन चरित में इस शास्त्रार्थ के विषय में निम्न उल्लेख पाया जाता है—

"यह शास्त्रार्थ पहली बार दिसम्बर १८७७ में पंजाबी प्रेस, लाहौर में छपा था, दूसरी बार जुलाई १८७८ के 'आर्य दर्पण' में छपा, तीसरी बार मिर्जा महोदय ने अपने वजीर प्रेस, स्यालकोट में छपवाया, चौथी बार लाहौर और पाँचवी बार आर्यसमाज अमृतसर ने १८८६ ई० में छपवाया। खुद मुसलमानों का फैसला है कि मौलवी साहब कामयाब नहीं हुये और करामात सिद्ध नहीं कर सके।"

पं० गोपाल शास्त्री शर्मा लिखित 'श्रीमद्दयानन्द दिग्विजयार्क' के प्रथम खण्ड पञ्चम मयूख में फकीर मुहम्मद मीर जामू (मिर्जा ?) जालन्धरी द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त **शास्त्रार्थ की भूमिका** छपी है। इसे हम पाठकों के लिये उपयोगी समझकर उद्धृत कर रहे हैं। भूमिका की भाषा उर्दू है। कठिन उर्दू फारसी शब्दों का अर्थ पाठकों की सुविधा के लिये टिप्पणी में दिया गया है।

"फकीर मुहम्मद मीर जामू (मिर्जा ?) जालन्धरी सभ्यगणों को इस रिसाले[1] के तैयार होने के कारणों से आगाह[2] करता है कि ता० १३ सितम्बर सन् १८७७ को दयानन्द सरस्वतीजी साहब जालन्धर में भी बतौर दौरे[3] के तशरीफ लाये, और जनाब फैजमाब[4]

---

[1] पुस्तक। [2] परिचित करना। [3] भ्रमण करते हुए।
[4] परोपकारमूर्ति।

सरदार बावकार विक्रमसिंह साहब अहलूवालिया की कोठी में करोकश[1] होकर वेद के मुताबिक जिसको वह कलाम इलाही[2] तसव्वुर[3] करते हैं, कथा सुनाने लगे कि फकीर ने सरदार साहब ममदह की खिदमत आलिया[4] में दरख्वास्त[5] की कि स्वामी साहब और मौलवी अहमद हुसैन की गुफ्तगू[6] भी किसी माकूली मसले[7] में सुननी चाहिये। जनाब ममदह ने पसन्द किया और स्वामीजी ने भी कुबूल करके २४ सितम्बर के ७ बजे सुबह का करार दिया मौलवी साहब वक्त मुअय्यनह[8] पर खास व आम हिन्दू व मुसलमान शहर के आ गये। मुबाहसा अर्थात् शास्त्राथ हस्ब ख्वाहिश[9] मौलवी साहब मसले तनासुख[10] और स्वामीजी की मर्जी के मुताबिक मसले करामात[11] मुकर्रर हुआ। यानी स्वामीजी तनासुख (पुनर्जन्म) को साबित करें, और मौलवी साहब उनकी तरदीद (खण्डन) करें, और मौलवी साहिब अहले अल्लाह[12] की करामात साबित करें और स्वामी साहिब उसकी तरदीद (खण्डन) करें।

गुफ्तगू शुरु होने से यह बात भी करार पायी कि तुर्फैन (दोनों तर्फ) से कोई शख्स खिलाफ तहजीब (सभ्यता) गुफ्तगू न करेगा और स्वामीजी की तरफ से यह भी प्रकाशित हुआ कि कोई साहब इस गुफ्तगू खत्म होने पर हार जीत तसव्वुर[13] न करें। अगर करेगा, तो मुतअस्सिब (पक्षपाती) और जाहिल[14] समझा जायेगा, क्योंकि यह मसाइल[15] ऐसे नहीं हैं कि दो तीन दिन की गुफ्तगू में तसफिया[16] हो जाय, या हार जीत तसस्वुर हो। मगर हां, जब रिसाला गुफ्तगू बाहमी तबै[17] होगा (छपेगा) तो खुद हाथ के कंकन को आरसी का मसला होगा और आकिला खुद मेदान्द का जहूर[18]। जो सवाल जवाब

---

[1] विराजमान होकर।
[2] ईश्वरीय ज्ञान।
[3] मानते हैं।
[4] शुभ सेवा में।
[5] निवेदन किया।
[6] वार्तालाप।
[7] उचित विषय।
[8] निश्चित समय।
[9] इच्छानुसार।
[10] पुनर्जन्म।
[11] चमत्कार।
[12] ईश्वर भक्तों के।
[13] खयाल न करें।
[14] मूर्ख।
[15] विषय।
[16] निर्णय।
[17] प्रकाशित होगा।
[18] बुद्धिमान् स्वयं इसको पढ़कर निर्णय कर सकेंगे।

होंगे वह बाद दस्तखत लाला अमीचन्द साहब और मुन्शी मुहम्मद हुसैन महमूद तबा होंगे (छापेंगे) । बाद खतम होने गुफ्तगू के मौलवी साहब की तरफ से खिलाफ अम्ल आलमा सरजद[1] हुआ, और वह यह है कि बाद तमाम होने गुफ्तगू के मौलवी साहब इमाम नासिरुद्दीन के दरवाजे पर गये और कुछ फखरिया बाज सुनाकर[2] मुसलमान हाजरीन से अपने नमूद के बेवजूद की शुहरत के तलबगार हुये[3] । अर्थात् मुसलमानों से कहा कि आप लोग अभी कोई ऐसी तजवीज[4] करें कि जिसमें मैं जीता नहीं तो भी मेरी ही जीत प्रसिद्ध हो जाय । अगर्चि अहले इल्म[5] और वजादार[6] मुसलमान इस शुहरत (मिथ्या-प्रसिद्धि) की ख्वाहिश को जाहिलों का खेल समझकर किनाराकश[7] हो गये, मगर जुलाहे आदि वे लोग जो मुर्ग, लाल और बटेर और अगन वगैरह की लड़ाई के आदी और हारजीत के शुहरत के शायक हैं[8], उन्होंने मौलवी साहिब को बाजीयाफता[9] करार दिया, और घोड़े पर चढ़ा कर शहर के गलीकूचों में खूब फिराया और जीत हार का गुल मचाया । मगर खास वजादार और मुअज्जिज[10] आदमियों ने इसे बहुत नापसन्द किया ।"

इस[11] मुबाहिसे की 'सवाल जवाब' नाम की एक किताब है, उसकी दीबाचा अर्थात् भूमिका की यह नकल है, जो ऊपर लिखी है । चूंकि इसके देखने ही से असल हाल खुल जाता है, इसलिये अगाड़ी से सवाल जवाब नहीं लिखे गये । उक्त किताब के अन्त में बड़े दो प्रतिष्ठित रईसों ने यह इबारत लिख दस्तखत किए हैं कि हमारे रौबरू जो मरातिब गुफ्तगू मुअय्यन हुए थे, वह वाकई यही थे जो दीबाचा में दर्ज हैं ।

द० लाला अमीचन्द साहब द० मुहम्मद हुसैन महमूद

दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह (संग्रहीता-कविराज रघुनन्दन सिंह 'निर्मल') के पृ० ११४-१२३ के अनुसार इस शास्त्रार्थ का पाठ, जो पं० लेखराम संग्रहीत उर्दू जीवन चरित पर आधृत है, यहाँ आगे 'शास्त्रार्थ-जालन्धर' शीर्षक से दिया जा रहा है ।

---

[1] विद्वानों को परिपाटी के विरुद्ध जो कार्य हुआ । [2] प्रशंसात्मक उददेश देकर । [3] प्रशंसा के इच्छुक हुये । [4] व्यवस्था । [5] विद्वान् । [6] समझदार । [7] पृथक् हो गये । [8] ख्याति के इच्छुक । [9] विजयी । [10] प्रतिष्ठित । [11] यहां से अगली पंक्तियां पं० गोपालदास की हैं ।

शास्त्रार्थ-जालन्धर

[चमत्कार के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और मौलवी अहमद हुसैन साहब के मध्य होने वाले प्रश्नोत्तर]

स्वामी:—चमत्कार आप किसको कहते हैं ?

मौलवी:—मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध जो अद्भुत कार्य मनुष्य से सम्पन्न हो।

स्वामी:—स्वभाव आप किस को मानते हैं ?

मौलवी:—मनुष्य की प्राकृतिक इच्छा को स्वभाव कहते हैं।

स्वामी:—जो मनुष्य की शक्ति से बाहर है, वह किस प्रकार उससे हुआ ?

मौलवी:—मनुष्य से होने वाले कार्य दो प्रकार के हैं—एक तो वह कि मनुष्य को जिनका प्रकट करने वाला कहा जाता है; और दूसरे वह कि मनुष्य स्वयं जिनका कर्त्ता होता है। पहली प्रकार के कार्यों में मनुष्य को वास्तविक कर्त्ता नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ जैसे कठपुतली का नाच। ऐसे कार्य खुदा की ओर से मनुष्य के द्वारा प्रकट होते हैं।

स्वामी:—सब मनुष्यों में यह दोनों प्रकार के कार्य हैं, अथवा किसी एक में ?

मौलवी:—प्रत्येक में नहीं, कुछ में होते हैं।

स्वामी:—ईश्वर उल्टे काम कर और करा सकता है या नहीं ?

मौलवी:—मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध करा सकता है, परन्तु वह काम ईश्वर के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होता, और स्वयं अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता।

स्वामी:—ईश्वर के काम उल्टे होते हैं वा नहीं ?

मौलवी:—खुदा के कार्य कभी उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं होते, यद्यपि मनुष्यों के स्वभाव की अपेक्षा वह विरुद्ध समझे जा सकते हैं।

स्वामी:—चमत्कार सृष्टि के स्वभाव के अनुसार होता है या नहीं अर्थात् प्रकृति की इच्छा के विरुद्ध ?

मौलवी:—चमत्कार में यह आवश्यक नहीं कि समस्त सृष्टि के स्वभाव के विरुद्ध हो, यद्यपि यह सम्भव है कि किसी नबी (पैगम्बर) या वली (ईश्वर को प्राप्त करने वाला) से कोई ऐसा कार्य हो कि जो समस्त सृष्टि के अनुकूल न हो।

स्वामी:—चमत्कार किसी ने दिखाया अथवा [कोई] दिखावेगा, इसका क्या प्रमाण है ?

मौलवी:—यह प्रश्न ऐसा है जैसे कहा जावे कि किसी के मुख पर जो दाढ़ी आई है, उसके आने का क्या प्रमाण है ? जब चमत्कार के विषय में यह कह दिया गया कि वह कार्य जो मनुष्य से मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हो। उसका कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध होता है, यही चमत्कार का प्रमाण है। बहुत से मनुष्यों ने, जो दयालु ईश्वर की सृष्टि में सम्मानित और प्रतिष्ठित हैं और ईश्वर ने जिन को सृष्टि के उपकार के लिए भेजा है, पूर्वकाल में चमत्कार दिखाये और भविष्य में भी दिखायेंगे। जैसा कि अल्लाह के रसूल हजरत मोहम्मद साहब ने भी बहुत से चमत्कार करके दिखाये, और ऐसे ही उनसे पूर्व हजरत ईसा ने भी बहुत से चमत्कार करके दिखाये। सिद्धि इस बात की दो प्रकार से होती है—एक तो सच्चे समाचारदाताओं के द्वारा और दूसरे स्वयं देखने से। जैसा कि ऊपर दोनों महापुरुषों का वर्णन किया। जो लोग उनके समय में विद्यमान थे, उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा, और हम लोग जो इस समय के हैं, उनको इसका ज्ञान सच्चे समाचारदाताओं के वचनों और लेखों से हुआ।

स्वामी:—यह ठीक-ठीक युक्ति से सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि सुनना कहना और लिखना दो प्रकार से होता है—सच्चा और झूठा। अब यह चमत्कार की बात सच्ची है, इसका क्या प्रमाण है ? जैसे कार्य को देख के कारण की पहचान होती है, अर्थात् नदी के प्रवाह को देखकर विदित होता है कि ऊपर वर्षा हुई है; इसी प्रकार चमत्कार हुआ, इसकी सिद्धि में इस समय क्या युक्ति है ? कदाचित् वह झूठा ही लिखा कहा अथवा सुना हो, क्योंकि जैसे अब कोई स्वार्थी मनुष्य झूठी बातों से बहका सुना कर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है (वैसे ही यह भी हो)। जैसे इस समय में भी दो चार चमत्कारिक

अवतार हुये हैं। आगरे में शिवदयाल और रामसिंह कूका, जो काले पानी चले गये हैं। एक अकलकोट का स्वामी दक्षिण में विद्यमान है, और एक देव मामलादार ने सात दिन वैकुंठ में रहकर फिर आकर सुनाया कि मैं नारायण से बात करके आया हूं, और जो-जो आज्ञा हुई वह तुमको सुनाता हूं। अब लाखों मनुष्य उसके चरणों में इतना नमस्कार करते हैं कि उसका पैर सूज गया है। जैसे यह बात अब झूठ इन्द्रजालवत् है, ऐसी पहले भी होगी। अब इस समय इतने मनुष्यों के बीच में कोई चमत्कार दिखाने वाला विद्यमान हो तो दिखलाइये, और जो अब नहीं तो पहले भी नहीं था, और आगे भी नहीं होवेगा। क्योंकि कार्य को देखे विना कारण की सिद्धि नहीं होती अथवा कारण के देखे विना कार्य की।

मौलवी:—जब यह सिद्ध हो चुका कि चमत्कार पवित्र ईश्वर का एक कर्म है, यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से वह असम्भव होता है, तथापि परमात्मा की अपेक्षा से वह असम्भव नहीं। क्योंकि यदि खुदा की अपेक्षा से वह असम्भव हो जाये तो उड़ना पक्षी का कभी न पाया जाये। इसके अतिरिक्त स्वभाव के विरुद्ध समस्त कर्म यद्यपि मनुष्य की अपेक्षा से असम्भव दिखाई देते हैं, परन्तु परमात्मा की अपेक्षा से असम्भव नहीं हैं। जब खुदा एक के बारे में वह अवसर उत्पन्न करता है, तो दूसरे शरीर के बारे में भी उत्पन्न कर सकता है। इसका अस्वीकार करना मानो परमात्मा की शक्ति का अस्वीकार करना है। यदि समाचार प्रत्येक चीज का झूठ हो, तो हमको चाहिये कि कलकत्ता, लन्दन अथवा और कोई नगर—जिसको हमने अपनी आंखों से नहीं देखा है—उसका विश्वास न करें। इसलिए सिद्धि चमत्कार की इसी प्रकार से है, जिस प्रकार आप वेद को सिद्ध करते हैं, अर्थात् जिससे आप यह कह सकते हैं कि वेद वही पुस्तक है जो ईश्वर की ओर से आई थी, अन्यथा उस पर कोई मुहर खुदा की लगी हुई नहीं है, जिससे कहा जावे कि यह वेद वही पुस्तक है। वेद सिद्धि में जो युक्तियां आप देंगे, वही चमत्कार के विषय में भी होंगी।

स्वामी:—मैंने यह पूछा था कि ईश्वर के अमुक-अमुक व्यक्ति के द्वारा चमत्कार दिखाये—इसका क्या प्रमाण है? चमत्कार परमेश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता, इसका दृष्टान्त सब सृष्टि का

रचना, धारण करना, प्रलय करना आदि है। वह न्याय, दया तथा अनन्त विद्या वाला है—कभी अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। इसका उदाहरण समस्त सृष्टि है। जैसे इस समय मनुष्य का पुत्र मनुष्य ही होता है, पशु नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर के काम में कभी भूल नहीं रहती। इसीलिए परमेश्वर की शक्ति मानना चमत्कार पर अवलम्बित नहीं। और जो कोई चमत्कार मानता है, वह वर्तमान समय में किसी चमत्कार दिखाने वाले का उदाहरण दे। और परमेश्वर की शक्ति की भी कुछ न कुछ सीमा है, जैसे ईश्वर मर नहीं सकता, अज्ञानी नहीं हो सकता, बुरा काम नहीं कर सकता, क्योंकि वह न्यायकारी और अविनाशी है। यह उदाहरण चमत्कार पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि कोई कहे कि बम्बई नहीं, तो वह बराबर बम्बई को दिखा सकता है। ऐसे ही जो वह उदाहरण सच्चा हो तो बम्बई के समान चमत्कार को भी दिखा दे।

वेद का ईश्वरकृत होना असम्भव नहीं, क्योंकि वह अन्तर्यामी और पूर्ण विद्वान् दयालु तथा न्यायकारी है। वह बराबर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से अपना प्रकाश कर सकता है, जैसे इस समय भी बराबर अन्यायकारी की आत्मा में भय और लज्जा और न्यायकारी की आत्मा में हर्ष तथा उत्साह का प्रकाश करता है। इसलिए वेद का उदाहरण चमत्कार से सम्बन्धित नहीं। और मेरा अभिप्राय इस विषय के बारे में कि यह पुस्तक ईश्वरकृत है—यह है कि जैसा ईश्वर का स्वभाव, जैसा सृष्टि का क्रम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, और अनन्त विद्या का प्रकाश निर्दोषता आदि है—ईश्वर की रचना सिद्ध करने में सब मुहरें हैं। और जो आप कहें कि और प्रकार की मुहर चाहिए तो पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और मनुष्य पर ईश्वरकृत होने की मुहर क्या है? जब मुहर से ईश्वर की रचना सिद्ध करनी है, तो कहीं मुहर दिखाई नहीं देती। ईश्वर का स्वभाव क्या है? जो ईश्वर मनुष्य के स्वभाव से उलटा करा सकता है, तो किसी मनुष्य को पांव से खिलाया और पिलाया है, और मुख से पांव का काम लिया है या लिवाया है? मुझको ऐसा विदित होता है कि सब सम्प्रदाय वालों ने यह चमत्कार तथा भविष्यवाणी जैसे कि रसायन आदि का लोभ दिखा के बहुत लोगों को फंसाया है।

परमेश्वर कृपा करे, सबके आत्मा में विद्या का प्रकाश हो कि मनुष्य ऐसे जाल-फन्दों से छूट कर सत्य को मानें और झूठ से अलग रहें।

मौलवी: – हम पहले कह चुके हैं कि चमत्कार का कार्य मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध कराता असम्भव बात नहीं है, जिससे कहा जावे कि परमात्मा की शक्ति के बाहर है। यदि किसी को सन्देह हो तो मक्का नगर अथवा शाम देश में जाकर उन चालीस मनुष्यों को देख ले कि जो चमत्कार के दिखाने वाले हैं। वेद के अतिरिक्त ऐसी बहुत सी पुस्तकें हैं, जिनको कह सकते हैं कि मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध हैं। जैसे शिक्षा के विषय में "गुलिस्तां"[1] और बोस्तां इत्यादि। किन्तु यह कहना कि इसमें सब विद्यायें हैं—यह दावा युक्तिशून्य है, क्योंकि इसमें इल्मे इजतराब (उद्भिजन-विद्या) कहां है ? अनोखी बातों का ज्ञान और निर्मित पदार्थों के ईश्वरकृत होने का प्रमाण यह है कि वह निर्माण किये हुए हैं, और यह निर्माण ही मानो खुदा की मुहर है। यह पुस्तक तौरेत के काल से निस्सन्देह पहले की है। इसमें वह समाचार है जो आज के दिन प्राप्त होता है। पुस्तक दानियाल अध्याय ११ पाठ १० से १६ तक भी प्रमाण है कि वह भविष्यवाणी जो सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखी गई थी अब पूरी हुई। दूसरे कुरान शरीफ के बारे में मुसलमानों का तेरह सौ वर्ष से सारे सम्प्रदायों के विरुद्ध यह दावा है कि इस कुरान शरीफ के समान एक पंक्ति भी बना कर कोई मनुष्य दिखावे। जैसा कि—

"फातू बिसूरतिम् मिम्मिस्लिहि"

तो इसकी सी एक सूरत ले आओ। अब तक किसी से बना नहीं, न बनेगा। यदि पंडित साहब को यह चमत्कार स्वीकार नहीं तो इसके समान एक पंक्ति बनाकर दिखायें। चमत्कार का प्रदर्शन मानो हमने इस सभा में कर दिया। अब हम पवित्र परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि वह समस्त सृष्टि को दृढ़ मार्ग पर लावे, और उनकी दृष्टि से पक्षपात को दूर करे।

---

[1] गुस्लितां और बोस्तां शेखसादी द्वारा रचित फार्सी भाषा की दो प्रख्यात पुस्तकें हैं।

पुनर्जन्म के विषय में प्रश्नोत्तर

मौलवी:—वर्त्तमान आकार के विना सत्ता का होना सम्भव नहीं। जब आकार की सत्ता विनाशी है, तो अवश्य प्रकृति भी नाशवान् होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति को सत्ता आकार के द्वारा प्राप्त हुई। द्रव्य की अपेक्षा द्रव्य का कारण प्रधान होता तो पुनर्जन्म मानने वालों के लिये जगत् का विनाशी मानना आवश्यक हो जाता है, परन्तु उन्होंने ऐसा माना था कि वह सनातन है।

स्वामी:—आकृति दो प्रकार की होती है—एक ज्ञान से ग्रहण होती है, और एक चक्षु आदि इन्द्रियों से। कारण में ही आकृति की स्थिति है,परन्तु वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होती। क्योंकि जो सूक्ष्म वस्तु होती है, जब वह स्वयं ही नहीं दिखाई देती, तो उसका आकार क्या दिखाई देगा? और जो कारण में आकृति न हो तो कार्य में नहीं आ सकती, क्योंकि जो कारण के गुण हैं, वही कार्य में आते हैं। जैसे एक तिल के दाने में तेल होता है, वह करोड़ों दानों में भी बराबर होता है। लोहे के एक अणु में तेल नहीं होता, तो वह मन भर में भी नहीं होता। जो वस्तु नित्य है उसके गुण भी नित्य हैं। कारण का होना न होना नहीं कहा जाता—वह तो सनातन है। और जो वस्तु सनातन है उसकी आकृति भी कारणावस्था में सनातन है। आकृति विना द्रव्य के पृथक् नहीं रह सकती। वह आकृति उसी द्रव्य की है, इससे सिद्ध है कि कारण सनातन है।

मौलवी: यह नहीं कि जो चीज सिवाय किसी चीज के न पाई जाये, तो वह उसका रूप ही हो। उदाहरणार्थ जैसे चेष्टा हाथ और चाबी की। चेष्टा चाबी की विना हाथ की चेष्टा के नहीं पाई जाती, प्रत्युत जब चेष्टा चाबी की होगी तो चेष्टा हाथ की होगी, और जब चेष्टा हाथ की होगी तो चेष्टा चाबी की होगी, अर्थात् इन दोनों चेष्टाओं में कोई काल किसी का किसी से पहले या पीछे नहीं निकलता। और निस्सन्देह उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि कुंजी की चेष्टा विना हाथ के नहीं, अर्थात् चेष्टा कुंजी की हाथ की चेष्टा पर निर्भर है, यद्यपि वर्त्तमान समय में इकट्ठी है। ऐसे ही प्रकृति और उसका रूप है। यद्यपि काल में एकता है, परन्तु बुद्धि इस बात को जानती है कि प्रकृति के आकार की अपेक्षा प्रकृति सनातन है। क्योंकि

गुणी और मानने वाला गुण और माने हुये की अपेक्षा सनातन होता है। प्रकृत्ति की सत्ता अर्थात् उसका अनुभव होना और दिखाई देना किसी चीज के लगने से होता है। या तो आकृति के लगने से होता है या किसी और चीज के लगने से। प्रत्येक अवस्था में वह पदार्थ जिसके लगने से वह प्रकृति संसार में इस प्रकार स्थित हुई कि अनुभव हो और दिखाई दे, वह किसी ऐसे कारण सें हुई जो पीछे से आकर प्रकृति को लगा।

और जो उत्तर में यह लिखा गया कि कारण का होना अथवा न होना नहीं कहा जाता, तो यह चीज अद्भुत है जिसका उपादान कारण में होना या न होना नहीं कह सकते। वह वस्तु जिसका उपादान कारण ऐसा हो, उसका होना किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् वर्त्तमान वस्तु अभाव से नहीं बन सकती। और यदि उसके सनातन होने से कोई मनुष्य यह कहे कि वह विद्यमान भी होगा, तो यह गलत है, इसलिए कि अभाव से भाव का होना। उदाहरणार्थ जैसे कोई कहे कि "जैद" के तत्वों को एक विशेष आकार प्राप्त हुआ है, जिसके कारण उसका "जैद" नाम रखा गया, तो वह विशेष आकार इस आकार से पहले कभी विद्यमान न था, इसलिये उसको अर्थात् उसके अभाव को सनातन कहा जावेगा। रूप के जो दो प्रकार कहे—एक वह कि जिसको आकृति कहते हैं, और एक उसके अतिरिक्त, इससे विदित हुआ कि आकार प्रकृति रहित है।

स्वामी:—स्वाभाविक गुण रूप आदि वस्तु के पीछे कभी नहीं होते, और जो पीछे हो उसको स्वाभाविक नहीं कहते। जैसे अग्नि के परमाणुओं का स्वाभाविक अतीन्द्रिय रूप अर्थात् आंख से अनुभव न होना स्वाभाविक सब काल उसके साथ है। निमित्त कारण के संयोग पर परमाणुओं का संयोग करने से स्थूल कार्य होने से उसका इन्द्रिय-ग्राह्य रूप प्रकट होता है। जैसे जल के परमाणु आकाश में उड़कर ठहरते हैं, और जब तक बादल नहीं बनते तब तक नहीं दीख पड़ते।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि वह प्रकृति नहीं है या प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे लड़के का होना और लड़के

का न होना। जैसा कार्य में यह होना या न होना गुण है,वैसा कारण में नहीं है। जो कारण और कारण के स्वाभाविक गुण हैं वह अनादि हैं। कार्य वह है कि जो संयोग से हो, और वियोग के पीछे न रहे। वह जो एक संयोगजन्य आकृति है, वह कार्य की आकृति कहलाती है। उसका प्रवाह से अनादिपन है, स्वरूप से नहीं। और ईश्वर जो कि सर्वज्ञ है उसका निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाला है। उसके ज्ञान में सदा है और रहेगा। (अन्तिम वाक्य का उत्तर ऊपर आ गया)।

मौलवी:—पदोत्कर्ष अर्थात् पहले होना दो प्रकार का होता है—एक निजी और एक सामयिक। निजी जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि चेष्टा हाथ की और चाबी की, और ऐसा ही उत्कर्ष गुणी का अपने समवायी गुणों पर। उदाहरणार्थ उत्कर्ष पानी का अपने बहने पर। उत्कृष्ट बुद्धि जानती है कि बहने की स्थिति पानी के साथ है। इस उत्कर्ष को निजी उत्कर्ष कहा जावेगा। कहने का अभिप्राय यह कि उत्कर्ष गुणी का उन गुणों पर जो उसके अपने गुण हैं,निजी उत्कर्ष कहलाता है। क्योंकि गुणी अपने गुणों से अवश्य उत्कृष्ट होता है। और सन्देह तब उत्पन्न होते हैं,जब उत्कर्ष सामयिक हो। दूसरा सामयिक उत्कर्ष वह है—जैसा कि बाप का अपने बेटे पर होता है। गुणी का गुणों से रिक्त होना तब आवश्यक होता है जब उत्कर्ष सामयिक हो। तात्पर्य यह है कि अपने आकार पर जो उत्कर्ष प्रकृति का है वह निजी उत्कर्ष है,क्योंकि गुणी गुणों से उत्कृष्ट होना चाहिये।

स्वामी:—द्रव्य उसको कहते हैं कि जिसमें गुण, क्रिया, संयोग, वियोग होने का स्वभाव पाया जावे, परन्तु जो द्रव्य परिच्छिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं, उनका यह लक्षण है। जो विभु व्यापक द्रव्य है वह संयोग वियोग के स्वभाव से पृथक् होता है। किसी व्यापक में गुण ही प्रधान होते हैं, क्रिया नहीं। जैसे कि परमेश्वर उसमें संयोग वियोग नहीं होता परन्तु क्रिया और गुण हैं, और आकाश, दिशा, काल यह व्यापक हैं परन्तु इनमें क्रिया नहीं, केवल गुण हैं।

मौलवी:—यह उत्तर पहले प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। क्योंकि इस उत्तर में निजी और सामयिक भेद नहीं किया गया। ज्ञानस्थ आकृति की अपेक्षा से 'जैद' का विशेष प्रकार का अभाव

अर्थात् उसके नियत शरीर का एक नियत काल से जो सम्बन्ध था, उस शरीर की उत्पत्ति के पूर्व उसका पूर्ण अभाव था। और यह विचार जो प्रकट किया गया कि पूर्ण अभाव उस शरीर विशेष का नहीं है—उसकी आकृति ईश्वर के ज्ञान में विद्यमान है, यह बिल्कुल गलत है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में यह शरीर विशेष तो विद्यमान नहीं, जो तीन हाथ का है। किसी वस्तु के अनादि होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति तो सिद्ध नहीं होती। ज्ञानस्थ आकृति के बारे में बात यह है कि ईश्वर का ज्ञान ज्ञानस्थ आकृति के साथ नहीं है, क्योंकि ज्ञानस्थ आकृति वह होती है जो बाहरी वस्तु के देखने से प्राप्त होती है। जब आकार विशेष को अनादि नहीं माना जाता, तो ईश्वर के ज्ञान में वह ज्ञानस्थ आकृति कहां से प्राप्त हुई? यदि कोई वस्तु अनादि थी, तो आपके मन्तव्य के अनुसार प्रकृति अनादि थी, और जिस वस्तु का साधनों द्वारा अनुभव न किया जा सके जैसे कि आप प्रकृति और आकार को मानते हैं कि प्रथम अवस्था में अनुभव के योग्य न था, तो उसका ज्ञान किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

क्योंकि किसी पदार्थ को जानने की विधि यही है कि किसी की चेष्टा के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय में उसका आकार प्राप्त हो, उसी को ज्ञानस्थ आकृति कहा जाता है। और जहां तक जल के परमाणुओं का सूक्ष्म होकर वाष्प बन जाने का प्रश्न है, तो यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं होता, फिर भी किसी न किसी चेष्टा के द्वारा वह जानने के योग्य है। प्रत्येक अवस्था में जो आकार इस प्रकार का माना गया है कि जिसका ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता, तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब अनादित्व ही गलत सिद्ध हुआ तो पुनर्जन्म कहां रह गया? यदि यूं कहा जाता है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का कारण उसके वे कर्म हैं जो प्रथम शरीर में किये थे, तो यह प्रकट है कि कर्म चेष्टा द्वारा होते हैं और चेष्टा काल पर निर्भर है, और काल का आदि अन्त और मध्य इकट्ठा नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त कर्म जो किसी समय के द्वारा किये गये वह नष्ट हो गये। अथवा दूसरे शरीर से सम्बन्ध किसी उत्कर्षक की ओर से न होगा। जब आत्मा का शरीरों से समान सम्बन्ध है, तो विशेष सम्बन्ध होने से उत्कर्षता

विना उत्कर्षक के वाधक होगी, इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध से वहुत सी हानियां उत्पन्न होंगी, क्योंकि विशेषतायें जो प्रथम शरीर में प्राप्त की थीं वह दूर हो गईं। और उदाहरणतया यदि दूसरा सम्बन्ध कुत्ते अथवा गधे से हो तो उस कुत्ते और गधे के शरीर में वह विशेषतायें प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य के शरीर में प्राप्त कर सकता था। अव आपको उचित है कि प्रथम विद्याओं के प्राप्त करने की विधि निश्चित कीजिये, फिर उसके पश्चात् सम्बन्ध का कारण निश्चित किया जावे,तव उस पर आक्षेप किया जा सकता है।

स्वामी:—दश इन्द्रियों के विषय में मौलवी साहव का कहना ठीक नहीं, जैसा कि जीवात्मा किसी इन्द्रिय से नहीं देखा जाता ? परन्तु अस्तित्व उसका है। जो मौलवी साहव ने कहा कि अनादि वस्तु झूठी है—यह किसने कहा है ? क्या यह वात आपने अपने दिल से जोड़ ली है?क्योंकि जव मैं लिखवा चुका कि परमेश्वर, जीव और जगत् का कारण यह तीनों सनातन हैं, इससे अनादित्व सिद्ध है। और अभाव से भाव कभी नहीं होता, यदि कोई कहता है तो उसका प्रमाण नहीं है। गधे और कुत्ते के शरीर में मनुष्य का जीव जाने से मौलवी साहव कहते हैं कि वड़ी हानि होती है, क्योंकि सव कमाई की हुई चली जाती है। यदि मौलवी साहव ऐसा मानते हैं, तो मौलवी साहव को कभी सोना न चाहिये, क्योंकि निद्रा में जाग्रत की कमाई सव भूल जाती है। यदि मौलवी साहव कहें कि फिर जागने से यह ज्ञान आ जाता है, तो कुत्ते गधे के शरीर में भी आ जायेगा। और ज्ञान फिर प्राप्त कर सकता है जैसे कि मनुष्य निद्रा से जाग कर करता है। इसलिये मैं जानता हूं कि मौलवी साहिव के भाषण और मेरे भाषण को बुद्धिमान् लोग स्वयं ही देख लेंगे। और एक जन्म इन वातों से सिद्ध नहीं होता, परन्तु पुनर्जन्म सिद्ध है।

हस्ताक्षर अंग्रेजी
ला० अमी चन्द

हमारे समक्ष जो वातचीत के विषय निश्चित हुये, वह वास्तव में यही थे, जो इस भूमिका में लिखे हैं।

हस्ताक्षर—मौहम्मद हुसैन महमूद

५. शास्त्रार्थ-अजमेर

सम्पादकीय

अजमेर में ऋषि दयानन्द का पादरी ग्रे के साथ शास्त्रार्थ हुआ। इसका विवरण पं० लेखराम द्वारा संग्रहीत स्वामीजी के ऊर्दू जीवन चरित में पृ० ७१४ से ७१९ (हिन्दी सं० पृ० ७३७-७४४) तक दिया गया है। 'दयानन्द-दिग्विजयार्क' भाग १ मयूख ६ में भी '**किरानी-मत-खण्डन**' शीर्षक के अन्तर्गत इस शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित हुआ है। मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा सम्पादित 'आर्य-दर्पण' मासिक के जून १८८०के अंक में पृ०१३६ से१४९ पर्यन्त यही विवरण हिन्दी तथा उर्दू में समानान्तर कालमों में प्रकाशित हुआ। इस विवरण के लेखक ऋषि दयानन्द के अनन्यभक्त एवं ऋषि के अन्तिम वर्षों में 'वैदिक यन्त्रालय' के प्रबन्धक मुन्शी समर्थदान थे। जैसा कि नीचे उद्धृत सम्पादक 'आर्यदर्पण' के नाम लिखित मुंशी समर्थदान के पत्र से ज्ञात होता है। यहां इस शास्त्रार्थ का 'आर्य-दर्पण' में प्रकाशित विवरण दिया जा रहा है। पं० लेखराम द्वारा संकलित विवरण 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट' से प्रकाशित 'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह' के पृ० १५५-१६२ तक प्रकाशित हुआ है, अतः उसे यहां देना हमने अनावश्यक समझा।

'मुन्शी समर्थदान' का पत्र सम्पादक 'आर्य-दर्पण' के नाम

नमस्ते—मैं आपके पास यह शास्त्रार्थ भेजता हूं। कृपा करके अपने बहुमूल्य पत्र में इसको स्थान दीजिये। इस में जितने प्रश्नोत्तर हैं, वे सब उसी समय के लिखे हुये हैं, क्योंकि उस समय तीन लेखक इसी कार्यार्थ बिठलाये थे, उन्होंने बराबर अक्षर-अक्षर करके लिखा। उसकी एक प्रति पादरी साहब ने ली और दो स्वामी जी महाराज ने। इन दोनों प्रति पर सरदार बहादुर मुन्शी अमीचन्द साहब और पण्डित भागराम जी के हस्ताक्षर भी हैं। मैं वहां शास्त्रार्थ में उपस्थित था, इसलिये स्वामीजी महाराज ने दोनों प्रति मुझे दे दी थीं और आज्ञा की थी कि इनके अनुसार छपवा देना और सब वृत्तान्त भी लिख देना। महाराज की आज्ञानुसार मैंने सब वृत्तान्त लिखा, सो भेजता हूं। मैंने कितने ही स्थानों में पादरी साहब का पूर्वापर विरुद्ध भाषण प्रकट होने के लिये नोट भी कर दिये हैं।

—समर्थदान

शास्त्रार्थ-अजमेर

[जो स्वामीजी और पादरी ग्रे साहब के बीच १८७८ ई० में हुआ ।]

[पूर्व-पीठिका]

विदित हो कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कार्तिक सुदी १३ सं० १९३५ के दिन अजमेर में आये थे। थोड़े दिनों के पीछे वेदादि सत्य शास्त्रोक्त धर्म-विषय में व्याख्यान देने लगे। 'ईश्वर-विषय' के पीछे दूसरा 'वेद-विषय' का व्याख्यान था। उस दिन अजमेर के बड़े पादरी ग्रे साहब और डाक्टर हसबैण्ड साहब भी आये थे। उसमें स्वामीजी ने शास्त्र और युक्ति से यह सिद्ध किया कि ईश्वरकृत पुस्तकं केवल चार वेद ही हैं, अन्य कोई नहीं। इसके पीछे एक बड़ा सूचीपत्र तौरेत, इंजील और कुरान की अशुद्धता का पढ़ कर सुनाया, और कहा कि—

"मैंने यह सूचीपत्र किसी को चिढ़ाने के लिए नहीं सुनाया है, किन्तु इसलिये कि सब लोग पक्षपात-रहित होकर विचारें कि जिन पुस्तकों में ऐसी-ऐसी बातें लिखी हों, वे ईश्वरकृत हो सकते हैं वा नहीं" ?

इस बात पर पादरी ग्रे साहब ने कहा कि—आपने जो तौरेत और इंजील की बातें सुनाईं, इनमें प्रश्न लिखकर आप मेरे पास भेजें, मैं इनका उत्तर दूंगा। स्वामीजी ने कहा कि—मैं तो यही चाहता हूं और सदैव मेरी यही इच्छा रहा करती है कि आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष मिल के सत्यासत्य का निर्णय करें।

पादरी साहब ने कहा कि—सत्य का निर्णय जब होगा कि आप मेरे पास प्रश्न भेजेंगे और मैं उत्तर दूंगा। फिर स्वामीजी ने कहा कि-लिखकर दोनों ओर से प्रश्नोत्तर भेजने में काल बहुत लगता है, और मनुष्यों को भी इससे लाभ नहीं पहुंचता। इसलिये यही बात अच्छी है, कि आप भी यहां आवें और मैं प्रश्न करूं और आप उत्तर दें। तब पादरी साहब ने कहा कि—आप प्रश्न मेरे पास भेज देवें, जब मैं दो चार दिन में उनको विचार लूंगा, तब पीछे आपको उत्तर यहां आकर दूंगा। स्वामीजी ने कहा कि—प्रश्न तो मैं नहीं भेजूंगा,

परन्तु मुझको जहां-जहां इंजील और तौरेत में शंका है, उनमें से थोड़े से वाक्य लिखकर भेज दूंगा। उनको जब आप विचार लेंगे, तो उन्हीं में मैं प्रश्न करूंगा, आप उत्तर देना। फिर इतनी बात होने के पीछे पादरी साहब चले गये।

उसके दूसरे दिन स्वामीजी ने तौरेत और इंजील के साठ वाक्य लिखकर पण्डित भागराम साहब एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर के द्वारा पादरी साहब के पास भेज दिये[1]। फिर नौ दस दिन पीछे जब पादरी साहब ने उनको विचार लिया और व्याख्यान हो चुके, तब एक दिन प्रश्नोत्तर के लिये नियत हुआ। उस दिन नोटिस दे दिया था, इस कारण से बहुत लोग आये। सरदार मुन्शी अमीचन्द साहब जज, पण्डित भागराम साहब एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर, सरदार भगतसिंह साहब ऐंजिनियर इत्यादि प्रतिष्ठित पुरुष आये थे। जब समय हुआ तब स्वामीजी चारों वेदों के पुस्तक लेकर आये और पादरी साहब भी बहुत सी पुस्तकें लेकर आये। पादरी साहब के साथ डाक्टर हसबैण्ड साहब भी आये। प्रथम **स्वामीजी** ने कहा कि—मैंने कितनी ही जगह पादरी लोगों से बातचीत की है, कभी किसी प्रकार का कुछ गड़बड़ नहीं हुआ। आज भी मैं जानता हूं कि पादरी साहब से वार्तालाप निर्विघ्नता से पूरा होगा। फिर पादरी साहब ने भी निर्विघ्नता से बातचीत होने की आशा प्रकट की, और कहा कि—स्वामीजी ने जो वाक्य लिख कर हमारे पास भेजे हैं वे बहुत हैं, और समय केवल दो अढ़ाई घण्टे का है। इसलिये प्रत्येक वाक्य पर दो बार ही प्रश्नोत्तर होना ठीक है। इसके पश्चात् प्रश्नोत्तर होने लगे। और तीन लेखक[2] भी बिठला लिये। इन तीनों को स्वामीजी और पादरी साहब बोलते समय अक्षर-अक्षर लिखवाते जाते थे।

---

१. इन वाक्यों के साथ वेद-भाष्य भी भेजा था, क्योंकि पादरी साहब ने कहा था कि आप बाईबिल में प्रश्न करें, मैं उत्तर दूंगा, और मैं वेदों में कितनी ही बातों पर प्रश्न करूंगा, आप उत्तर देना। पादरी साहब ने वेद-भाष्य देखा होगा, परन्तु प्रश्न नहीं किये।—स० दा०

२. बाबू रामनाथ, हैडमास्टर राजपूत स्कूल जयपुर, बाबू चन्दूलाल, वकील गुड़गावां; हाफिज मोहम्मद हुसैन, दरोगा चुंगी, अजमेर।

[स्वामीजी और पादरी ग्रे के मध्य प्रश्नोत्तर]

स्वामीजी:—तौरेत उत्पत्ति की पुस्तक पर्व १ आयत २ में लिखा है कि—**'पृथ्वी बेडोल थी'**। अब देखना चाहिये कि परमेश्वर सर्वज्ञ है, सब विद्या उसमें पूरी हैं। उसकी विद्या के काम में बेडोलता कभी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके सब काम बेभूल हैं। बेडोलता मनुष्यों के काम में हो सकती है, क्योंकि उनकी पूरी विद्या और सर्वज्ञता नहीं है। इससे जीव के काम में बेडोलता रह सकती है, ईश्वर के काम में नहीं।

पादरी:—यहां अभिप्राय **'बेडोल'** से नहीं है किन्तु **उजाड़** से **है**। आयूब की किताब बाब २ आयत २४ में है कि—'विना मार्ग जंगल में उन्हें भ्रमना है'', यहां जिस शब्द का अर्थ है, उसी का अर्थ वहां बेडोल है।

स्वामी:—इससे पहली आयत में यह बात आती है कि—''आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडौल सूनी था। गहराव पर अंधियारा था'', इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उजाड़ का अर्थ यहां नहीं ले सकते, क्योंकि लिखा है कि 'सूनी थी'। बेडोल के अर्थ उजाड़ के होते तो 'सूनी थी' इस शब्द की कुछ आवश्यकता नहीं थी। और जब कि ईश्वर ने ही पृथिवी को रचा है, सो प्रथम ही अपने ज्ञान से डोलवाली क्या नहीं रच सकता था?

पादरी:—दो शब्द एक ही अर्थ के सब भाषाओं में एक दूसरे के पीछे बहुधा आते हैं। जैसे इबरानी में 'तोहू बोहू'[1], फारसी में 'बूदो-बाश' ये सब एक अर्थ के वाची हैं। इसी प्रकार उर्दू में यह अर्थ ठीक है कि 'जमीन बेरान और सुनसान थी'।

स्वामीजी इस बात पर और प्रश्न करना चाहते थे। इतने में पादरी साहब ने कहा कि—एक-एक वाक्य पर दो-दो प्रश्न और दो-दो उत्तर होने चाहियें। क्योंकि वाक्य बहुत हैं, नहीं तो सब प्रश्न आज न हो सकेंगे। स्वामी जी ने कहा कि—यह अवश्य नहीं है कि आज ही सब वाक्यों पर प्रश्नोत्तर हो जायं, कुछ आज होंगे। फिर इसी प्रकार दो चार दिन अथवा जब तक ये वाक्य पूरे न हों, तब तक प्रश्नोत्तर होते रहेंगे। जब पादरी साहब ने इस बात को

---

[1] पं० लेखराम कृत जी० च० में 'हो बह्रो'। हि० सं० पृष्ठ ७३६।

स्वीकार नहीं किया, तब स्वामीजी ने कहा कि—यदि अधिक न हों तो एक वाक्य पर दश बार प्रश्न होने चाहियें। पादरी साहब ने यह भी स्वीकार न किया। स्वामीजी ने कहा कि—प्रत्येक वाक्य पर कम से कम तीन बार प्रश्नोत्तर तो होने ही चाहियें। इस पर भी पादरी साहब ने कहा कि हमको दो बार से अधिक प्रश्नोत्तर करना कदाचित् स्वीकार नहीं है। तब स्वामीजी ने कहा कि हमको इसमें कुछ हठ नहीं है, सभा की जैसी सम्मति हो वैसा किया जाय। स्वामीजी की इस बात पर कोई कुछ न बोला। परन्तु डा० हसबैण्ड साहब ने कहा कि यदि सभा से प्रत्येक विषय में पूछेंगे, तो चार सौ मनुष्य हैं उसमें से किस-किस से पूछा जायेगा? स्वामीजी ने कहा कि यदि पादरी साहब को तीन प्रश्न करना स्वीकार नहीं है, तो जाने दो, हम दो करेंगे, क्योंकि इतने मनुष्य विज्ञापन देख कर इकट्ठे हुये हैं, जो यहां कुछ बात न हुई तो अच्छा नहीं। फिर स्वामीजी ने दूसरे वाक्य पर प्रश्न किया।[1]

स्वामी:—वही पर्व और वही आयत—**'और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था'**। पहली आयत से विदित होता है कि ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को रचा, यहां जल की उत्पत्ति नहीं कही, तो जल कहां से हो गया? ईश्वर आत्म-स्वरूप है वा जैसे कि हम शरीर वाले हैं वैसा? जो शरीर वाला है तो उसका सामर्थ्य आकाश और पृथिवी बनाने का नहीं हो सकता। क्योंकि शरीरवाले के शरीर के अवयवों से परमाणु आदि को ग्रहण करके रचना में लाना असम्भव है, और वह व्यापक भी नहीं हो सकता। जब उसका आत्मा जल पर डोलता था, तब उसका शरीर कहां था?

पादरी:—जब पृथिवी को सृजा तो पृथिवी में जल भी आ गया। और दूसरी बात का उत्तर यह है कि परमेश्वर आत्मस्वरूप है। तौरेत के आरम्भ से इंजील के अन्त तक परमेश्वर आत्मस्वरूप कहलाया।

स्वामी:—ईश्वर का वर्णन तौरेत से लेकर इंजील पर्यन्त में

---

[1] देखो यह सत्य के निर्णय के लिये की गई थी, और सत्य का निर्णय तब ही होता है कि जब एक वाक्य पर अच्छी प्रकार प्रश्नोत्तर हो जायं, किन्तु पादरी साहब ने ऐसा न करके दो प्रश्न और दो उत्तर करने की ही हठ की. परन्तु फिर भी अपना बचाव न कर सके, कलई खुल गई।—स. दा.

वहुत ठिकानों में ऐसा है कि—वह किसी प्रकार का शरीर भी रखता है, क्योंकि आदम की बाडी को बनाना, वहां आना, फिर से ऊपर चढ़ जाना, सनाई पर्वत पर जाना, मूसा, इबराहीम और उनकी स्त्री सरी से बातचीत करना, डेरे में जाना, याकूब से मल्लयुद्ध करना, इत्यादि बातों में पाया जाता है कि अवश्य किसी प्रकार का शरीर वह रखता है, वा उसी दम अपना शरीर बना लेता है।

पादरी:—ये सब बातें इस आयत से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती हैं, केवल अंजानपने से कही जाती हैं। इसका यह ही उत्तर है कि यहूदी, ईसाई और मुसलमान जो तौरेत को मानते हैं, इस पर एक सम्मत हैं कि खुदा रूह है[1]।

स्वामी:—पर्व वही आयत २६—"**तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें**"। इससे स्पष्ट पाया जाता है कि ईश्वर भी आदम क स्वरूप जसा था। जैसा कि आदम आत्मा और शरीर युक्त था, ईश्वर को भी इस आयत से वैसा ही समझना चाहिये। जब वह शरीर जैसा स्वरूप नहीं रखता, तो अपने स्वरूप में आदम को कैसे बना सका?

पादरी:—इस आयत में शरीर का कुछ कथन नहीं, परमेश्वर ने आदम को पवित्र ज्ञानवान् और आनन्दित रचा। वह सच्चिदानन्द ईश्वर है, और आदम को अपने स्वरूप में बनाया। जब आदम ने पाप किया तो परमेश्वर के स्वरूप से पतित हो गया। जैसे पहले प्रश्नोत्तर के २४ और ३०[2] प्रश्न से विदित होता है। कोल्लोस्सियों की पत्री, तीसरा पर्व, ९ और १० आयत—"एक दूसरे से झूठ मत बोलो, क्योंकि तुमने पुराने मनुष्यता को उसके कार्यों समेत उतार

---

[1] पाठको! पहले उत्तर में तो पादरी साहब कहते हैं कि "तौरेत के आरम्भ से इंजील के अन्त तक परमेश्वर आत्मस्वरूप कहलाया"। जब स्वामी जी ने उसी पुस्तक में दिखला दिया कि ईश्वर का शरीर वाला होना सिद्ध है, तब पादरी साहब कहते हैं कि ये सब बातें इस आयत से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं। और फिर पुस्तक के वर्णन को छोड़ यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के मत पर दौड़ जाते हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि उक्त लिखे तीनों मत वाले खुदा को रूह मानते हैं, तो क्या बाईबिल के विरुद्ध नहीं हैं, कि जिससे ईश्वर का शरीर वाला होना सिद्ध होता है? —स० दा०

[2] यही '२४ और ३०' संख्या पं० लेखरामकृत जी० च० हि० सं० पृष्ठ ७४० पर भी है। इस का भाव हमारी समझ में नहीं आया।

फैंका है और नये मनुष्यता को जो ज्ञान में अपने सृजन हारे के स्वरूप के समान नये बन रहे हैं, पहना है"। इससे विदित होता है कि ज्ञान और पवित्रता में परमेश्वर के समान बनाया गया, और नये सिरे से हम लोगों को बनाया। कोरंतियों का तीसरा पर्व, १७ और १८ आयत—"और प्रभु ही आत्मा है, और जहां कहीं प्रभु का आत्मा है वहीं निर्विघ्नता है, और हम सब विना परदा प्रभु के तेज को दर्पण में देख-देख प्रभु के आत्मा के द्वारा तेज से तेजलों उसके स्वरूप में बदलते जाते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि विश्वासी लोग बदल के फिर परमेश्वर के स्वरूप में बन जाते हैं, अर्थात् ज्ञान, पवित्रता और आनन्द में, क्योंकि धर्मी होने से मनुष्य के शरीर का रूप नहीं बदलता है।

स्वामी:—परमात्मा के सदृश आदम के बनने से सिद्ध होता है कि ईश्वर भी शरीर वाला होना चाहिये। जो परमेश्वर ने आदम को पवित्र और आनन्दित रचा था, तो उसने ईश्वर की आज्ञा क्यों तोड़ी? और जो आज्ञा तोड़ी तो विदित होता है कि वह ज्ञानवान् नहीं था। और—"जब उसने ज्ञान के पेड़ का फल खाया तब उसकी आंख खुल गई"—इससे जाना जाता है वह ज्ञानवान् पीछे से हुआ। जो पहले ही से ज्ञानवान् था, तो फल के खाने के पीछे ज्ञान हुआ, यह बात नहीं बन सकती। और प्रथम परमेश्वर ने उसको आशीर्वाद दिया था कि तुम फलो फूलो आनन्दित रहो, और फिर जब उसने ईश्वर की आज्ञा के विना उस पेड़ का फल खाया, तब उसकी आंखे खुलने से उसको ज्ञान हुआ कि हम नंगे हैं, गूलर के पत्ते अपने शरीर पर पहने।

अब देखना चाहिये—जो वह ईश्वर के समान ज्ञान में और पवित्रता में होता, तो उसको नंगा और ढका रहना क्यों नहीं जान पड़ता? क्या उसको इतनी भी सुध नहीं थी? जब परमेश्वर के समान वह ज्ञानी, पवित्र और आनन्दित था, तो उसको सर्वज्ञ और नित्य शुद्ध और आनन्दित रहना चाहिये, और उसके पास दुःख कुछ भी कभी न आना चाहिये। क्योंकि वह परमेश्वर के समान इन उपर लिखी तीनों बातों में है, तो वह पतित किसी प्रकार से नहीं हो सकता, और जो पतित हुआ तो परमेश्वर के समान नहीं हुआ, क्योंकि परमेश्वर ज्ञानादि गुणों से पतित कभी नहीं होता।

फिर बतलाइये कि जैसे आदम प्रथम ज्ञान आदि तीनों गुणों में परमेश्वर के समान होके फिर उनसे पतित हो गया, वैसे ही विश्वासी लोग ज्ञानी, पवित्र और आनन्दित होंगे वा अधिक कम ? जो वैसे ही होंगे, तो फिर जैसे आदम पतित हो गया, वैसे ही विश्वासी भी हो जावेंगे, क्योंकि वह तीनों बातों में परमात्मा के समान होकर पतित हो गया ।

पादरी:—बहुधा बातों में पहला उत्तर बहुत है । अब रहा यह कि—यदि आदम पवित्र था तो आज्ञा क्यों तोड़ी ? उत्तर यह है कि वह पहले पवित्र था तो आज्ञा तोड़ के पापी हुआ[1] । फिर यह कहा कि—ज्ञानवान् पीछे से हुआ, यह बात नहीं है । जब भले बुरे के ज्ञान के पेड़ का फल खाया[2] तब बुराई जान पड़ी, पहले न जानता था । 'आंखें खुल गईं और उसको जान पड़ा कि मैं नंगा हूं'—इसका उत्तर यह है कि पापी होके उसको लज्जा आने लगी । फिर यह कि—यदि परमात्मा के समान होता तो पतित न होता, इसका उत्तर यह है कि वह परमात्मा के समान बनाया गया, न कि उसके तुल्य । यदि परमात्मा के तुल्य होता तो पाप में न गिरता । अन्त में जो पूछा कि—विश्वासी लोग आदम से अधिक पवित्र हो जायगे, इसका उत्तर यह है कि—अधिक और कम पवित्र होने में प्रश्न नहीं है, किन्तु स्वरूप के विषय में है कि परमेश्वर का रूप शारीरिक था वा नहीं ? यदि वह स्वरूप जिसका कथन होता है, शारीरिक होता तो धर्मी लोग जब परमेश्वर के स्वरूप में नये शिरे से बन जाते हैं, अपने शरीर को बदल डालते हैं ।

स्वामी:—तौरेत का पर्व २, आयत ३—"उसने सातवें दिन अपने सब कार्य करके विश्राम किया, और ईश्वर ने सातवें दिन को आशीर्वाद दिया, और उसे पवित्र ठहराया"। ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप होने से परिश्रम जगत् के रचने में कुछ भी नहीं हो सकता, फिर सातवें दिन विश्राम करने की क्या

---

[1] देखिये, क्या विचित्र उत्तर है ।

[2] यहां यह प्रश्न होता है कि वह परमेश्वर के समान ज्ञानी था, तो भले बुरे के ज्ञान के पेड़ को क्यों नहीं जानता था ? जो यह कहो कि पहले नहीं जानता था, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्ञानी नहीं था । —स० दा०

आवश्यकता थी ? और विश्राम किया तो छः दिन तक बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा ? और सातवें दिन को आशीर्वाद दिया तो छः दिनों को क्या दिया ? हम नहीं कह सकते कि परमेश्वर को एक क्षण भी जगत् के रचने में लगे वा कुछ भी परिश्रम हो।

जब स्वामीजी ने यह प्रश्न किया, तब पादरी साहब ने कहा कि–अब समय हो चुका, इससे अधिक हम नहीं ठहर सकते, और बोलते समय लिखाना पड़ता है, इससे देर बहुत लगती है, इसलिये हम कल भी नहीं करना चाहते। जो बोलते समय लिखा न जाय, तो हम कर सकते हैं। यदि स्वामीजी को लिख कर प्रश्नोत्तर करना है, तो हमारे पास प्रश्न लिखकर भेज दें, हम लिख कर उत्तर देंगे। इस पर डाक्टर हसबैंड साहब के कहने से सरदार बहादुर अमीचन्द साहब ने कहा कि—मेरा भी यही सम्मति है कि प्रश्नोतर लिख कर पत्र द्वारा किया करें। आज की नाईं किये जायेंगे, तो छः महीने तक भी पूरे न होंगे।

स्वामीजी ने कहा कि—प्रश्नोत्तर के लिखे विना बहुत हानि है, जैसे अभी थोड़ी देर के पश्चात् अपने में से कोई अपनी कही हुई बात के लिये कह सकता है कि मैंने यह बात नहीं कही। दूसरे बात-चीत हुये पीछे और लोगों के हितार्थ छपा कर भी प्रकट नहीं कर सकते जो यदि कोई छपावे भी तो उसके जी में जो आवे सो छपवा सकता है। और जो मकान पर प्रश्नोत्तर लिख-लिख कर किया करें, तो इसमें काल बहुत लगेगा। और जो कहा जाय कि इस प्रकार छः महीने में पूरा न होगा, सो मैं कहता हूं कि इसमें छः मास का कुछ काम नहीं है। हां, जो मकान पर पत्र द्वारा करेंगे, तो तीन वर्ष में भी पूरा न होगा, और जो मनुष्य सभी सामने सुन रहे हैं, ये नहीं सुन सकेंगे। इसलिये यही अच्छा है कि सब के सामने प्रश्नोत्तर किये जायें और लिखाया भी जाय।

पादरी साहब ने कहा कि—यहां प्रश्नोत्तर करने में लोगों के सुनने का लाभ बतलाया, परन्तु मैं जानता हूं कि आज की वार्ता में यहां इतने लोग बैठे हैं, इनमें से थोड़े ही समझे होंगे। पादरी साहब की इस बात को सुनकर एक साहब मुसलमान कि जो प्रश्नोत्तर लिखने को बैठे थे और दो मुसलमान लोग कहने लगे

कि हम कुछ भी नहीं समझे।[१] इस बात पर पादरी साहब ने कहा कि देखिये लिखने वाला ही नहीं समझा, तो और कौन समझ सकता था ? फिर स्वामीजी ने जो दो दूसरे लिखने वाले थे, उनसे पूछा कि तुम समझे वा नहीं ? उन्होंने कहा कि हां हम बराबर समझे। हमने जो कुछ लिखा है उसको अच्छी प्रकार कह सकते हैं। तब स्वामीजी ने कहा कि दो लिखने वाले तो समझे और एक नहीं समझा। अन्त में पादरी साहब ने दूसरे दिन प्रश्नोत्तर का लिखा जाना स्वीकार नहीं किया।

स्वामीजी ने पादरी साहब से कहा कि आज के प्रश्नोत्तर की तीन प्रति लिखी गई हैं। इन पर आप हस्ताक्षर कर दीजिये और मैं भी करे देता हूं, और प्रधान सभा से भी कराकर एक प्रति आपके पास, एक मेरे पास, और एक प्रधान के पास रहेगी। पादरी साहब ने कहा कि हम ऐसी बातों पर हस्ताक्षर करना नहीं चाहते।[२] इतनी वार्ता के पश्चात् सभा उठ खड़ी हुई और सब लोग अपने-अपने मकानों को चले गये। परन्तु स्वामी जी महाराज, सरदार बहादुर अमीचन्द साहब और पण्डित भागराम साहब, सरदार भगतसिंह जी के मकान पर कि जो सभा के मकान के पास था, ठहरे। उस समय प्रश्नोत्तर की दो प्रतियों पर, कि जो स्वामी जी के पास रहीं थी, उक्त दोनों साहबों के हस्ताक्षर भी करा लिये, और कुछ वार्तालाप करके सब साहब अपने-अपने मकानों को पधारे।

दूसरे दिन पादरी साहब ने स्वामीजी के पास पत्र लिख कर भेजा कि आज आप प्रश्नोत्तर करेंगे वा नहीं ? यदि करना हो

---

[१] मुसलमान लोग भी लिखने के प्रबन्ध को नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका भी यह अभिप्राय था कि यदि यह प्रतिज्ञा न रहे तो किसी मौलवी को लाकर हम भी वादानुवाद करावें, और पीछे जो जी चाहे वैसा उल्टा सुलटा छपवा देवें। इस समय पोप लोग भी गड़बड़ करते थे कि हम भी शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु मौलवी साहब और पोप जी कोई भी न आया जियाफत वा ब्रह्मभोज का काम होता तो सभी आते। यहां तो शास्त्रार्थ का काम था, कि लिखवाये पीछे पलट भी न सकते। —स० दा०

[२] क्या इसीलिये लिखवाने से भय करते थे ? —स० दा०

तो किया जाय, परन्तु लिखा न जाय, और लिखना हो तो पत्र द्वारा किये जावें। स्वामीजी ने उसके उत्तर में लिख भेजा कि—प्रश्नोत्तर सबके सामने-सामने किये जावें, और लिखे भी जावें। इस प्रकार हमको स्वीकार है अन्यथा नहीं। क्योंकि दूसरी प्रकार करने में बहुत हानि है, जो कि हम पहले कह चुके हैं। अब यदि आपको लिखा कर प्रश्नोत्तर करने हों, तो मुझको लिखिये, मैं जब तक आप कहें यहां रहूं और प्रश्नोत्तर करूं। और यदि आपको इस प्रकार न करना हो, तो सरदार भगतसिंह जी को लिख भेजो कि अब प्रश्नोत्तर न होंगे, क्योंकि सभा के लिये जो उन्होंने प्रबन्ध कर रक्खा है, उठवा दें। पादरी साहब ने सरदार भगतसिंह जी को इसी प्रकार कहला भेजा, तब उन्होंने सब प्रबन्ध उठवा दिया। इस के पश्चात् स्वामीजी तीन चार दिन अजमेर में और रहे। मसूदा और नसीराबाद थोड़े दिन रह कर जयपुर पधारे।

जब स्वामीजी अजमेर से चले गये, उस के दूसरे दिन पादरी साहब ने मिशन स्कूल में कितने शहर के लोगों और मिशन स्कूल के विद्यार्थियों को इकट्ठा करके, स्वामीजी ने जो वाक्य लिखकर तौरेत और इंजील के भेजे थे, उनके उत्तर सुनाये कि जिससे ईसाई मत का कच्चापन किसी पर प्रकट न हो। इसके पीछे पादरी साहब को बाजार में वाज़ (उपदेश) करते समय कितने ही आदमियों ने कहा कि साहब ! आप यहां हम मूर्ख लोगों के साथ प्रतिदिन घंटों तक सिर दुखाया करते हैं, परन्तु जब आप स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से प्रश्नोत्तर करते थे, तब तो आप ने यह कहा था कि हमको इतना समय नहीं कि प्रश्नोत्तर करते समय लिखाते जाएं। यदि आप स्वामी जी को अपने मत की कोई भी बात स्वीकार करा देते, तो उनके पीछे हजारों आपकी बात को स्वीकार करते। अब आपके व्यर्थ कहने से क्या होता है ?

९. सत्यासत्य-विवेक-शास्त्रार्थ-बरेली

सम्पादकीय

स्वामी दयानन्द जी का एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ बरेली के पादरी टी० जी० स्काट के साथ **भाद्रपद** शुक्ला ७,८,९ सं० १९३६ तदनुसार २५, २६,२७, अगस्त सन् १८७९ ई० को हुआ। शास्त्रार्थ में विचारणीय विषय निम्न थे—

प्रथम दिन—आवागमन विषय।

द्वितीय दिन—क्या ईश्वर देह धारण करता है, या नहीं ?

तृतीय दिन—ईश्वर अपराध क्षमा करता है, या नहीं ?

बरेली के लाला लक्ष्मीनारायण खजान्ची शास्त्रार्थ-सभा के मध्यस्थ थे। शास्त्रार्थ लिखित हुआ, तथा तीन लेखकों ने क्रमश स्वामीजी, पादरी साहब, तथा सभापति की ओर बैठकर सम्पूर्ण शास्त्रार्थ को अक्षरशः लेख बद्ध किया। इस प्रकार तीन प्रतियां तैयार हुईं, एक-एक प्रति स्वामीजी, पादरी महाशय तथा सभापति के पास रहीं।

पं० लेखरामकृत स्वामीजी के जीवनचरित के अनुसार—"स्वामी जी तथा पादरी महाशय की दस्तखती असली तहरीर की अक्षरशः प्रतिलिपि छपाई जाती है। पाठक अपनी बुद्धि से विचार कर अन्तिम निर्णय निकाल लें।"

'सत्यासत्य-विवेक' के विभिन्न संस्करण—यह शास्त्रार्थ असली लिखित प्रति के अनुसार **'सत्यासत्य-विवेक'** के नाम से उर्दू में 'आर्य-भूषण प्रेस' शाहजहांपुर से प्रकाशित हुआ। इस प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल सितम्बर १८७९ ई० था। द्वितीय बार यह पुस्तक 'आर्यदर्पण प्रेस' शाहजहांपुर से छपी। चतुर्थ और पंचम बार उर्दू तथा हिन्दी में लाहौर से प्रकाशित हुई।

पं० लेखराम ने इस पुस्तक को स्वलिखित महर्षि के उर्दू जीवन चरित में संग्रहीत किया था। वहां से लेकर पं० जगत्कुमार शास्त्री ने स्वसम्पादित "श्रीमद्दयानन्द ग्रन्थ-संग्रह' में स्थान दिया। गोविन्द-राम हासानन्द के द्वारा यह पृथक् पुस्तकाकार भी छपा था। 'सत्या-

सत्य-विवेक' का विज्ञापन ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के आश्विन सं० १९३६ के ११ वें अंक में छपा था। विज्ञापन इस प्रकार था—

सत्यासत्य-विवेक (विज्ञापन)

'इस पुस्तक में सविस्तर वृत्तान्त तीनों दिन के शास्त्रार्थ का, कि जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और पादरी टी० जी० स्काट साहब का राजकीय पुस्तकालय बरेली[1] में, इस प्रकार कि प्रथम दिन अनेक जन्म के विषय में, दूसरे दिन अवतार अर्थात् ईश्वर देह धारण कर सकता है इस विषय में, और तीसरे दिन इस विषय में कि ईश्वर पाप क्षमा कर सकता है, हुआ था। बहुत उत्तम फारसी लिपि और उर्दू भाषा में मुद्रित हुआ था। इस शास्त्रार्थ में प्रत्येक विषय पर उत्तम प्रकार से खण्डन मण्डन हुआ है, कि जिसके देखने से सत्यप्रेमी जनों को सत्य और असत्य प्रगट होता है। जो विद्यार्थी मिशन स्कूलों में पढ़ते हैं और बहुत करके गुमराह होते हैं, उनको यह पुस्तक गुमराही से बचाती है। डाक महसूल सहित ।) ॥ मूल्य भेज कर मगवावें।'

'दयानन्द-दिग्विजयार्क' खण्ड १ मयूख ६ में भी इस शास्त्रार्थ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। श्री पं० लेखराम कृत उर्दू जीवन-चरित में **शास्त्रार्थ-बरेली के** विषय में निम्न उपयोगी विवरण दिया गया है—

[आरम्भिक निवेदन]

"विदित हो कि यह लिखित शास्क्षार्थ बड़े आनन्द के साथ, जैसा कि प्रायः सुसभ्य, सुयोग्य और विद्वान् पुरुषों में हुआ करता है, और जैसा कि वास्तव में होना भी चाहिये, स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और पादरी टी० जी० स्काट साहेब के मध्य राजकीय पुस्तकालय बरेली[1] में तीन दिन तक ता० २५-२६ और २७ अगस्त सन् १८७९ ई० को लाला लक्ष्मीनारायण साहेब खजांची रईस बरेली की अध्यक्षता में हुआ।"

अन्य नियमों के साथ ही इस शास्त्रार्थ के मुख्य नियम इस प्रकार थे—

---

१. जहां आजकल म्युनिसिपलबोर्ड बरेली का दफ्तर है, पहिले यहां पर ही यह पुस्तकालय था, जिसमें यह शास्त्रार्थ हुआ था।

"शास्त्रार्थ लिखित होगा। तीन लेखक—एक स्वामीजी की तरफ, दूसरा पादरी साहेब की तरफ, और तीसरा अध्यक्ष महोदय की तरफ बैठकर शास्त्रार्थ के प्रत्येक शब्द को सावधानी के साथ ज्यों का त्यों लिखते जायेंगे। जिस समय एक विद्वान् निश्चित समय के अन्दर अपना कथन समाप्त कर चुके, तो उसका लिखा हुआ वक्तव्य सभा में उपस्थित पुरुषों को सुना दिया जावे, और तीनों प्रतियों पर उसके हस्ताक्षर कराये जावें। और जब शास्त्रार्थ समाप्त हो, तो उस पर अध्यक्ष महोदय के हस्ताक्षर भी कराये जावें। इन तीन प्रतियों में से एक स्वामीजी के पास, दूसरी पादरी साहेब के पास, और तीसरी अध्यक्ष महोदय के पास प्रमाण स्वरूप रहे, जिससे कि बाद में भी उन में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी न हो सके।"

इसके बाद फिर प्रार्थना के रूप में लेख है:—

"हम इस शास्त्रार्थ को अक्षरशः मूल के, कि जिस पर स्वामीजी और पादरी साहेब के हस्ताक्षर हैं, अनुसार करके और स्वामी जी के आदेशानुसार तैयार करके, इसको छापेखाने में छपवाते हैं। इसमें किसी अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया है। इसको शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिये यहां तक सावधानता रखी गई है कि जहां जिस विद्वान् के हस्ताक्षर थे, वहां हस्ताक्षर का शब्द लिख कर उसी का नाम लिख दिया है। पाठक दोनों विद्वानों के लेखों अथवा वक्तव्यों को सत्यासत्य-विवेचक दृष्टि से देखें, और किसी प्रकार के पक्षपात को पास न आने दें, जिससे कि सत्य और असत्य का प्रकाश भली प्रकार हो जावे। कुछ सज्जनों का कथन है कि इन शास्त्रार्थों के अन्त में निर्णय भी निकाल देना चाहिए। परन्तु हमने अपनी सम्मति प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। निर्णय करने का काम पाठकों की सत्यता-प्रेमी बुद्धि पर ही छोड़ा जाता है।"

इस भूमिका और प्रार्थना आदि की शब्द रचना से ज्ञात होता है कि यह लेख श्री लाला लक्ष्मीनारायण जी, जो कि अध्यक्ष थे, की ओर से ही है, और उन्होंने ही इस विवरण को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के विषय में धर्मवीर श्री पं० लेखरामजी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि के बृहद् उर्दू जीवन-चरित्र में पृष्ठ ७९८ (हिन्दी संस्क० पृष्ठ ८२४) पर लिखा है—

"बड़ी सावधानी के साथ प्रथमवार मास सितम्बर सन् १८७९ ई० में 'आर्य भूषण यन्त्रालय' शाहजहांपुर में मुद्रित हुआ। और दोबारा 'आर्य दर्पण प्रेस' शाहजहांपुर में, और चौथी और पांचवीं बार उर्दू व हिन्दी में लाहौर में मुद्रित हुआ।"

५ इस शास्त्रार्थ का मूल पाठ 'श्रीमद्दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह' (सम्पादक—पं० जगत्कुमार शास्त्री) के अनुसार '**सत्यासत्य-विवेक--शास्त्रार्थ-बरेली**' शीर्षक से आगे दिया जाता है।

◆

सत्यासत्य-विवेक-शास्त्रार्थ-बरेली

[ता० २५ अगस्त, सन् १८७९ ई० । विषयः—पुनर्जन्म]

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीः—

जीव और जीव के स्वाभाविक गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं, और परमेश्वर के न्याय करना आदि गुण भी अनादि हैं। जो कोई, मानता है कि जीव की और उसके गुण आदि की उत्पत्ति होती है, उसको उसका नाश मानना भी अवश्य होगा; और तिस के कारण आदि का भी निश्चय करना और कराना होगा। क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। जो-जो जीव के पाप और पुण्य आदि कर्म प्रवाह से अनादि चले आते हैं, उनका ठीक ठीक फल पहुंचाना ईश्वर का काम है; और जीवों का विना स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के सुख दुःख का भोग करना असम्भव है। जब यह बात हुई, तब बारम्बार शरीर का धारण करना भी जीव को अवश्य है। क्योंकि क्रियमाण कर्म नये-नये करता जाता है, उन का संचित और प्रारब्ध भी नया-नया होता चला जाता है। जब इस सृष्टि में विद्या की आंख से मनुष्य देखे, तो सृष्टिक्रम और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक सिद्ध होता है कि—देखो जो आज सोमवार है, वही फिर भी आता है। महीना, रात, दिन आदि भी पुनः-पुनः आते हैं; और गेहूं का बीज बोने से फिर वही गेहूं आता है। **ह०—दयानन्द सरस्वतीजी**

पादरी टी० जी० स्काट साहबः—

इस आवागमन के विषय में केवल सत्य के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। हार-जीतकी इसमें कोई बात नहीं है। यह सिद्धान्त पुराना तो है, परन्तु संसार में से मिटा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जितने जीवात्मा हैं, वे सदैव जन्म लेते रहते हैं। कभी मनुष्य की योनि में, कभी बैल की योनि में, कभी बन्दर की और कभी कीड़े मकोड़े की योनि में उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह ऐसा सिद्धान्त है कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां इसको छोड़ती जाती हैं। प्राचीन मिस्री लोगों ने पहले इसे माना हुआ था, फिर छोड़

दिया । इसी प्रकार यूनानियों ने और रूमियों ने और अंग्रेजों ने भी छोड़ दिया । हमारे पुराने द्रविड़ लोग भी, जो कि हमारे गुरु थे, यही सिखलाते थे, और हम लोग सब के सब मानते थे । परन्तु रोशनी के फैलने से और विद्या प्राप्त करने से, इस पुराने और निराधार सिद्धान्त को छोड़ दिया । सो हमारा सवाल पण्डितजी से यह है कि इस सिद्धान्त को मानने के लिये कौन सी युक्तियां हैं ? जब कोई विशेष प्रमाण दिया जायेगा, तो हम उसका खण्डन करने के लिये आक्षेप करेंगे । फिर भी दो चार प्रश्न यहां पर हैं—

ईश्वर की आत्मा के अतिरिक्त और आत्मायें भी अनादि काल से अर्थात् अजल से हैं कि नहीं ?

इस जन्म लेने से कभी छुटकारा मिलेगा, या नहीं ?

आपका यह कथन है कि सब दुःख जो संसार में होते हैं, दण्ड देने के लिये ही हैं । सो पुनर्जन्म केवल दण्ड के लिये है, या इसका कोई और कारण है ?

यह भी एक प्रश्न है कि परमेश्वर हर समय सगुण है, या कभी निर्गुण भी होता है ?

यह जन्म लेना उसी की खास कुद्रत से हर समय होता रहता है, या किसी कुद्रती कानून से होता है, जैसे कि बीज का उगना, फल का पकना, पानी का बरसना, इत्यादि ।

ह०—टी० जी० स्काट साहेब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

तीन पदार्थ अनादि हैं—एक ईश्वर, एक कारण और सब जीव । जीव जन्म से कभी छुटकारा न पायेंगे । पुनर्जन्म दण्ड-और पुरस्कार दोनों के लिये है । परमेश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी, और वह सदैव रहता है । कुद्रती नियम उसका यही है कि—जैसा जिसने पाप या पुण्य किया है, उसको वैसा ही अपने सत्य न्याय से फल देता है ।

अब पादरी साहेब ने जो कहा था कि पुनर्जन्म का प्राचीन सिद्धान्त हमारे बीच में भी था । इससे सिद्ध हुआ कि सब देशों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रचलित था । और जो यह कहा कि

जो जातियां सुधरती जाती हैं, वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं। अब इस पर एक सवाल है कि—प्राचीन सभी बातें झूठी हैं, या उनमें से कुछ सत्य भी हैं? और नये सिद्धान्त सभी सत्य हैं, अथवा उनमें कुछ मिथ्या भी हैं? यदि पादरी साहेब कहें कि प्राचीन बातें और सिद्धान्त अब मानने के योग्य नहीं है? तब तो तौरेत और जबूर इत्यादि ग्रन्थ और बाईबिल व इंजील की शिक्षायें आजकी अपेक्षा से बहुत पुरानी हैं, वे भी अब न माननी चाहियें। यह कोई मानने योग्य प्रमाण की बात नहीं है, कि पहिले मानते थे और अब नहीं मानते, इसलिये सच्ची या झूठी है। या पहिले नहीं मानते थे अब मानते हैं, इसीलिये झूठी या सच्ची हैं!

अब पादरी साहेब ने कहा कि कुछ प्रमाण दें, तो हम उस पर आक्षेप करें। प्रमाण के लिए मैंने पहिले ही लिख दिया है कि —इस जीव के कर्म इत्यादि अनादि हैं, और ईश्वर का न्याय करना इत्यादि भी अनादि हैं। जो कर्म का सिद्धान्त न माना जाये, तो सृष्टि में बुद्धिमान्,निर्बुद्धि और दरिद्र,राजा और कंगाल की अवस्था ईश्वर किस प्रकार कर सके? क्योंकि इसमें तरफदारी आती है, और पक्षपात से उसका न्याय ही नष्ट हो जाता है। जब कर्म के फल हैं, तो परमेश्वर पूर्ण न्यायकारी बनता है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर अन्याय कभी नहीं करता। **ह०—दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी स्काट साहबः—

पण्डित जी के कहने से तमाम जीव अनादि हैं, अर्थात् अजल से हैं। तो इस हिसाब से हमारी और ईश्वर की अनादिता में कोई भेद नहीं, अर्थात् दो वस्तुएं अनादि काल से हैं। एक प्रकार से दो ईश्वर हुए। मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा मानना तौरेत, जबूर और इंजील के सर्वथा विरुद्ध है। मैं पूछता हूं कि कौन सा सिद्धान्त अधिक सन्तोषजनक है? अर्थात् एक यह है कि हमारे जीवात्मा सदैव आवागमन के चक्कर में भ्रमते फिरते रहेंगे, और कभी बैल के शरीर में जायेंगे, और कभी बन्दर के, कभी अत्यन्त कीड़े मकोड़े के, और कभी किसी अच्छे शरीर में। इस अनादि काल से चल रहे चक्कर में अधिक सन्तोष है कि तौरेत, जबूर और इंजील के सिद्धांत में—कि अन्ततोगत्वा जो लोग नेकी करते और नेक बनते हैं, वे एक

ऐसे सुखपूर्ण स्थान में पहुंचेंगे कि उन्हें फिर कभी जन्म न लेना होगा, न ही उन्हें किसी प्रकार का कष्ट होगा। विचार कीजिये कि किस ग्रन्थ की शिक्षा अधिक सन्तोषजनक है? इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का कैसे हो सकता है? अर्थात् वह विशेषणों वाला भी है और विशेषणों से रहित भी है। वह कौन सी वस्तु है कि जो विशेषणों से रहित है? बताइये—यदि उसमें न्याय करने का गुण न हो, तो न्याय क्योंकर करे, और पुनर्जन्म के रूप में लोगों को दण्ड किस प्रकार देवे? ऐसे ही निराधार विचारों पर आधारित होने के कारण सुशिक्षित जातियां इस सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं।

इसके अतिरिक्त यदि यह पुनर्जन्म दण्डस्वरूप है, तो इस में दण्ड क्या हुआ? उदाहरण के लिए जब बन्दर यह जानता ही नहीं कि मैंने क्या अपराध किया है, या कोई पादरी साहेब, या पण्डित साहेब अत्यन्त तुच्छ कीड़े के शरीर में उत्पन्न हुआ; तो उसको दण्ड कैसा हुआ? वे तो जानते ही नहीं कि हमने क्या-क्या अपराध किये हैं? क्या कभी किसी को याद आया है या आता है, कि मैं अमुक काल में बन्दर था अथवा मैं किसी समय में गीदड़ था? और जब कुल दुनियां में किसी को भी याद नहीं है, तो फिर ऐसे पुनर्जन्म में किसी के लिए क्या दण्ड की बात रह जाती है? हम तो यह मानते हैं कि दुःख कभी-कभी दण्डस्वरूप होता है, और कभी नहीं भी। **ह०—टी. जी. स्काट साहब**

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

दोनों अनादि होने से बराबर नहीं होते, जब तक कि उनके सब गुण बराबर न हों। परमेश्वर अनन्त है और जीव सान्त, परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ। परमेश्वर सदा पवित्र और मुक्त तथा जीव कभी पवित्र, कभी बद्ध और कभी मुक्त। इसलिए दोनों बराबर नहीं हो सकते।

तौरेत जबूर और इंजील के विरुद्ध होने से ही कोई बात सच्ची और झूठी नहीं हो सकती। क्योंकि तौरेत आदि में भ्रम से सच को झूठ और झूठ को सच बहुत जगह लिखा है। सच्ची तो उस किताब की बात हो सकती है; कि जिस में आरम्भ से अन्त तक एक भी बात

झूठ न हो। ऐसी किताब वेदों के अतिरिक्त भूगोल में ईश्वरकृत और कोई नहीं। क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव से अनुकूल वेद ही पुस्तक है, दूसरी नहीं। सिवाय वेद के उपदेश के किसी भी किताब में ठीक-ठीक सब बातों का निश्चय नजर नहीं आता है। इसलिए सबसे उत्तम वेद की ही शिक्षा है, दूसरे की नहीं।

परमेश्वर अपने गुणों से सगुण है, अर्थात् सर्वज्ञ आदि गुणों से; और निर्गुण कारण के जड़ आदि गुणों तथा जीव के अज्ञान, जन्म-मरण, भ्रम आदि गुणों से रहित होने से परमात्मा निर्गुण है। इसलिए यह निश्चय जानना चाहिये कि कोई पदार्थ भी इस रीति से सगुणता और निर्गुणता से रहित नहीं है।

जब जीव का पाप अधिक और पुण्य कम होता है: तब उसे बन्दर आदि का शरीर धारण करना पड़ता है; और जब पाप पुण्य बराबर होते हैं, तब मनुष्य का; और जब पाप कम और पुण्य अधिक होता है, तब विद्वान् इत्यादि का।

ह०--दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहबः--

सब पुराने सिद्धान्त मिथ्या नहीं हैं, और न ही सब नये सिद्धान्त सत्य हैं, परन्तु जब सुशिक्षित जातियां भली प्रकार विचार विमर्श करके किसी सिद्धान्त को मिथ्या उद्घोषित करती हैं, तो यह दृढ़ प्रमाण है कि वह सिद्धान्त मिथ्या है। और एक ही बार के जन्म लेने के विषय में सोच लीजिए।

तौरेत नई नहीं हैं, यह भी बहुत पुरानी है। तौरेत किसी प्रकार भी वेद से नई नहीं है उसमें पुनर्जन्म का कुछ भी उल्लेख नहीं है। तौरेत और इंजील सत्य हैं वा मिथ्या, यह आज का विषय नहीं है। इस विषय को व्यर्थ ही खण्डित करना कि ये मिथ्या नहीं, अथवा वेद के विषय में कुछ नहीं कहना है। क्योंकि यह भी आज का विषय नहीं। परन्तु इस बात पर ध्यान दीजिये कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां तौरेत और इंजील की शिक्षाओं पर दृढ़ रहती हैं। इसके प्रतिकूल हिन्दू लोग ज्यों-ज्यों उन्नत और सुशिक्षित होते जाते हैं, वेद को छोड़ते जाते हैं। आवश्यकता हो, तो मैं सैकड़ों प्रमाण दे सकता हूं।

और यह कहना कि कर्म अनादि काल से है, इसलिए पुनर्जन्म होता है, तब तो परमेश्वर को भी जन्म लेना चाहिए। और यदि कोई कहे कि उसके सब कर्म अच्छे हैं, तो क्या कठिन है कि उसको दया और कृपा से हम लोग भी ऐसे दृढ़ और उत्तम हो जावें कि हमें बन्दर या गीदड़ बनना न पड़े। जैसा कि हमारे पवित्र धर्म-ग्रन्थ में लिखा है—"एक बार मनुष्य के लिए मरना है, बाद इसके न्याय।"

निर्गुण और सगुण के विषय में स्वामीजी के अर्थ को मैं नहीं मानता। निर्गुण का यह अर्थ नहीं है कि कोई गुण न हो। जब उसमें गुण नहीं है, तब तो वह सगुण भी नहीं हो सकता। फिर इस समय जन्म-मरण का प्रबन्ध कौन करता है? अब फिर मैं पूछता हूं कि यदि दण्ड-भोग के लिये जन्म लेता है, तो यह चाहिये कि दण्ड भोगने वाला यह जाने कि मुझे दण्ड क्यों भोगना पड़ा है, अन्यथा दण्ड भोग की सब बात ही व्यर्थ हो जाती है। मैं फिर पूछता हूं कि किसी को याद क्यों नहीं रहता—कि तुम बन्दर या या गीदड़ पिछले जन्म में थे। **ह०—टी० जी० स्काट साहब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

(पहले प्रश्न के विषय में उत्तरः)—जीव अल्पज्ञ है, इसलिये पूर्व जन्म की बात को याद नहीं रख सकता। पादरी साहब को विचार करना चाहिये कि ऐसी बात क्यों पूछते हैं? क्योंकि इसी जन्म में जन्म के पांच वर्ष तक की बातें भी क्यों नहीं याद रहती? और सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जब सो जाता है, तब जागृत अवस्था की बात एक भी याद नहीं रहती। और कार्य-कारण के अनुमान से अर्थात् कार्य का निश्चय कर लिया। सब विद्वान् लोग मानते हैं कि जब पाप-पुण्य का फल सुख-दुःख, नीच-ऊंच जगत् में दीखता है, तो कारण जो पूर्वजन्म का कर्म है, सो क्यों नहीं? पुरानी और नई शिक्षा वा सिद्धान्त की बात दृष्टान्त के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा सत्य नहीं। और जिनको आप सुशिक्षित कहते हैं, उन जातियों में से कोई मनुष्य अर्थात् दार्शनिक वा विचारक बन्दर से मनुष्य का होना मानता है, यह सर्वथा मिथ्या है।

ये वेद की ही बातें हैं कि—'वेदी का बनाना'। इब्राहीम को ईश्वर ने कहा कि इससे मैं प्रसन्न होता हूं, तुम यज्ञ किया करो। इत्यादि वेदों की बातें बाईबिल में मौजूद हैं। और ईसा ने साक्षी दी है कि—इसका एक बिन्दु भी झूठ नहीं है।

इसलिए और भी एक प्रमाण देता हूं कि—आजकल मोक्षमूलर (व्याख्याता) अपने ग्रन्थों में लिखते हैं कि ऋग्वेद से पहिले की कोई भी पुस्तक संसार में नहीं है। अब मैं सैंकड़ों साक्षियां दे सकता हूं कि 'बाईबिल इन-इण्डिया' के बनानेवाले इत्यादि और आजकल के सैकड़ों विचारकों की वाणी से मैंने सुना है कि बाईबिल वा इंजील को नहीं मानते। और कर्नल अल्काट इत्यादि ने भी बाईबिल की शिक्षा को सर्वथा त्याग दिया है। और हमारे आर्य लोग—एफ० ए०, बी० ए०, एम० ए०, एल० डी० लाखों लोग बाईबिल को सर्वथा नहीं मानते और वे सभी सुशिक्षित हैं। अस्तु; पादरी साहब का यह कथन पर्याप्त नहीं है। परमेश्वर का पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वह अनन्त और सर्वव्यापक हैं। वह शरीर में नहीं आ सकता। वह तो नित्यमुक्त है, बन्धन का काम कभी नहीं करता।

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

पण्डित जी का पक्ष, बालक के उदाहरण से कि वह किसी बात को याद नहीं रखता, जो कि बचपन में हुई हो, मिथ्या सिद्ध होता है; इसलिये कि बच्चे कुछ न कुछ तो याद रख ही लेते हैं। और फिर यह भी प्रश्न होता है कि जब हमारे आत्मा अनादि काल से हैं, तब तो हम भी बच्चे की अपेक्षा से कुछ बढ़ गये हैं। हमें कुछ न कुछ तो वृत्तान्त ज्ञात होने ही चाहियें, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस युक्ति पर विचार कीजिए।

यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि हम अनादिकाल से चले आ रहे हैं। और जन्म ग्रहण करके यदि सब बातें भूल गए हैं, तब तो जन्म धारण करने का दण्डग्रहण करने का भी कुछ अर्थ न निकला। और नींद का जो वर्णन किया गया, सो इस उत्तर से सिद्ध होता है कि नींद की बात भी याद रहती है। कतिपय तो नींद के समय बड़े उत्तोमोत्तम विचार प्रकट करते हैं। यहां पर मैं एक पुष्ट प्रश्न और

करना चाहता हूं। वह यह कि—इस शिक्षा से संसार में पाप को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। क्योंकि लोग कहते हैं कि जो चाहें सो करें, भोगेंगे तो फिर कभी किसी अन्य योनि में ही, अच्छा जन्म भी कभी होगा। यह भी कहते हैं कि यह परम्परा सदैव चलती रहेगी, क्या करें। हम मानते हैं कि संसार में जो दुःख हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य है। कभी बुरों को दण्ड के लिए, और कभी अच्छों को कि उनको अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है।

कहानी है कि बादशाह का लड़का था। पण्डित के पास पढ़ने के लिये भेजा गया। पण्डित ने उसको सब प्रकार से सुशिक्षित करके योग्य बनाया। फिर बादशाह के पास लाया। और उससे कहा कि केवल एक ही काम बाकी है। उसने पूछा कि इसने कोई अपराध किया? कहा कि नहीं। तब कहा कि मुझे चाबुक देना। और खुद सवार होकर लड़के से कहा कि दौड़ो। और उसको खूब मारता गया, फिर बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने कहा कि ऐसा क्यों किया? पण्डित ने कहा कि इसलिये कि दूसरों पर दया करना सीखे और दयालु व कृपालु बन जाये। सो यह सम्भावना है कि अच्छे मनुष्यों को भी कष्ट भोगना पड़े, किसी अच्छे उद्देश्य के लिए। यह कुछ आवश्यक नहीं है कि पुराने जन्म के कारण से। डारविन साहेब पुनर्जन्म को नहीं मानते। केवल यही कहते हैं कि संसार में विकास-क्रम से नीची योनियों के प्राणी ऊंची योनियों को प्राप्त हो गये हैं। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई प्राणी जो अब है, वह पहिले भी था। कर्नल अल्काट साहेब की जो चर्चा चली है, सो उसका जो पक्ष है, वह सुन लीजिये। तब मालूम होगा कि वे कैसे आदमी हैं? **ह०—टी० जी० स्काट साहब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

लड़के के उदाहरण से मेरा यह अभिप्राय है कि वह जो कुछ सुख-दुःख भोगता है, उसकी स्मृति उसे स्वयमेव नहीं होती, कहीं किसी के कहने से होती है। और जीव का स्वाभाविक गुण एक-सा रहता है, परन्तु नैमित्तिक गुण घटते-बढ़ते रहते हैं। इसलिए जीव एक से हैं, परन्तु उसके ज्ञान की सामग्री पांच वर्ष के पश्चात् बढ़ जाती है। अब यदि पादरी साहेब को या मुझको कोई पूछे कि

दस वर्ष से पहिले किसी से एक दिन भर बातचीत क्या की ? क्या वह सम्पूर्ण पदों और अक्षरों सहित याद है ? तो यही कहना पड़ेगा कि ठीक-ठीक याद नहीं है । जब सदा से जीव नहीं आते, तो फिर कहां से हुए ? जेलखाने के कैदियों को यद्यपि सब लोग ठीक-ठीक नहीं जानते, तथापि अनुमान करते हैं कि किसी अपराध के करने से जैलखाने में पड़े हैं । इससे हम कभी भी अपराध न करें । अन्यथा हमारा भी यही हाल होगा ।

पादरी साहब मेरे अभिप्राय को नहीं समझे । वह स्वप्न की बात नहीं, सुषुप्ति की बात है कि जिस नींद में कुछ भी स्मरण नहीं रहता । बस नींद में कोई एक भी विचार कोई भी स्मरण नहीं रख सकता । जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, उनकी शिक्षा से संसार में पापों की वृद्धि होती है, क्योंकि फिर आगे जन्म लेने की बात तो वे मानते ही नहीं हैं । जो मन में आवे, वही करते हैं, और मरने पर व्यर्थ ही हवालाती के समान पड़े रहते हैं । आज मरे, कियामत तक हवालात में रहे । कचहरी के द्वार बन्द हैं, और खुदा बेकार बैठा है । जो दोजख में गया, वह वहां का हो गया, जो जन्नत में गया, वह वहां का हो गया । और कर्म तो ससीम किये जाते हैं, परन्तु उसका फल असीम प्राप्त होता है, इस प्रकार ईश्वर बड़ा अन्यायी ठहरता है । और आशावादिता के विना मनुष्य सुधर नहीं सकते । केवल रंज में दुःख का कारण क्या है ? और यदि शिक्षण के लिये उसको कष्ट दिया जाता है, वह सुधार के लिये है, परन्तु उसका फल तो विद्या आदि हैं । और पादरी साहब ने कहा था कि—एक स्थान में सदैव सुख दुःख भोगेंगे, वह स्थान कौन-सा है ?

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहबः—

कर्नल अल्काट साहब का एक कागज मेरे पास है कि जिसमें ईसाइयों की और पादरियों की, ईसाई दीन की व्यर्थ ही कठोर' भाषा में बहुत बुराई लिखी है । वह इतनी अधिक कठोर है कि मैं किसी बाजारी व बदमाश के लिए भी न बकता । कहते हैं कि—ये कठोर और निर्दयी हैं । यह ईसाई दीन संसार में सारी बुराई और खराबी की जड़ है । इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार से कठोर भाषा का

प्रयोग किया गया है। जरा विचार कीजिये इस व्यक्ति का हृदय और उसकी बुद्धि किस प्रकार की होगी ?

यह बात सिद्ध नहीं होती कि वेद तौरेत की अपेक्षा अधिक पुराना है। इस वास्ते कि तौरेत में यज्ञ का वर्णन है, और हम दावे से कह सकते हैं कि सर्वप्रथम तौरेत में ही यज्ञ का वर्णन हुआ, और वेद वालों ने वहां से ले लिया। दोनों बातों का दोनों में ही वर्णन है। निश्चय से कोई नहीं कह सकता कि किसने किससे ले लिया। और यह कहना कि कुछ गुण स्थायी हैं और कुछ अस्थायी, इसलिए इस जन्म की बातें हमें याद नहीं रहतीं। कुछ गुण तो स्थायी हैं ही, अतः यह अवश्य ही होना चाहिए कि पिछले जन्म की कोई बात तो याद हो। यदि हमारी और पण्डितजी की बात-चीत इस वर्ष कहीं हुई हों, तो कुछ बातें तो अवश्य ही याद रहती हैं।

निद्रा का उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी नींद में बात याद नहीं रहती, और कभी-कभी याद रहती भी है। जेलखाने का उदाहरण भी पूरा ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें दण्ड का केवल एक ही अभिप्राय प्रकट होता है। दण्ड के दो अभिप्राय हैं—एक तो दण्डित व्यक्ति का सुधार और दूसरे देखने वालों को शिक्षा। परन्तु इस पुनर्जन्म में तो केवल देखने वालों की शिक्षा की ही कुछ व्यवस्था मानी जा सकती है। यह नहीं कि उसे यह दण्ड क्यों मिला है।

रहा यह प्रश्न कि—आत्मायें [रूहें] कहां से आईं ? शिक्षित जातियों में आजकल यह सिद्धान्त है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होते हैं, और कोई भी यह नहीं कहता कि पहिले वृक्ष हुआ, अथवा पहिले बीज हुआ है; इसी प्रकार रूह से शरीर और शरीर से रूह उत्पन्न होते हैं। तथापि यह बात हमारे लिए बुद्धिगम्य नहीं है कि ऐसा किस प्रकार होता है ? परन्तु ऐसा नहीं है कि जो रूह अब मौजूद है, वह पहिले किसी अन्य शरीर में थी। वह अभी पैदा हुई है, और जब यहां से जावेगी तो उसका यथोचित न्याय होगा, कर्मानुसार। इससे परमेश्वर अन्यायी नहीं है, अपितु इससे भी परमेश्वर का न्याय सिद्ध होता है। यह कहना कि रूह सदा कहां रहती है ? हम यह नहीं कहते कि हम परोक्ष की बातें जानने वाले हैं कि सुख वा दुःख के स्थान बतावें। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है,

वह रूह को सभी स्थानों पर सुख अथवा दुःख दे सकता है। हमारा जानना या न जानना क्या हुआ? ह० - टी जो० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी :—

जो कर्नल अल्काट साहेब के विषय में पादरी साहेब ने कहा कि वह अच्छा मनुष्य नहीं है, सो मैं ठीक नहीं मान सकता। क्योंकि जिनका जिनसे विरोध होता है, वे उनके विषय में उलटा सूधा कहा ही करते हैं। वेद तौरेत की अपेक्षा बहुत पुराना है, और जिसकी बात पूरी से अधूरी दूसरी में लिखी हो, तो दूसरी ही पुस्तक बाद की होती है। बालकपन में नैमित्तिक गुण कर्म थे, और स्वाभाविक गुण एक से हर समय रहते हैं, इस बात को पादरी साहब ठीक-ठीक नहीं समझे। जो कि आग के संयोग से जल में उष्णता आती है, वह नैमित्तिक, और जो आग में उष्णता आती वा दाहकता है, वह स्वाभाविक है। जो-जो जीव के स्वाभाविक गुण है, वे न्यूनाधिक कभी नहीं होते।

और पादरी साहेब ने कहा कि—जेलखाने के कैदियों को देख कर देखने वालों को भय होता है कि मैं ऐसा कर्म न करूं। परन्तु जिसको दण्ड पूर्वजन्म के कर्मों का मिलता है, उसको याद ही नहीं। जैसे और लोग कार्य-कारण को जानते हैं, क्या वे न जानेंगे कि दण्ड अवश्य ही कर्मों का होता है?

एक वैद्य को ज्वर आया और एक मूढ गंवार को भी। वैद्य ने अपनी विद्या के प्रभाव से ज्वर के कारण को जान लिया कि अमुक कारण है, परन्तु उस गंवार ने न जाना, फिर भी ज्वर का कष्ट तो दोनों ही अनुभव करते हैं। फिर भी गंवार इतना अवश्य ही जानता है कि कोई न कोई बदपरहेजी हुई है, और इसीलिए यह ज्वर आया है। इससे उसे दण्ड द्वारा सुधारने का फल प्राप्त होता है कि जो मैं बुरा काम करूंगा, तो बुरा फल जैसा कि उसको है, मुझे भी प्राप्त होगा।

जब जीव से शरीर और शरीर से जीव पैदा होते है, तो आप का बनाने वाला परमेश्वर नहीं। इससे आपका कथन ठीक नहीं रहा। और आपके कथनानुसार जो जीव प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए, वे किन शरीरों से हुए? जो कहें परमेश्वर, [तो परमेश्वर] भी आदमी,

घोड़े और वृक्ष तथा पत्थर के समान हुआ, क्योंकि जिसका कार्य जैसा होता है, उसका कारण भी वैसा ही होता है। और जीवों को मध्य में हवालातियों के समान दौरासुपुर्द करना बहुत दिन तक—कि जो दण्ड से भी भारी है, फिर उसको स्वर्ग मान के किन कर्मों से मिल सकता है? कोई भी नहीं। जब आप सर्वज्ञ नहीं हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता। इससे आपका एक जन्म सिद्ध नहीं हुआ और पुनर्जन्म सिद्ध हो गया। **ह० दयानन्द सरस्वती जी**

[ता० २६ अगस्त १८७६। विषय —क्या ईश्वर देह धारण करता है?]

पादरी टी० जी० स्काट साहब —

आज का सवाल यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है अर्थात् साकार होता है या नहीं? उचित यह है कि इस विषय में अत्यन्त सावधानी से और गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श और प्रश्नोत्तर किया जावे। जब उस सर्वेश्वर के विषय में वार्तालाप हो, तो मनुष्य को चाहिए कि बहुत सोच समझ कर गम्भीरता के साथ बोले। इस विषय में अहंकार और अभिमान की कुछ भी गुन्जाईश नहीं है। किसी को भी ऐसा घमण्ड नहीं करना चाहिए कि हम ईश्वर के विषय में सब कुछ जानते हैं। कवि का कथन है:—

अर्श से ले फर्श तक, जिसका कि यह सामान है।
हिम्द उसकी गर लिखा, चाहूं तो क्या अमकान है॥
जब पैगम्बर ने कहा हो, मैंने पहिचाना नहीं।
फिर कोई दावा करे, उसका बड़ा नादान है॥

विचार कीजिए कि ईश्वर की अनादिता के विषय में हम क्या जानते हैं? सो, इसी प्रकार हम सर्वशक्तिमान् के विषय में क्या जानते हैं? वह सर्वव्यापक अर्थात् प्रत्येक स्थान पर मौजूद है, उसके विषय में हम क्या जानते हैं? हां, इन शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ हम जानते हैं। परन्तु यह कथन तो मूर्खों का ही है कि ईश्वर

---

१. आकाश से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त यह नाना प्रकार का जड़-जंगम-स्वरूप संसार जिसका है, मैं यदि उसकी महिमा का गान करना भी चाहूं तो कैसे करूं? उसके गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ तो अनन्त है। और मेरी सामर्थ्य बहुत ही अल्प है।

के विषय में हम सब कुछ जानते हैं। आज के वार्तालाप में दो प्रश्न ये हैं—कि क्या ईश्वर देह धारण कर सकता है ? दूसरे यह कि—ऐसा कभी हुआ है कि नहीं ? विशेष रूप से पहली बात का ही विचार इस समय है।

पहले प्रश्न का भाव यह है कि क्या यह सम्भव है कि ईश्वर अपने आप को कभी सदेह रूप में प्रकट करे ? ध्यान दीजिये, यह भाव कदापि नहीं है कि ईश्वर सदेह बन जाये। प्रथम पक्ष यह है कि देह धारण करने की सम्भावना है। आत्मा और परमात्मा (इन्सानी रूप और इलाही रूप) बहुत-सी बातों में समान है। अपितु यह कहना चाहिये कि दोनों की एक ही जाति है। क्योंकि ईश्वर की वाणी में लिखा है कि 'खुदा ने इन्सान को अपनी सूरत पर बनाया'। यह नहीं कि शारीरिक रूप में अपने जैसा बनाया, अपितु भाव यह है कि आध्यात्मिक रूप में। अर्थात् बहुत से गुण कर्म और स्वभाव जो ईश्वर में हैं, वे ही मनुष्य में भी हैं, अर्थात् दया, न्याय तथा और भी अनेक प्रकार की धार्मिक विशेषतायें। इस कारण ईश्वर के साथ मनुष्य मेल कर सकता है। ऐसी अवस्था में हम लोग जो कि स्वयं सशरीर हैं, क्यों अहंकार करें कि ईश्वर साकार न हो। यदि उसकी इच्छा हो कि सदेह रूप में प्रकट हो, तो क्या बाधा है ?

ह०—टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

जो पादरी साहब ने कहा उसकी परीक्षा हम नहीं कर सकते। इस पर सवाल यह है कि—सर्वथा नहीं कर सकते, या कुछ-कुछ कर सकते हैं ? वैसे सर्वव्यापक के विषय में कुछ जानते हैं, या नहीं ? और जो कुछ जानते हैं तो कितना ? जो किसी का कहना हो कि मैं ईश्वर को जानता हूं तो वह मूर्ख है, और जो यह पादरी साहब का कहना है, तो उसके जानने में वश नहीं रहा। और पादरी साहब अपने पहले कथन के विरुद्ध बोले हैं, वह यह है कि—ईश्वर देह धारण करता है। कर सकता है या नहीं, ऐसा नहीं, लेकिन देह धारण करता है।

यहां प्रश्न होता है कि—उसको क्या आवश्यकता देह धारण करने की है ? दूसरे—उसकी इच्छा में कोई बन्धन है या नहीं ?

तीसरे—यह निराकार है या साकार ? चौथे—वह सर्वव्यापक है या एक देशी ? जीव और ईश्वर के गुण दया आदि क्या ठीक-ठीक मिलते हैं, या नहीं ? बहुत से जीवों में भी दया देखने में आती है ।

प्रश्न—वे दोनों एक हैं, तो दोनों ही खुदा हैं । इसका क्या उत्तर है? आध्यात्मिक पक्ष में जो परमेश्वर देहधारी होता है, तब वह सम्पूर्ण ही देह में आ जाता है, या टुकड़े-टुकड़े होकर आता है ? यदि टुकड़े-टुकड़े होकर आता है, तो नाशवाला हुआ । और जो वह सम्पूर्ण आ जाता है, तो शरीर से छोटा हुआ । फिर तो ईश्वर ही नहीं हो सकता । जीव तथा ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं आ सकता है । और यदि वह एकदेशी है, तो एक स्थान पर रहता है या घूमता फिरता है ? यदि कहो कि एक स्थान पर रहता है, तो उसको सब स्थानों की खबर रहना असम्भव है । और जो घूमता फिरता है, तो कहीं अटक भी जाता होगा, और धक्का और शस्त्र भी लगता होगा ? जव परमेश्वर सृष्टि करता है, तव निराकार स्वरूप से या साकार से ? जो कहो निराकार स्वरूप से तो ठीक है, और जो कहो कि देहधारी होकर, तो उसका सृष्टि रचना सर्वथा असम्भव है । क्योंकि परमाणु आदि पदार्थ सृष्टि का कारण रूप, उसके वश में कभी नहीं आ सकते हैं ।

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जी० स्काट साहबः—

हम नहीं कहते हैं कि ईश्वर को सर्वथा जान ही नहीं सकते । लेकिन तो भी बहुत बातें हैं, जो हम सर्वथा नहीं जान सकते । सर्वव्यापक के विषय में यह सिद्धान्त है कि वह ऐसा है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि इसका पूर्ण अभिप्राय हमको मालूम है । वह तो कह सकते हैं कि ईश्वर ने देह धारण किया । परन्तु उसका अपने आप का देह में धारण करना एक रहस्य है; अपितु हमारे आत्मा का विषय भी शरीर के साथ रहस्यमय है । रहा यह प्रश्न कि—ईश्वर की इच्छा में बन्धन है, या नहीं । पण्डित जी इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की कृपा करें । मैं कहता हूं कि परमात्मा अर्थात् खुदा की रूह और इन्सान की रूह सर्वथा एक जैसी ही नहीं है । एक ससीम है और दूसरी असीम । इसलिए दो खुदा नहीं हैं । इनमें एक रचने वाला है, और दूसरा रचा गया है । परन्तु ईश्वर की इच्छा हुई और उसने इन्सान को अपने जैसा ही बनाया है ।

रहा यह प्रश्न कि ईश्वर सम्पूर्ण देह में आ जाता है ? हां आ जाता है, मगर तो भी बाहिर भी रहा। वह सर्वव्यापक है, तो उस देह के अन्दर क्यों नहीं है ? हम यह नहीं कहते कि केवल शरीर में ही है, और कहीं नहीं है। विचार कीजिये कि इस कमरे के अन्दर वह सर्वशक्तिमान् इस समय मौजूद है। वह अनादि परमेश्वर इस समय मौजूद है। अर्थात् ईश्वर अपने सब गुणों सहित इस कमरे में मौजूद है,इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता। तो इसमें क्या कठिनाई है ?यदि उसकी इच्छा यूं ही हुई कि अपने आप को एक शरीर में प्रकट करे। यह असम्भव नहीं है, उसकी इच्छा है, जब भी आवश्यकता हो। अपनी लाचारी से नहीं करता; अपितु हम लोगों के लिये। क्योंकि हमारी बुद्धि यदि बहकाना जानती है, तो आगे चलकर हम देख लेंगे कि कोई उचित कारण है अथवा नहीं कि परमेश्वर देह धारण करे। यदि कोई कहे कि देह धारण करना उसकी महिमा के विरुद्ध है, तो यह भ्रान्तिपूर्ण है। यह किस बात में उसकी महिमा के प्रतिकूल है ? देह में कुछ त्रुटि है या कुछ अपवित्र है ? अथवा कोई अशुद्ध वस्तु है कि ईश्वर उससे घृणा करे ? देह को किसने बनाया है ? क्या वह अब सर्वव्यापक नहीं है ? अर्थात् क्या वह अब भी प्रत्येक देह में वर्तमान नहीं है ?

ह०—टी जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

पादरी साहब ने मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिये। जब वह सर्वव्यापक है,तो एक देह में आना या एक देह से निकलना सर्वथा असम्भव है। ईश्वर ने देह धारण किया,इसकी क्या आवश्यकता है, यह मैंने पूछा था। इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। और इसका भी कुछ जवाब नहीं दिया कि ईश्वर और जीव आध्यात्मिक रूप में सर्वथा समान हैं अथवा उनमें भिन्नता है. पादरी साहब पहिले कह चुके हैं कि इन्सान की देह अपने शरीर में बनाई। इसके विरुद्ध पीछे कहा कि वे पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं। मुझसे पूछा कि पण्डित जी इसका स्पष्टीकरण करें। मैं पादरी साहेब के अभिप्राय का स्पष्टीकरण क्यों करूं ? यह तो वे ही स्वयं बतावें। यह मैं भी जानता हूं कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस कारण से वह अवतार धारण नहीं कर सकता। क्योंकि क्या पहले वह उसमें न था ? या

उसमें एक था ? अब दूसरा, तीसरा इससे उसमें हजारों घुस गये । जब वह असीम है, तो ससीम शरीर में देह धारण करना सर्वथा झूठ । और जो पादरी साहेब ने कहा कि उसने मनुष्य की रूह अपने स्वरूप में बनाई,तो मैं पूछता हूं कि बन्दर किसके स्वरूप में बनाये ? क्या बन्दरों का खुदा कोई दूसरा है ? इस प्रकार से तो हाथी घोड़े, आदि सब के ही खुदा जुदा-जुदा हो जायेंगे ।

जब सर्वव्यापक है, तो उसने देह धारण नहीं किया, अपितु उसने तो संसार का अणु-अणु धारण कर रखा है । पादरी साहब का यह कहना कि वह देह धारण करता है, सर्वथा मिथ्या प्रमाणित हो जाता है । क्या वह पहिले देह धारण नहीं करता था ? क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी इच्छा से देह धारण करता है ? यदि हां, तो मैं पूछता हूं कि वह अपनी इच्छा से देह छोड़ भी देता होगा ? क्योंकि जो कोई पकड़ेगा, वह कभी न कभी अवश्य ही छोड़ेगा । और वह कभी अपने आपको मारने की भी शक्ति रखता है, वा नहीं ? तब तो वह आपके कथनानुसार सर्वशक्तिमान् भी न रहेगा । जैसे अविद्या आदि और अन्याय करने आदि का उसका स्वभाव ही नहीं है, सो यह ही उसके जन्म और मरण में भी प्रतिबन्धक है । क्योंकि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य चरितार्थ नहीं कर सकता ।

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहबः—

मेरा प्रश्न यह ही है कि—क्या पण्डित जी का यह अभिप्राय है कि अब परमेश्वर देहधारी है ? क्योंकि उनकी युक्ति से प्रतीत होता है । वह यह दावा करते हैं कि परमेश्वर अब देह में है । और अब जो ये सूरतें सब दृष्टिगोचर होती हैं, सब उसका देह ही हैं । यदि ऐसा है, तब तो मेरा दावा सिद्ध ही हो गया । अब उसमें वाकी ही क्या रहा ? देह धारण करने का क्या अर्थ है ? इस वार्तालाप में मैंने, जो देह पशु, पत्थर इत्यादि हैं, अनादि काल से हैं । परमेश्वर सर्वव्यापक तो है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार से देहधारी है । जैसे जब कोई कहे कि अमुक व्यक्ति परमेश्वर का अवतार है, तो पण्डित जी इसमें झगड़ा क्यों करते हैं ? देह धारण करने का अर्थ कौन नहीं जानता ? और यह कहना

कि इस विशेष अर्थ में ईश्वर के देहधारी होकर आने जाने का कुछ कथन नहीं है। अपितु केवल यही अर्थ है कि वह हमारे लिये शरीर में प्रकट हुआ। जब वह शरीर लुप्त हो जाता है, तब भी ईश्वर वहां वर्तमान रहता है। परन्तु वह ईश्वर की आत्मा उस समय भी उस शरीर में हैवानी आत्मा नहीं है। अभी रूह इस शरीर में प्रकट हुई। यह कोई आने या जाने का मामला ही नहीं है। मैंने साफ-साफ कहा है कि जो मनुष्य का आत्मा ईश्वर के आत्मा के समान है, परन्तु है सर्वथा भिन्न। बन्दर की स्थिति और है। उसकी चर्चा करने की यहां क्या आवश्यकता है? रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने बन्दर को किसके स्वरूप पर बनाया? सो जैसी उसकी इच्छा हुई, वैसा उसने बनाया। अर्थात् बन्दर की सूरत, और गीदड़ की सूरत और बैल की सूरत और इन्सान को अपनी सूरत में। तब इस में आक्षेप की क्या बात है?

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने क्यों देह धारण की? इसका उत्तर देता हूं—उसकी सम्भावना का होना तो कुछ असम्भव नहीं है। मकान के उदाहरण को स्मरण कीजिए। और यह भी कि देह धारण करने का अर्थ यह है कि अपने आपको एक देह में प्रकट करना। यदि इस घटना अथवा गति को आप समझ सकें, तो समझिये। हम डरते नहीं कि यह कहने लगें कि ईश्वर के गुण तो गति करते ही नहीं हैं। तो क्या वह जड़ पत्थर है? अथवा निर्गुण है? उसका आना जाना कुछ न हुआ, जीना मरना कुछ न हुआ। केवल मनुष्य की अल्प सामर्थ्य के कारण अवतार होना अर्थात् देह धारण करना। देह धारण करने में लाभ यह है कि मनुष्य के लिये किसी पूर्ण गुरु, पथप्रदर्शक और आदर्श की जरूरत है। जब गुरु पूर्ण और आदर्श भी सर्वथा दोष-रहित हो, तभी मनुष्य उन्नति करता है। अन्यथा जैसी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं करता। क्योंकि उन्नति का साधन वा माध्यम अच्छा नहीं होता।

ह०—टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

जो पादरी साहब ने कहा कि पण्डित जी के दावे ने मेरे दावे को साबित किया, यह बात गलत है। क्योंकि देह धारण करता है,

इसका अर्थ यह है कि पहले वह देह में नहीं था। इस कथन ने तो पादरी साहब के दावे को ही खारिज किया है, न कि साबित।

जो कि सर्वव्यापक है, वह देह धारण करता है या करे या छोड़े, यह कहना सर्वथा असम्भव है। और जब वह सर्वव्यापक है, तब देह धारण करने को कहां से आया? क्या ऊपर या नीचे से, अथवा बाहिर या बगल से। जो कहें कि किसी तरफ से आया, तो फिर तो वह सर्वव्यापक न हुआ। और जो कहें कि सर्वव्यापक है, तो कहीं से आना साबित नहीं हो सकता। जाहिर होने में मैं पादरी साहब से पूछता हूं कि क्या पहले गुम था कि आंख से नहीं दीखा? जाहिर होने में दीख पड़ा। क्या रूह आंख से देखने का विषय है? जो कहें नहीं, तो फिर जाहिर होने का क्या अर्थ है? जैसे सांप बिल में से निकल कर, जाहिर होकर फिर गुम हो जावे?

वैसे ही मैंने पूछा था कि बन्दर को किस की सूरत में बनाया? उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्या बन्दर और आदमी आदि का बनाने वाला एक ही खुदा है अथवा दो जुदा-जुदा हैं?

जब उसके देह धारण करने में पादरी साहब कुछ विशेष मामला नहीं दिखला सकते, तो बस पादरी साहब का तो मामला ही खारिज हो गया। जो पादरी साहब ने कहा कि परमेश्वर के गुण गति करते हैं, यह सर्वथा झूठी बात है। क्योंकि वह गुण है, द्रव्य नहीं। गतिशील द्रव्य होता है, गुण नहीं।

जो पादरी साहब कहें कि देह धारण करना जरूर है, तब तो उसकी जरूरत की बात भी ठीक-ठीक अवश्य ही बतलावें। और जो यह कहा कि मनुष्य की उन्नति के लिये देह धारण करता है, तब तो पहले कहे हुए सभी दोष पादरी साहब के कथन में आते हैं। और मैं पूछता हूं कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक क्या अपनी सामर्थ्य से जीवों की उन्नति नहीं करा सकता? जो कहें कि करा सकता है, तो देह धारण करना व्यर्थ हुआ। जो कहें कि नहीं करा सकता, तो सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। और जो मैंने दोष दिये थे कि पादरी साहब के कथनानुसार देह धारण करने पर तो परमाणु आदि को अपनी पकड़ में लाने का सामर्थ्य ही उसमें नहीं हो सकता। इतने दोष मौजूद रहे।

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी

पादरी टी० जो० स्काट साहबः—

प्रत्येक बात में यह कहना कि यह झूठ है। सो शिष्टाचार के कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है, क्योंकि झूठ बेईमानी और फरेब है। और भी बहुत सी मिथ्या बातें हैं, जिनको कि झूठ कहना जरा शिष्टाचार के विरुद्ध प्रतीत होता है। ईश्वर तो बन्दर की देह में सर्वव्यापक के रूप में है। परन्तु कोई उसको गीदड़ बतादे, वैसे ही कोई उसको बन्दर बता दे। परन्तु हां, अद्वैतवादी ही कहेंगे, परन्तु पण्डित जी तो द्वैतवादी हैं। यह मैं पूछता हूं पण्डित जी से कि—परमेश्वर के अतिरिक्त और भी कोई पदार्थ है वा नहीं? संसार में नहीं।

परन्तु जब ईश्वर का कोई खास अवतार हो, तो उस देह में वह सर्वव्यापक है। और परमेश्वर के सिवा और कोई जीव उस में नहीं, उसको अवतार कहते हैं। कुछ आने जाने का यह मामला नहीं है। कोई स्याही ऐसी होती है कि जब उससे लिखते हैं, तो कुछ नजर नहीं आता, परन्तु वह लिखाई मौजूद होती है या नहीं? स्याही मौजूद है, अक्षर मौजूद हैं, उनको जरा आग के सामने दिखाओ, तो कुल लिखाई नजर आती है। पहले भी मौजूद तो थी, परन्तु नजर नहीं आती थी। इसी प्रकार परमेश्वर का नजर न आना, कुछ आने जाने का मामला नहीं है। उसने अपने आप को केवल हमारी कमजोरी के वास्ते इस शरीर में प्रकट किया है। वह कहीं गुम नहीं था, कहीं से आया नहीं। फिर इस विषय में मैं यह कथन करूंगा कि गुण का गति करना यह है कि वह कार्य का रूप धारण करे, उपयोग में आवे। जैसे कि प्रेम और दया का रखना और न्याय करना।

और यह कहना कि देह धारण करने से परमेश्वर की लाचारी मालूम होती है, भ्रान्तिपूर्ण है। पण्डित जी का सिद्धान्त यह है कि जन्म लेने से मनुष्य सुधर जाता है। तो इसमें भी परमेश्वर लाचार है, या उसकी इच्छा है? यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तब तो ऐसा नहीं कहना चाहिये कि लाचार है, पण्डित जी के कथनानुसार। और यदि उसकी इच्छा है, तो अपनी इच्छा से वह जानता है कि मनुष्य के विषय में कौनसा उपाय उत्तम है। परन्तु कुछ-कुछ बातों के विषय में हम मानते हैं कि परमेश्वर लाचार है।

ध्यान दीजिये—यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तो वह एक दम ही रूह को पवित्र क्यों नहीं कर देता ? क्यों मनुष्यों को अनेक प्रकार के दु:ख देता है । विचार करना चाहिये कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है, और खुदा उसके विषय में बलात्कार नहीं करता है । खुदा चाहता तो है कि वह सुधर जावे, परन्तु उसका सुधारना केवल खुदा के वश में नहीं है । खुदा ने इन्सान को ऐसा ही बनाया है । और कार्य करने में स्वतन्त्र होना यह मनुष्य के महत्त्व का सूचक है, तो इससे वह अपनी बहुत बड़ी हानि भी कर सकता है । ईश्वर ने उचित यही समझा कि मनुष्य को सुधारने के लिये पूर्ण आदर्श नमूने के तौर पर उसको दिखावे । खुदा के गुम होने से नहीं, अपितु इन्सान क गुम होने से । और बातों को छोड़कर आगे चल कर अधिक निवेदन करूंगा । ह०—टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

जो पादरी साहब ने शिष्टाचार के विषय में कहा, सो ठीक है । परन्तु सत्य के कहने में अशिष्टता कभी नहीं हो सकती । अशिष्टता तो झूठ के कहने में होती है । और जो पादरी साहब ने मुझे द्वैतवादी बताया, सो ठीक नहीं है । मैं अद्वैतवादी हूं, क्योंकि मैं ईश्वर को एक मानता हूं । जो पादरी साहब ने कहा कि बन्दर और गीदड़ आदि के शरीर में ईश्वर के सर्वव्यापक होने से बन्दर और गीदड़ नहीं कहा जा सकता, तो आदमी के शरीर में व्यापक होने से आदमी भी उसे नहीं कहना चाहिये । और कहा कि—शरीर में ईश्वर ने अवतार लिया, उसमें दूसरा जीव नहीं था । तो मैं पूछता हूं कि—उसमें पहले ईश्वर था कि नहीं ? जो कहें कि था, तो उसका आना जाना असम्भव है । और जो कहें कि नहीं था, तो उसका सर्वव्यापक होना नहीं हो सकता ।

जो मैंने जाहिर होने के विषय में पूछा था, उसका ठीक-ठीक उत्तर पादरी साहब ने नहीं दिया, गोलाकार कर गये । जो ईश्वर दृश्य नहीं, तो उसको जाहिर होना कहना व्यर्थ है । और जो कहें कि दृश्य है, तो सर्वव्यापक नहीं । और जो पादरी साहेब ने कहा कि—हमारी कमजोरी के कारण वह अवतार लेता है । तो हमारी कमजोरी के कारण ही क्या वह सर्वव्यापक हमारा काम नहीं कर

सकता ? जो कहें कि नहीं कर सकता, तो इसमें क्या युक्ति है ? और फिर वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं रहता। और जो कहें कि कर सकता है, तो जन्म धारण करना ही व्यर्थ हो जाता है।

और जो कहा कि—प्रीति का रखना। सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहां प्रीति गुण और प्रीति करनेवाला चेतन द्रव्य है। इसलिए पादरी साहब का कहना ठीक नहीं है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के अनुकूल काम करने में लाचार कभी नहीं है, परन्तु अवतार के धारण करने में तो लाचार ही मानना होगा। जैसे की पादरी साहब ने कहा कि—वह आदमी को नहीं सुधार सकता। अब मैं पूछता हूं कि सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ है ? पादरी साहब क्या चाहते हैं ? जैसे पादरी साहब ने कहा कि—कुछ बातों में लाचार है, वैसे ही अवतार लेने में भी लाचार है, क्योंकि सर्वव्यापक का आना जाना प्रकट करना सर्वथा असम्भव है। जब वह दुःख नाश नहीं करता, तो पादरी साहब के कहने से ही पादरी साहब की बात कट जाती है, जो कि कहते हैं कि अवतार लेकर मनुष्यों का दुःख काटता है। और जो कहा कि—दुःख क्यों देता है? इसका उत्तर यह है कि वह न्यायधीश है। जीवों के जैसे पाप-पुण्य होते हैं, वैसा ही उनका फल देना अवश्य है, क्योंकि वह सच्चा न्यायकारी है। ह०—**स्वामी दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

द्वैतवादी वे होते हैं, जो कि दो पदार्थ मानते हैं—एक तो ईश्वर और दूसरे ईश्वर से भिन्न यह कार्यजगत्। अद्वैतवादी वे होते हैं, जो कि एक ही पदार्थ ईश्वर को मानते हैं, और कुछ नहीं। सो ज्ञात नहीं कि पण्डित जी एक ही पदार्थ मानते हैं, वा दो। ईश्वर अनदेखा तो है, परन्तु जब अपने आपको प्रकट करना चाहता है, तो प्रकट कर देता है। शरीरिक अर्थात् शरीर में तो आत्मा से हम आपके शरीर को देखते हैं, आत्मा को नहीं। परन्तु उस प्रकार से होने से ईश्वर का हाल बहुत अधिक जानते हैं। क्योंकि एक नमूना पवित्र और पूर्ण हमारी दृष्टि में होता है। इसलिये ईश्वर का अवतार होता है। ईश्वर ने देख लिया कि मनुष्य के लिए उचित यही है, इसलिए ऐसा ही हुआ और होता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् तो है, परन्तु तव भी इसका अर्थ यह नहीं है, कि कोई बात उसके वश से बाहर नहीं। वह अधर्माचरण नहीं कर सकता, झूठ नहीं बोल सकता। दो और दो को वह पांच नहीं मान सकता। इससे यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु हो भी और न भी हो। अर्थात् एक अर्थ से उसकी शक्ति की भी सीमा है।

मैंने यह कहा कि यदि मनुष्य की इच्छा नहीं है, तो ईश्वर उसे सुधार नहीं सकता। सुधार का सर्वोत्तम उपाय यही है कि देह धारण करे और एक पूर्ण आदर्श मनुष्य के सामने प्रस्तुत करे। मनुष्य तो आदर्श को चाहता ही है। संसार में सर्वश्रेष्ठ और पवित्र गुरु कोई ऐसा है, कि जिस ने कभी भी पापाचरण न किया हो। कोई गुरु ऐसा नहीं है, जो सव बातों में पूर्ण हो। केवल ईश्वर ही देह धारण करके मनुष्य के सामने ऐसा नमूना पेश कर सकता है, जिसे ठीक-ठीक धर्म का मार्ग प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो सके, और वह हर बात में नेकी और पुण्य को जान सके। यह वहुत रहस्य की बात है।

कौन नहीं जानता कि मनुष्य अनुकरणप्रिय है। नमूने को देखकर उसके अनुसार कार्य करता है। पाठशालाओं और सेनाओं में देखो, और घर में भी देखो। जव नमूना अच्छा है, गुरु पूर्ण है, तव उन्नति भी वहुत अच्छी होती है। क्या यह बात उत्तम और रहस्यमयी नहीं है कि ईश्वर देह धारण करके इन्सान के लिये एक पूर्ण और पर्याप्त नमूना दिखावे कि जिससे मनुष्य अपनी मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ हो सके ?

ईश्वर की इच्छा यूं है और यही मेरा भी अभिप्राय है कि खुला करके कह देना कोई अच्छी बात नहीं है। उसमें सावधान्ता होनी ही चाहिये। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ऐसा किया, क्योंकि उसको यही उत्तम प्रतीत हुआ, तो फिर हम इसके विरुद्ध क्यों बोले?

अव शब्द प्रमाण को लीजिए। इंजील में लिखा है—‘आरम्भ में शब्द था। और शब्द खुदा के साथ था। और शब्द खुदा था। और शब्द साकार हुआ।” अर्थात् वही खुदा शरीर धारण करके प्रकट हुआ—यह लिखा है। और जिस किताब में यह लिखा है,

ऐसी उत्तम किताब है। और वह अपना प्रमाण कि वह ईश्वर की ओर से है। और जो कुछ कि उसमें लिखा है, वह बुद्धि-पूर्वक, तर्क-संगत और प्रमाण-युक्त है। और यह कहा कि बहुत से लोग इसको झूठ समझ कर छोड़ देते हैं, जैसा कि वेद को। क्योंकि वह सर्वथा मिथ्या है, और उसके समर्थन में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं है। ह०—पादरी टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी:—

अद्वैत विशेषण परमेश्वर का है, किसी दूसरे का नहीं। इसके कहने से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक है। जीव अनेक हैं और जगत् का कारण अनेक प्रकार का है। और जो पादरी साहब कहें कि —ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा और कोई न था। तो फिर जीव और यह जगत् कहां से आया? जो कहें कि ईश्वर से, तो जीव ईश्वर हुआ। जो कहें कि कारण से, तो पादरी साहब को भी कारण मानना पड़ेगा। और यदि जीव की उत्पत्ति मानो जाये, तब तो उसका नाश भी अवश्य ही मानना होगा। यह बात कई बार चली, परन्तु अभी तक ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया गया कि उसको देह धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? और इसके बिना ही वह अपना काम क्यों नहीं कर सकता? इसका कुछ जवाब नहीं हुआ।

जब उसकी शक्ति की सीमा है, तो फिर ईश्वर की भी सीमा क्यों नहीं है? जो कहें ईश्वर की भी सीमा है, तो सर्वव्यापक नहीं। और यह बात पादरी साहब के पहले कथन के भी विरुद्ध होगी। जब परमेश्वर की सब बातों को नहीं जानते, तो फिर पादरी साहब ने ऐसा क्यों कहा था कि ईश्वर अवतार लेता है? और वे अब इस बात में जिद क्यों करते हैं? और जब अवतार लेने से पहिले उसे कोई जान ही नहीं सकता, तो उसी ने अवतार लिया यह कहना भी व्यर्थ ही है। क्योंकि वही पुरुष या पादरी साहब आज भी हैं, जो कि कल के शास्त्रार्थ में थे। जब कि अवतार होने से पहिले कभी देखा या जाना ही नहीं, तो फिर उसी ने अवतार लिया है, यह कहना भी तो अनुचित और अयुक्त ही है।

क्या पादरी साहब ने कभी इस बात पर विचार नहीं किया कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, शरीर आदि भी तो ईश्वरीय शक्ति

के ही नमूने हैं ? और एक साढ़े तीन हाथ के शरीर में आकर खा पी बढ़ घट कर मर जाना भी क्या कोई बड़ा नमूना है ?

और जो इन्जील के लेख की बात कही कि—वह शब्द अवतार हुआ। यह कथन सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि शब्द गुण होता है और वह द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। ऐसी मिथ्या बात जिस इन्जील में लिखी है, वह सत्य कभी नहीं हो सकती, और न ही कभी उत्तम हो सकती है। पादरी साहब की इन्जील में योहन्ना के स्वप्न के प्रकाशित वाक्य की कथा सर्वथा असम्भव है, कि जो पोथी के एक बन्धने के खोलने पर उसमें से एक सवार घोड़े सहित निकला। क्या ऐसा कभी हो सकता है ? ऐसी-ऐसी कई झूठ बातें हैं। क्या पादरी साहब ने ये कभी भी नहीं देखी होंगी ? फिर भी ऐसी किताब के सत्य होने का दावा करते हैं। सो जिद करने के सिवा और कुछ नहीं है।

इसलिये पादरी साहब और सब सज्जन पुरुषों को चाहिये कि—सब सर्वथा सत्य, ईश्वरकृत वेदों की शरण लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि अवश्य करें। **ह०–स्वामी दयानन्द सरस्वती जी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

योहन्ना के विषय में 'मकाशफत की पुस्तक' में लिखा है। उसके विषय में यदि पण्डितजी की बुद्धि ऐसी ही है, तो मैं क्या उत्तर दे सकता हूं ? ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य से इस सम्पूर्ण सृष्टि को अभाव से भाव रूप में रचा है। उचित यही है कि वह जब भी चाहे इसका नाश कर दे। जब तक यह सृष्टि स्थिर है, तब तक ईश्वर इसमें सर्वव्यापक नहीं है, वह तो इससे पृथक् है। और मैंने बार-बार यह कहा कि उसने जो अवतार लिया, इसका कारण था। सो आप फिर से पहले लेख को देख लीजिये।

ईश्वर की शक्ति की सीमा यही है कि वह अपने विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। हम दावा करते हैं कि हम सबके शरीर में भी उसका प्रकाश होता है। और सब कामों के लिये उसने एक पूर्ण नमूना भी हमें दिया है। मनुष्य के लिये उसकी महिमा चांद, सूर्य, सितारे से अधिक है।

शब्द का भाव यह है कि वह ईश्वर को प्रकाशित करनेवाला हो। जैसे कि शब्द ही मनुष्य के अर्थ को भी प्रकट करता है। उसी प्रकार मसीह जैसे अवतार ईश्वर की महिमा और अर्थ को प्रकट करते हैं।

अब देखिये कि लोग बाइबिल के विषय में कितने पुरुषार्थी और सावधान हैं, और इस पुस्तक को कैसी दृढ़ता के साथ पकड़े हुए हैं। पच्चीस सोसाइटियां हैं, जो कि इसकी छपाई में संलग्न हैं। दो सौ भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। उदाहरण के रूप में दो सोसाइटियों के कार्यों को लें। एक वर्ष में इङ्गलिस्तान में एक ने बाईस लाख, छियानवे हजार, एक सौ तीस प्रतियां छपवाई। और बतलाइये! अमरीका में एक सीसाइटी में सत्तर बड़ी-बड़ी मशीनें छापने के लिये हैं, चार सौ कार्यकर्त्ता हैं। उसमें बीस हजार पाँच सौ प्रतियाँ एक ही दिन में तैयार की जाती हैं। कौन कह सकता है कि इस किताब को नहीं मानते? सो मैंने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की देह धारण करने की पूर्ण सम्भावना है। ऐसा होना बुद्धि से परे की बात नहीं; अपितु यह युक्तिसंगत और उचित है। उसका बहुत आवश्यक कारण भी मैंने बता दिया। और इस पुस्तक का वचन सत्य प्रमाणित होता है। **ह०— टी० जी० स्काट साहब**

[ता० २७ अगस्त, १८७९। विषय: क्या ईश्वर पाप क्षमा भी करता है?]

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

मेरा यह दावा नहीं है कि ईश्वर दण्ड नहीं देता, दण्ड भी वह अवश्य ही देता है। परन्तु मेरा निवेदन यह है कि वह समय-समय पर, जब भी और जैसा भी उसको उचित प्रतीत होता है, मनुष्य के कल्याण के लिये पाप को क्षमा कर सकता है। जब कोई ईश्वर है, वह सर्वगुण-सम्पन्न है, और चेतन भी है, और भी उसमें अनेक प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव विद्यमान हैं; तो यह भी अवश्य ही समझना चाहिये कि वह हमको देखता है, हमारे लिए चिन्तन करता है, हमारा कल्याण चाहता है, और हमको सुधारना चाहता है। सो यह दावा अनुचित कोई नहीं है।

बहुत-सी बातों से हमारी ईश्वर से समानता है, अर्थात् हम

धर्म की बातें जैसे कि न्याय और अन्याय इत्यादि जानते हैं। ईश्वर में अनेक प्रकार की विशेषतायें हैं, जैसा कि न्याय, प्रेम, दया इत्यादि, सो ये मनुष्य में भी पाई जाती हैं। जब हम इस बात पर विचार करें कि बहुत-सी बातों में हम और ईश्वर एक ही हैं, तब हम ईश्वर की सत्ता को कुछ-कुछ जान सकते हैं। हमें यह भी समझना चाहिये कि ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हम आपस में रखते हैं। अर्थात् ईश्वर हमारा शासक है, वह हमारा शासन करता है, वह हमारा पिता है, उसने हमको उत्पन्न किया है, वही हमारा पालन और संरक्षण करता है।

जब हम इन बातों पर विचार करते हैं, तब हम ईश्वर के विषय में अधिकाधिक बोध प्राप्त करते हैं। और वेदों में तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी पिता तथा शासक आदि के रूप में ईश्वर का उल्लेख किया गया है। अब विचारना चाहिये कि—जब सभी धर्म-ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है, तो इसमें कुछ न कुछ बात हमारे समझने-समझाने की भी है। हमें यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार उसके साथ हमारा शासक वा पिता के रूप में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वह पिता और शासक के कर्तव्य कर्मों का पालन भी अवश्य ही करता है। अब विचारिये कि पिता और शासक का काम क्या-क्या होता हैं? इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये दण्ड देने वाले भी होते ही हैं। दण्ड देने का भी एक उत्तम उद्देश्य होता है, और वह यह कि दण्ड देकर अपराधी सन्तान वा प्रजा को सुधारा जाये, और इस प्रकार दूसरों को भी शिक्षा मिले। हम और आप यह भी कहते ही हैं कि बदले की भावना से दण्ड न दिया जावे। दण्ड उतना ही दिया जावे, जितना कि आवश्यक हो, और शिक्षादायक हो। फिर भी यदि पिता वा शासक चाहें तो क्षमा कर दें, और इसीलिये क्षमा होती है।

ह०—पादरी टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी:—

पादरी साहब का पक्ष यह था कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। क्षमा कर सकता है, ऐसा पक्ष नहीं। फिर पादरी साहब ने दूसरी प्रकार से क्यों कहा? और यह कहा कि दण्ड भी अवश्य देता है। यह तो परस्पर विरोधी कथन है। क्या आधा दण्ड देता

है, और आधा क्षमा कर देता है, या कुछ कम-अधिक करता है? जैसे ईश्वर सब बातें जानता है, क्या जीव लोग भी वैसे ही जानते हैं, अथवा कम-अधिक जानते हैं? जैसे हमारे बीच में न्यायाधीश न्यायकारी होता है। और अन्यायकारी भी होता है, क्या ईश्वर भी वैसा ही है, अथवा ईश्वर केवल न्यायकारी है? जो न्यायकारी है, तो फिर क्षमा करना कहां रहा? क्योंकि न्याय उसका नाम है—जिसने जितना जैसा काम किया, उसको उतना वैसा ही फल देना।

जो ईश्वर को थोड़ा बहुत कुछ न कुछ जानते हैं, तो मैं पूछता हूं कि—ईश्वर की सब बातों में ऐसी ही रीति है, या कुछ कम-अधिक? यह मैं भी मानता हूं कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता का सा सम्बन्ध है। परन्तु यह सम्बन्ध क्या अन्याय करने के लिये है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। वेद आदि पुस्तकों में क्षमा करना कहीं नहीं लिखा है। ईश्वर के न्याय करने का क्या अर्थ है? न्यायाधीश और सभा आदि के दण्ड और पुरस्कार आदि सुधार आदि के लिये होते हैं, अथवा इनका कुछ और अर्थ है? और जो क्षमा करता है, तो किस-किस काम पर क्षमा करता है, और किस-किस पर नहीं? जब क्षमा करता है, तब तो ईश्वर पाप का बढ़ाने वाला होता है। क्योंकि वह जीवों को पाप करने में उत्साहित करता है।

जब ईश्वर सर्वज्ञ है, तो उसके न्याय आदि गुण और कर्म भी भूल और भ्रांति आदि सब दोषों से रहित हैं। इसलिए जब ईश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य कभी नहीं कर सकता, तो फिर न्याय के प्रतिकूल क्षमा वह कैसे कर सकता है? और ईश्वर जो दयालु है, तो दया का भी वही अर्थ है, जो कि न्याय का है। क्षमा करना दया नहीं है। जैसे कि एक डाकू पर कोई दया करे अर्थात् क्षमा करे, तो क्या वह दयालु गिना जा सकता हैं? कभी नहीं। क्योंकि हजारों जीवों को उसने दुःख दिया है। जब डाकू क्षमा कर दिया जावेगा, तब तो वह बड़े साहस के साथ और भी खूब डाके मारेगा। इसलिये दया का मतलब भी और ही है, जो पादरी साहब जानते हैं वह नहीं। **ह० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

पण्डित जी जल्दी न करें । मेरा मतलब बेईमानी पर कमर बांधने का नहीं है । जब ईश्वर क्षमा करता है तो उसमें 'सकता या नहीं सकता' का उल्लेख आरम्भ में इसलिये किया गया है कि इस प्रकार की सम्भावना प्रतीत होती है । निस्सन्देह आज का विषय तो यही है कि—'वह क्षमा करता है'। हम यह नहीं कह सकते कि वह कहां तक दण्ड देता है, और कहां तक क्षमा करता है । यह उसका काम है, हमारा नहीं । परन्तु जब वह सर्वज्ञ है, और हम लोगों के समान भूल भी कभी नहीं करता । हम लोग तो अपने कामों में भूल किया ही करते हैं । ईश्वर अपनो अच्छी बातों में, और उसकी सभी बातें अच्छी हैं, भूल कभी नहीं करता । ईश्वर तो सब कुछ जानता है; हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते । उसके क्षमा करने में भी अवश्य ही कोई भेद है, क्योंकि क्षमा करना सदा ही एक सूक्ष्म विवेक का कार्य होता है । ईसाई लोग दृढ़तापूर्वक कहा करते हैं कि वह बिना किसी सिफारिश के और बिना किसी न्याय के क्षमा किया करता है ।

परन्तु जब वह दयालु है और न्यायकारी भी है, तो वह सर्वथा एक ही बात है, अर्थात् दया और न्याय एक ही बात है । परन्तु जरा न्यायकारी बन कर सोचिये । दया में कुछ न कुछ मतलब ऐसा भी जरूर होगा जो कि न्याय में नहीं है । वेद में वह जरूर लिखा है—'ईश्वर पापों को क्षमा करता है' ।

अब मैं यहाँ पर एक पुस्तक म्यूर साहब की कि जिसमें लिखा है—"अदिति पाप को क्षमा करती है" का प्रमाण देता हूं । पण्डित जी कहेंगे कि यह अर्थ गलत है । अब अंग्रेजी जानने वालों का यह काम है कि वे म्यूर साहब की पुस्तक देखकर न्याय करें । हैं यह पूछना चाहता हूं कि—क्या क्षमा शब्द का विचार वेद वालों को कभी नहीं सूझा ? क्या वे क्षमा का अर्थ नहीं जानते थे ? और क्या क्षमा करना भूल है ?

मैं यह सिद्ध करूंगा कि समय-समय पर क्षमा करना बहुत ही श्रेष्ठ कार्य है । यदि इसे संसार में से हटा दिया जाये, तो संसार की अवस्था बहुत बिगड़ ही जायेगी । और यह तो अनुमान से प्रत्येक

व्यक्ति जान सकता है कि क्षमा से संसार में बहुत ग्रच्छे-ग्रच्छे परिणाम होते हैं। कौन जानता है कि माता-पिता के बीच में ग्रौर बेटा-बेटी के बीच में क्या वास्ता है ? ग्रौर परस्पर एक का दूसरे से तथा मित्र का मित्र से क्या सम्बन्ध है ? यदि इन सबके बीच में क्षमा करने का भाव कभी भी सर्वथा न ग्रावे, तो ये सम्बन्ध जरा भी न चलें।

ग्रौर यह कहना कि—क्षमा करने से पाप बढ़ जाता है, तो यह ठीक है, यदि क्षमा सदा ही क्षमा हो, ग्रौर वह कभी किसी भी रूप में दण्ड न हो। ग्रौर यह भी ठीक है कि कुछ ग्रवस्थायें ऐसी भी होती हैं कि जिनमें किसी को कभी भी क्षमा नहीं करना चाहियें, जैसा कि डाकुग्रों के विषय में। संसार में सभी बातें इस प्रकार की नहीं हैं कि हम क्षमा को संसार से सदा के लिये सर्वथा दूर कर दें। जो ग्रनादि और न्यायकारी है, वह भी जानता है कि कब ग्रौर किस पर क्षमा ग्रौर दया ग्रादि का व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये। ग्रागे चलकर मैं यह भी बताऊंगा कि क्षमा करने से पापवासना का ग्रन्त हो जाता है। ग्रौर साथ ही यह भी कि दण्ड देने से पाप की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, ग्रौर इस प्रकार मनुष्य ग्रौर भी ग्रधिक निडर तथा बड़ा शैतान बन जाता है। **ह०—पादरी टी० जी० स्काट साहब**

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

जो शास्त्रार्थ का विषय है, ग्रौर जिसको सिद्ध करने की प्रतिज्ञा प्रथम पादरी साहब ने की थी,उससे दूसरा कथन करना न्याय-शास्त्र के ग्रनुसार पराजय का सूचक है। इस प्रकार की पराजय को दार्शनिक भाषा में 'प्रतिज्ञान्तर' कहा जाता है। पादरी साहब ने कहा कि—ग्रसल विषय वही है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। इससे यह सिद्ध हुग्रा कि ऐसे ग्रवसर पर पादरी साहब को ग्रपना पक्ष सिद्ध करने के लिए विशेष बल देना चाहिये था। जब पूर्ण निश्चय से नहीं जानते, तो फिर उसका प्रतिपादन या समर्थन कैसा ?

मैं पूछता हूं कि जितने ग्रंश में क्षमा करना पादरी साहब मानते हैं, उसको भी ठीक-ठीक जानते हैं, या नहीं ? क्या ग्रापके मत में ईश्वर डाकू ग्रादि को क्षमा नहीं करता ? ग्राप डाकू ग्रादि

को क्षमा करने का उपदेश नहीं करते ? और यदि ईश्वर किसी के वसीले से क्षमा करता है, तब तो वह पराधीन ठहरता है। और भी बतायें कि–ईश्वर किसके वसीले से क्षमा करता है ? वह वसीला आपका है, या किसी दूसरे का ? यदि कहो कि अपने आपका वसीला है, तो झूठ है। और यदि कहो कि किसी दूसरे का है, तो फिर ईश्वर स्वतन्त्र नहीं रहा।

और जो पादरी साहब ने कहा कि—अदिति माता क्षमा करती है, यह वेद में लिखा है। तो मैं पूछता हूं कि अदिति किसका नाम है ? और क्षमा करना तो चारों वेदों में कहीं भी नहीं लिखा। जब क्षमा करना है ही व्यर्थ, तो फिर ऐसी मिथ्या बातों का उपदेश वेदों में क्यों कर हो सकता है ? यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी जानने वाले वेदों के सिद्धान्तों का निर्णय करें। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कि कोई संस्कृत पढ़कर अंग्रेजी के सिद्धान्तों का निर्णय करे।

और जो माता-पिता क्षमा करते हैं, ऐसा पादरी साहब का कथन है। सो वे भी पूर्णतया क्षमा करते हैं, या कुछ-कुछ ? जो कहें कि कुछ-कुछ, तब भी ठीक नहीं है। क्योंकि पाप करने से क्या माता-पिता अपने अन्तरात्मा में अपने सन्तान के प्रति प्रसन्न होते हैं ? यदि हां, तो फिर वे बालकों की ताड़ना क्यों करते हैं ? यही तो दण्ड है। जब बालक कुछ समर्थ हो जाते हैं, और पांच वर्ष से बड़े हो जाते हैं, तब माता-पिता बालकों के साधारण पाप वा अपराध भी क्षमा नहीं किया करते। और जो क्षमा करते हैं, तो कभी-कभी माता-पिता और सन्तान में वैर विरोध क्यों होता है ? इससे पादरी साहब का दृष्टान्त गलत ठहरता है।

हां, यदि सब माता-पिता क्षमा करते, तब तो पादरी साहब का दृष्टान्त भी ठीक होता और कथन भी। आपके मत के अनुसार—शैतान ने बहुत अपराध किये हैं। परन्तु ईश्वर ने उसको आज तक कोई दण्ड दिया कि नहीं, और भविष्य में भी उसको कोई दण्ड देगा या नहीं ? जब शैतान को बनाया, तब तो वह पवित्र था। फिर जब उसने पाप किया ईश्वर ने उसे क्षमा क्यों नहीं किया ? और आगे भी करेगा, या नहीं ?

ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

पादरी टी० जी० स्काट साहबः—

हमारे सुयोग्य विद्वान् और प्रिय मित्र स्वामी दयानन्दजी घबरायें नहीं। मैं विषय से बचकर न चलूंगा। परन्तु यह मुझे अधिकार है कि मैं जिस प्रकार भी उचित समझूं, उसी प्रकार अपनी युक्ति का आधार स्थिर करूं। पहिले मैं बुद्धि से यह सिद्ध कर रहा हूं कि क्षमा की सम्भावना है। फिर आगे चलकर देख लेना, मैं शास्त्रीय प्रमाणों से भी यह सिद्ध करूंगा कि—ईश्वर पाप क्षमा करता है। अर्थात् आज का विषय कि ईश्वर पाप क्षमा भी करता है, वह बुद्धिपूर्वक है कि नहीं? और फिर इसका विशेष कथन न करूंगा।

मेरी युक्ति तीन प्रकार की हैं—बुद्धिपूर्वक है, शास्त्र-सिद्ध है और अनुभव से भी पुष्ट है। वह डाकू का उदारण इस प्रकार से है कि अनुशासन को स्थिर रखने के लिये डाकू को क्षमा करना अच्छा नहीं है। परन्तु कौन नहीं जानता कि कभी-कभी डाकुओं को क्षमा करने के भी बड़े उत्तम-उतम परिणाम निकलते हैं। एक उदाहरण है:—

'योहन्ना रसूल ने एक आदमी को ईसाईधर्म में दीक्षित किया—वह डाकू था। बाद में वह धर्म से बहिष्कृत किया गया और जंगल में भाग गया, तथा बड़े-बड़े डाकुओं का काम करने लगा। योहन्ना उसकी खोज करने जंगल में गया। पहले तो डाकू ने उसे मार डालना चाहा, परन्तु योहन्ना बूढ़ा था। वह उससे न डरा, और पास जाकर बोला कि मैं तो बूढ़ा आदमी हूं, मुझे क्यों मारते हो? डाकू का हृदय परिवतन हो गया। उसने डाकुओं का साथ छोड़ दिया, और योहन्ना के साथ चला आया। फिर वही डाकु बहुत उत्साही प्रचारक और साधु पुरुष बन गया। उसने फिर कभी कोई अपराध नहीं किया और अपना जीवन बहुत पवित्रता से व्यतीत किया।

डाकुओं आदि के विषय में जबकि मनुष्य भी क्षमा-पूर्ण व्यवहार करते ही हैं, तब यह भी सम्भावना है कि इश्वर भो क्षमा कर देता है। और यह पूर्णतया सम्भव है। ईश्वर तो मनोगत बातों को भी जानने वाला है। ईसाइयों का सिद्धान्त यह है कि वह वसीला, जिससे क्षमा प्राप्त होती है, निष्कलंक अवतार ईसामसीह का इस संसार में पैदा होना है।

मैं पण्डित जी से पूछता हूं कि—अदिति का क्या अर्थ है ? म्यूर साहब की पुस्तक का जो जिकर मैंने किया है, सो स्वामी जी जल्दी में किसी बात को उलटी न समझें। मैं कोई मूर्ख नहीं हूँ। म्यूर साहब की पुस्तक अंग्रेजी में है, परन्तु उसमें साथ ही संस्कृत श्लोक भी वेद के भरे हुये हैं। अंग्रेजी जानने वाले सज्जन म्यूर साहब के प्रमाणों और युक्तियों को अंग्रेजी में भी देख सकते हैं और अपनी संस्कृत में भी समझ सकते हैं।

शैतान का जो हाल है, सो हम नहीं जानते। शायद उसको बीस बार क्षमा मिल चुकी है, और अब उसे क्षमा मिलने की कोई आशा नहीं है। फिर भी कौन जानता है ? हाँ, इतना हम जानते हैं कि आज शैतान का विषय नहीं है। मैं पण्डित जी से यह पूछता हूं कि क्या क्षमा कभी भी नहीं होनी चाहिये ? क्या मनुष्य के हृदय में क्षमा करने वा क्षमा चाहने का कुछ भी विचार कभी नहीं होता ? क्या क्षमा शब्द का संसार में कुछ भी काम नहीं है ? पण्डित जी इस बात पर विचार करें।

ह०—पादरी टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी:—

मैं कब घबराया हूं ? जो आप ने कहा कि घबरावें नहीं। जब पहिले कहा कि ईश्वर पापों को माफ भी करता है और अब कहा कि कर सकता है, तो क्या ये दोनों परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ? और क्या इस प्रकार आप प्रतिज्ञा-हानि नहीं कर रहे ? तर्क शास्त्र-प्रमाण और अनुभव-प्राप्त पुरुषों का ही सत्य होता है, प्रत्येक जनसाधारण का नहीं। जब डाकू का कहीं-कहीं क्षमा करना अच्छा है, तो आजकल को सरकार को भी चाहिये कि किसी अवसर पर डाकुओं को क्षमा करें।

योहन्ना के क्षमा करने से, क्या प्रत्येक अपराधी क्षमा के योग्य हुआ ? उसने भयवश या किसी स्वार्थवश क्षमा किया होगा। तो क्या उसने यह कोई अच्छा काम किया ? और जब तक उसने डाका मारना न छोड़ा था, तब तक अपने साथ क्यों न रखा ? और जो कहो कि क्षमा करने से लिया, तो यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि जब उसने डाके का काम छोड़ दिया, और अच्छे काम करके अच्छा आदमी बना, तब साथ रखा। भले और बुरे दोनों प्रकार के कामों

का फल ईश्वर यथायोग्य देता है। जब पादरी साहब का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। फिर उसके विरुद्ध पादरी साहब ने कथन किया कि जब कभी हम क्षमा करते हैं, तो ईश्वर क्षमा नहीं करता। और जब हम क्षमा नहीं करते, तो ईश्वर क्षमा करता है।

पादरी साहब ने मुझसे अदिति का अर्थ पूछा है। सो पृथिवी, अन्तरिक्ष, माता, पिता और ईश्वर आदि अर्थ हैं। जैसे किसी हल जोतने वाले के सामने या विद्या वाले के सामने रत्नों की या और-और विद्याओं की बात करें, तो क्या वह व्यर्थ नहीं है? जो शैतान का पाप क्षमा न किया जायेगा, तब तो शैतान के विषय में आपका सिद्धान्त अटक गया। क्षमा शब्द किसी और मुहावरे के लिये है। दण्ड तो दिया जाना है, परन्तु समर्थ को जैसा दण्ड दिया जाता है, वैसा असमर्थ को नहीं। जैसे कि पागलों को पागलखाने में भेजा जाता है। यदि ईश्वर ईसा के वसीले से क्षमा करता है, तो क्या वह खुशामदी नहीं है? क्या आप ईश्वर के सामने भी वकील आदि की आवश्यकता समझते हैं? क्या आप उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् नहीं मानते? और यदि आप ईसा के वसीले से पापों का क्षमा होना मानते हैं, तो ईसा ने जो पाप किये, उनको क्षमा करने का वसीला क्या है? **ह०—स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

अब यहां पर कुछ विचार करना उचित है। क्षमा करना और बात है, तथा दिल को पवित्र करना और बात है। इसलिये मनुष्य की क्षमा और ईश्वर की क्षमा में बहुत भेद है। जब मनुष्य तोबा करे और उस नियम पर चले, जो कि उसके लिए नियत और विहित है, तब ईश्वर उसको क्षमा कर देता है, और उसके हृदय को भी पवित्र कर देता है। और मेरा भाव यह है कि ईश्वर ने किसी को क्षमा किया और उसके हृदय को भी पवित्र किया, इसकी पूर्ण सम्भावना है। परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतन्त्रता और धर्मशास्त्र के कारण नियम के अनुसार वह क्षमा नहीं होता। यह मेरा अभिप्राय है।

और क्षमा का लाभ इसमें प्रतीत होता है कि बीसियों विचारवान् युक्ति-तर्क-विशेषज्ञ भली प्रकार जानते हैं कि क्षमा का

परिणाम बहुत उत्तम निकलता है। कोई हठ वा दुराग्रहवश इस सिद्धान्त से इन्कार करे, तो करे। पण्डित जी का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर किसी को भी विना दण्ड दिये छोड़ता नहीं। परन्तु योहन्ना ने उस डाकू को दण्ड नहीं दिलाया, क्षमा कर दिया। और हमारा यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जब भी उसे उचित प्रतीत होता है, क्षमा कर देता है, जैसा कि धर्म-शास्त्र में लिखा है।

पण्डित जी ने अदिति के अर्थ परमेश्वर भी लिखे हैं। और म्यूर साहब का दावा है कि अदिति वेद के प्रमाण से पापों को क्षमा भी कर देती है। यदि शैतान अभी तक माफ नहीं किया गया, तो यह किसी प्रकार भी मेरे दावे के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि आज के विषय में एक शब्द "भी" मौजूद है, और यह "भी" अवस्था और परिस्थिति के अनुसार कभी दण्ड और कभी क्षमा इन दोनों को बताता है।

पण्डित जी का दावा है कि ईश्वर कभी भी क्षमा नहीं करता, अतः 'क्षमा' शब्द को संसार से हटा दो। इसके प्रतिकूल यदि ईश्वर किसी एक पाप को क्षमा भी करता है, तो केवल उसी से मेरा पक्ष सिद्ध हो जाता है। मेरा पक्ष यह नहीं है कि ईश्वर क्षमा ही करता है, अपितु यह मेरा पक्ष है कि ईश्वर क्षमा भी करता है। इस "भी" पर विशेष ध्यान दीजिये।

ईसा के वसीले का विषय आज नहीं है, इसलिये इस विषय में मैं आज कुछ नहीं कहता। हमारे लिये आज यह जान लेना ही बहुत है कि किस वसीले से पाप क्षमा होता है। उदाहरण के लिये देखिये—दवाई से दर्द हट जाता है। हम दवाई के विषय में विशेष कुछ नहीं जानते, परन्तु न जानने से क्या भेद पड़ता है? दर्द तो दूर हो ही जाता है। इसी प्रकार क्षमा होने की भी एक शर्त तो है।

अब शास्त्रीय प्रमाण आरम्भ होता है। इसमें मैं अधिक कुछ नहीं लिखता। जो लोग इस विषय में कुछ विशेष जानना चाहें, और प्रमाण पूछें, वे कल की लिखित बात पर विचार करें। तथा तौरेत में 'खरूज की किताब' अध्याय चौंतीस, आयत आठ, और 'गिनती की किताब' अध्याय चौदह, आयत अट्ठारह को पढ़ें एवं विचार करें।

ह०—टी० जी० स्काट साहब

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीः—

क्षमा करना, पवित्र होना है या नहीं? क्या क्षमा करना

पवित्र होने के लिए है ? जो कहें कि पवित्र होने के लिये है, तो ठीक नहीं। क्योंकि क्षमा करने से पाप की निवृत्ति संसार में देखने में नहीं आती। और जो अशुद्ध होने के लिये क्षमा होना कहा जाये, तब तो क्षमा करना ही सर्वथा व्यर्थ हो जाये। जब हमारे क्षमा करने और ईश्वर के क्षमा करने में भेद है, तो आप ने पहिले क्यों कहा था कि हम भी दयालु हैं और ईश्वर तुल्य हैं ? और ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाला यौहन्ना मौजूद है। तब तो ईश्वर भी खुशामद को पसन्द करने वाला तथा बेसमझ सिद्ध होता है। क्या योहन्ना मनुष्य नहीं था कि जिसने क्षमा किया ? क्या योहन्ना कोई राजा था ? वह राजा या ईश्वर नहीं था, यह मैं जानता हूं।

न्याय दण्ड देने से छोड़ता नहीं है और छोड़ता भी है, यह बात परस्पर विरुद्ध है। जो पादरी साहब ने यहां मनुष्यों के राज के विषय में यह कहा कि—कानून की पाबन्दी करनी आवश्यक है, अतः डाकुओं को क्षमा नहीं किया जा सकता। तो मैं पूछता हूं कि क्या ईश्वर के घर में कानून की पाबन्दी नहीं है ? क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है ? यदि नहीं, तो फिर योहन्ना के कहने फुसलाने और खुशामद करने से वह क्षमा करने को राजी क्यों हो गया ? ऐसी बातों से तो ईश्वर की सर्वज्ञता नष्ट होती है।

और जो पादरी साहब ने कहा कि ईश्वर कभी दण्ड देता है और कभी क्षमा भी करता है। यह बात ऐसी ही मिथ्या है, जैसे कि अग्नि कभी गर्म होती है और कभी ठण्डी हो जाती है। और जो यह बात कही कि–आज ईसा मसीह का विषय नहीं है। सो आपने ही आज ईसा का विषय बीच में छेड़ा है। क्योंकि आपने कहा कि ईश्वर ईसा के वसीले से पापों को क्षमा करता है। यहां मैं पूछता हूं कि—ईसा जीव था या ईश्वर ? जो कहें कि जीव था, तो सभी आदमी जीव हैं, सभी ईश्वर के सामने क्षमा करानेवाले हुए। फिर आप एकमात्र ईसा का नाम ही क्यों लेते हैं ? और जो कहो कि ईसा ईश्वर था, तो अपने आप ही वह वसीला अथवा साक्षी कभी नहीं बन सकता। जो कहें कि उसमें जीवात्मा और परमात्मा दोनों थे। तो दोनों के क्या-क्या काम थे ? और दोनों साथ-साथ थे या पृथक्-पृथक् ?

जो कहें कि पृथक् थे, तो व्याप्य-व्यापकता न रही। जो कहें कि व्याप्य-व्यापकता है, तो ईसा में और इन सब जीवों में क्या भेद

है ? जो कहें कि विद्या पढ़े थे, सो भी ठीक नहीं । क्योंकि इंजील के लेख से मालूम होता है कि वह विद्वान् नहीं था, परन्तु एक साधु पुरुष था ।

जो लोग ईसा को मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार जब यहूदियों ने ईसा को फांसी पर चढ़ाया, तो उसने ईश्वर से प्रार्थना कि— हे ईश्वर ! तूने मुझे क्यों छोड़ दिया ? ऐसी बातों से उसमें केवल साधारण जीव ही गति करता था, ईश्वर नहीं । किन्तु ईश्वर तो जैसे सब में व्यापक है, वैसे ही उसमें था । जो कहें कि–उसने मुरदों को जीवित किया, अन्धों को आखें दीं, और कोढ़ियों को चंगा किया, भूत निकाले, इसलिये वह ईश्वर था । यहां मैं कहता हूं कि ये बातें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और सृष्टिक्रम आदि से विरुद्ध होने से विद्वानों के मानने योग्य न कभी थीं, न हैं और न कभी होंगी । हां, ये बातें पौराणिकों के अनुसार हैं ।

पक्षी बोला, पशु हाथी आदि आदमी की बोली में बोले, जैसा कि तोरेत में लिखा है कि—गदहे आदमी की बोली बोले । क्या इन बातों को कोई विद्वान मान सकता है ? अथवा किसी विद्वान् से इन बातों को मनवा सकता है ?

और जो यह कहा कि—दवा खाने से रोग छूट जाते हैं, वैसा ही यह पापों को क्षमा करना भी है । तो क्या दवा का नियम से सेवन करना, परहेज करना, वैद्य के कहने के अनुसार चलना, अपनी मर्जी से न चलना, यह सब दण्ड नहीं है ?

अब तीन दिन से मुझ से और पादरी साहब से जो वार्तालाप हुआ है, उसके विषय में मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह समझता हूं कि मैंने पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिद्ध कर दिया । पादरी साहब उसका खण्डन नहीं कर सके । और पादरी साहब अपने सिद्धान्तों का मण्डन करने में तथा उसके विषय में मेरे प्रश्नों के युक्ति और प्रमाण से उत्तर देने में भी समर्थ नहीं हुए । **ह०—दयानन्द सरस्वतीजी**

पादरी टी० जी० स्काट साहब:—

अब विचार करनेवाले भाई विचार करें । क्योंकि इस लिखाई के बीच में शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गई है, और वे लिखी नहीं गई । इसका परिणाम वही हुआ है कि जिसके

ऊपर झगड़ा हुआ। अर्थात् केवल अर्थ मिलाने के लिये मैं एक वाक्य सुनाना चाहता था, परन्तु मैंने यह आवश्यक न समझा कि लिखने वाले से उसे लिखने के लिए भी कहूं। अब मैं केवल उस प्रमाण का ही उल्लेख करता हूं। भाषा के शब्दों का विचार मैं न करूंगा। जो चाहें वे पुस्तक में स्थल को निकाल कर देख लें। हां, यह मैं लिखवा दूंगा कि मैं प्रमाण किस उद्देश्य से देता हूं। पण्डित जी का यह कहना कि मेरी दलील पक्की नहीं है, और मैंने यूं सिद्ध किया है, इत्यादि। इसमें कुछ भी सार नहीं है. मैं भी इस प्रकार कह सकता हूं। अब यह सुनने वालों का काम है कि वे विचार करके स्वयमेव निर्णय करें। और यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मैं यह नहीं चाहता कि इस विषय में किसी प्रकार का पक्षपात किया जाये।

पण्डित जी ने इस बात का कुछ उत्तर नहीं दिया कि—'क्षमा' शब्द को संसार से बहिष्कृत क्यों नहीं कर दिया जाता ? यह एक व्यर्थ और हानिकारक शब्द है। इससे सदा सबकी हानि ही होती है। यदि पण्डित जी के कथनानुसार यही बात है,तो बहिष्कार जरूरी है। मैं तो निःसन्देह यह कहता हूं कि क्षमा करने से भगवान् की महिमा का प्रकाश होता है। ईश्वर की बड़ाई इसी में है कि वह मनुष्य को क्षमा करे। क्योंकि मैंने कहा कि वह सब गुप्त भेदों को भी यथावत् जानता है, और क्षमा करने के देश काल तथा पात्र को भली प्रकार जानता है, और क्षमा करने के कारणों को भी पूर्णतया जानता है। ईश्वर के घर में न तो कुछ कमी है, और न ही किसी प्रकार की भूल या भ्रान्ति की कोई सम्भावना है। ये सब कमियां और त्रुटियां इस संसार में ही हैं।

देखो, संसार में कितना पाप, अन्याय, घमण्ड और रक्तपात तथा और भी अनेकविध अनाचार दृष्टिगोचर हो रहा है। पंडित जी इसे स्वीकार नहीं करेंगे; परन्तु प्रत्यक्ष ही संसार में भारी कमी और त्रुटि देखने को आ रही है। जैसा कि अंग्रेजी सरकार ने इसका यथोचित प्रबन्ध किया है, ईश्वर भी इसका प्रबन्ध करेगा।

मैं निःसन्देह मसीह के विषय में कोई वार्ता न चलाऊंगा। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि इस पवित्र धर्म-ग्रन्थ में जिसको क्षमा करने का उल्लेख है, वह उसी वसीले से है। यह दर्द का जिक्र तो है, परन्तु दर्द का विवरण यह नहीं है कि कहां-कहां, कैसे-कैसे है ?

जब कभी इस विषय पर वार्ता चलेगी; तब आप इसे यथार्थरूप में देख लेंगे। युक्ति और प्रमाण के आधार पर मेरा निवेदन यही है कि क्षमा होती है ।

और तोबा के सिद्धान्त से भी यही प्रमाणित होता है, कि क्षमा होती है। उपाय को खूब जानना और ईश्वरीय पुस्तक के विषय में इस प्रकार से हंसी-ठट्टा करना यदि पंडित जी को उचित प्रतीत होता है, और वे प्रत्येक बात को उलटे रूप में ही समझना चाहते हैं, तो वे जानें। वेद की अनेकानेक बातें हैं; परन्तु यहां उनके विषय में मैं विशेष कुछ कहना नहीं चाहता। अब आप मेरे इन उत्तरों को कृपया देख लीजिये—

'गिनती की पुस्तक' अध्याय १४, आयत १८ का अर्थ इस प्रकार है कि—ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

'लूका की इंजील' अध्याय ६, आयत ४ तथा अध्याय १५ और आयत १०, इसी प्रकार 'योहन्ना का पहिला पत्र' अध्याय १, आयत ६। इन का अर्थ यह है कि—पापों को क्षमा किया जाता है। फिर मसीह ने अपने चेले को समझाया कि अपनी प्रार्थना में इस प्रकार से बोलो—"हे ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर।"

अब अनुभवसिद्ध प्रमाणों पर भी विचार कीजिये। अनुभव के आधार पर सत्य को जानना बहुत बड़ी बात है, और अपना अनुभव सत्यासत्य का निर्णय करने की सबसे बड़ी कसौटी है। मनुष्य कह सकता है कि मेरा पाप क्षमा किया जाये। और इसके साथ ही ऐसा कथन निराधार है। क्योंकि जैसे पंडित जी ने स्वयं भी एक उदाहरण में बताया है कि—प्रत्येक पापी को दण्ड अवश्य ही मिलेगा। वह पाप भी है। फिर जब तोबा-तोबा कहा तब भी वही पाप मौजूद है। फिर खुदा के बेटे का नाम लिया, तब भी पाप वर्तमान है। मैं यह मान लेता हूँ कि मनुष्य मिथ्या-कथन करें।

कल्पना करो कि वे सच्ची तोबा करके सन्मार्ग पर आ जावेंगे, और प्रत्यक्ष देख भी लें कि अब वह पहिले जैसी बात नहीं है। अब मन में सन्तोष है और शान्ति है। प्रकाश ही प्रकाश है, न कोई सन्देह है, न चिन्ता है, और न हो कोई आशंका है। अब देख लीजिये कि ऐसे हजारों आदमी संसार में हैं कि जिनका यही अनुभव है। और उन्होंने अपने अनुभव से यह भली प्रकार जान लिया है कि

ईश्वर ने मेरे पापों को क्षमा कर दिया है। वे अब पूर्णतया सन्तुष्ट हैं। उनके हृदय पर न तो पाप की छाप शेष है, और न ही पाप का कोई भार है। पापाचरण की किसी प्रकार की इच्छा वा कल्पना भी नहीं है। एक क्षणमात्र में हृदय परिवर्तन हो गया है।

मेरी ओर से इंजील के अनुसार प्रमाण मिल चुका है। यह कहना बहुत ही आसान है कि यह मिथ्या है, ऐसा है और ऐसा नहीं। परन्तु जानने वाले जानते हैं, जिसका दर्द सर्वथा चला गया है, वह जानता है। परन्तु मेरे धर्म के मानने वाले इकतालीस करोड ईसाई संसार में हैं। उनमें से बहुत से तो झूठे ही हैं। यह मैं स्वीकार करता हूं, उनका कथन भी झूठ ही हैं। परन्तु सच्चे आदमी भी बहुत हैं और उनका कथन भी पूर्णतया यथार्थ है, सत्य है। उनकी जीवनचर्या से यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि उनके सब पाप सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। उनके पापों को क्षमा किया गया है। हां, इसको जानने और समझने के लिये अपना अनुभव होना भी आवश्यक है। यह कार्य अभ्यास से होगा।

मैं फिर कहता हूं कि वह अपने अनुभव का प्रमाण सबसे बढ़ कर और पक्का प्रमाण है। युक्ति और तर्क की पुष्टि से भी बढ़कर यह पुष्टि है, कि जिसको अपने अनुभव के आधार पर अपना अन्तरात्मा भी पुष्ट करता है। बात यह नहीं है कि हम केवल मौखिक कथनमात्र ही करते हैं, ऐसा कथन तो मिथ्या भी हो सकता है। परन्तु जिसके पाप तोबा करने के बाद अपना अस्तित्व सर्वथा खो चुके हैं, कि वह नहीं जानता कि जैसे कि कोई पिता अपने पुत्र से क्षमा का वचन कहे, तो क्या वह पुत्र यह नहीं समझता कि पिता ने उसे क्षमा कर दिया है, और अब चिन्ताओं की कोई अवश्यकता नहीं है। मानव-हृदय की भी इसी प्रकार अवस्था है।

मैंने तर्क युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा तथा मनुष्यों के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है। **ह०— टी० जी० स्काट साहब**

७. शास्त्रार्थ मसूदा

सम्पादकीय

ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज-विषयक पुरातन सामग्री की शोध के प्रसंग में आर्यसमाज अजमेर द्वारा प्रकाशित **'देश-हितैषी'** मासिक पत्र की संचिकायें देखने का अवसर मिला। यह पत्र **वैशाख** १९३९ वि० में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था। 'देश-हितैषी' के कतिपय अंकों में महर्षि दयानन्द के मसूदा (जिला अजमेर) ग्राम में निवास का विस्तृत विवरण उपलब्ध हुआ। मसूदा के अधिपति स्व० राव बहादुरसिंह जी, स्वामी दयानन्द के निष्ठावान् अनुयायी तथा भक्त थे। उन्हीं के आमन्त्रण पर स्वामीजी एकाधिक बार मसूदा गये थे। यद्यपि स्वामीजो के मसूदा पधारने तथा वहां जैन साधु सिद्धकरण से शास्त्रार्थ करने का विवरण पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित तथा पं० घासीराम जो द्वारा लिखित श्री महाराज के जीवन-चरित में भी उपलब्ध होता है, परन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त है। 'देश-हितैषी' के निम्न अंकों में यह विवरण धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ था—ज्येष्ठ १९३९ (अंक २ खण्ड १), श्रावण १९३९ (अंक ४ खण्ड १), भाद्रपद १९३९ (अंक ५ खण्ड १), आश्विन १९३९ (अंक ६ खण्ड १), कार्तिक १९३९ (अंक ७ खण्ड १), मार्गशीर्ष १९३९ (अंक ८ खण्ड १), अर्थात् उक्त ६ अंकों में मसूदा के शास्त्रार्थों का वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था। इस वृत्तान्त के प्रेषक पं० वृद्धिचन्द्र श्रीमाली नामक एक श्रीमाली ब्राह्मण थे।

'मसूदा के मंगल-समाचार' शीर्षक से प्रकाशित इस विवरण में **तीन शास्त्रार्थों** का उल्लेख हुआ है। **प्रथम** शास्त्रार्थ जैन साधु सिद्धकरण तथा स्वामीजी के मध्य, **द्वितीय** राव बहादुरसिंह जी तथा ब्यावर निवासी पादरी बिहारीलाल के बीच, तथा **तृतीय** स्वामीजी एवं एक कबीर-पन्थी साधु के बीच हुआ था। जैन साधु सिद्धकरण श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की स्थानकवासी शाखा के अनुयायी थे। इस शाखा के साधु मुख पर श्वेत पट्टी बांधते हैं। राजस्थान में इन्हें '२२ टोला' भी कहा जाता है। शास्त्रार्थ-विवरण के अतिरिक्त भी मसूदा के इस इतिवृत्त से ऋषि दयानन्द विषयक कतिपय महत्त्व-

पूर्ण बातों का परिज्ञान होता है। यथा—मसूदा में स्वामीजी ने धर्म, राजनीति, पुनर्विवाह, सत्यशास्त्रादि विषयों पर १६ **व्याख्यान** तो अपने प्रथम बार के निवास के समय ही दिये थे। क्या ही अच्छा होता, यदि इन व्याख्यानों का विवरण उपलब्ध हो सकता। पादरी शूलब्रेड तथा पादरी बिहारीलाल के समक्ष भी उनका व्याख्यान 'राजनीति' पर ही हुआ था। स्वामीजी के राजनैतिक विचार और भी स्पष्ट हो जाते, यदि हमें इन व्याख्यानों का विवरण उपलब्ध होता।

पं० वृद्धिचन्द्र-लिखित विवरण की भाषा को यथासाध्य उसी रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जिसमें वह आज से ८८ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। उस समय खड़ी बोली का गद्य पूर्णतया परिष्कृत नहीं था। शब्दों के स्वरूप तथा वर्तनी का निर्धारण भी नहीं हुआ था, और न विराम-चिह्नों का ही प्रयोग किया जाता था। फिर भी मैंने यथासम्भव शब्दों की वर्तनी को शुद्ध कर दिया है, तथा यत्र तत्र विराम-चिह्न भी लगा दिये हैं, तथापि भाषा के पुराने रूप को देखा जा सकता है। यत्र तत्र आवश्यक पाद-टिप्पणियां भी दे दी गई हैं।

मसूदा रावसाहब के पुराने 'इतिवृत्त-संग्रह' में महर्षि-विषयक और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होने की पूर्ण सम्भावना है। मसूदा के सैकड़ों निवासी स्वामीजी के अमृतमय उपदेशों को सुनकर वैदिक-धर्म में दीक्षित हो गये थे। ऐसे लोगों में जैन मतावलम्बी कोठारी परिवार के लोगों को संख्या यथेष्ट थी। अतः इस विवरण में उल्लिखित उन लोगों के नामों की सूची भी महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने श्रीमहाराज के करकमलों से यज्ञोपवीत दीक्षा धारण की थी। मेरा प्रयास मसूदा-विषयक शेष सामग्री को भी प्रकाश में लाने का है। जिसके लिये आर्यसमाज के अनुसंधानप्रिय पाठकों को प्रतीक्षा करनी होगी।

शास्त्रार्थ-मसूदा (१)

यह शास्त्रार्थ जैन साधु सिद्धकरण के साथ हुआ था ।

[पूर्व-पीठिका]

विदित होय कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के अजमेर में पदार्पण करने के समाचार राव बहादुरसिंह जी मसूदा के कर्णगत हुए । तत्काल ही उक्त रावसाहब ने श्रीस्वामीजी महाराज को निमन्त्रण पत्र सहित श्री पण्डित वृद्धिचन्द्र जी को अजमेर भेजा । उक्त पण्डितजी ने रावसाहब का निमन्त्रण पत्र स्वामीजी को दे सर्वव्यवस्था कह सुनाई । तब स्वामीजी ने मसूदा की ओर पधारना स्वीकार किया । इसके पश्चात् जब अजमेर में स्वामीजी के व्याख्यानादि समाप्त हो चुके, तब उक्त महाराज ने अत्यन्त कृपा करके अपने प्रण के अनुसार आषाढ़ वदी १२, सं० १९३८ वि०, बृहस्पतिवार को ९ बजे दिन के अजमेर स्टेशन से मसूदा की ओर प्रस्थान कर, नसीराबाद स्टेशन पर उतर, रथपर चढ़ ९बजे रात्रि को मसूदा में जा विराजे ।

फिर आषाढ़ वदी ३०, सं० १९३८ वि० से उक्त महाराजजी के व्याख्यान महलों में होने आरम्भ हुये । तात्पर्य यह कि १६ व्याख्यान अर्थात् प्रथम धर्म विषय, फिर राजनीति, पुनर्विवाह, सत्यशास्त्रादि और मोक्ष विषय में होकर फिर दो तीन दिवस इसी प्रकार बाहर बाग में आनन्द मंगल होते रहे । इसके पश्चात् अर्थात् आषाढ़ सुदी २ मंगलवार को पादरी शूलब्रेड और बाबू बिहारीलाल ईसाई नये शहर[1] (ब्यावर) से स्वामीजी से मिलने को आये । उक्त महाराज ने उक्त पादरी साहब और बाबूजी को आदर सहित बिठाया, फिर वार्तालाप होने लगी । फिर स्वामीजी ने प्रसंगानुकूल पादरी साहब से उनके धर्म विषय में प्रश्न किये, जिनका कुछ उत्तर न देकर [वे] कहने लगे कि स्वामीजी! मैं आपसे शास्त्रार्थ करने नहीं आया हूं, वरंच आपके मुखारविंद से कुछ व्याख्यान सुनने की अभिलाषा है ।

स्वामीजी ने कहा—बहुत अच्छा, मैं व्याख्यान देता हूं, आप श्रवण कीजिये । पादरी साहब बोले—मैं २० मिनट से अधिक नहीं

---

[1] वर्तमान ब्यावर नगर को नया शहर भी कहा जाता है ।

ठहरूंगा, व्याख्यान दीजिए। फिर स्वामीजी ने राजनीति में व्याख्यान दिया। इसके पश्चात् पादरी साहब ने स्वामीजी से पूछा कि वेदों में गो[मेध] और अश्वमेध लिखा है? स्वामीजी ने कहा–कि नहीं, वैसी बात वेदों में कहीं नहीं लिखी है। हमारे पास चारों वेदों के पुस्तक हैं, आप उन में बतलाइये। पादरी साहब ने कहा–मेरी पुस्तकें तो नये शहर (ब्यावर) में हैं। स्वामीजी ने कहा किसी मनुष्य को भेज दो, ले आवेगा। पादरी साहब– इस समय नहीं मगंवा सकता, कारण अवकाश नहीं है। इतना कह नये शहर (ब्यावर) को चल दिये।

फिर स्वामीजी और रावसाहब ने जैनियों से, जो उस समय वहां उपस्थित थे, कहा–कि तुम लोग अपने किसी विद्वान् पण्डित वा मतावलम्बी को बुलाओ, उस से शास्त्रार्थ होगा। तब जैनियों ने कहा कि हम अपने साधु सिद्धकरण को बुलाते हैं, वे आप से शास्त्रार्थ करेंगे। फिर जैनियों ने उक्त साधु को आषाढ़ सुदी १०, सं०, १९३८ वि० को पत्र भेजा, सो दूसरे दिन मसूदा में आ गया।

एक दिन अर्थात् आषाढ़ सुदी १३ को, जब स्वामीजी महाराज अपने नियमानुसार भ्रमण को गये, तो सिद्धकरण साधु से भी, जो शौचादि से निवृत्त होकर आते थे, मार्ग में भेंट हो गई। साधु ने स्वामीजी के निकट आकर कहा कि—आपका क्या नाम और कहां से पधारना हुआ? स्वामीजी ने उत्तर दिया—मेरा नाम दयानन्द सरस्वती है, और अजमेर से आया हूं। फिर स्वामीजी ने कहा—आपका क्या नाम है, और कहां से आना हुआ? साधुजी ने कहा—मेरा नाम सिद्धकरण है, और सरवाड़ से आया हूं। चार मास यहीं रहूंगा। स्वामीजी—यहां पर आप कहां ठहरे हैं? साधु ने कहा—एक उपासरे[1] में; स्वामीजी—क्या आप ही को जैनियों ने बुलवाया है? साधु— हां, मुझ ही को। और स्वामीजी से कहा कि—आपका पेट तो बड़ा मोटा है, क्या इसमें ज्ञान भरा है? आप लोहे का तवा बांध लीजिए, नहीं तो फट जायेगा। स्वामीजी ने इसका उस समय उत्तर देना अनुचित समझ साधु से यह प्रश्न किया कि—आप लोग मुख पर पट्टी क्यों बाधते और गरम जल क्यों पीते हो? साधु जी ने कहा—जो आप भी मुख पर पट्टी बांधे, तो मैं इसका उत्तर दूं। अब इनमें

---

[1] स्थानक वासी जैन साधुओं के ठहरने का स्थान उपासरा (उपाश्रम) कहलाता है।

परस्पर वादानुवाद हो ही रहा था कि रावसाहब ने जो बहुधा अपने महलों पर छत पर बैठ प्रात:काल दूरवीक्षण द्वारा स्वामीजी को भ्रमण करते देखा करते थे, देखा कि किसी से स्वामीजी वार्ता कर रहे हैं। तत्काल ही रावसाहब अश्वारोहण हो स्वामीजी के निकट आ उपस्थित हुये। रावसाहब को देख साधु चलने लगा। तब रावसाहब ने साधु जी से कहा कि—ठहरो, प्रश्न करो, क्यों जाते हो? अन्त को रावसाहब के आते ही साधुजी चले ही गये, और स्वामीजी महाराज वा[1] राव बहादुरसिंह जी मार्ग में परस्पर वार्ता करते हुए निज स्थान को पधारे।

[जैन साधु सिद्धकरण और स्वामी जी के प्रश्नोत्तर]

फिर स्वामीजी ने श्रावण बदी २ सं० १९३८ वि० को निम्नलिखित प्रश्न, पं० छगनलाल कामदार वा जोशी जगन्नाथ और सरदार वा और पण्डित लोगों के हस्ते सिद्धकरण साधु के पास भेजे। **प्रश्न यह हैं**—

१—जैन मतान्तर्गत तुम लोत ढूंढ़िये, जो मुख पर पट्टी बांधना अच्छा जानते हो, यह तुम्हारी बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से सिद्ध नहीं है। इसमें जो तुम ऐसा मानते हो कि—मुख की वायु से जीव मरते हैं। तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जीव अजर अमर है, "और तुम भी ऐसा ही मानते होगे" जो तुम कहो कि—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो उनको पीड़ा अर्थात् दुःख देवें वे पापभागी होते हैं। सो भी सर्वथा ठीक नहीं, क्योंकि पीड़ा दिये बिना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता।

इसमें जो तुम कहते हो कि—जहां तक बन सके तहां तक जीवों की रक्षा करनी चाहिये, कारण सर्व वायु आदि पदार्थ जीवों से भरे हैं, इस लिये हम लोग मुख पर कपड़ा बांधते हैं कि मुख से उष्ण वायु निकलने से बहुत जीवों को दुःख, और बांधने से थोड़े जीवों को कष्ट पहुंचता है। सो यह भी कहना आप लोगों का अयुक्त है, क्योंकि कपड़ा बांधने से जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है। कारण यह है कि मुख पर कपड़ा बांधने से गरमी

---

[1] 'वा' का प्रयोग सर्वत्र 'और' के अर्थ में हुआ है 'अथवा' के अर्थ में नहीं।

रुकने से उष्णता अधिक होती है। जैसे किसी मकान का दरवाजा बंद हो वा परदा डाला जाय, तो उसमें गर्मी अधिक होती है, और खुला रहने से कम होती है। इससे विदित होता है कि मुख पर कपड़ा बांधने से जीवों को अधिक पीड़ा होती है। इसलिये जो कोई मुख पर कपड़ा बांधते हैं,वे जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाने से अधिक पापी होते हैं। जो नहीं बांधते, वे उन बांधने वालों से अच्छे हैं।

किन्तु जब तुम मुख पर कपड़ा बांधते हो, तो मुख द्वारा वायु रुक कर नाक के छिद्र से अधिक वेग से जो बाहर निकलती है, वह जीवों के लिये अधिक दुःखदाई होती है। जैसे कोई मुख से अग्नि फूंके और कोई नली से, तो नली से वायु चारों ओर से रुक, अधिक बलवान् हो अग्नि में लगती है। इसी प्रकार नाक का वायु जीवों को अधिक पीड़ा पहुंचाता है। इससे तुम अधिक हिंसक हो।

जो तुम कहो कि—हम नाक और मुंह पर एक कपड़ा बांधेगे। तो पूर्वोक्त रीति से मुख और नासिका दोनों की गरमी बढ़ कर द्विगुण हिंसा होगी। उससे मुख वा नासिका पर कपड़ा बांधना कदापि योग्य नहीं। दूसरे, कपड़ा बांधने से बोला भी ठीक-ठीक नहीं जाता। निरनुनासिक शब्दों को सानुनासिक[1] कर देना दोष है, उधर दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है, क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध है। शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्ध-युक्त ही है। जब वह रोका जाये तो अधिक दुर्गन्ध बढ़ता है, जैसा कि बंद जाजरूर[2]।

इसी प्रकार मुखादि का प्रक्षालन न करने और मुख पर कपड़ा बांधने से अधिक दुर्गन्ध होकर अधिक रोग उत्पन्न करता है, जैसा कि मेला आदि में। और न्यून दुर्गन्ध से विशेष रोग नहीं होता, यह बात प्रत्यक्ष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने वाला अधिक अपराधी होता है। जैसा कि आप लोग दन्तधावन और स्नानादिक न करने से दुर्गन्ध बढ़ाते हो, जिस से रोगोत्पत्ति कर बुद्धि और पुरुषार्थ को नष्ट करके धर्मानुष्ठान में बाधक होते हो। जैसा

---

[1] मुख पर पट्टी बांधने वाले जैन साधुओं का उच्चारण अधिकांश में सानुनासिक हो जाता है।

[2] इस शब्द का प्रयोग 'शौचालय' के अर्थ में होता है।

कि जाजरूर के शुद्ध करनेवालों की दुर्गन्ध के संग से न्यून बुद्धि होती है, वैसे ही आप लोगों की क्यों नहीं होती होगी ? जब दुर्गन्ध-युक्त पुरुष की बुद्धि अति मन्द, तो उसके संगियों की क्यों नहीं होती होगी ?

२—जो तुम लोग कच्चा जल पीने आदि में दोष गिनते और उष्ण में नहीं, यह भी तुमको अत्यन्त भ्रम हुआ है। क्योंकि ठण्डे-जल के जीव उष्ण जल करने में अधिक दुःख पाते हैं, और उनके शरीर रंध जल में घुट जाते हैं, जैसे सौंफ का अर्क। सिद्ध हुआ कि उक्त जल के पीने वाले मानो मांस का जल पीते हैं। और जो ठंडा जल पान करते हैं वे (उन जीवों को) गर्म जल पीनेवालों की अपेक्षा थोड़ा दुःख देते हैं। दूसरे वे जीव जठराग्नि में प्राप्त होकर भी बहुत से प्राण वायु के साथ बाहर भी निकल जाते हैं। इससे ठंडा जल पीने वाले तुमसे बहुत कम जीवों को दुःख देने वाले ठहरते हैं।

जो तुम कहो कि—न हम जल गर्म करते और न हम किसी को अपने लिये शिक्षा उष्ण करने की करते हैं। तो भी तुम इस अपराध से नहीं छूट सकते, क्योंकि जो तुम गर्म जल न लेते, न पीते और न उष्ण करने की शिक्षा करते तो, वे अधिक जल क्यों गर्म करते ? जो ऐसा कहो कि—पाप करने वालों को दोष लगता है, अन्य को नहीं। यह भी कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि चोरी करने वाला तो आप ही चोरी करता है परन्तु शिक्षा करनेवाले बहुतों को चोर बना देते हैं, इसलिये तुम ही अधिक पापी हुए। फिर जल के गर्म करने में अग्नि जलाने और उस जल से भाप ऊपर उड़ने से भी जीवों को बहुत दुःख पहुंचता है, इस कारण यह भी तुम्हारा कथन व्यर्थ हुआ।

३—तुम्हारे मत में ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें अयुक्त हैं, जैसे—एक छोटे से अर्थात् पैसे भर के कंद में अनन्त जीवों का रहना। इसमें जो कोई तुम से प्रश्न करे कि जिसमें जीव रहते हैं जब उसका अन्त है, तो उसमें रहने वालों का अन्त क्यों नहीं ? फिर तुमसे इसके उत्तर में केवल चुप वा हठ के और कुछ न बन पड़ेगा। यह थोड़ा-सा अर्थात् समुद्र में से बिन्दुवत् तुम्हारे मत में दोष दिखलाया है। जो तुम सन्मुख बैठ कर चर्चा करो, तो

तुमको और तुम्हारे साथियों को तुम्हारे मत के दोष भली-भांति विदित हो जायं।

परन्तु जब कोई विद्वान् तुम्हारे सन्मुख तुम्हारे मत के खण्डन विषय में चर्चा करना चाहें, तो भी तुम कभी न चाहोगे। क्योंकि जो तुम्हारा मत निर्दोष होता, तो दूसरे मत वालों से संवाद करने में कभी न डरते। इसका दृष्टान्त यह है कि तुम अपनी पुस्तकों को बहुत गुप्त रखते और अपने मत वालों के सिवाय दूसरों को देखने के लिये नहीं देते। यह तुम्हारा सिद्धान्त पुस्तक और तुम्हारे सिद्धान्तों को तुम्हारी ही बातें झूठ कर देती हैं। जिसका चांदी का रुपया है, वह सर्राफ वा सुनारादि के दिखलाने में क्यों डरेगा? देखो, हमारा वेद मत सच्चा है, इससे हमको किसी के साथ चर्चा करने में डर नहीं होता। जैसा तुम डर के कारण हठ करते हो कि मुख पर कपड़ा बांधे विना तुम से बात नहीं करते, यह तुम्हारा केवल छल है, क्योंकि नाच न आवे आंगन टेढ़ा।

ह०—**दयानन्द सरस्वती**

जब पूर्वोक्त पुरुष उक्त प्रश्नों को लेकर साधुजी के स्थान पर पहुंचे, तो क्या देखते हैं कि साधुजी बहुत-सी स्त्री और पुरुषों के मध्य में बखान[1] कर रहे हैं। तब यह लोग वहां जा बैठे। जब बखान पूर्ण हुआ, तब पण्डित छगनलाल जी मन्त्री राव मसूदा ने, जो उक्त प्रश्न ले गये थे, सब लोगों के सन्मुख पढ़ कर सुना दिये। और कहा कि इनका उत्तर देना आपको योग्य है। इस पर साधुजी ने कहा कि—जो तुम लोग मुख पर पट्टी बांधो तो मैं उत्तर दूं। तब इन लोगों ने कहा कि—हम मुख पर पट्टी बांधना पाप गिनते हैं। प्रथम आप इन प्रश्नों का उत्तर दें। पट्टी का बांधना सिद्ध कर देंगे, तब हम प्रसन्नतापूर्वक यही वया जैसा आप हम से कहेंगे, स्वीकार करेंगे। ये सुन साधु ने कहा कि—तो मैं उत्तर नहीं दे सकता, और उठकर भीतर की ओर चले गये। फिर यह लोग अपने गृह की ओर चले आये, और सब वृत्तान्त स्वामीजी वा राव साहब को सुनाय अपने-अपने निज स्थान को पधारे।

---

[1] जैन साधुओं के धर्मोपदेश को राजस्थान में 'बखाण' (व्याख्यान का अपभ्रंश) कहते हैं।

[साधु सिद्धकरण के द्वारा स्वामीजी के प्रश्नों का उत्तर]

फिर साधुजी ने तीसरे दिन सुजानमल कोठारी के हस्ते स्वामीजी के प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित भेजा—

प्रश्न—'मुंह बांधने में क्या धर्म है। हमको तो पाप मालूम होता है, इत्यादि।

उत्तर— जब कि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है, उस मकान के दरवाजे में होकर हवा भीतर जाती है, तो हवा के जीव सब मर जाते हैं, और बाहर उस ज्वाला का तेज कपड़े की ओट से ठंडा होकर जाता है। जैसा कि ऊना[2] (गर्म) जल की भाप बाहर एक ऊनी करी हुई चीज की भाप के निकलते समय कपड़ा की ओट दो, तो फिर ओट से बच कर भाप जावेगी, वह फिर वैसी गर्म कभी न रहेगी। वा आडा हाथ देकर देखो, तो पहला हाथ देगा उसका जलेगा वही जल की भाप निकलेगी तो दूसरी तरफ जो आजू बाजू हाथ रहेगा, कभी वैसा नहीं जल सकता, यह तो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। और जीव-अजर-अमर हैं लेकिन वायु के जीव का शरीर है, विना शरीर के जीव नहीं रह सकता।

दूसरे खुले मुख रखने मे प्रत्यक्ष दोष भी है, कि उसको सब कोई समझ सकता है, क्योंकि जो कोई बड़े आदमी के निकट बात करे तो मुंह के पल्ला लगा लेता है, क्योंकि जिससे थूक न उछले, वा अपनी दुर्गन्धता का स्वास उनके द्वारा न पहुंचे। तो आप सरीखे बुद्धिमान् होकर यह क्या सवाल पूछा? आप को भी यह तो खयाल चाहिये कि वेद की पुस्तकों को खुले मुंह बांचना, क्या पुस्तक के ऊपर थूक वा दुर्गंध स्वास नहीं पहुंचती होगी? इस वास्ते जरूर आपको उगाड़े (खुले) मुंह रहना लाजिम नहीं। और हम तो साधू हैं, हम बेफायदा झोड़[3] नहीं करते, क्योंकि यह बात पक्षपात कहलाती है। सिवाय धर्म के साधु को कुछ वास्ता नहीं। कोई हमारे निकट आवे

---

१. यह जैसे के तैसे लिख दिये हैं, (जिससे जैन मत के साधुओं की विद्या भी पाठकों पर भली-भांति प्रकट हो जाय। (सम्पादक 'देशहितैषी' की टिप्पणी)

२. 'उष्ण' को मारवाड़ी में 'ऊना' कहते हैं।

३. 'झोड़' विवाद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

और सुनना चाहे तो सुने, जाने आने का कुछ प्रयोजन नहीं। हां, यह पक्की दीखे कि कुछ धर्म की बात मानेंगे, तो जा सकते हैं।

—द० सिधकरण

[स्वामीजी के द्वारा साधु सिद्धकरण के प्रश्नों का उत्तर]

स्वामीजी ने इन पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर दूसरे दिन, पं० वृद्धिचन्द्र जी जगन्नाथ जोशी, व्यास रामनारायण और बाबू बिहारी लाल और अन्य सरदार लोगों के हस्ते निम्नलिखित भेजा—

(उत्तर) जब कि मकान में अग्नि की ज्वाला निकलती है, इत्यादि। यह तुम्हारा मुख की पट्टी बांधने का उत्तर अविद्यारूप है, क्योंकि बाहर का वायु ही सब प्राणियों का जीवन-हेतु है। विना इसके संयोग के कोई भी प्राणी नहीं जी सकता, और उसके सम्बन्ध के विना अग्नि भी नहीं जल सकता। जैसे किसी प्राणी वा जलते अग्नि को बाहर के वायु से वियुक्त करें, तो वह उसी समय मर जाता और दीपादि अग्नि भी बुझ जाता है। इससे उसको जिलाने और जलाने आदि का कारण बाहर का वायु ही है। न मानो तो बंद कर देख लो। इसलिये यह तुम्हारा अविद्यारूपी ही उत्तर सिद्ध होता है। यद्यपि ऐसी अन्यथा बातों पर लिखना व्यर्थ है, क्योंकि जो किसी से हो ही नहीं सकता।

देखो! जो मकान के दरवाजे और छिद्र बिल्कुल बंद कर दिए जायें, तो अग्नि कभी न जले। और एक ओर से ओट किया जाए, तो दूसरी ओर से जहां कि मार्ग पाता है, वहां अति वेग से चलकर वही वायु के जीवों को उसका सम्बन्ध होता है। और कपड़े की ओट से भी वह कभी ठंडा नहीं हो सकता, किन्तु वह एक ओर रुककर दूसरी ओर गर्म हो जाता है। ज्वाला की जितनी गर्मी है, वह जब तक बाहर के वायु से सम्बन्ध वा संघात छूट एक-एक परमाणु पृथक्-पृथक् होकर न मिल जायें, तब तक अग्नि ठंडा कैसे हो सकता है? और सर्वत्र वायु में विद्युत् रूप अग्नि भी (कि जहां वायु के शरीर वाले जीव हैं) व्याप्त हो रहा है, फिर वायुस्थ जीव क्यों नहीं मर जाते?

जब एक ओर कपड़े आदि से आडा[1] किया जाए, तो

---

[1] 'आडा' करने का अर्थ ओट करने से है।

दूसरी ओर गर्म वायु अधिक इकट्ठा फैलने और पटकने आदि से शीघ्र ठंडा नहीं होता, किन्तु जो चारों ओर से खुला रहे तो शीघ्र ठंडा हो जाता है, जैसा कि मैदान की अग्नि। जब अग्नि की ओर आडा हाथ दिया जाए, तो हाथ की आड़ से दूसरी ओर गर्मी फैलेगी। आड़े हाथ करने से गर्मी कुछ भी कम नहीं हो सकती। इससे यह अविद्वानों की बात है।

देखो! कोई सूर्य की ओर हाथ करे, तो क्या सूर्य की गर्मी घट जाती है? और क्या जिस बर्तन में गर्म जल किया जाता है, उसका मुख खुला रखने से अधिक गर्मी और आधा वा तीन-भाग बन्द करने से अर्थात् आधे वा चौथे भाग से भाप अधिक और जोर से निकल कर बाहर के वायु में नहीं फैलती? और जो उसका मुख सर्वथा बन्द किया जाए, तो क्या वर्तन टूट फूट वा न उड़ जायेगा?

क्या जिसने अग्नि की ज्वाला के सामने आड़ की, तो उसकी ओर गर्मी कम होने से अग्नि के दूसरी ओर जिस किसी का हाथ वा कोई वस्तु हो, तो वह अधिक तप्त नहीं होती? और जब चारों ओर से आड़ कर अग्नि रोका जाये, तो गोलाकार होकर ऊपर को क्यों नहीं चढ़ेगा? और भाप के दूसरे बाजू हाथ जैसा कि इधर का जलता है वैसा उधर का न जलेगा? और हाथ की आड़ के हाथ में गर्मी इसलिए अधिक नहीं लगती कि वह गर्मी अगल बगल होके ऊपर उड़ जाती है।

देखो! तुम्हारी अत्यन्त भूल है, क्योंकि जो वायु के शरीरवाले जीव गर्म वायु से मर जाते, तो वैशाख और ज्येष्ठ मास में जब कि वायु अत्यन्त तप्त होय लू चलता है, तब वे क्या सब मर जाते हैं? और गर्म वायु के जीव जब कि पौष मास में अति शीत पड़ता है, तब वे क्या सब मर जाते हैं? इससे यह बात सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या ही है। क्योंकि जो ऐसा होता, तो ईश्वर इस सृष्टि में अग्नि और सूर्यादि को क्यों रचता? इससे जो तुम सत्यासत्य बातों का निश्चय करना चाहो, तो वेदादि सत्य शास्त्र पढ़ो और सुनो। जिससे यथार्थ ज्ञान पाके, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी फल को प्राप्त हो सको। ऐसा न करके अपने मत के ग्रन्थों के विश्वास में रहोगे, तो यह उत्तम मनुष्य जन्म व्यर्थ ही नष्ट करोगे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि, जीवों को अजर अमर मान कर फिर उनका मरण भी मानते हो। जो तुम खुला मुख रखने में प्रत्यक्ष दोष लिखते हो, तो प्रतीत होता है कि आप प्रत्यक्ष के लक्षणादि विद्या को ही नहीं जानते। इसी से किसी बड़े आदमी से बातें करने में पल्ला लगाना अच्छा समझते हो। जो ऐसा है, तो फिर वैसा क्यों नहीं करते ? क्यों छोटे आदमी के सन्मुख हर वक्त मुख को बांधे रहते हो ? क्या बड़े आदमी का थूंकार छोटे आदमी के लग जाना अच्छा समझते हो ? क्या बड़े आदमी के मुख में कस्तूरी घुली होती है, और छोटे के नहीं ? यदि बड़े छोटों का विचार है, तो अपने चेलों के सन्मुख मुख क्यों बांधते हो ? क्योंकि जब किसी बड़े आदमी से बोला करो, तो बांध लिया करो, सदैव ये व्यर्थ बातें क्यों किया करते हो ?

देखो, इस बात को तुम नहीं जानते। बड़े आदमियों से सम्भाषण करते समय पल्ला लगाने से यह प्रयोजन है कि सभा में कभी-कभी गुप्त वार्ता करनी पड़ती है। यदि मुख खुला रखा जाये अर्थात् कपड़ा न लगावें, तो अन्य मनुष्य जो निकट बैठे होयं, अवश्य सुन लें। जहां कोई तीसरा मनुष्य नहीं होता वहां बातें करने में पल्ला नहीं लगाते। और क्या पल्ला लगाने से दुर्गन्ध रुक सकता है ? इसमें इतना ही प्रयोजन है कि जो वायु के रोक के न बातें करें, तो उसके फैलने के साथ ही शब्द भी फैल जाये और कान में वायु लगने से ठीक-ठीक सुना भी न जाए। जैसा कि वायु के वेग से चलने में ठीक-ठीक सुना नहीं जाता।

देखो, कैसे अंधेर की बात है, क्या दुर्गन्ध को कान ग्रहण कर सकता है ?। किन्तु सुगन्ध दुर्गन्ध का ग्रहण नासिका ही से होता है। इस बात का आपने प्रयोजन ही नहीं समझा है, जैसे गान विद्या न जानने वाला ध्रुपद को समझ नहीं सकता क्योंकि जो तो विद्या की बातें हैं, उनको विद्या से ही समझ सकता है, अविद्वान् नहीं। हम शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को वेद समझते हैं, कागज स्याही को नहीं। और कागज स्याही को (जड़ होने से) सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान वा सम्बन्ध नहीं होता। क्या जो तुम्हारे जैनी लोगों के ग्रन्थ वा पुस्तकों के कागज लाख आदि हैं, उनको बनाने और लाने वालों ने मुख बन्द कर बनाया और लिखा होगा ?

हम खुले मुख से वेदों का पाठ करना अत्युत्तम समझते हैं ? क्योंकि मुख बांधने से स्पष्ट यथार्थ उच्चारण नहीं होता, जैसा कि तुम्हारा सब अक्षरों का नासिका से अशुद्ध उच्चारण होता है । उसका उत्तर हमने पहिले ही लिख दिया था कि निरनुनासिक को मुख बांधकर सदैव सानुनासिक बोलना शुद्ध नहीं, परन्तु इसके समझने को विद्या चाहिये । और जो आप साधु बनते हो, तो साधु के लक्षण क्या है ? और आप स्वार्थी हो वा परमार्थी ? जो परमार्थी हो तो स्वार्थ की इच्छा अर्थात् बेफायदा हम नहीं बोलेते, ऐसा क्यों कहते ? और जो स्वार्थी हो तो साधु क्यों बनते हो ?

जो आपको पक्षपात नहीं होता, तो मुख पर पट्टी बांधने का झूठा आग्रह क्यों करते ? कि विना मुख पर पट्टी बांधने के हम नहीं बोलते । यदि ऐसा नियम था, तो प्रथम ही प्रथम (जंगल में भ्रमण करते समय) हमसे क्यों बोले थे, कि आपका नाम क्या है ? इत्यादि खुले मुख बोले । और अन्य जनों से भी बातें क्यों किया करते हो ? और भोजन समय में (स्वप्रयोजन के लिये) क्यों मुख खोलते हो ? क्या तुम अपने शरीर-पोषण, भोजन-छादन, मल-विसर्गादि कर्म भी मौन सिवाय नहीं समझते होंगे ? यह बात मिथ्या है, क्योंकि जब हम सुनना चाहते थे, तब तो तुम सुनाने को खड़ भी न हुये । और जो तुम कहीं आते जाते नहीं, तो यहां कहां से आ गये ? क्या एक ही ठौर शिलावत् स्थित रहते हो ? भला जिसका रुपया चांदी का हैं, उसको कच्चेपन का क्या भय है ? क्या सबके सामने दिखलाने से ताम्र का हो जाता है ?

क्या तुम वहीं जाते हो जहां तुम्हारी बातें विना समझे बूझे मान लेवें ? हां ठीक है, तुम तो उन्हीं गोबर-गणेशों को सुना सकते हो, जो सुनते ही सत्यार्थ और प्रमाण शब्दों से हल्ला करके तुम को सन्तुष्ट किया करें । चाहे सत्य कहो वा असत्य, मान ही लें, जैसे दिल्ली की मिठाई । न पूछें न शंका करें न झूठ का खण्डन करें । ठीक समझ लिया, जैसे तुम और तुम्हारे सिद्धान्त हैं, मानो बालकों का खेल । जो यह मुख की पट्टी बांधने का सहज उत्तर तुम नहीं दे सकते, तो छोटे से कंद में अनन्त जीवों के होने आदि का उत्तर तुम क्या दोगे ? किन्तु तुम्हारे तीर्थंकरों ने भी इन विद्या की

बातों को नहीं समझा था। जो समझते होते, तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिख जाते ?

सत्य है, जब से तुम लोग वेद-विरोधी होके तदुक्त सत्य मत को छोड़ के कपोल-कल्पित असत्य मत को ग्रहण किया है, तभी से विद्यारूप प्रकाश से पृथक् होकर अविद्यारूप अंधकार में प्रविष्ट हो गये हो। इसी से ईश्वर जीव और पृथिवी आदि तत्वों को यथावत् नहीं जान सकते हो। आओ, अब भी क्यों झूठे पक्षपात करके वेदोक्त सत्य मत को स्वीकार नहीं करते ? और मुख पर पट्टी बांधने आदि विद्या-विरुद्ध कपोल-कल्पित बातों को क्यों नहीं छोड़ते ? और अन्यथा आग्रह करते जाते हो। सत्य है कि, जो तुम लोगों के आत्माओं में वेद विद्या का थोड़ा भी प्रकाश होता, तो ऐसी निर्मूल झूठी बातों को लिखने में लेखनी कभी नहीं चलती।

और जो तुम्हारे सिद्धान्त सत्य होते, तो चर्चा करने में ऐसे झूठे हीले बहाने क्यों पकड़ते ? और ऐसे अशुद्ध लेख में व्यर्थ परिश्रम क्यों करते वा कराते ? अब भी जो सच्चे हो तो सन्मुख आकर थोड़े काल में सत्यासत्य का यथार्थ निश्चय क्यों नहीं कर लेते ? क्योंकि **वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः'**—जो वाद-प्रतिवाद से बात सिद्ध होती है, वही मानने योग्य है। जिस किसी ने मतमतान्तर वालों से पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक वादानुवाद नहीं किया, वह सत्यासत्य को ठीक-ठीक कभी नहीं जान सकता। इसी लिए तुम भी ऐसा क्यों नहीं करते ? परन्तु क्या करो, 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा'।

ह०—दयानन्द सरस्वती

यह उक्त पत्र पूर्वोक्त पुरुष जब लेकर, चले, तो अनुमान ८०० आदमियों के और एकत्र हो गये थे। उन्होंने पहुंचते ही साधु जी को उक्त पत्र पढ़ सुनाया, और निवेदन किया कि अब आप इसका फिर उत्तर दीजिये। परन्तु पाठकगण ! उत्तर देने को तो विद्या चाहिये। न जाने पहले किसकी सहायता से उत्तर लिखा था ? विशेष क्या लिखूं। साधु जी के छक्के छूट गये। अन्त को बहुत इन लोगों ने कहा सुना, तो यही मुख से निकला कि—म्हारे से तो कोई नहीं बने, आपां तो साधु हैं[1]। जब लोगों ने देखा कि जब

---

[1] यह वाक्य मारवाड़ी भाषा का है।

साधु ही ने अपने मुख से हार मान ली, तो अब विशेष कहना उचित नहीं। यह समझ कर 'नमस्ते' कह के चले आये, और सर्व वृत्तान्त रावसाहब और स्वामी जी से निवेदन कर अपने अपने निज स्थानों को चले गये।

ह०—पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली, मसूदा

शास्त्रार्थ-मसूदा (२)

[यह शास्त्रार्थ बाबू बिहारीलाल ईसाई के साथ राव साहब बहादुरसिंह जी मसूदा का श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती की मध्यस्थता में सम्पन्न हुआ।]

इसके पश्चात् सावन सुदी ४ सं० १९३८ को फिर बाबू बिहारी लाल ईसाई नये शहर (ब्यावर) से स्वामीजी से मिलने को आया। थोड़ी देर के पश्चात् बातों ही बातों में धर्म-विषय की चर्चा होने लगी। तिस पर श्रीयुत रावसाहब ने बा० बिहारीलाल से कहा कि—आइये, मेरी और आपकी परस्पर वार्ता होनी उचित है। क्योंकि यदि आप के पादरी साहब आते, तो उनसे स्वामीजी वार्तालाप करते। सो अब न्याययुक्त उचित यही है कि आप पादरी साहब के शिष्य और मैं स्वामीजी का। इस लिये मुझसे और आपसे ही वार्ता होनी अत्युत्तम है, और स्वामीजी हम दोनों के मध्यस्थ रहेंगे। यह बात रावसाहब की बाबू बिहारीलाल ने स्वीकार कर स्वामीजी को मध्यस्थ किया, और इस प्रकार से प्रश्नोत्तर होने लगे—

रावसाहब बहादुरसिंह जी—तुम्हारा ईमान पूरा है वा नहीं?

बाबू बिहारीलाल—हमारा विश्वास प्रभु परमेश्वर पर है।

रा०[1]—तुम्हारा विश्वास पूरा है, वा अधूरा?

बा०[1]—हमारा विश्वास पूरा है।

रा०—जो तुम्हारा पूरा विश्वास है, तो इस पहाड़ को यहां से हटा दो। क्योंकि आप लोगों के नये नियम के पर्व १० आयत २० में मसीह उपदेश करते हैं कि—'अगर तुम लोगों में राई बराबर विश्वास होय तो, इस पहाड़ को उठाय दूर ले जा सकते हो'।

---

[1] बा० से बाबू बिहारीलाल (देशी पादरी) तथा रा० से राव साहब बहादुरसिंह जी मसूदा अभिप्रेत हैं।

बा०—विश्वास दो तरह का है,उनमें से आप कौनसा पूछते हो?

रा० – वे दो विश्वास कौन-कौन से हैं ?

बा०—पहला विश्वास यह है कि—ईश्वर को अपना सरजनहार समझना। दूसरा यह कि—किसी की बड़ाई की तरफ झुक कर विश्वास करना। जैसे एक आदमी ने 'कोसालस' के पास आकर कुछ रुपये नजर किये, और कहा कि—मुझे भी यही ताकत मिले। उसने कहा कि - ताकत ईश्वर की रुपये-पैसे से नहीं मिलती।

रा०—आप चाहे जौन से विश्वास व ईमान से पहाड़ को हटा दो। यदि नहीं हटा सकते, तो आप में राई बराबर भी विश्वास नहीं।

बा०— इस प्रश्न का तात्पर्य हर एक ईसाई पर नहीं लग सकता। इसलिए कि उस वक्त मसीह के शागिर्दगान अपना बड़प्पन पाने के लिये यह अरज की, ताहम भी उनका विश्वास प्रभु पर था। और यह बात उनके बड़प्पन पर थी, और मसीह ने भी उस बड़प्पन पर जवाब दिया। अब मेरा विश्वास, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूं, प्रभु परमेश्वर पर पूरा है कि—वह हमारा पैदा करने वाला और मुक्तिदाता है। और इस बात की अभिलाषा हम नहीं रखते कि हम करामाती हो जायें।

रा०—हर एक ईसाई का विश्वास माननीय एक सा है वा भिन्न-भिन्न ? जो एक सा है, तो सब ईसाइयों में उस विश्वास के राई भर अंश का फल कहने मात्र से पहाड़ का हट जाना क्यों नहीं ? और परमेश्वर पर आपका पूर्ण विश्वास है, तो क्या उस विश्वास में वह सामर्थ्य नहीं है ? और ईसामसीह जिस विश्वास के बल से आश्चर्य कर्म करते थे, वह विश्वास यही आपका है जिसको आप मानते हैं, वा दूसरा? यदि दूसरा अर्थात् भिन्न है,तो ईसामसीह ने आप लोगों से कपट रक्खा,कि किसी को अपना विश्वास न बताया, और जो बताया तो उनमें और आप लोगों में उस विश्वास का फल इस वक्त क्यों नहीं दृष्टि पड़ता ? मुझको तो यह निश्चय होता है कि ईसामसीह में किसी का वह विश्वास पूरा प्राप्त कराने का सामर्थ्य नहीं है। जो होता तो उनके साथ बारह शिष्य प्रत्यक्ष थे। जब उनका ही विश्वास पूरा न करा सका, तो अब आप लोगों का विश्वास पूरा क्यों कर हो सकता है, वा करा सकता है ?

जब ऐसा है, तो तुम लोगों को ईसामसीह मुक्ति आदि भी नहीं दे सकता। जो आप उसके पैदा किये हुए हैं, तो मर भी जायेंगे। क्यों कि जो पैदा होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है। जब नाश हुआ तो जिस पर आप विश्वास कर रहे हैं कि हम को मुक्ति मिलेगी, वह व्यर्थ हो जायेगी। क्योंकि मुक्ति का भोगना नाशधर्म वाला है, तो नित्य-सुख जो आपके मतानुसार है, उसको कौन भोगेगा? जो आप कहें कि—उत्पत्ति तो होती ही है, नाश नहीं होता। यह बात सृष्टिक्रम और विद्या के विरुद्ध है कि जिसकी उत्पत्ति तो होय और नाश न हो।

प्रभु के पूरे विश्वास से बड़प्पन कौर करामात प्राप्त होती है, वा नहीं? जो होती, तो आपको इस पहाड़ का हटा देना अवश्य होगा, और जो नहीं तो परमेश्वर-विश्वास में वैसा बड़प्पन नहीं रहा। तो अब आप बतलाइए कि वह फिर दूसरा विश्वास कौनसा है, कि जिससे बड़प्पन और करामात प्राप्त होती है? क्या परमेश्वर के विश्वास से भी किसी अन्य का विश्वास बड़ा है? और क्या परमेश्वर से भी कोई वस्तु उत्तम है? वा परमेश्वर में करामात है वा नहीं? जो है तो अपने ही विश्वास से वा अन्य के? और उसके विश्वासियों में भी वैसा ही उचित होता है वा अन्य?

जब खुद ईसामसीह ने उनसे कहा कि जो तुम में राई भर ईमान होता, तो इस पहाड़ से कहते कि यहां से चला जा, तो चला जाता। इससे सिद्ध होता है कि उनमें राई भर भी ईमान न था। तो ईमान-रहितों की एकत्र की वा बनाई वा लिखी हुई अंजील भी विश्वास के योग्य कैसे हो सकती है? जो कहो कि—ईसामसीह के मरने के पश्चात् (१२ शागिर्दों का) ईमान दुरुस्त हो गया था. पश्चात् अंजील बनाई। यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जो उसके सामने अर्थात् जिनको ईसामसीह ईमानदार बनाना चाहता और परिश्रम करता था, तो भी नहीं बन सके, तो पश्चात् कैसे बन सकते हैं?

बा०—स्वामी जी महाराज! मैं इसका उत्तर अभी नहीं दे सकता। अब मैं अपने गृह नये शहर (ब्यावर) को जाता हूं। पादरी साहब[1] से पूछ कर उत्तर दूंगा।

---

[1] यूरोपीय पादरी शूलब्रेड से अभिप्राय है।

इतना कह बा० बिहारीलाल ईसाई थोड़ी देर पश्चात् अपने गृह की ओर पधारे, परन्तु उक्त लेख का उत्तर फिर आकर अर्थात् आज की तारीख तक न दिया। **ह०-पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली, मसूदा**

[एक कबीरपन्थी साधु से प्रश्नोत्तर]

एक साधु कबीरपन्थी नये शहर (ब्यावर) से स्वामीजी के पास आया, और परस्पर प्रश्नोत्तर होने लगे। प्रथम स्वामीजी ने कहा कि—आपके मत के कितने ग्रन्थ हैं? साधुजी ने कहा—१४ करोड़ पुस्तक हैं। स्वामीजी ने कहा—यह बात मिथ्या है। कारण, इतने ग्रन्थों की संख्या और रखने को कितनी जगह चाहिये? फिर स्वामीजी ने पूछा कि—तुम्हारे कबीर कौन थे? और जब तुम कबीर-मत में होते हो, तब तुम उनकी प्रसादी और गुरु का उच्छिष्ट भी खाते हो कि नहीं? साधु—उच्छिष्ट खाते हैं। कबीर का जन्म नहीं है, अजन्मा है, मां बाप भी नहीं। स्वामीजी—कबीरजी काशी में कुकर्म से पैदा हुये थे[1], इस कारण उसको मां ने उसे बाहर फेंक दिया था। उसी समय वहां पर (जहां कबीर पड़ा था) एक जुलाहा, जो जाति का मुसलमान था, आ निकला और कबीर को उठाय घर में ले आया और निज पुत्र सा जान उसको पाला, और उसको समर्थवान् किया। अब देखिये कि उसका जन्म भी हुआ और मां बाप भी ठहरे। उस बात को सुन साधु चुप हो रहा और कुछ उत्तर न दिया।

फिर श्रावण सुदी १५ सं० १९३८ को रावसाहब की ओर से सोनमगरी पर बड़ी धूमधाम और उत्साह सहित हवन हुआ, जिसमें ५०० आदमियों के लगभग एकत्र थे। हवन के पश्चात् ब्रह्मभोज भी सत्कार-पूर्वक कराया गया। फिर निम्नलिखित पुरुषों ने प्रणपूर्वक सबके सन्मुख वेदधर्म को स्वीकार किया। फिर उसी समय स्वामीजी से उचित पुरुषों ने यज्ञोपवीत लेने की अभिलाषा प्रकट की। इस कारण श्री स्वामीजी महाराज ने योग्यपुरुषों को यज्ञोपवीत भी दिया। यज्ञोपवीत लेने वाले महानुभावों में निम्नलिखित के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

ठाकुर—१. प्रतापसिंह केलू के २. अखेसिंहजी बेगलियावास के ४. चैनसिंहजी आसीन ४, प्रतापसिंहजी बरवाड़े ५. माधोसिंहजी

---

[1] कबीर के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी की जारज संन्तान थे।

वेगलियावास ६. अदूलसिंह जी किपाय ७. प्रतापसिंह जी मेरता ८. नाहरसिंह जी जामोड़ा ९. उगमसिंह जी किशनगढ़ १०. चतुर सिंह जी गहलोत मसूदा ११. हरिसिंहजी मेरता १२. लखेसिंहजी किपाय १३, गम्भीर जी थावड़ा १४. नामदेव जी जगपुरा २५. बलवन्तसिंह जी किपाय १६. महताब जी थावड़ा वाला।

जैनी—१. राजमल्लजी कोठारी २. किशनजी कोठरी ३. अनन्तजी कोठारी ४. श्योदानजी कोठारी ५. हीरालालजी तातेड़ ६. कजोड़जी चोरड़िया ७. छगनजी बोहरा ८. पानजी कोठारी ९. अमरसिंह जी कोठारी १०. बल्लभजी ११. राजजी मेहता १२. ऋषभदासजी वापना १३. हंसराजजी कोठारी १४. बालकिशन जी मेहता १५. किशनजी कोठारी १६. श्योदानजी मेहता १७. श्योबागजी कोठारी १८. रामचन्द्रजी अग्रवाल १९. ओनाडजी पिरोहित २०. लालजी पिरोहित लोढ़ाने का २१. बालकिशनजी मेहता २२. औतारजी सोकला २३. कल्याणसिंहजी कोठारी २४. जसवन्तसिंहजी कोठारी २५. किसनाजी २६. छगनजी कोठारी २७. कजोड़ीमल्लजी नार २८. गोपालजी धूत।

अन्य—१. चंपालालजी कायस्थ २. छुट्टनलालजी कायस्थ ३. कल्लूजी चारण ४. रामदयालजी ब्राह्मण ५. श्योबख्शजी आदि।

उपसंहार—इसी प्रकार यहां आनन्द मंगल होते रहे। इसी अवसर में रायपुर के ठाकुर का निमंत्रणपत्र स्वामीजी के पास आया। इस कारण श्रीमद् आर्यकुलभूषण दिग्विजयी श्री स्वामीजी महाराज ने रायपुर जाने का विचार ठाना। तब श्री रावसाहबजी ने श्री स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज! आप का एक व्याख्यान महलों में हो जाए, तो अति उत्तम है। इस बात को श्रीस्वामीजी ने स्वीकार किया और भाद्र बदी ८ को महाराज का व्याख्यान राजनीति विषय में महलों में हुआ। तहां बड़ा आनन्द रहा। व्याख्यान के पश्चात् श्री रावसाहब ने ५०० रु० वेद-भाष्य की सहायता में स्वामी जी की भेंट किये।

मसूदा संवत् १९३८ वि० ह०—पं० वृद्धिचन्द श्रीमाली।

८. शास्त्रार्थ उदयपुर

सम्पादकीय

महर्षि के उदयपुर निवास के समय मौलवी अब्दुल रहमान सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस तथा जज अदालत उदयपुर के साथ स्वामीजी का यह शास्त्रार्थ हुआ शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुआ था। **शास्त्रार्थ के विषय तथा तिथियां निम्नलिखित थीं—**

११ सितम्बर १८८२, सोमवार। विषयः—इलहामी पुस्तक कौन सी है? संसार के सब मनुष्य एक ही जाति के हैं वा कई जातियों के? मनुष्य की उत्पत्ति कब से है और अन्त कब होगा?

१३ सितम्बर, १८८२, बुधवार। विषयः—वेद किसकी रचना है? पुराण, मत की पुस्तक हैं या विद्या की?

१७ सितम्बर १८८२, रविवार। विषयः—वेद में अन्य धर्मों की पुस्तकों से क्या विशेषता है?

उपर्युक्त शास्त्रार्थ का उल्लेख ऋषि के भाद्रपद शुदि (?) सं० १९३९ के पत्र में भी मिलता है। पत्र में लिखा है—"यहां श्री महाराणा जी प्रतिदिन मिलते हैं और समागम करते हैं। और एक मौलवी से प्रश्नोत्तर प्रतिदिन होते हैं, और वे लिखे भी जाते हैं, सो तुम्हारे पास भेजेंगे"।

यह शास्त्रार्थ पं० लेखराम द्वारा संग्रहीत ऋषि के जीवन-चरित में अक्षरशः प्रकाशित हुआ है। उसके प्रारम्भ में लेखरामजी ने निम्न टिप्पणी लिखी है:—

["मुबाहिसा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और मौलवी अब्दुल रहमान सुपरिन्टेन्डेन्ट व जज अदालत उदयपुर, मुल्क मेवाड़।]

पं० ब्रजनाथ जी हाकिम सायर, मुल्क मेवाड़ (जो उस वक्त इस मुबाहिसा के लिखने वाले थे) ने बयान किया कि मैं उस वक्त स्वामी जी के दरमियान मुतर्जम (अनुवादक) भी था। अरबी के दकीक (क्लिष्ट) अल्फाजों का तर्जुमा स्वामी जी को और संस्कृत के दकीक अल्फाज का तर्जुमा मौलवी जी को बता दिया करता था। यह मुबाहिसा मैंने उस वक्त अपने हाथ से लिखा, जिसकी दो असल कापी मेरे पास पंसिल से लिखी हुई अभी तक मौजूद हैं।

तीन आदमी इस मुबाहिसा के लिखने वाले थे । एक पं० ब्रजनाथ जी हाकिम सायर, दूसरे मिर्जा मोहम्मद खां वकील, हाल मेम्बर कौंसिल टोंक, तीसरे मुंशी रामनारायण जी सरिश्तेदार बागे कलां सरकारी, जिनमें से पहले और तीसरे साहिबान की असल कापियां हमको मिली हैं, और जिनकी मौलवी साहब ने भी तस्दीक की। मगर उनकी दानाई और ईमानदारी पर अफसोस है। उस वक्त तो कोई माकूल जवाव न बन आया और न बाजे अर्जा, दिसम्बर १८८९ में बेबुनियाद और झूठे हवाले से कुछ का कुछ असल तहरीर के खिलाफ शाया करके अपनी दीन दारी का शवोफां दिखलाया। इस मुबाहिसा के रोज सामईन हिन्दू मुसलमान खास आम की बहुत कसरत थी। यहां तक कि श्री दरबार वैकुण्ठवासी महाराज सज्जनसिंह जी भी मुबाहिसा समाअत फर्माने को तशरीफ फर्मा हुये थे।''

इस टिप्पणी के पश्चात् पं० लेखराम संग्रहीत जीवन-चरित में शास्त्रार्थ का पाठ प्रकाशित हुआ है, और अन्त में एक नोट इस प्रकार पुन: लिखा गया है—

“पण्ड्या मोहनलाल जी ने कहा कि मौलवी साहब के मुबाहिसा के अव्वल रोज तो राणासाहब नहीं आये थे,मगर उन्होंने मुबाहिसा तहरीरी होना मंजूर फरमाया था। आखिर रोज श्री हजूर तशरीफ लाये थे, और मौलवी साहब की जिद्द देखकर दरबार ने इर्शाद फरमाया कि जो कुछ स्वामीजी ने कहा है वह बेशक ठीक है। फिर मुबाहिसा नहीं हुआ। कविराज श्यामलदास जी ने भी इसकी ताईद की”

पं० लेखराम संगृहीत् जीवन-चरित में उद्धृत होने के अतिरिक्त यह शास्त्रार्थं अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुआ है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वसंगृहीत जीवन-चरित में इसका संक्षेप में उल्लेख किया है। यहां ‘दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह’ (कविराज रघुनन्दन सिंह निर्मल सम्पादित) से यह **शास्त्रार्थ-उदयपुर उद्धृत** किया जाता है।

२५

शास्त्रार्थ-उदयपुर

स्वामी दयानन्द जी महाराज और मौलवी अब्दुर्रहमान साहब सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस तथा न्यायाधीश न्यायालय उदयपुर, मेवाड़ देश के मध्य में होने वाला शास्त्रार्थ]

११ सितम्बर १८८२, भादों बदी चौदस, सं० १९३९ सोमवार।

प्रथम प्रश्न—

मौलवी साहब:—ऐसा कौन सा मत है, जिसकी मूल पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और समस्त प्राकृतिक बातों को सिद्ध करने में पूर्ण हो? जब बड़े-बड़े मतों पर विचार किया जाता है, जैसे भारतीय वेद, पुराण, या चीन वाले चीनी, जापानी, बर्मी बौद्ध वाले, फार्सी जिन्द [अवेस्ता] वाले, यहूदी तौरेत वाले, नसरानी इन्जील वाले, मौहम्मदी कुरान वाले, तो प्रकट होता है कि उनके धार्मिक नियम और मूल विशेष एक देश में एक भाषा के द्वारा एक प्रकार से ऐसे बनाये गये है, जो एक दूसरे से नहीं मिलते। और इन मतों में से प्रत्येक मत के समस्त गुण और विशेष चमत्कार उसी देश तक सीमित हैं, जहां वह बना है। जिनमें से कोई एक लक्षण तथा चिह्न उसी देश के अतिरिक्त दूसरे देश में नहीं पाया जाता, प्रत्युत दूसरे देश वाले अनभिज्ञता के कारण उसे बुरा जानकर उसके प्रति मानवी व्यवहार तो क्या उसका मुख तक देखना नहीं चाहते। ऐसी दशा में सब मतों में से कौन-सा मत सत्य समझना चाहिये?

स्वामी जी:—मतों की पुस्तकों में से विश्वास के योग्य एक भी नहीं, क्योंकि [वे सब] पक्षपात से पूर्ण हैं। जो विद्या की पुस्तक पक्षपात से रहित है, वह मेरे विचार में सत्य है। और ऐसी पुस्तक का साधारण प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध न होना भी आवश्यक है। मैंने जो खोज की है, उसके अनुसार वेदों के अतिरिक्त कोई पुस्तक ऐसी नहीं है जो विश्वास के योग्य हो। क्योंकि समस्त पुस्तकें किसी न किसी देश विशेष की भाषा में हैं, और वेद की भाषा किसी देश की विशेष भाषा नहीं, केवल विद्या की भाषा है। क्योंकि यह विद्या की पुस्तक है, इसी कारण से किसी मत विशेष

से सम्बन्ध नहीं रखती । यही पुस्तक समस्त देशीय भाषाओं का मूल कारण है[1], और पूर्ण होने से प्रसिद्ध भलाइयों तथा निषिद्ध बुराइयों की परिचायक है, और समस्त प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है ।

मौलवी:—क्या वेद मत की पुस्तक नहीं है ?

स्वामी:—वेद मत की पुस्तक नहीं है,प्रत्यूत विद्या की पुस्तक है ।

मौलवी:—मत का आप क्या अर्थ करते हैं ?

स्वामी:—पक्षपात सहित को मत कहते हैं, इसी कारण से मत की पुस्तक सर्वथा मान्य नहीं हो सकती ।

मौलवी:—हमारे पूछने का अभिप्राय यह है कि समस्त मनुष्यों की भाषाओं पर तथा समस्त मनुष्यों के आचार पर, और समस्त प्राकृतिक नियमों पर कौन-सी पुस्तक पूर्ण है ? सो आपने वेद निश्चित किया । सो वेद इस योग्य है वा नहीं ।

स्वामी:—हां है ।

मौलवी: आपने कहा कि वेद किसी देश की भाषा में नहीं । जो किसी देश की भाषा नहीं होती, उसके अन्तर्गत समस्त भाषायें कैसे हो सकती हैं ?

स्वामी:—जो किसी देश विशेष की भाषा होती है, वह किसी दूसरी देश-भाषा में व्यापक नहीं हो सकती । क्योंकि उसी में बद्ध (सीमित) है ।

मौलवी:—जब एक देश की भाषा होने से वह दूसरे देश में नहीं मिलती, तो जब वह किसी देश की है ही नहीं, तो सब में व्यापक कैसे हो सकती है ?

स्वामी:—जो एक देश की भाषा है, उसका व्यापक कहना सर्वथा विरुद्ध है । और जो किसी देश विशेष की भाषा नहीं वह सब भाषाओं में व्यापक है, जैसे आकाश किसी देश विशेष का नहीं है, इसी से सब देशों में व्यापक है । ऐसे ही वेद की भाषा भी किसी देश विशेष से सम्बन्ध न रखने से व्यापक है ।

मौलवी:—यह भाषा किसकी है ?

---

[1] यही बात सत्यार्थप्रकाश और पूना-प्रवचन में भी कही है ।

स्वामी:—विद्या की।

मौलवी:—बोलने वाला इसका कौन है ?

स्वामीः—इसका बोलने वाला सर्वदेशी है।

मौलवी:—तो वह कौन है ?

स्वामीः—वह परब्रह्म है।

मौलवी:—यह किसको सम्बोधन की गई है ?

स्वामी:—आदि सृष्टि में इसके सुनने वाले चार ऋषि थे, जिनका नाम अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा था। इन चारों ने ईश्वर से शिक्षा प्राप्त करके दूसरों को सुनाया।

मौलवीः—इन चारों को ही विशेष रूप से क्यों सुनाया।

स्वामी:—वह चार ही सब में पुण्यात्मा और उत्तम थे ?

मौलवी:—क्या इस बोली को वह जानते थे ?

स्वामी—उस जनाने वाले ने उसी समय उनको भाषा भी जना दी थी, अर्थात् उस शिक्षक ने उसी समय उनको भाषा का ज्ञान दे दिया।

मौलवीः—इसको आप किन युक्तियों से सिद्ध कर सकते हैं ?

स्वामीः—विना कारण के कार्य कोई नहीं हो सकता।

मौलवी:—विना कारण के कार्य होता है या नहीं ?

स्वामी:—नहीं।

मौलवीः—इस बात की क्या साक्षी है ?

स्वामी:—ब्रह्मादिक अनेक ऋषियों की साक्षी है, और उनके ग्रन्थ भी विद्यमान हैं।

मौलवीः—यह साक्षी सन्देहात्मक और बुद्धि-विरुद्ध है। कारण कथन कीजिये।

स्वामीः—वेद की साक्षी स्वयं वेद से प्रकट है।

मौलवीः—इसी प्रकार सब मतवाले भी अपनी-अपनी पुस्तकों में कहते हैं।

स्वामीः—ऐसी बात दूसरे मतवालों की पुस्तकों में नहीं हैं, और न वह सिद्ध कर सकते हैं।

मौलवीः—पुस्तक वाले सभी सिद्ध कर सकते हैं।

स्वामी:—मैं पहले से कह चुका हूं कि मतवाले ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते, और यदि कर सकते हैं तो बताईये कि मोहम्मद साहब के पास कुरान कैसे पहुंचा ?

मौलवी:— जैसे चारों ऋषियों के पास आया।

नोट:—खेद है कि मौलवी साहब ने विना सोचे समझे ऐसा कह दिया। यह किसी प्रकार ठीक नहीं। न तो कुरान आदि सृष्टि में मोहम्मद साहब की आत्मा में प्रकाशित हुआ और न उसमें वर्णित कहानियां ही ऐसी हैं, जो आदि सृष्टि से सम्बन्धित हों, और न उसकी भाषा ही ऐसी है। मोहम्मद साहब और खुदा के मध्य में तीसरा जिबराइल और असंख्य फरिश्तों की चौकीदारी और पहरा और आकाश से उतरना आदि समस्त बातें ऐसी हैं जिनसे कोई मौहम्मदी भाई इन्कार नहीं कर सकता। इस लिये कुरान किसी प्रकार भी इस विशेषण का पात्र नहीं हो सकता, और उस्मान और कुरानों के बदलने की कहानी इसके अतिरिक्त है। **—सम्पादक**]

दूसरा प्रश्न—

मौलवी:—समस्त संसार के मनुष्य एक जाति के हैं, अथवा कई जातियों के ?

स्वामी:— जुदी-जुदी जातियों के हैं।

मौलवी:— किस युक्ति से ?

स्वामी:— सृष्टि के आदि में ईश्वरीय सृष्टि में उतने जीव मनुष्य-शरीर धारण करते हैं कि जितने गर्भ सृष्टि में शरीर धारण करने के योग्य होते हैं, और वह जीव असंख्य होने से अनेक हैं।

मौलवी:- इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है ?

स्वामी:—अब भी सब ही अनेक मां-बाप के पुत्र हैं।

मौलवी:—इसके विश्वसनीय प्रमाण कहिए।

स्वामी:— प्रत्यक्षादि आठों प्रमाण।

मौलवी:—वह कौन से हैं ?

स्वामी:—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, अभाव।

मौलवी:—इन आठों में से एक-एक का उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए। **[इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। कारण अज्ञात है]**

मौलवी:—यह जो आकार मनुष्यों के हैं, इनके शरीर एक प्रकार के बने अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के बने ?

स्वामी:—मुख आदियों में एक से हैं, रंगों में कुछ भेद हैं।

मौलवी:—किस-किस के रंग में क्या-क्या भेद है ?

स्वामी:—छोटाई-बड़ाई में किंचिन्मात्र अन्तर है।

मौलवी:—यह अन्तर एक देश अथवा एक जाति में एक ही प्रकार के हैं, अथवा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं ?

स्वामी:—एक-एक देश में अनेक हैं। जैसे एक मां-बाप के पुत्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

मौलवी:—हम जब संसार की अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं, तो आपके कथनानुसार नहीं पाते। एक ही देश में कई जातियां जैसे हिन्दी, हब्शी, चीनी इत्यादि देखने में पृथक्-पृथक् विदित होती हैं—अर्थात् चीन वाले दाढ़ी नहीं रखते और तिकौने मुंह के होते हैं। हब्शी, मलन्गई, चीनी तीनों की आकृतियां परस्पर नहीं मिलती। एक ही देश में यह भेद क्योंकर है ?

स्वामी:—उनमें भी अन्तर है।

मौलवी:—दाढ़ी न निकलने का क्या कारण है ?

स्वामी:—देश काल और मां बाप आदि के शरीरों में कुछ-कुछ भेद है। समस्त शरीर रज वीर्य्य के अनुसार बनते हैं। वात, पित्त, कफ आदि धातुओं के संयोग वियोग से भी कुछ-कुछ भेद होते हैं।

मौलवी:—हम समस्त संसार में तीन प्रकार के मनुष्य देखते हैं। जिनका विभाजन इस प्रकार है—दाढ़ी वाले, विना दाढ़ी के, घूंघरू बाल वाले। दाढ़ी वाले भारतीय, फिरंगी, अर्बी, मिश्री आदि। बेदाढ़ी वाले चीनी, जापानी, कैमिस्टका के। घूंघरू बाल वाले हब्शी। इन तीनों की बनावट और प्रकार में बहुत सा भेद है। एक दूसरे से नहीं मिलता। और यह भेद आपके कथन अनुसार ऊपर वाले कारणों से है। यदि एक देश में रहने वाले यह तीनों प्रकार के मनुष्य दूसरे देश में जाकर रहें तो कभी भेद नहीं होता, जाति समान है। इस अवस्था में संसार के मूलरूप आपके कथनानुसार तीन हुये—अधिक नहीं।

स्वामी:—भोटियों को किसमें मिलाते हैं। वह किसी से नहीं मिलते। इस प्रकार तीन से अधिक जाति विदित होती है।

मौलवी:—जैसा भेद इन तीनों में है वैसा दूसरे में नहीं। तीनों जातियों का परस्पर मिल जाना इस थोड़े भेद का कारण है परन्तु इन तीनों की आकृति एक दूसरे से नहीं मिलती।

तीसरा प्रश्न—

मौलवी:—मनुष्य की उत्पत्ति कब से है, और अन्त कब होगा?

स्वामी:—एक अरब छियानवे करोड़ और कितने लाख वर्ष उत्पत्ति को हुये, और दो अरब वर्ष से कुछ ऊपर तक रहेगी।

मौलवी:—इसका क्या कारण और प्रमाण है?

स्वामी:—इस का हिसाब विद्या और ज्योतिष शास्त्र से है।

मौलवी:—वह हिसाब बतलाइये?

स्वामी:—भूमिका[1] के पहले अंक में लिखा है, और हमारे ज्योतिष-शास्त्र से सिद्ध हैं, देख लो।

[१३ सितम्बर १८८२, बुधवार, भादों सुदी एकम १९३९]

चौथा प्रश्न—

मौलवी:—आप धर्म के नेता हैं या विद्या के अर्थात् आप किसी धर्म के मानने वाले हैं, या नहीं?

स्वामीजी:—जो धर्म विद्या से सिद्ध होता है, उसको मानते हैं।

मौलवी:—आपने किस प्रकार जाना कि ब्रह्म ने चारों ऋषियों को वेद पढ़ाया?

स्वामी:—प्रदान किये गये वेदों के पढ़ने से और विश्वसनीय विद्वानों की साक्षी से।

मौलवी:—यह साक्षी आप तक किस प्रकार पहुंची?

---

[1] अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क में। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण मासिक अंकों के रूप में छपा था। सम्पा०

स्वामी:—शब्दानुक्रम से और उनके ग्रन्थों से।

मौलवी:—प्रश्नों से पूर्व परसों यह निश्चित हुआ था कि उत्तर बुद्धि के आधार पर दिए जायेंगे, पुस्तकों के आधार पर नहीं। अब आप उसके विरुद्ध ग्रन्थों को साक्षी देते हैं।

स्वामी:—बुद्धि के अनुकूल वह है जो विद्या से सिद्ध हो, चाहे वह लिखित हो अथवा वाणी द्वारा कहा जावे। समस्त बुद्धिमान् इसको मानते हैं, और आप भी।

मौलवी:—इस कथन के अनुसार ब्रह्म का चारों ऋषियों को वेद की शिक्षा देना, विद्या अथवा बुद्धि द्वारा किस प्रकार सिद्ध होता है?

स्वामी:—विना कारण के कार्य नहीं हो सकता, इसलिये विद्या का भी कोई कारण चाहिये? और विद्या का कारण वह है कि जो सनातन हो। यह सनातन विद्या परमेश्वर में उसकी कारीगरी को देखने से सिद्ध होती है। जिस प्रकार वह समस्त सृष्टि का निमित्त कारण है, उसी प्रकार उसकी विद्या भी समस्त मनुष्यों की विद्या का कारण है। यदि वह उन ऋषियों को शिक्षा न देता, तो सृष्टि नियम के अनुकूल यह जो विद्या की पुस्तक है—इसका क्रम ही न चलता।

मौलवी:—ब्रह्म ने वेद चारों ऋषियों को पृथक्-पृथक् पढ़ाया अथवा एक साथ क्रमशः शिक्षा दी अथवा एक काल में पढ़ाया?

स्वामी:—ब्रह्म व्यापक होने के कारण चारों को पृथक्-पृथक् और क्रमशः पढ़ाता गया, क्योंकि वह चारों परिमित बुद्धि वाले होने के कारण एक ही समय में कई विद्याओं को नहीं सीख सकते थे। और प्रत्येक की बुद्धि-प्राप्ति की शक्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण कभी चारों एक समय में और कभी पृथक्-पृथक् समझ कर एक साथ पढ़ते रहे। जिस प्रकार चारों वेद पृथक्-पृथक् हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को एक-एक वेद पढ़ाया।

मौलवी:—शिक्षा देने में कितना समय लगा?

स्वामी:—जितना समय उनकी बुद्धि की दृढ़ता के लिये आवश्यक था[1]।

---

[1] पूना-प्रवचन पृष्ठ ६० में 'पांच वर्ष' का संकेत है। सम्पा०

मौलवी:—पढ़ाना मानसिक प्रेरणा के द्वारा था अथवा शब्द अक्षर आदि के द्वारा, जो वेद में लिखे हुए हैं, अर्थात् क्या शब्द अर्थ सम्बन्ध सहित पढ़ाया ?

स्वामी:—वही अक्षर जो वेद में लिखे हुए हैं, शब्दार्थ सम्बन्ध सहित पढ़ाए गये।

मौलवी:—शब्द बोलने के लिए मुख, जिह्वादि साधनों की अपेक्षा है। शिक्षा देने वाले में यह साधन हैं या नहीं ?

स्वामी:—उसमें यह साधन नहीं हैं, क्योंकि वह निराकार है। शिक्षा देने के लिये परमेश्वर अवयवों तथा बोलने के साधनादि से रहित है।

मौलवी:—शब्द कैसे बोला गया ?

स्वामी:—जैसे आत्मा और मन में बोला सुना और समझा जाता है।

मौलवी:—भाषा को जाने विना शब्द किस प्रकार उनके मन में आये ?

स्वामी:– ईश्वर के डालने से, क्योंकि वह सर्वव्यापक है।

मौलवी:—इस सारे वार्तालाप में दो बातें बुद्धि के विरुद्ध हैं। प्रथम यह कि ब्रह्म ने केवल चार ही मनुष्यों को उस भाषा में वेद की शिक्षा दी, जो किसी देश अथवा जाति की भाषा नहीं। दूसरे यह कि उच्चारित शब्द जो पहले से जाने हुए न थे।—दिल में डाले गए और उन्होंने ठीक समझे। यदि यह स्वीकार किया जावे, तो फिर समस्त बुद्धि विरुद्ध बातें जैसे चमत्कार आदि सब मतों के सत्य स्वीकार करने चाहियें !

स्वामी:—यह दोनों बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं, क्योंकि यह दोनों ही सच्ची हैं। जो कुछ जिह्वा से अथवा आत्मा से बताया जावे, वह शब्दों के विना नहीं हो सकता। उसने जब शब्द बतलाये तो उनमें ग्रहण करने की शक्ति थी। उसके द्वारा उन्होंने परमेश्वर के ग्रहण कराने से अपनी योग्यतानुसार ग्रहण किया। और बोलने के साधनों की आवश्यकता बोलने और सुनने वाले के अलग (=दूर) अलग होने पर होती है, क्योंकि जो वक्ता मुख से न कहे और श्रोता के कान न हों,

तो न कोई शिक्षा कर सकता है और न कोई श्रवण। परमेश्वर चूंकि सर्वव्यापक है, इसलिए उनके आत्मा में भी विद्यमान था, पृथक् न था।[1]

परमेश्वर ने अपनी सनातन विद्या के शब्दों को उनके अर्थात् चारों के आत्माओं में प्रकट किया और सिखाया। जैसे किसी अन्य देश की भाषा का ज्ञाता किसी अन्य देश के अनभिज्ञ मनुष्य को जिसने उस भाषा का कोई शब्द नहीं सुना—सिखा देता है, उसी प्रकार परमेश्वर ने जिसकी विद्या व्यापक है, और जो उस विद्या की भाषा को भी जानता था -उनको सिखा दिया। यह बातें बुद्धिविरुद्ध नहीं। जो इनको बुद्धिविरुद्ध करे वह अपने दावे को युक्तियों द्वारा सिद्ध करे। पुराण जो पुरानी पुस्तकें हैं अर्थात् वेद के चार ब्राह्मण हैं-वह वहीं तक सत्य हैं जहां तक वेद के विरुद्ध न हों। और जो अठारह पुराण नवीन हैं जैसे भागवत, पद्मपुराणादि वह प्राकृतिक नियमों और विद्या के विरुद्ध होने से सत्य नहीं, नितान्त झूठे हैं।

मौलवी:—पुराण मत की पुस्तकें हैं या विद्या की ?

स्वामी:—वह प्राचीन पुस्तकें अर्थात् चारों ब्राह्मण विद्या की और पिछली भागवतादि पुराण मत की पुस्तकें हैं, जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ।

मौलवी:—जब वेद विद्या की पुस्तक है और पुराण मत की पुस्तकें हैं, और आपके कथनानुसार असत्य हैं, तो आर्यों का धर्म क्या है ?

स्वामी:—धर्म वह है जिसमें निष्पक्षता, न्याय और सत्य का स्वीकार और असत्य का अस्वीकार हो। वेदों में भी उसी का वर्णन है, और वही आर्यों का प्राचीन धर्म है। और पुराण केवल पक्षपातपूर्ण सम्प्रदायों अर्थात् शैव, वैष्णवादि से सम्बन्धित है, जैसे कि अन्य मत के ग्रन्थ।

मौलवी:—पक्षपात आप किसको कहते हैं ?

स्वामी:—जो अविद्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कुसंग से किसी अपने स्वार्थ के लिए न्याय और सत्य को छोड़कर असत्य और अन्याय को धारण करना है—वह 'पक्षपात' कहलाता है।

मौलवी:—यदि कोई इन गुणों से रहित हो, आर्य्य न हो, तो

---

[1] इस विषय में पृष्ठ २४० पर टिप्पणी देखें।

आर्य्य लोग उसके साथ भोजन और विवाहादि व्यवहार करेंगे या नहीं ?

स्वामी:—विद्वान् पुरुष भोजन तथा विवाह को धर्म अथवा धर्म से सम्बन्धित नहीं मानते, प्रत्युत इसका सम्बन्ध विशेष रीतियों, देश तथा समीपस्थ वर्गों से है। इसके ग्रहण अथवा त्याग से धर्म की उन्नति अथवा हानि नहीं होती, परन्तु किसी देश अथवा वर्ग में रहकर किसी अन्य मत वाले के साथ इन दोनों कार्य्यों में सम्मिलित होना हानिकारक है, इसलिए करना अनुचित है।

जो लोग भोजन तथा विवाहादि पर ही धर्म अथवा अधर्म का आधार समझते हैं, उनका सुधार करना विद्वानों को आवश्यक है। और यदि कोई विद्वान् उनसे पृथक् हो जावे, तो वर्ग को उससे घृणा होगी और यह घृणा उसको शिक्षा का लाभ उठाने से वंचित रखेगी। सब विद्याओं का निष्कर्ष यह है कि दूसरों को लाभ पहुंचाना। और दूसरों को हानि पहुंचाना उचित नहीं।

(रविवार १७ सितम्बर १८८२; भादों सुदी पंचमी सं० १९३९)।

पांचवां प्रश्न—

मौलवी:—समस्त धर्म वाले अपनी धार्मिक पुस्तकों को सबसे उत्तम और उनकी भाषा को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, और उसको उस कारण का कार्य भी कहते हैं। जिस प्रकार की बौद्धिक युक्तियां वह देते हैं, उसी प्रकार आपने भी वेद के विषय में कहा। कोई प्रमाण प्रकट न किया, फिर वेद में क्या विशेषता है ?

स्वामी:—पहले भी इसका उत्तर दे दिया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध विषय जिन पुस्तकों में होंगे, वह सर्वज्ञ की बनाई हुई नहीं हो सकतीं। और कार्य का होना कारण के बिना असम्भव है। चार मत जो कि समस्त मतों का मूल हैं, अर्थात् पुराणी, जैनी, इंजील तौरेत वाले किरानी, कुरानी—इनकी पुस्तकें मैंने कुछ देखी हैं और इस समय भी मेरे पास हैं। और मैं इनके बारे में कुछ कह भी सकता हूं, और पुस्तक भी दिखा सकता हूं। उदाहरणार्थः—पुराण वाले एक शरीर से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं—यह अशुद्ध है, क्योंकि शरीर संयोगज है, इसलिए वह कार्य है, उसके लिए कर्ता की अपेक्षा है।

जिन्होंने इस कार्य को इस प्रकार सनातन माना है कि कोई इसका रचयिता नहीं, वह भी अशुद्ध है, क्योंकि संयोगज पदार्थ स्वयं नहीं बनता। इंजील और कुरान में अभाव से भाव माना है। यह चारों बातें उदाहरणार्थ विद्या के नियमों के विरुद्ध हैं, इसलिए इनकी वेद से समता नहीं कर सकते। वेदों में कारण से कार्य को माना है, और कारण को अनादि कहा है। कार्य को प्रवाह से अनादि और संयोगज होने के कारण सान्त बताया है। इसको समस्त बुद्धिमान् मानते हैं। मैं सत्य और असत्य वचनों के कारण वेद की सत्यता और मतस्थ पुस्तकों की असत्यता कथन करता हूं।

यदि कोई सज्जन इसको प्रकट रूप में देखना चाहें तो, मैं किसी दिन तीन घंटे के भीतर उन मतों की पुस्तकों को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध सिद्ध करके दिखा सकता हूं। यदि कोई नास्तिक वेद में से प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई बात दिखायेगा, तो उसको विचार करने के पश्चात् केवल अपनी अज्ञानता ही स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं, न कि किसी मत विशेष की।

छठा प्रश्न—

मौलवी:—क्या प्रकृति अनादि है?

स्वामी:—उपादान कारण अनादि है।

मौलवी:—अनादि आप कितने पदार्थों को मानते हैं?

स्वामी:—तीन—परमात्मा, जीव और सृष्टि का कारण यह तीनों स्वभाव से अनादि हैं। इनका संयोग, वियोग, कर्म तथा उन का फल भोग प्रवाह से अनादि है। कारण का उदाहरण:—जैसे घड़ा कार्य, उसका उपादान कारण मिट्टी, बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण कुम्हार; चक्र दंडादि साधारण कारण, काल तथा आकाश समवाय कारण।

मौलवी:—वह वस्तु जिसको हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, हम उसको अनादि क्यों कर मान सकते हैं?

स्वामी:—जो वस्तु नहीं है, वह कभी नहीं हो सकती, और जो है वही होती है। जैसे इस सभा के मनुष्य जो थे तो यहां आये।

यहां हैं तो फिर कहीं होंगे। विना कारण के कार्य का मानना ऐसा है, जैसे वन्ध्या के पुत्र उत्पन्न होने की बात कहना। कार्य वस्तु से चारों कारण, जिनका ऊपर वर्णन किया है, पहले मानने पड़ेंगे। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसके पूर्वकथित चार कारण न हों।

मौलवी:—सम्भव है कि जगत् का कारण, जिसे आप अनादि कहते हैं, कदाचित् वह भी किसी अन्य वस्तु का कार्य हो। जैसे कि बिजली के बनने में कई साधारण वस्तुयें मिलकर ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो अत्यन्त महान् है। इस वार्तालाप के परिणाम से प्रकट है कि प्रत्येक वस्तु के लिए कोई कारण चाहिए। तो कारण के लिए भी कोई कारण अवश्य होगा।

स्वामी:—अनादि कारण उसका नाम है, जो किसी का कार्य न हो। जो किसी का कार्य हो उसको अनादि अथवा सनातन कारण नहीं कह सकते, किन्तु वह परम्परा और पूर्वापर सम्बन्ध से कार्य कारण नाम वाला होता है। यह बात सब विद्वानों को जो पदार्थ विद्या को यथावत् जानते हैं, स्वीकरणीय है। किसी वस्तु को चाहे जहां तक अवस्थान्तर में विभक्त करते चले जावें, चाहे वे सूक्ष्म हों चाहे स्थूल, जो उसकी अन्तिम अवस्था होगी–उसको कारण कहते हैं। और यह जो बिजली का दृष्टान्त दिया—वह भी निश्चित कारणों से होता है, जो उसके लिए आवश्यक हैं। अन्य कारणों से वह नहीं हो सकती।

सातवां प्रश्न—

मौलवी:–यदि वेद ईश्वर का बनाया होता, तो अन्य प्राकृतिक पदार्थों सूर्य, जल तथा वायु के समान संसार के समस्त साधारण मनुष्यों को उसका लाभ पहुंचना चाहिए था?

स्वामी:-सूर्यादि सृष्टि के समान ही वेदों से सब को लाभ पहुंचता है, क्योंकि सब मतों और विद्या की पुस्तकों का आदिकारण वेद ही हैं। और इन पुस्तकों में विद्या के विरुद्ध जो बातें है, वह अविद्या के सम्बन्ध से हैं। क्योंकि यह सब पुस्तकें वेद के पीछे बनी हैं। वेद के अनादि होने का प्रमाण यह है कि अन्य प्रत्येक मत की पुस्तक में वेद की बात गौण अथवा प्रत्यक्ष रूप से पाई

जाती है, और वेदों में किसी का खण्डन मण्डन नहीं। जैसे सृष्टि विद्या वाले सूर्यादि से अधिक उपकार लेते हैं, वैसे ही वेद के पढ़ने वाले भी वेद से अधिक उपकार लेते हैं, और नहीं पढ़ने वाले कम।

मौलवी:—कोई इस दावे को स्वीकार नहीं करता कि किसी काल में वेद को समस्त मनुष्यों ने माना हो। और न किसी मत की पुस्तक में प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से वेदों का खंडन मंडन पाया जाता है।

स्वामी:—वेद का खण्डन मण्डन पुस्तकों में है, जैसे कुरान में बेकिताब वाले और एक ऊती ईश्वर के मानने वाले, जैसे बाइबिल में पिता पुत्र और पवित्रात्मा, होम की भेंट, ईश्वर को प्रिय, याजक, महायाजक, यज्ञ, महायज्ञ आदि शब्द आते हैं। जितने मतों के पुस्तक बने हुए हैं, बीच के काल के हैं। उस समय के इतिहास से सिद्ध है कि मुसलमान, ईसाई आदि जंगली थे, तो जंगलियों को विद्या से क्या काम?

पूर्व के विद्वान् पुरुष वेदों को मानते थे, और वर्तमान समय में शब्द विद्या (फिलालोजी) के परीक्षक मोक्षमूलर आदि विद्वान् भी संस्कृत भाषा तथा ऋग्वेदादि को सब भाषाओं का मूल निश्चित करते हैं[1]। जब बाइबिल, कुरान नहीं बने थे, तब वेद के अतिरिक्त दूसरी मानने योग्य पुस्तक कोई भी नहीं थी। मनुष्य की उत्पत्ति का आदि काल ही ऋषियों की वेदप्राप्ति का समय है, जिसको १९६०८५२९९७ वर्ष हुए। इससे प्राचीन कोई पुस्तक नहीं है।

पांडे मोहनलाल जी ने कहा कि मौलवी साहब के शास्त्रार्थ के प्रथम दिन तो राणा साहब नहीं आये थे, परन्तु उन्होंने शास्त्रार्थ लिखित होना स्वीकार किया था। अन्तिम दिन श्री महाराज पधारे और मौलवी साहब की हठ देखकर श्री दर्बार साहब ने कहा कि जो कुछ स्वामी जी ने कहा है वह निस्सन्देह ठीक है। फिर शास्त्रार्थ नहीं हुआ। कविराज श्यामलदास जी ने भी इसका समर्थन किया।

---

[1] योरोप में जब संस्कृत भाषा पहुंची, तब प्रारम्भ में अनेक विद्वानों ने यही मत प्रकट किया, परन्तु कुछ काल पीछे यहूदी ईसाई मत के पक्षपात और राजनीतिक कारणों से योरोपियन भाषा-वैज्ञानिकों ने संस्कृत से पूर्व एक काल्पनिक भाषा की सत्ता स्वीकार करके संस्कृत और लैटिन आदि भाषा को बराबर का दर्जा दे दिया। —सम्पा०

परिशिष्ट (१)

सम्पादक 'आर्य-दर्पण' को भेजा गया पत्र

नमस्ते,

आपने जो गत मास के पत्र में शास्त्रार्थ-काशी मुद्रित किया था, उसमें जो किसी को कुछ संन्देह रहा हो तो दिसम्बर १८६९ के 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' (The Hindu Commentator) पत्र में देख लेवें। उसमें संस्कृत में यह शास्त्रार्थ बहुत उत्तम रीति से काशी वालों की ओर से छपा है। यद्यपि उसमें बहुत जगह गड़बड़ कर दी है, परन्तु सत्य छिपा नहीं है। उसमें से दो चार बातें जैसी की तैसी लेकर और नीचे उन पर कुछ नोट्स लिख कर भेजता हूं। कृपा करके मुद्रित कर दें—

दयानन्दो[1] नाम साधुः सद्धर्माविर्भाविनासद्धर्मपरिलोपनेऽहंकृतसंकल्पः।

दयानन्द नाम एक साधु है, जिन्होंने सत्यधर्म-प्रचार तथा असत् धर्म के निवारण का बेड़ा उठाया है।

दयानन्द स्वामी—स्वर्गादौ इन्द्रादयो देवाः सन्ति न वा ?

स्वर्ग आदि लोकों में इन्द्रादि देवता हैं या नहीं ?

विशुद्धानन्द स्वामी—मन्त्रमयी देवता। [महाराजभ्रूकुंचनम्[2]]

वेदोक्त मन्त्र ही देवता हैं। [महाराज का भौंहें चढ़ाना[2]]

द०—कथमुपासना ?

फिर उपासना किस प्रकार होगी ?

---

[1] यह एडीटर 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' का वाक्य है।

[2] जब विशुद्धानन्द जी ने केवल मन्त्र मात्र ही को देवता बता दिया, तो काशी-नरेश ने समझा होगा कि प्रतिमा-पूजन का तो खण्डन अपनी ही ओर से हो गया।

वि० – प्रतीकोपासना, शालिग्रामादौ[1] ।

शालिग्राम[1] आदि मूर्तियों में प्रतीक रूपसे उपासना होगी ।

द०—क्व वेदे लिखितमिदम् ?

ऐसा वेद में कहां लिखा है ?

वि०—एकस्य हि सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः, भवता सर्वा एव दृष्टाः[2] ?

एक सामवेद की ही सहस्र शाखायें हैं, क्या आपने सब देखी हैं[2] ?

द०—शृणु, शृणु, सहस्रवर्त्मा सामवेदः सहस्रमार्गकः—इति तस्यार्थः, संहिता तु सर्वत्र शाखासु एका एव ।

सुनो, सुनो, सहस्र शाखाओं में सहस्र प्रकार के व्याख्यान (सामवेद के गान प्रकार) किये गये हैं, परन्तु सब शाखाओं की संहिता तो एक ही है ।

वि०—स एव ईश्वरः[3] ।

वही ईश्वर है ।

द०—(उपहसन्) हेः । स-ए-व-ई-श्वरः । अलमनर्थविचारणेन यत्प्रकरणं तद्वद ।

---

१. पहले तो वेदों के मन्त्र मात्र ही को देवता बतलाया, अब शालिग्राम आदि को देवता कहने लगे । अच्छा गड़बड़ है । किसको सत्य मानें ?

२. जब प्रकृत प्रश्न का उत्तर न दे सके तो प्रकरणान्तर पर दौड़ गये । इससे इनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि मुख बंद न हो, जो चाहो अंड वंड कहते रहो ।

३. वेदों के विषय में विशुद्धानन्द जी ने यह पूछा था कि वेद ईश्वर का क्या सम्बन्ध है ? उस पर स्वामी जी ने कहा कि कार्य-कारण-सम्बन्ध है । फिर विशुद्धानन्द जी ने कहा कि कार्य-करण सम्बन्ध से वेद नहीं रह सकते । इस पर स्वामीजी ने कहा कि परमेश्वर में जो कुछ भी नहीं रह सकता, तो आकाश में किसी वस्तु का सम्बन्ध कैसे हो सकेगा, यह कहो ? तो देखिये विशुद्धानन्द जी आकाश ही को ईश्वर बताने लगे । धन्य है ऐसी विचित्र पण्डिताई को । जब पण्डित लोग ही आकाश को ईश्वर कहें, तो फिर अपण्डित इंट पत्थरों को क्यों न ईश्वर समझें ?

(हंस कर) हां, वही ईश्वर है। जिस बात का यहां सम्बन्ध नहीं है, उसका विचार करना व्यर्थ है। जो प्रकरण की बात है, वह बोलिये।

वि०—[पृष्ठे दत्तवामहस्तः][1] अरे, बाबा तूं अभी कुछ पढ़ा नहीं, कुछ दिन पढ़।

विशुद्धानन्द ने श्री महाराज की पीठ पर बांया हाथ रखकर यह हिन्दी वाक्य कहा—'अरे बाबा०'

द०—[हस्तं बलाद् दूरीकृत्य] भवता सर्वं पठितम्?

(हाथ को बलपूर्वक दूर हटा कर) आपने सब कुछ पढ़ लिया है?

वि०—[प्रहस्य] सर्वम्।

(हंस कर) हां, सब पढ़ लिया है।

द०—[पुनः प्रत्युपविश्य] व्याकरणमपि?

(फिर समीप बैठ कर) क्या व्याकरण भी?

वि०—तदपि।

हां, वह भी।

द०—[रक्तेक्षणः] कल्मसंज्ञा कस्य? [गर्जयन्] वद वद।

(आंखे लाल कर) कल्म संज्ञा किसकी है? (गरजते हुए) कहो कहो!

पं० बाल शास्त्री[2]—कल्म संज्ञा महाभाष्ये……

श्रीमन्महाराजस्तु गभीरधीरश्चारुचक्षुर्दृष्ट्वाऽन्तं विचार-कोलाहलं नहि तृप्तिं जगामः। ततः प्रकाशितवांश्च क्रमादिदं स्वाग-

---

१. यह लो, शास्त्रार्थ तो संस्कृत में हो रहा था, भाषा पर जा कूदे। सभा के बीच ऐसी अयोग्य बात कहना और ऐसा काम अविद्वानों के सदृश करना, पण्डितों का काम नहीं होता। यहां स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्वामी विशुद्धानन्द जी से जब उत्तर न बन पड़ा, तो क्रोध में आकर ऐसा अनुचित काम किया।

२. जब व्याकरण जानने की प्रतिज्ञा कर ली तो फिर क्यों आप ही उत्तर न दिया? उस समय स्वामी विशुद्धानन्द जी का चुप रह जाना और स्वामीजी के प्रश्न के उत्तर को पं० बालशास्त्री का उद्यत होना, पाठकगण ही विचारें कि क्या प्रसिद्ध करता है?

तम् । अस्तु, दयानन्दो धृष्टो मूर्खश्च[1] परं न एकेन केनचित्कोविदेन पराजेयः संभाव्यते । स हि षड्भिः कर्णो निपातित इति न्यायेन ध्वस्तबलो निरस्तः[2] । अपि च नहि तन्निरासेनैव विचारः शेषतां गतः । उद्भावयन्तु कोविदा मिश्राः खण्डनं मण्डनं मण्डनं खण्डनं च ग्रन्थाकारेण प्रकाशमेतु च तत्समस्तं मदाज्ञया इति ।

गम्भीर बुद्धि और उत्तम आखों वाले महाराजा शास्त्रार्थ का आदि अन्त देखकर और कोलाहल पर विचार करके सन्तुष्ट तो न हुए, परन्तु उन्होंने अपना अभिप्राय क्रम से इस प्रकार प्रकट किया—दयानन्द ढीठ और मूर्ख है, परन्तु उसे किसी एक विद्वान् के द्वारा पराजित करना सम्भव नहीं है। कर्ण को छः योद्धाओं ने गिराया था, इस न्याय से दयानन्द का बल नष्ट कर देने और उसे हरा देने मात्र से विचार समाप्त नहीं हुआ। मैंने सब पण्डितों को आज्ञा दी है कि आपस में मिल कर खण्डन-मण्डन और मण्डन-खण्डनात्मक ग्रन्थ बनाओ।

अपरे श्री हरेकृष्णव्यासः, श्री जयनारायण तर्कपंचाननः, श्री शिवकृष्ण वेदान्तसरस्वती इत्येवमादयो विद्वदग्रगण्या; कतिपया वदन्ति—विचारस्तु सम्यक् न भूतः[3], परं दयानन्दः पराजित[4] इति तु सत्यम् ।

---

१. ऐसे बड़े राजा-महाराजाओं के मुख से ऐसे दुर्वचनों का निकलना बड़े शोक की बात है।

२. जब तृप्ति तो हुई नहीं और अपने मुख से कहते हैं कि यह विचार ठीक नहीं हुआ, तो फिर न जाने कि यह कैसे विदित हो गया कि स्वामीजी की हार हो गई? यहां पूर्वापर विरोध होने से कहने वालों का पक्षपात स्पष्ट ज्ञात होता है। जब आप लोगों के कथनानुसार विचार ठीक-ठीक नहीं हुआ, तो इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि काशी के पण्डितों की हार हुई। पण्डितों को उचित है कि सर्वदा सत्य ही कहें। किसी के दबाव से अन्यथा कहना कदाचित् योग्य नहीं है।

३. जब यहां ही गड़बड़ है, तो न जाने ग्रन्थ में क्या-क्या भरा होगा?

४. इसी पृष्ठ की पाद-टिप्पणी सं २ देखो—न० द०

श्री हरेकृष्णव्यास, श्री जयनारायण तर्कपंचानन, श्री शिवकृष्ण वेदान्त-सरस्वती आदि कतिपय विद्वान् कहते हैं कि शास्त्रार्थ तो ठीक नहीं हुआ, परन्तु यह सत्य है कि दयानन्द हार गया ।

इस प्रेषित पत्र के लेखक कौन हैं, यह विदित नहीं होता । अन्तिम पाद-टिप्पणी के पास 'न० द०' लिखा है, जो लेखक के नाम का लघु रूप विदित होता है । 'आर्य दर्पण' के सम्पादक ने 'एडिटोरियल नोट्स्' शीर्षक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है कि विशुद्धानन्द, बाल शास्त्री आदि काशी के पण्डित एकान्त में तो सब यही कहते हैं कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं, वह सब सत्य है, परन्तु क्या करें, यदि हम भी ऐसा ही कहने लगें तो सब लोग हमको छोड़ देंगे, हमसे वैर भाव रखने लगेंगे, फिर हम लोगों की जीविका कैसे चलेगी, आदि ।

द्वितीय परिशिष्ट

श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित

काशी-शास्त्रार्थ-विवरण

सम्पादकीय

श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ऋषि दयानन्द के प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ में न केवल विद्यमान ही थे, अपितु उन्होंने वादी-प्रतिवादी के वचनों का अनुलेखन भी किया था[१]। उसी अनुलेखन[२] के आधार पर उन्होंने अपनी '**प्रत्नकम्रनन्दिनी**' संस्कृत-पत्रिका दिसम्बर १८६९ के अंक में प्रकाशित भी किया था[३]। यद्यपि हमें साक्षात् 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' पत्रिका का उक्त अङ्क उपलब्ध नहीं हुआ, पुनरपि उस अङ्क के अनुसार पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने सन् १९१९ में 'काशी-शास्त्रार्थ' को प्रकाशित किया था। उसकी द्वितीयावृत्ति गत वर्ष 'काशी-शास्त्रार्थ शताब्दी' के अवसर पर पुनः प्रकाशित हुई।

हमने उक्त शास्त्रार्थ को सूक्ष्मेक्षिका से देखा है। वैदिक यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित तथा 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' से उद्धृत करके प्रकाशनार्थ भेजे गये और 'आर्य-दर्पण' के फरवरी १८८० के अङ्क में छापे गये अंश[४] से तुलना की है, उसके आधार पर हमारा विचार है कि पं० मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा प्रकाशित काशी-शास्त्रार्थ (संस्कृत-भाग) 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' में प्रकाशित शास्त्रार्थ की प्रतिलिपि है। परन्तु इस में पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' में छपे अन्त्य अंश

---

[१] परमहो काश्यानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः, विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षतो नियुक्तः………।
ऐतरेयालोचन पृष्ठ १९७।

[२] अनुलेखन अर्थात् वादि-प्रतिवादी के वचनों को सुन कर लिखी गई टिप्पणियां (notes)।

[३] देखें पृ० ११ पर लिखा विवरण।

[४] यह अंश प्रथम परिशिष्ट में हमने छापा है।

को जो काशी के पण्डितों के विरुद्ध पड़ता था, छोड़ दिया[1]। यह छोड़ा गया अंश पूर्व परिशिष्ट में 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' से उद्धृत पाठ में विद्यमान है। देखिए पूर्व पृष्ठ २०९, २१०।

इसी प्रकार शास्त्रार्थ के आरम्भ में शास्त्रार्थ अंश के नीचे रेखा देकर एक टिप्पणी छापी है, वह विचारणीय है। हमें वह टिप्पणी मथुराप्रसाद दीक्षित की प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें जो परिचय दिया गया है वह अयथार्थ है। टिप्पणी इस प्रकार है—

नोट—गुर्जरनिवासी व्याकरणाद्यङ्गेषु सामवेदे च कृतश्रमः किन्त्वनधीतदर्शनस्ततो दर्शनविहीनो मथुरायां निवसति स्म कश्चिदन्धोऽनेकपण्डितमतविरुद्धः प्रतिमापूजनादीनामवैधत्ववादी तस्य शिष्यश्चत्वारिंशद्वयस्कः सुदीर्घकायः पुष्टो बलवांश्च लक्ष्यते।

यदि इस टिप्पणी का प्रारम्भिक '**गुर्जरनिवासी···दर्शनविहीनः**' अंश स्वामी दयानन्द के लिये लिखा गया है, तो मध्य में स्वामी विरजानन्द सम्बन्धी उल्लेख होने से आद्यंत पाठ का सम्बन्ध नहीं बनता, और यदि उक्त अंश भी स्वामी विरजानन्द के सम्बन्ध में लिखा गया है (जैसा कि वाक्यरचना से विदित होता है), तो लेखक की भ्रान्ति स्पष्ट है। स्वामी विरजानन्द पंजाब के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे।

हां, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ में हमें दो एक स्थानों पर कोष्ठान्तर्गत दिये गये वक्ता के स्वरूपनिर्देशक वचनों के विषय में सन्देह है कि ये वचन इसी रूप में पं० सत्यव्रत सामश्रमी लिखित ही हैं, या कुछ परिवर्तन हुआ है।

इसके साथ ही 'वैदिक यन्त्रालय' से प्रकाशित तथा 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' के अनुसार प्रकाशित आगे छापे जा रहे काशी-शास्थार्थ में कहीं-कहीं कुछ भेद और कथा-प्रसंश का पौर्वापर्य मिलता है, कहीं-कहीं न्यूनाधिक्य भी है। इनकी तुलना से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि—

---

[1] हमारे पास द्वितीय संस्करण है, अतः निश्चयात्मक रूप से हम नहीं कह सकते कि यह अंश पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित ने छोड़ा था अथवा द्वितीय संस्करण छापने वालों ने।—सं०

१. पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने शास्त्रार्थ के टिप्पण (नोट) ही लिखे थे, प्रतिशब्द लेखन नहीं किया था। प्रतिपद लेखन उस समय सम्भव भी नहीं था।

२. 'वैदिक यन्त्रालय' से प्रकाशित **'काशी-शास्त्रार्थ'**, जो मूलरूप में वि० सं० १९२६ में ही लाइटप्रेस काशी में छपा था, का लेखन ऋषि दयानन्द ने किया था, और वह स्व-स्मृति के आधार पर लिखा गया था।

३. दोनों शास्त्रार्थों के अध्ययन से कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस परिणाम पर पहुंच सकता है कि स्वामी दयानन्द का पराजय नहीं हुआ था, अपितु काशी के पण्डित वेदों में मूर्ति-पूजन नहीं दिखा सके। इस कारण पराजय उनका ही हुआ।

४. यदि इन दोनों मुद्रित अंशों को मिलाकर एक काशी शास्त्रार्थ तैयार किया जाये, तो निश्चय ही वह अधिक स्पष्ट और उसका विस्तृत रूप बन सकता है।

अब हम 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' के अनुसार पं० मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा प्रकाशित 'काशी-शास्त्रार्थ' आगे दे रहे हैं। इसका भाषा अनुवाद हमारा है। मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा प्रकाशित काशी-शास्त्रार्थ में जो हिन्दी अनुवाद दिया गया है, वह अनेक स्थानों पर मूल से असम्बद्ध और प्रमत्तप्रलापवत् लिखे गये समीक्षात्मक लेखों से परिपूर्ण है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है।

—:०:—

काशीस्थ राजसभायां प्रतिमापूजनविचारः

यथाक्रममिममवगन्तुमनेके कुतूहला, इति वचसा पत्रादिना च विज्ञायेह यत्नतोऽत्रतार्यते—

(हिन्दी)—**इस शास्त्रार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए अनेक लोग उत्सुक हैं, ऐसा लोगों के कथन और पत्राद द्वारा जानकर यहां पर इस शास्त्रार्थ को बड़ी सावधानी से उद्धृत किया जाता है—**

कश्चिद् दयानन्दो नाम साधुः सद्धर्माविर्भाविनासद्धर्मपरिलोपनेऽहं कृतसंकल्प इति घोषयन्नकस्मादावेदयत् काशीनरेशं श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहम्—'अशास्त्रीयत्वात् प्रतिमापूजनमवैधमिति विचारेण स्थिरीकर्तुमहमत्रागत' इति। विदित्वा च महीपालस्तदीयात्मभावं स-समादरं कृत्वा विचाराय सम्मतिमपालयद्धर्मपालकार्यम्। ततो भोग्यमात्यवरवर्योऽपि च त्यक्तभोगः सर्वशास्त्रसारसारोऽसारीकृतसंसारः सीतारामीयः श्रीहरिहरप्रसादशर्मा विचारस्य दिनस्थिराय मध्यस्थनिर्णयाय च प्रयतमानो वादिनमजिज्ञपत्। ज्ञापितश्च सः—'अहमुदासीनः, सर्वदैवावसरो मम, किञ्चात्र न मया कोऽपि मध्यस्थः स्वीक्रियते, सर्वेषामेव मिथ्याचारित्वदर्शनाद्', इत्यवोचद्वचः।

(हिन्दी)—**कोई दयानन्द नामक साधु सद्धर्म की स्थापना और पाखण्डधर्म के विनाश का संकल्प लिये हुए अकस्मात् काशी नरेश श्रीमान् ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह की सभा में पहुंचे, और कहने लगे कि—"अशास्त्रीय होने के कारण प्रतिमा-पूजन अवैध है", यह मेरा मत है। इसे स्थिर करने के लिए शास्त्रार्थ-हेतु मैं उपस्थित हुआ हूं। यह जानकर राजा ने उनका आदर करते हुए राजोचित धर्म का पालन किया। तत्पश्चाद् राज-मन्त्री श्रीहरिहरप्रसाद शर्मा ने शास्त्रार्थ का दिन तथा मध्यस्थ नियत करने के विषय में स्वामी दयानन्द से पूछा। उत्तर में स्वामीजी ने कहा—'मैं साधु हूं, मुझे हर समय अवसर है, किन्तु सम्प्रति सभी लोग प्रतिमापूजन के मिथ्याचारों में लिप्त हैं, अतः मैं किसी को भी मध्यस्थ नहीं मान सकता।'**

श्रुत्वैतद्राजकीयकोविदा लिखितविचारेऽभवन् कृतप्रयत्नाः, परं तत्रापि वाद्यसम्मतेर्न ते पूर्णमनोरथाः। ततो महाराजसदसि

योऽद्यवरः पण्डितः श्री ताराचरणो नाम तार्किकः स एकदा बलाबलपरीक्षणाय प्रच्छन्नवेशो वादिनमुपगत्यासौ नाधीतविद्योऽपितु साहसिकः,सहसा विचारोपहसने प्रवृत्त इति बुद्ध्वाऽबोधयत् तदेवान्यान् सभासदः काशीस्थानन्यांश्च **सख्यावतः**। इत्थमभवत् सर्वैरुपेक्षणीयः स साधुः समन्तात्। अथ पूर्वकीर्तिताह्वेन सीतारामीयेण विचारितम्—वाद्यसौ पण्डितो वा धूर्तो वा भवतु, परमेतर्हि काशीराजसभामुगपतो विचाराय कश्चिदिति भूतः प्रवादो दुर्निवार्यः, अतो लोकप्रबोधनाय तु विचारायोजनमवश्यं कार्यमिति, तथा च बहुभिः पण्डितैर्विचारसमयं निर्धार्य ज्ञापितः स वादी।

(हिन्दी)—यह सुनकर राजपण्डितों ने उनसे लिखित विचार करना चाहा, परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। तब महाराज की सभा के प्रमुख पं० ताराचरण एक दिन स्वामीजी के बलाबल की परीक्षा करने के लिए प्रच्छन्न वेश में उनके निकट पहुंचे, तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्वामीजी यद्यपि बहुत पढ़े नहीं हैं परन्तु साहसी हैं, तथा सहसा ही प्रतिपक्षी का उपहास कर देते हैं। यह सुनकर सभी पण्डितगण उनके प्रति उदासीन हो गये। तब पूर्वकथित पं० हरिहरप्रसाद ने कहा कि—यह साधु पण्डित हो या धूर्त्त, परन्तु उससे यदि शास्त्रार्थ न किया जायेगा तो यह लोक-प्रवाद फैलेगा कि काशी-राजसभा में उससे कोई शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत नहीं हुआ। अतः लोक-प्रबोधन के लिए विचार अवश्य होना चाहिए। फलतः राजा ने अनेक पण्डितों से परामर्श कर समय निर्धारित कर वादी (स्वामी दयानन्द) को सूचित कर दिया।

अनन्तरमुपस्थिते तत्समये[1] राजाज्ञयाहूतैरत्रत्यैर्विविधशास्त्रविशारदैरन्यूनशतकोविदैः समलंकृते काश्यां दुर्गाकुण्डसमीपे आनन्दबागाख्योपवने सदानन्दः श्रीमानानन्दकाननेशो महाराजः श्रीमता यौवराज्याभिषिक्तेन प्रभुनारायणसिंहशर्मणा राजकुमारेण अन्यैश्चात्रत्यैः कतिपयैः सुप्रसिद्धधनिभिः स्वामात्यवर्गैश्च सानन्दं समागत्योक्तनाम तर्करत्नमादिशत्—क्रियतां तावत् शास्त्रार्थ इति, अहमपि वादिप्रतिवादिवचःसारानुवदने नियुक्तोऽग्रसरः पक्षपातशून्यो विचारदत्तकर्णः संयतोऽस्मि।

---

[1] वैक्रमीय १९२६ वर्षे तत्परदिनापराह्णे सौराग्रहायणस्य द्वितीयदिवसीये चान्द्रकार्तिकत्रयोदशीयुतमङ्गलवासरीये।

अनन्तर निर्धारित समय [अर्थात् चान्द्रमास (कार्तिक) शुक्ल त्रयोदशी, सौरमास अगहन (=मार्गशीर्ष) मंगलवार १९२६ वि०] में राजा द्वारा आमंत्रित विविध-शास्त्र-विशारद शताधिक पण्डितों, धनिक वर्ग, मंत्रियों तथा अपने पुत्र युवराज प्रभुनारायण सिंह शर्मा को साथ लेकर काशीराज काशी में दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्द बाग में गये, जहां स्वामी दयानन्द का निवास था। तत्पश्चाद् काशी नरेश ने ताराचरण तर्करत्न से कहा—आप लोग शास्त्रार्थ करें। मैं उसे ध्यान देकर सुनूंगा तथा पक्षपात-रहित होकर जो पक्ष प्रबल होगा, उसी की ओर ध्यान दूंगा।तब——

ताराचरण:—वक्तुमुद्यतः।

ताराचरण बोलने को उद्यत हुए।

दयानन्दः—(**एक एव वदेन्नान्य इति ब्रुवन्**) प्रतिमापूजनं वेदे क्व लिखितमिति कथ्यताम् ?

(एक ही व्यक्ति बोले, दूसरा नहीं, इस प्रकार कहते पूछा—) वेद में प्रतिमापूजन कहां लिखा है ? यह बताओ।

ताराचरण:—एतन्मात्रं प्रमाणं नान्यदत्र किं प्रमाणम् ?

केवल इतना अर्थात् वेदमात्र ही प्रमाण है अन्य नहीं इसमें क्या प्रमाण है[1] ?

दयानन्द:—वेदे यन्न दृश्यते, तदप्रमाणमेव।

जो वेद में उपलब्ध नहीं होता, वह अप्रमाण ही है।

ताराचरण:—कथम् ?

कैसे ?

दयानन्दः—वेदविरुद्धानां नास्ति प्रामाण्यम्।

वेद-विरुद्धों का प्रमाण नहीं होता।

ताराचरण:—अत्र किं प्रमाणम् ?

इस में क्या प्रमाण है ?

---

[1] यहां पाठक साफ देखेंगे कि जहां स्वामी जी ने पं० ताराचरण से स्पष्ट रूप से प्रतिमा-पूजन की सिद्धि के लिये वेद का प्रमाण मांगा, वहां वे उसका उत्तर देने की अपेक्षा प्रामाण्याप्रामाण्य विचार (=क्या प्रमाण है और क्या अप्रमाण) का नवीन प्रसंग ले बैठे। मूल प्रश्न से हट कर मानो वे स्वतः ही निग्रहस्थान में आ गये।

दयानन्दः—श्रुतिर्मनुस्मृतिश्च प्रमाणम् ।

श्रुति और मनुस्मृति प्रमाण है।

ताराचरणः—तदेवोद्भावय ।

वही कहिये ।

दयानन्दः—प्रामाण्यविचारो भविष्यति पश्चात्, पूर्वं वेद-विचारः कर्तव्यः ।

प्रमाण-सम्बन्धी विचार पीछे किया जायेगा, पहले वेद-सम्बन्धी विचार करना चाहिये ।

ताराचरणः—वेदविचारः कीदृशः कर्तव्यः ? वेदस्य नित्यानित्यत्वविचारः, प्रामाण्याप्रामाण्यविचारो वा ?

कैसा वेद-विचार करना चाहिये ? वेद की नित्यता-अनित्यता का विचार, अथवा वेद के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विचार ?

दयानन्दः—पाषाणादिप्रतिमापूजनं वेदोक्तं न वा इति ?

पाषाणादि की प्रतिमा का पूजन वेदोक्त है वा नहीं[1] ?

ताराचरणः—अस्माकं यथा वेदस्य प्रामाण्यम्, तथा सर्वेषाम् ।

हमारे लिये जैसा वेद का प्रामाण्य है, उसी प्रकार सभी (अर्थात् स्मृति, इतिहास, पुराण इत्यादिक) का प्रामाण्य है ।[2]

दयानन्दः—वेदातिरिक्तानां न प्रामाण्यम् ।

वेद से अतिरिक्त ग्रन्थों का [स्वतः] प्रामाण्य नहीं है ।

ताराचरणः—वेदे क्व लिखितम्, अन्येषां नास्ति प्रामाण्यम् ?

---

[1] स्वामी जी ने ताराचरण की प्रकरणान्तर में प्रवृत्ति को रोकते हुए मूल विषय पर विचार करने के लिये प्रेरित किया ।

[2] यहां ताराचरण ने वेद के तुल्य ही अन्य स्मृत्यादि परतः-प्रमाण ग्रन्थों को भी स्वतः-प्रमाण कोटि में रख कर मीमांसा-प्रतिपादित स्व-सिद्धांत **'वेदानां स्वतःप्रामाण्यम् अन्येषां परतः'** का स्वयं खण्डन करके पौराणिक प्रमाण-मीमांसा का वास्तविक रूप भी स्पष्ट कर दिया । तभी तो वर्तमान में भी स्वामी करपात्रीजी तथा पुरीमठ के स्वामी निरञ्जन देव तीर्थ जी आदि कहते हैं कि—हमारे लिये तो नूतन ग्रन्थ 'हनुमान-चालीसा' भी वेदवत् ही प्रामाणिक है ।

वेद में कहां लिखा है कि अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य नहीं है[1] ?

दयानन्दः—वेदविरुद्धस्य नास्ति प्रामाण्यम् ।

वेद-विरुद्ध का प्रामाण्य नहीं है ?

ताराचरणः—वेदविरुद्धः कः ?

वेद से विरुद्ध कौन है ?

दयानन्दः—यो वेदे नास्ति ।

जिसका विधान वेद में नहीं है ।

ताराचरणः - इदं किं वेदोक्तं, अथवा भवत्कथितम् ?

यह कथन क्या वेदोक्त है, अथवा आप का कथन है[2] ?

दयानन्दः - त्वत्प्रश्नोत्तरं पश्चाद् दास्यामः, प्रतिमापूजनं वेदे लिखितं न वेत्येका† वक्तव्या ?

आप के प्रश्न का उत्तर पीछे दूंगा, पहले प्रतिमा का पूजन वेद में लिखा या नहीं, यह एक बात कहो ।

बालशास्त्री—(स्वस्वरूपं प्रकाशयितुमिच्छन्) वेदानुक्तत्वेनाप्रामाण्यमुक्तम्, तत्र को हेतुः, स एव आदौ विचार्यः ।

(अपने को प्रकाश में लाने को इच्छा करते हुए बालशास्त्री बोले[3])

वेद में अनुक्त होने से अप्रामाण्य होता है, इसमें क्या हेतु है ? इसी पर पहले विचार होना चाहिये ।

---

[1] यह पूछ कर ताराचरण ने स्वसिद्धान्त 'वेद की नित्यता वा अनादिता' पर ही आक्षेप किया है । नित्य अनादि वेद में उत्तरकालीन ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य का विचार भला कैसे हो सकता है ?

[2] यहां ताराचरण की झुंझलाहट स्पष्ट है । वे वेद के स्वतः-प्रमाणत्व को भी अस्वीकार करते हुये उसे अनवस्था-दोष में ले जाना चाहते हैं । वेद का स्वतः-प्रामाण्य तो स्वयं प्रकाशमान सूर्य की भांति स्वतः-सिद्ध है । उसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती । सभी आस्तिक दर्शनकार इस विषय में सहमत है ।

†इत्येक 'वार्ता' इति शेष ।

[3] ताराचरण के साथ हो रही कथा के मध्य में **बालशास्त्री** का कूदना, और वह भी अपना पांडित्य दर्शाने के लिए, (जैसा कि शास्त्रार्थ-संगृहीता ने कोष्ठान्तर्गत पाठ में स्पष्ट किया है,) कहां तक उचित है ? यह सभी जान सकते हैं ।

दयानन्दः—प्रतिमापूजनं भवेत् अन्यद् विचारः[1], अतो वेदे अस्ति नास्ति वा इति विचारः पुरस्तात् कर्तव्यः, श्रुतिस्मृतिप्रभृतीनां सर्वेषामेव मूलं वेदः ।

प्रतिमा-पूजन हो, यह अन्य विचार है[2]। इसलिये वेद में प्रतिमा-पूजन का विधान है या नहीं, यह पहले विचार करना चाहिये[3]। श्रुति स्मृति प्रभृति सभी ग्रन्थों का मूल वेद है।

ताराचरणः—सर्वेषां वेदमूलकत्वे प्रामाण्योद्भावनं कर्तव्यम्।

सब ग्रन्थों के वेदमूलक होने में प्रमाण कहो ?

दयानन्दः—मनुकात्यायनमहाभारतादिकमेव प्रमाणम् ।

मनु, कात्यायन, महाभारतादि ही प्रमाण है, अर्थात् इनके वचनों से सिद्ध होता है कि श्रुति स्मृत्यादि सभी ग्रन्थ वेद-मूलक हैं।

ताराचरणः—तत्र तत्रैवान्येषामप्यस्ति प्रामाण्यम् ।

वहां-वहां ही अन्य ग्रन्थों का भी प्रामाण्य कहा है।

दयानन्दः—किं वृथा वाग्वितण्डया । यथा मन्वादीनां मीमांसावेदान्तादिसूत्राणां च सर्वेषामस्ति मूलं वेदः, तथा प्रतिमा-पूजनस्यापि मूलं वेदो दर्शनीयः ।

व्यर्थ वाग्-वितण्डा से क्या लाभ ? जिस प्रकार से मन्वादि स्मृतियों तथा मीमांसा, वेदान्त आदि सब सूत्र ग्रन्थों का मूल वेद है, उसी प्रकार प्रतिमा-पूजन का भी मूलभूत वेद है, यह दिखाओ।

विशुद्धानन्दसरस्वतीः—अहो किं वारंवारमेवं ब्रूषे वेदान्तादि-सूत्राणां सर्वेषामस्ति मूलं वेदः? **रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रमाणम्**[4], इत्यस्य मूलीभूतः को वेद इति वक्तव्यम् ?

---

[1] अयं पादः कश्चिद् भ्रष्टः प्रतिभाति। काशी-मुद्रिते संस्करणे पाठ-पूर्तिरेवं कृता—'प्रतिमापूजनं(न) भवेत् अन्यत्र विचारः' तथाप्यर्थोऽस्पष्ट एव।

[2] यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हैं, इस कारण भाव स्पष्ट नहीं है।

[3] स्वामी जी बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि 'वेद में प्रतिमा-पूजन का विधान है या नहीं' इस पर विचार करो, परन्तु पंडित लोग सदा ही इस प्रश्न का उत्तर न देकर प्रसंगान्तर में प्रवृत्त हो जाते हैं। न्याय-शास्त्र के अनुसार प्रसंगान्तर का उत्थान करना'निग्रह-स्थान'में गिना गया है।

[4] वेदान्त २।२।१।।

क्या बार-बार कहते हो कि वेदान्तादि सभी सूत्रों का मूल वेद है? अच्छा बताइये 'रचनानुपपत्तेश्च' इस वेदान्त सूत्र (२।२।१) का मूल वेद में कहां है[1]?

दयानन्दः—कोऽपि वदिष्यति अस्याक्षरस्य प्रमाणं देयम्, तत्र किं [सर्वेषामेव देयम्]?

इस प्रकार तो कोई कहेगा—इस अक्षर की वेदमूलकता में प्रमाण दो, तो क्या वह सब देय होगा?

बालशास्त्री:—सर्वेषामेव देयम्, तथैव प्रतिज्ञानात्।

सभी का उत्तर देना होगा, वेदमूलकता की प्रतिज्ञा करने से।

दयानन्दः—सर्वे वेदा नहि मे कण्ठस्थाः[2]। (सभ्या हसन्ति)

सारे वेद मुझे कण्ठस्थ नहीं हैं। (सभ्यजन हंसते हैं[3])।

विशुद्धानन्दः—(सन्तुष्टः गर्जन) तत्किमेवमभिलपसे?

(हावी होते हुए और गर्जना करते हुए) तो फिर ऐसी बकवास[4] क्यों करते हो?

दयानन्दः—(क्रुद्धः विशुद्धानन्दसम्मुखं प्रत्युपविश्य) तवास्ति किं सर्वमुपस्थितम्? धर्मस्य किं लक्षणम्? वद।

(क्रुद्ध होकर विशुद्धानन्द के सामने बैठकर) क्या तुम्हें सब (शास्त्र) उपस्थित (कण्ठस्थ) हैं? अच्छा बताओ, धर्म का क्या लक्षण है?

विशुद्धानन्दः—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[5] इत्यादि सविस्तरम्।

'चोदना=वेदवाक्य से विहित अर्थयुक्त कर्म धर्म है' इत्यादि विस्तार पूर्वक।

दयानन्दः—(वारयन्निव) लक्षणं एकं बहु वा?

---

[1] पाठक यहां देखें—स्वामी विशुद्धानन्द ने पुनः मूल प्रश्न को टाल कर प्रसङ्गान्तर उपन्यास किया है।

[2] अत्र कश्चित् पाठस्त्रुटितः प्रतिभाति।

[3] स्वामी जी द्वारा सरलता से सत्य बात कही जाने पर सभ्यों का हंसना, उनकी दुरभिसन्धि को घोषित करता है।

[4] 'मूर्तिपूजा वेद-विरुद्ध है' यह सिद्ध करने वा शास्त्रार्थ के लिये काशी क्यों आए? यह इसका भाव है।

[5] मीमांसा १।१।२॥

(रोकते हुये के समान) धर्म का लक्षण एक है, या बहुत हैं ?

विशुद्धानन्दः—लक्षणं एकं, प्रमाणानि बहूनि ।

धर्म का लक्षण एक ही हैं, उसके प्रमाण (ज्ञापक) बहुत हैं ।

दयानन्दः—(हसति) अहो[1] लक्षणम् एकम् । दश लक्षणानि—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम्[2] ॥

(हंसते हैं) अहो लक्षण एक है [कहते हो] । धर्म के लक्षण दश हैं—वृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध इन दस लक्षणों वाला धर्म है ।

ताराचरणः—एते तु अनुमापकहेतवः, न तु लक्षणानि ।

ये तो धर्म के अनुमापक (ज्ञापक) हेतु हैं, लक्षण नहीं है ।

दयानन्दः—(ताराचरणसम्मुखं प्रत्युपविश्य) किमनर्थं गर्जसे ? अधर्मस्य लक्षणं वद ।

(ताराचरण के सन्मुख बैठकर) क्या निरर्थक बोलते हो ? तुम अधर्म के लक्षण बताओ ।

ताराचरणः—दुरदृष्टजनकत्वमधर्मत्वम् ।

बुरे अदृष्ट को उत्पन्न करने वाला अधर्म होता हैं ।

दयानन्दः—(अग्राह्यभावेन) किं त्वया[3] कोलाहलेन । (विशुद्धानन्दसम्मुखं प्रत्युपविश्य) त्वं वद स्वामिन् धर्मे का श्रुतिः ?

(अस्वीकार के भाव से) तुम्हारे द्वारा कियें गये कोलाहल[4] से क्या लाभ ? (विशुद्धानन्द के सन्मुख बैठते हुये स्वामिन् ? तुम बताओ धर्म में कौन सी श्रुति प्रमाण है ?

---

[1] पूर्व मुद्रित 'हो हो' पाठ है । [2] मनु ६।९२॥

[3] किं त्वया कृतेन कोलाहलेन निरर्थकभाषणेनेत्यर्थः । यथा कोलाहले ध्वन्यात्मके सत्यप्यर्थज्ञानं न भवति ।

[4] अधर्म के लक्षणों में श्रुति स्मृति का प्रमाण न देकर ताराचरण ने अपनी संस्कृत में लक्षण बताया, अतः स्वामीजी ने कोलाहल शब्द का प्रयोग किया है । जैसे कोलाहल में शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ-ज्ञान न होने से वह निरर्थक होता है, उसी प्रकार ताराचरण का कथन निरर्थक है, यह इसका भाव है ।

विशुद्धानन्द—**अग्निहोत्रं जुहोति** इत्येवमादिः ।

'अग्निहोत्र जुहोति' इत्यादि श्रुतियां धर्म में प्रमाण हैं ।

दयानन्द;– (उपसंहरन्निव) किं प्रयोजनमप्रकृतविचारेण, वेदे क्वापि प्रतिमाशब्दो नास्ति, यत्र चैकत्र सामवेदेऽस्ति–**स परं दिवमन्वावर्तते**[1], यथा–'यदास्यायुक्ताति **यानानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्त्युन्मीलन्ति निमिलन्ति**'[2] इत्येवमादिः । तस्यापि ब्रह्मलोकपरता ।

(उपसंहार करते हुये के समान) अप्रकृत विचार करने से क्या लाभ ? वेद में कहीं भी प्रतिमा शब्द नहीं है, और जहां सामवेद में एक जगह है, वहां भी द्युलोक के अन्वावर्तन का कथन करने के पश्चात् द्युलोक से परे अन्वावर्तन का कथन करते हुए देवतायतनों के कम्पन और दैवत प्रतिमाओं के हंसने रोने गाने नाचने टूटने आंखें खोलने और बन्द करने का उल्लेख है, वह सब ब्रह्मलोक-विषयक है ।

ताराचरणः—तत्र को हेतुः ?

उसके [ब्रह्मलोक-परता] में क्या हेतु है ?

दयानन्दः (पूर्ववत् ताराचरणसम्मुखं प्रत्युपविश्य) पश्यतु तावत् प्रकरणम्, [स्थिरः सन् बोधयति] **स प्राचीं दिशमन्वावर्तते** इत्यादिना, **स उदीचीं दिशमन्वावर्तते** इत्यादिना, **स प्रतीचीं दिशमन्वावर्तते** इत्यादिना, **स पृथिवीमन्वावर्तते** इत्यादिना च पञ्चभिः[3] खण्डैः पृथिव्यां यान्यद्भुतानि भवितुं युज्यन्ते, तेषां शान्तिस्तत्रत्यैरेवैवं कर्तव्येति विधाय, '**स दिवमन्वावर्तते** इत्यादिना द्युलोक यान्यद्भुतानि स्युस्तेषां शान्तिस्त्रत्यैरेवैवं कर्तव्येति विधाय, **सपरंदिवमन्वावर्तते** इत्यादिता तु ब्रह्मलोके यान्यद्भुतानि भव्यानि तेषां शान्तितत्रत्यैरेवैवं कर्तव्येति विद्यते । तथा च यथा मनुष्यलोके सन्ति

---

[1] षड्विंश ब्राह्मण ५।६।।

[2] षड्विंश ब्राह्मण ५।१०।।

[3] अत्र चतुर्णामेव खण्डानां प्रतीकर्दिश उपलभ्यते सोऽप्यक्रमः । 'स दक्षिणां दिशमन्वावर्तते' इत्यस्य निर्देशोऽत्र त्रुटितः प्रतिभाति, 'पञ्चभिः खण्डैः' इति स्पष्टनिर्देशात् । इमे पञ्च खण्डाः पञ्चमप्रपाठके ३, ४, ५, ६, ७ संख्याका ज्ञेयाः ।

मनुष्यायतनानि, अस्ति च तत्कम्पनसम्भवः, तथा ब्रह्मलोके सन्त्येव देवायतनानि, अस्ति च तत्कम्पनसम्भवः, एवमेव प्रकरणमनुगृह्यते।

(पूर्ववत् ताराचरण के सम्मुख बैठकर)—पहले प्रकरण देखो। (स्थिर हो कर बताते हैं—) 'वह प्राची दिशा को अनुवृत्त होता है' इत्यादिः 'वह पश्चिम दिशा तो अनुवृत होता है' 'वह पृथिवी लोक को अनुवृत होता है' इत्यादि पांच[1] खण्डों से पृथिवी में जो अद्भुत कार्य हो सकते हैं उनकी शान्ति वहीं के लोगों को करनी चाहिये। ऐसा विधान करके 'वह द्युलोक को अनुवृत्त होता है' इत्यादि से द्युलोक में जो अद्भुत कार्य हों उनकी शान्ति वहीं के रहने वालों को करनी चाहिये। ऐसा विधान करके 'वह द्युलोक से परे अनुवृत्त होता है' इत्यादि से ब्रह्मलोक में जो अद्भुत कार्य हों, उनकी शान्ति वहीं के रहने वालों को करनी चाहिये। यह प्रकरण है। तथा जिस प्रकार मनुष्य लोक में मनुष्यों के आयतन=घर हैं और उनका [भूकम्पादि से] कम्पन सम्भव है उसी प्रकार ब्रह्मलोक में देवायतन (=देवों के घर) हैं और उनका कम्पन भी संभव है। इसी प्रकार यह सारा प्रकरण संगत होता है।

बालशास्त्री:—भवदुक्तप्रकरणेन तु नहीदमागतम्, यद् ब्रह्मलोकपरतैव तस्याः श्रुतेः, अपितु अन्वावर्तनं श्रूयते, तस्य कोऽर्थः? (स्वयं व्याचष्टे) अनु आवर्तनम् अनुलक्ष्यीकृत्य आवर्तनम्। यदा ब्रह्मलोकादिषु अद्भुतानि लक्ष्यन्ते, तदा तानि लक्ष्यीकृत्य एवं शान्तिः, एवं च ब्रह्मलोकीयाऽपि शान्तिः मर्त्यैरेवानुष्ठेया।

आप के कहे प्रकरण से यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त श्रुति की ब्रह्मलोकपरता ही है, अपितु वहां अन्वावर्तन सुना गया है, उस का क्या अर्थ है? (स्वयं व्याख्या करते हैं) अनु आवर्तन=लक्ष्य करके आवर्तन। जब ब्रह्मलोक में अद्भुत कार्य लक्षित हों, तब उनको लक्ष्य करके उक्त शान्ति करनी चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मलोकीय शान्ति भी मर्त्यों (पृथिवीस्थ मनुष्यों) को ही करनी चाहिये।

---

[1] यहां चार खण्डों का प्रतीक निर्देश है और वह भी भिन्न क्रम से। दक्षिण दिशा के अनुवर्तन का यहां निर्देश छूट गया है। इससे स्पष्ट है कि लेखन में जैसे यहां पाठभ्रंश हुआ है, वैसे अन्यत्र भी संभव है।

दयानन्दः—कथमसर्वज्ञा वयं जानीयाम, तत्र भूतमद्भुतम् ?

हम असर्वज्ञ कैसे जानेंगे कि वहां (ब्रह्मलोक में) अद्भुत कार्य हुआ ?

बालशास्त्री:—ग्रहादीनां गत्यादिकं यथा ज्ञायते, तथैव ।

ग्रहों की गति जैसे जानते हैं, उसी प्रकार जान लेंगे ।

दयानन्दः—किमनेन कष्टकल्पनेन ? तत्रत्यैरेवैवं कर्तव्यमित्येवं सुलभम् ।

इस क्लिष्ट कल्पना से क्या लाभ ? वहीं (ब्रह्मलोक) के निवासियों द्वारा ही [वहां अद्भुतोत्पत्ति की] शान्ति की जानी चाहिये, यही सुलभ है।

बालशास्त्री:—तत्रानुष्ठातारः के भविष्यन्ति ?

वहां (=ब्रह्मलोक में [शान्ति के] अनुष्ठाता कौन होंगे ?

दयानन्दः—स्वर्गादौ इन्द्रादयो देवाः सन्ति न वा ?

क्या स्वर्ग में इन्द्रादि देव नहीं हैं ?

विशुद्धानन्दः—मन्त्रमयी देवता । (**महाराजभ्रूकुञ्चनम्**[1]) ।

देवता तो मन्त्र-रूप हैं (महाराज=काशीराज का भौंवें सिकोड़ना)।

दयानन्दः—कथमुपासना ?

[मन्त्ररूप देवता की] उपासना कैसे होगी ?

विशुद्धानन्दः—प्रतीकोपासना, यथा शालग्रामादौ ।

प्रतीकोपासना के रूप से, जैसे शालग्राम आदि में [विष्णु आदि की]

---

[1] ऐसा कहकर स्वामी विशुद्धानन्दजी ने मानो स्वमत का ही खण्डन कर दिया। स्वर्गादि लोकों में इन्द्रादि देवों की मनुष्यवत् सत्ता तथा उनके लौकिक ऐश्वर्य के तुल्य राज्यादि की कल्पना करने वाले पौराणिक यदि वेद-मन्त्रों को ही देवता मानने लगें, तो उनके पौराणिक देव-गाथा-वाद (mythology) की तो समाप्ति ही हो जायेगी। विशुद्धानन्द जी मीमांसा के मत को मानते थे, अतः उन्होंने मन्त्रमयी देवता का सिद्धान्त रखा, परन्तु यह कथन सुनकर काशीराज की भौंहें सिकुड़ गईं, क्योंकि देवताओं को मन्त्ररूप मानकर मानो विशुद्धानन्द जी ने पौराणिक मान्यताओं पर कुठाराघात ही किया।

दयानन्दः—क्व वेदे लिखितम् ?

[शालग्राम रूप पाषाण में प्रतीकोपासना करनी चाहिए] यह वेद में कहां लिखा है ?

विशुद्धानन्दः—एकस्य हि सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः, भवता सर्वा एव दृष्टाः ?

एक ही सामवेद की सहस्र शाखायें हैं, आपने सब देखी हैं ?

दयानन्दः—शृणु शृणु ! 'सहस्रवर्त्मा सामवेद, सहस्रमार्गक इति तस्यार्थः, संहिता तु सर्वत्र शाखासु एका एव ।

सुनो सुनो ! 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' का अर्थ सहस्र मार्ग वाला सामवेद है, संहिता तो सब शाखाओं में एक ही है ।

विशुद्धानन्दः मार्ग इति चेत्, कठेन प्रोक्ता कठीति[1] कथम् ?

यदि मार्ग अर्थ करते हो, तो 'कठ' से प्रोक्त शाखा 'कठी'[2] कैसे कहलावेगी ?

---

१. 'कठी'इति शाखायाम् असाधुप्रयोगः । **कठचरकाल्लुक्**(अ० ४।३।१०७) सूत्रेण तदध्येतृविशिष्टे प्रोक्तार्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति, न तु छन्दसि केवल प्रोक्तार्थे तद्धित उत्पद्यते, **छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**(अ० ४।२।६६) इति नियमात् । तस्मात् कठेन प्रोक्तां शाखामधीयते ये ते कठाः, तेषामाम्नाय इत्यर्थे काठकम् इत्येव भवति, गोत्रचरणाद् वुञ् (अ० ४।३।१२६) इत्यत्र **चरणाद् धर्माम्नाययोः** इति वचनात् । कठी प्रयोगस्तु गोत्रं च चरणैः सह इति नियमेन कठेन प्रोक्तां शाखायां अध्येतृणां जातिवाचकत्वं स्त्रीकृत्य स्त्रिया-मध्येत्र्यां **जातेरस्त्रिविषयादयोपधात्** (४।१।६३) इत्यनेन कठी इति भवति ।

—यु० मी०

२. स्वामी विशुद्धानन्द का कठ के द्वारा प्रोक्त शाखा अर्थ में 'कठी' प्रयोग करना, उनके व्याकरणानभिज्ञत्व का द्योतक है । कठ से केवल प्रोक्तार्थ में तद्धित का विधान और उसका **कठचरकाल्लुक्** (अ० ४।३।१०७) लुक् नहीं होता, अपितु अध्येता वेदिता विशिष्ट प्रोक्तार्थ में **कठचरकाल्लुक्** (अ० ४।३।१०७) की प्रवृत्ति होती है । कठ से प्रोक्त शाखा का अध्ययन करने वाले 'कठ' कहाते हैं । अध्येता के स्त्री होने **पर गोत्रं च चरणैः सह** नियम से जाति-वाचक मान कर **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (अष्टा० ४।१।६३) से कठेन प्रोक्तां शाखाम् अधीते इति अर्थ में कठी प्रयोग होगा । यदि उनकी शाखा=

दयानन्दः—तस्य तन्मार्गप्रवर्तकत्वात् ।

उसका उस मार्ग (=अध्ययन विशेष) का प्रवर्तक होने से ।

महाराजः—(**अमात्यमण्डलाभिमुखः**)—ययसा भी कभी होता है ?

(काशीराज-अमात्य-मण्डल के सन्मुख)—ययसा (=ऐसा) भी कभी होता है ?

विशुद्धानन्दः—वेदा अपौरुषेयास्तत्र पुनः के प्रवर्तयितार' ?

वेद अपौरुषेय हैं, वहां कौन प्रवर्तक होंगे ?

दयानन्दः—वेदाः परमेश्वरे एव तिष्ठन्ति, परमेश्वर एव प्रवर्तकः तत ऋष्यादयः ।

वेद ईश्वर में ही रहते हैं, वही [सृष्टि के आदि में] उनका प्रवर्तक है, और [तत्पश्चात्] ऋषि लोग प्रवर्तक होते हैं ।

विशुद्धानन्दः—किंलक्षणके ईश्वरे तिष्ठन्ति वेदाः ? न्यायनयसिद्धे नित्यज्ञानादिविशिष्टे ईश्वरे, पातञ्जलनयसिद्धे क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टे पुरुषविशेषे, वेदान्तानुयायिनये सच्चिदानन्दस्वरूपे वा ?

किस लक्षण वाले ईश्वर में वेद रहते हैं, न्यायदर्शन प्रतिपादित नित्यज्ञानादिविशिष्ट ईश्वर में, अथवा पातञ्जल योगदर्शन-सिद्ध क्लेश-कर्मविपाक-आशय से रहित पुरुष विशेष ईश्वर में, अथवा वेदान्तानुयायियों के मतानुसार सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर में[1] ?

दयानन्दः—एवं भवन्नये ईश्वरा बहवः सन्ति ?

इस प्रकार क्या आपके मत में बहुत से ईश्वर हैं ?

विशुद्धानन्दः—सन्त्येव मतभेदे ।

आम्नाय-वेद अर्थ प्रकट करना हो तो **गोत्रचरणाद् वुञ्** (अ० ४।३।१२६) सूत्र से वुञ् होकर 'काठक' प्रयोग उपपन्न होता है । —यु० मी०

[1] स्वामी विशुद्धानन्द का यह कथन इस बात का द्योतक है कि वे न्याय, वेदांत, योग आदि आर्ष दर्शनों में परस्पर भेद मानते हैं, तथा इन दर्शनों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की मान्यताओं में भी आकाश पाताल जैसा अन्तर स्वीकार करते हैं; जब कि स्वामी दयानन्द ने षड् दर्शनों के समन्वय का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुये पतञ्जलि, गोतम तथा वादरायण के सिद्धांन्तों को परस्पर अविरुद्ध बताया है ।

मतभेद होने से ईश्वर बहुत प्रकार के हैं।

दयानन्दः—लक्षणे भेदः, ईश्वरे वा ? ईश्वरज्ञानमतिकठिनम्।

भेद ईश्वर के लक्षण में है, अथवा ईश्वर में ? ईश्वर का ज्ञान अति कठिन है।

विशुद्धानन्दः—सुलभमिति, केनोक्तम् ? कस्मिन् स्वरूपे तिष्ठन्ति वेदा, इति प्रकृतं वद।

[ईश्वर का ज्ञान] सुलभ है, यह किसने कहा है ? किस स्वरूप वाले ईश्वर में वेद रहते हैं, इस प्रकृत का उत्तर दो।

दयानन्दः—सच्चिदानन्दस्वरूपे।

सच्चिदानन्द स्वरूप वाले ईश्वर में।

विशुद्धानन्दः—तत्र न किमपि तत्र न किमपि। अस्तु वा, केन सम्बन्धेनेति वद ?

वहां (=सच्चिदानन्द स्वरूप में) कुछ नहीं रहता[1], कुछ नहीं रहता अथवा रहता है तो किस सम्बन्ध से रहता है यह कहो ?

दयानन्दः—कार्यकारणसम्बन्धेन।

कार्य-कारण-सम्बन्ध से (अर्थात् वेदरूपी कार्य का ईश्वर कारण है)।

विशुद्धानन्दः—(उच्चैः) स सम्बन्धो न वृत्तिनियामकः, अन्यथा धर्मे तिष्ठतु सुखम्।

(ऊंचे से) वह [कार्य-कारण-सम्बन्ध] वृत्ति का नियामक नहीं है, अन्यथा 'धर्म में सुख रहता है' [यह स्वीकार करना होगा]।

दयानन्दः—तत्र न किमपि तिष्ठति, कार्यकारणसम्बन्धश्च न वृत्तिनियामक इति चेत्, आकाशः केन सम्बन्धेन क्व तिष्टति, इति वद ?

यदि [सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर में] कुछ नहीं रहता, और कार्य-कारण-सम्बन्ध भी वृत्ति का नियामक नहीं है, तो आकाश किस सम्बन्ध से किसमें स्थित है ?

विशुद्धानन्दः—स एव ईश्वरः।

---

[1] नवीन वेदान्तियों के मत में भी कार्य सृष्टि सर्वव्यापक सच्चिदानन्द-स्वरूप ईश्वर में रहती है, वह सृष्टि में अनुप्रविष्टि माना गया है। तब भला वेद उसमें क्यों नहीं रह सकते ?

वही (आकाश ही) ईश्वर है[1] ।

दयानन्दः—(उपहसन्) हेः ! स-ए-व-ईश्वरः ।

(उपहास करते हुए) **हेः ! स-ए-व** ईश्वरः=**वही** (=**आकाश ही**) **ईश्वर है ।**

ताराचरणः—अस्य मुखव्यङ्ग्यस्य कोऽर्थः ?

इस प्रकार मुंह बनाने से क्या लाभ ?

दयानन्दः(क्रुद्धः) कोऽर्थ कोऽर्थः, अर्थसंज्ञा कस्य ?

(रोष में आकर) **क्या अर्थ है, क्या अर्थ है [क्या कहते हो बताओ] अर्थसंज्ञा किसकी है ?**

ताराचरणः विषयमात्रस्य ।

[इन्द्रियग्राह्य] विषयमात्र की ।

दयानन्दः—अलमनर्थविचारेण, तत्प्रकरणं वद ।

बस करो इस प्रयोजन-रहित [अप्रासंगिक] विचार से, उसी प्रकरण (=वेद में मूर्ति-पूजा का विधान कहां है ?) के विषय में बोलो ।

विशुद्धानन्दः—(पृष्ठे दत्तवामहस्तः) अरे बावा ! तूं अभी कुछ पढ़ा नहीं, काशी में कुछ दिन पढ़ । (हंसकर)

घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्वा गर्दभवाहनम् ।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ।।

(स्वामीजी की पीठ पर बायां हाथ रखकर)[2] **अरे बाबा ! तू अभी कुछ पढ़ा नहीं, काशी में कुछ दिन पढ़ । (हंस कर) घड़ा फोड़कर, कपड़ा**

---

[1] जब स्वामी विशुद्धानन्द को स्वामीजी के प्रश्न का उत्तर नहीं सूझा, तो आकाश को ही ईश्वर कह दिया । सभी दार्शनिक विद्वान् मानते हैं कि आकाश ईश्वर से भिन्न पदार्थ है । अतः आकाश को ही ईश्वर कहना स्वामी विशुद्धानन्द की स्वमूढ़ता का परिचायक है । आकाश और ईश्वर का व्याप्य-व्यापक संबन्ध है । **'बृहदारण्यक उपनिषद्'** में गार्गीयाज्ञवल्क्य संवाद में गार्गी के—'किस में आकाश ओत और प्रोत है ?' प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा था—'आकाश उसी ब्रह्म में ओत और प्रोत है' । इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी का पक्ष सर्वथा युक्त है, और ईश्वर में आधाराधेय न मानने पर उनका उक्त प्रश्न भी सुसंगत है ।

[2] शास्त्रार्थ संस्कृत में हो रहा था । उसमें हिन्दी-भाषा का प्रयोग करना निग्रह-स्थान में आना है ।

फाड़कर, गधे पर चढ़ कर किसी भी प्रकार से मनुष्य को प्रसिद्ध होना चाहिये।

दयानन्दः––(हस्तं बलाद् दूरीकृत्य) भवता सर्वं पठितम् ?

(हाथ को बलपूर्वक हटाकर) आपने सब पढ़ा है ?

विशुद्धानन्दः—(प्रहस्य) सर्वम् ।

(हंस कर) हां सब पढ़ा है ।

दयानन्दः—(पुनः प्रत्युपविश्य) व्याकरणमपि ?

(पुनः सामने बैठ कर) व्याकरण भी पढ़ा है ?

विशुद्धानन्दः—तदपि ।

वह भी पढ़ा है ।

दयानन्दः—(रक्तेक्षणः) कल्मसंज्ञा कस्य ? (गर्जन्) वद ! वद !

(लाल आखों वाले) कल्म संज्ञा किसकी है ? (गर्ज कर) कहो कहो ?

बालशास्त्री—कल्मसंज्ञा महाभाष्य एकत्र परिहासेन कथिता, न सा प्रकृतसंज्ञा। अपि च प्रकृतविचारणे प्रवृत्तस्त्वं कथमप्रकृतं विचारयसि ? पुराणादीनां वेदविरुद्धता कथं ? तदेवोद्भावय ।

कल्म संज्ञा[1] महाभाष्य में एक स्थान पर परिहास के रूप में कही है, वह प्रकृत संज्ञा नहीं है। तुम प्रकृत (=वेद में मूर्तिपूजन है या नहीं) विचार में प्रवृत्त हुए अप्रकृत वा विचार कैसे करते हो[2] ? पुराण आदि की वेद-विरुद्धता कैसे हैं, यही बताओ ।

दयानन्दः—(यथावदुपविश्य) शृणु ! शृणु ! म्लेच्छ-भाषाध्ययनादेः पुराणादौ निषेधोऽस्ति, वेदे क्वास्ति ?

---

[1] स्वामीजी ने विशुद्धानन्द स्वामीजी से पूछा कि—क्या व्याकरण भी पढ़े हो ? तो उन्होंने कहा कि—वह भी पढ़ा है। तब स्वामीजी ने उन की परीक्षा के लिए व्याकरणविषयक प्रश्न किया कि 'कल्म' संज्ञा किसकी है ? स्वामी विशुद्धानन्द इसका उत्तर नहीं दे सके, तो बालशास्त्री ने आगे बढ़कर उनकी लाज बचाई ।

[2] बालशास्त्री भी स्वयं 'कल्म' संज्ञा किसकी है ? इस प्रश्न का संतोषजक उत्तर नहीं दे पाए। महाभाष्य पढ़ा होता, तब तो प्रश्न का उत्तर देते । जब स्वयं उत्तर नहीं दे पाये तब प्रकरण की दुहाई दी। जब स्वामीजी महाराज बार-बार प्रकरण पर विचार करने की बात कहते थे, तब ये ध्यान नहीं देते थे। इतना ही नहीं, प्रकरण की बात उठाकर भी बालशास्त्री ने पुनः प्रकरणान्तर की कथा आरम्भ कर दी।

(ठीक प्रकार से बैठकर) सुनो सुनो? पुराणों में म्लेच्छभाषा पढ़ने आदि का निषेध किया है, वेद में वह निषेध कहां है ?

बालशास्त्री—(सभ्यान् पश्यन् पठति) 'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' इत्यादिः ।

(सभा में बैठे पुरुषों को देखते हुए पढ़ते हैं)—म्लेच्छ उच्चारण नहीं करना चाहिये, अपभाषण नहीं करना चाहिये ।

दयानन्दः—मदभिमुखो वद, अन्यथा नाहं श्रोष्यामि, इति वदन् नासौ वेदः ।

(सभासदों की ओर क्या देखते हो ?) मेरे सन्मुख कहो, अन्यथा मैं नहीं सुनूंगा । फिर कहा कि तुम्हारा कहा वचन वेद का नहीं है ।

विशुद्धानन्दः—'यद्युह वा श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इत्यादि ।

यह साक्षात् श्मशान है जो शूद्र है, इसलिये शूद्र के समीप [वेद] नहीं पढ़ना चाहिये ।

दयानन्दः—किमिदं संहिता उत ब्राह्मणादिकम् ? दर्शय ! **(महाराजाभिमुखः)** गतरजन्यामागतेन राजपुरुषेण महाराजः पुस्तकाय विज्ञापितः, विचारसमये पुस्तकानि स्थाप्यानि इति ।

क्या यह संहिता का वचन है या ब्राह्मण का ? दिखाओ । (महाराज के सम्मुख होकर) गत रात्रि में आये हुए राजपुरुष के द्वारा महाराज को सूचित कर दिया था कि विचार के समय पुस्तक रखने चाहिये ।

महाराजः—(नीचैः) पण्डितों को कण्ठस्थ ही हैं ।

(धीरे से) पण्डितों को कण्ठस्थ ही हैं ।

देवदत्तः—**(जनचतुष्टयव्यवहितो दण्डायमानः अत्युच्चैः)** किमभिलप्यसे, वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि, वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि इति, कति वेदाः ?

चार जनों से घिरा हुआ, दण्डा हाथ में लिये, ऊंचे स्वर से, क्या बकवास करते हो, वेदों की पुस्तकें यहां रखनी चाहियें, वेदों की पुस्तकें यहां रखनी चाहियें । वेद कितने हैं ?

दयानन्दः—(हसन्) मनुनैवोक्तम्—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्[1] ॥

---

[1] मनुस्मृतौ १।२३।।

(हंसते हुये) मनु ने ही कहा है—अग्नि वायु और आदित्य से यज्ञों की सिद्धि के लिए ऋक् यजु सामरूप तीन सनातन वेदों को प्राप्त किया ।

देवदत्तः—(भर्त्सयन्निव) एकशतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् नवधाऽथर्वणो वेदः वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः[1] । तत्सर्वं पठितम् ? एकस्य सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः, तासां द्वादेवात्र अन्याः सर्वा ब्रह्मलोके । **(मुखभङ्ग्या हस्तप्रसारेण च तर्जयित्वा)** विचाराय आगतोऽसि, पाषाणादिप्रतिमापूजनमशास्त्रीयं, वाराणस्यामेवं कथयसि, न जानासि किमियं काशीपुरी । **(सभ्या अनेके सहर्षा हसन्ति तं निवारयन्ति च)** ।

(भर्त्सना सी करते हुऐ) एक सौ एक यजुर्वेद की शाखायें हैं, सामवेद सहस्र शाखा वाला है, इक्कीस प्रकार का ऋग्वेद है, नौ प्रकार का अथर्ववेद है, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक शास्त्र, इतना शब्द के प्रयोग का विषय है । वह सब क्या पढ़ लिया है ? एक सामवेद की ही सहस्र शाखायें हैं, उनमें से दो ही यहां (=मर्त्य लोक में) हैं, शेष सब ब्रह्म लोक में हैं । (मुंह बिगाड़ कर और हाथ फैलाकर डराते हुए—) विचार के लिये आया है, पाषाणादि प्रतिमा का पूजन अशास्त्रीय है, इस प्रकार वाराणसी में कहता है, क्या नहीं जानते कि यह काशीपुरी है[2] ? अनेक सभासद सहर्ष हैं और उसको रोकते हैं ।

दयानन्दः–(अभयमूर्ध्वमुखस्तन्मुखं[3]पश्यन्) अत्र किं तव बलं वर्तते ?

---

[1] महाभाष्ये पस्पशाह्निके (१।१। आ० १) ।

[2] देवदत्त का धृष्टता तथा अपमानयुक्त कथन एवं व्यवहार यह सिद्ध करता है कि काशिराज तथा उनके वेतनभोगी पण्डितों का श्री महाराज को अपमानित करने का यह कूटनीतिक षड्यन्त्र था, [यह शास्त्रार्थ के अन्त में काशीनरेश द्वारा प्रकट किए गए विचारों से भी व्यक्त होता है] तभी तो स्वयं काशीनरेश की उपस्थिति में एक साधारण व्यक्ति को इतना दुस्साहस हुआ कि वह स्वामीजी का अपमान कर बैठा । यह कहना कि सामवेद की शेष (९९८) शाखायें ब्रह्मलोक में हैं, पौराणिक पण्डित का अज्ञान सूचित करता है । जिन ब्राह्मणों ने शताब्दियों से वेदाध्ययन करना छोड़ दिया, उनके लिये तो सारे वेद ही ब्रह्मलोक में चले गये । देवदत्त की इस उद्दण्डता पर सभास्थित लोगों का हंसना असद् व्यवहार की पराकाष्ठा है ।

[3] मुद्रिते (सभयमूर्ध्वं०) इति पाठः । यतः इतः पूर्वमेव

(ऊर्ध्वमुख होकर भय-रहित[1] उसका मुख देखते हुए) **इसमें तुम्हारा क्या बल है ?**

ताराचरणः—अस्ति शास्त्रे बलम् ।

शास्त्र में बल है ।

दयानन्दः—यदस्ति शास्त्रं तदवलम्ब्य वद । अप्रत्यक्षं शास्त्रं पूर्वं स्थितमिति नाहं मन्ये ।

जो शास्त्र में [बल] है, तो उसको अवलम्बन कर बोलो । पहले कहे गये [पुराणादि शास्त्र प्रमाण] प्रत्यक्ष-विपरीत हैं । इससे यह मैं नहीं मानता ।

सभ्याः किं किं मन्यसे ? तदेवोच्यताम् ।

क्या-क्या [प्रमाण] मानते हो, वही कहो ।

दयानन्दः—ऋग्यजुः सामाथर्वेति चत्वारो वेदाः, आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्ववेदोऽर्थवेद इति चत्वारः उपवेदः, शिक्षादयः षडङ्गाः, ईशादयो दश श्वेताश्वतरकैवल्ये च द्वादश उपनिषदः, व्यासजैमिनिबौधायनकात्यायनादीनि सूत्राणि, मनुस्मृतिर्महाभारतरूपमितिहासः, वाल्मीकीयरूपं रामायणञ्चेति ।

ऋक् यजुः साम अथर्व ये चार वेद, आयुर्वेद धनुर्वेद गन्धर्ववेद अर्थवेद ये चार उपवेद, शिक्षादि वेदाङ्ग, ईशादि दश और श्वेताश्वतर कैवल्य मिलाकर १२ उपनिषदें, व्यास जैमिनि बोधायन कात्यायन आदि के सूत्र ग्रन्थ, मनुस्मृति, इतिहासरूप महाभारत और वाल्मीकीय रामायण ।

विशुद्धानन्दः—(तदभिमुखं प्रत्युपविश्य) व्याख्यानानि ?

(स्वामी दयानन्द के सन्मुख बैठकर) **[इनके] व्याख्यान ग्रन्थ ?**

दयानन्दः—सनातनानि तान्यपि ग्राह्याणि ।

जो प्रचीन व्याख्यान ग्रन्थ हैं, वे भी ग्राह्य हैं ।

विशुद्धानन्दः—(हसन्) श्लोकाः ?

'हसन्' इति निर्देशान्नूनमत्र 'अभयम्' इत्यस्य स्थाने 'सभयम्' पाठो काशी-संस्करणप्रकाशकैः परिवर्तितः प्रतिभाति । यतः सभयमुखात्वधो मुखोभवति नोर्ध्वमुखः ।

[1] इससे पूर्व ही स्वामी जी ने हंसते हुए उत्तर दिया, ऐसा स्पष्ट निर्देश है । अतः यहां या तो 'अभय=भयरहित होकर' के स्थान पर संस्कृत में 'सभय' पाठ काशी के पण्डितों ने परिवर्तित किया है ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि सभय मनुष्य अधोमुख होता है, ऊर्ध्वमुख नहीं होता ।

(हंसते हुए) श्लोक[1] ?

दयानन्दः—वेदाविरुद्धाश्चेत्तेऽपि ग्राह्याः। अपि च महाभारतादिष्वपि वेदव्याकरणशिष्टाचारविरुद्धस्य न प्रामाण्यम्। (**प्रगर्ज्य पिष्टपेषणवत्**) वचनानां[2] केषामपि न प्रामाण्यम्।

यदि वेद से अविरुद्ध हों, तो वे भी ग्राह्य हैं। और महाभारत आदि में भी वेद-व्याकरण शिष्टाचार से जो विरुद्ध है, वह प्रमाण नहीं। (पिष्टपेषणवत् गर्जना करते हुए)[3] [वेद-विरुद्ध] वचनों का किन्हीं का भी प्रमाण नहीं।

माधवाचारीः—(उच्चैः) सुनिए! सुनिए! जरा मेरी भी सुनिए! तैत्तिरीय शाखा में है कि—**यदा गच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कुणुतादाविरस्मै**'[4] यहां पर पूर्त शब्द है कि वापीकूपतडागादीनां पूर्तत्वं पाराशरस्मृतिसम्मतम्। एवञ्च वाप्यादीनामुत्सर्गविधिः क्व वर्तते, वेदे पुराणे वा?

(ऊंचे से)[5] सुनिये सुनिये, जरा मेरी भी तो सुनिये। तैत्तिरीय शाखा के यदा गच्छत् मन्त्र में 'पूर्त' शब्द का पाठ है। पूर्त का अर्थ पराशर स्मृत्यनुसार वापी कूप तडाग आदि है। इस प्रकार वापी कूप आदि की उत्सर्ग विधि कहां है, वेद में या पुराण में?

दयानन्दः—(**नीचैः**) पूर्त शब्दार्थे एव विरोधः, अतो निरुक्तमानय।

(धीरे से) पूर्त शब्दार्थ में ही विरोध है[6], इसलिये निरुक्त लाओ।

---

१. यहां श्लोक से अभिप्राय स्वामी विशुद्धानन्द का पुराण के श्लोकों से है 'इसलिये उत्तर में स्वामीजी ने वेद से अविरुद्धों को प्रमाण कहा है।

२. अत्र कश्चित् पाठस्त्रुटितः प्रतिभाति। यद्वा—प्रसंगानुसारं 'वेदविरुद्धानां' इत्यध्याहार्यं वाक्यं पूरणीयम्।

३. यहां कुछ भाग छूटा है, अथवा प्रसंगानुसार 'वेदविरुद्ध' इतने अंश का अध्याहार करके पूर्ति करनी चाहिये।

४. तै० सं० ५।७।७।१॥

५. हिन्दी भाषा में बोलना निग्रह-स्थान जानना चाहिये।

६. यहां पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। वैदिक यंत्रालय में छपे काशी-शास्त्रार्थ के अनुसार पूर्त शब्द के वापी कूप तडाग आदि अर्थ स्वामी जी ने स्वीकार किये थे। दोनों शास्त्रार्थों की तुलना में यहां वैदिक यन्त्रालय

(माधवाचारीः—(समदृष्ट्या ऊर्ध्वदृष्ट्या च समन्तादवलोक्य) यह बात पांच वर्ष का लड़का भी समझता है कि श्रुतियों में पूर्त का विधान है। वापी कूपों का प्रतिष्ठान 'पूर्त' कहलाता है। अब वापी कूपों की प्रतिष्ठा पद्धति कहां है, वेद में या पुराणों में? पुराण नहीं मानते, तो यह पूर्त कर्म कैसे सिद्ध किया जायगा? **(पुस्तकमवलम्ब्य पठति)** "अजाह्वै ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पयन् गाथा नाराशंसीमेवाहुः"[1] इत्यादि।

(सम एवं ऊर्ध्व दृष्टि से सब ओर देख कर)[2] **यह बात…… किया जायेगा।** (पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ता है) "अजाह्वै ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि० **इत्यादि।**

दयानन्दः—अत्र पुराणानीति ब्राह्मणविशेषणम्।

सुनते ही यहां 'पुराणानि' ब्राह्मणानि का विशेषण है।

विशुद्धानन्दः—(पुस्तकं **दापयित्वा स्वयञ्च** तत्र दत्तदृष्टिः) कथ दूरेऽन्वयः?

(पुस्तक दिलवाकर और स्वयं उस पर दृष्टि रख कर)। **दूर अन्वय कैसे होगा? (='ब्राह्मणानि' और 'पुराणानि' के बीच में 'इतिहासः' पद पढ़ा हैं)।**

दयानन्दः—(पुस्तकं परित्यज्य) "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"[3] अत्र यथा तथैव।

(पुस्तक छोड़कर) 'अजो नित्यः' **इत्यादि [गीता २।२०] में जैसे व्यवधान में पुराण शब्द 'अज' का विशेषण है, वैसे ही यहां भी होगा।**

विशुद्धानन्दः—(स्थिरभावेन) तत्र न व्यवधानम्। सर्वेषामेव विशेषणत्वात्।

(स्थिर भाव से) **वहां व्यवधान नहीं है, सभी विशेषण हैं।**

से छपे काशी-शास्त्रार्थ का पाठ अधिक प्रामाणिक है। पूर्त शब्द बोधक मन्त्र भेद भी यहां महत्त्वपूर्ण है।

[1] अनुपलब्धमूलम्, पाठोऽप्यत्राशुद्धः प्रतिभाति।

[2] हिन्दी भाषा का पाठ संस्कृत भाग में छपे के अनुसार पढ़े। यहां भी भाषा में बोलना निग्रहस्थान जानना चाहिये।

[3] गीता २।२०॥

बालशास्त्री—(स्मारयन्निव) विशेषणस्य फलं वक्तव्यम्

स्मरण कराते हुए के समान [ब्राह्मण शब्द के पुराण] विशेषण का फल बताओ।

दयानन्दः—पुराणविशेषणेन नवीनानां व्यावृत्तिः फलम्।

पुराण विशेषण का फल नवीनों की व्यावृत्ति(=हटाना) है।

विशुद्धानन्दः—इतिहासस्यापि विशेषणं देयम्।

[तब तो] इतिहास का भी [पुराण] विशेषण देना चाहिये।

दयानन्दः—दत्तमेव छान्दोग्यादौ। (सस्वरं पठति) 'विज्ञानं वाव ध्यानात् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम् चतुर्थमितिहासपुराणः।'[1]

[इतिहास का भी पुराण विशेषण] छान्दोग्य आदि उपनिषदों में दिया ही है। (स्वर सहित पढ़ते हैं) 'विज्ञानं……इतिहासपुराणः।

सभ्याः—(सशिरःकम्पनम्) नैवं नैवं पाठः। इतिहासः पुराणमित्येव पाठः। तथा च नात्र पुराणस्य विशेषणत्वं सम्भवति।

[निषेधात्मक] (सिर हिलाते हुए) नहीं ऐसा पाठ नहीं है। 'इतिहासः पुराणम्' ऐसा ही पाठ है। इस पाठ में [नपुंसकलिङ्ग] पुराण शब्द [पुल्लिङ्ग] इतिहास का विशेषण नहीं हो सकता।

दयानन्दः—(गर्जन्) इतिहासपुराणः इत्येवमेव पाठः इति, नो चेत् मत्पराजयः, अन्यथा युष्माकं पराजयः इति लिख्यताम्।

(गर्जना करते हुए) 'इतिहासपुराणः' ऐसा ही पाठ है। यदि ऐसा न हो तो मेरा पराजय समझा जाय, अन्यथा तुम लोगों का पराजय माना जाये, यह लिखो।

ताराचरणः—(सहासमुच्चैः) एतावत्कालमपि त्वत्पराजयोऽत्रशिष्टः किम्?

(हंसते हुए ऊंचे से) क्या अभी तक तुम्हारा पराजय बचा हुआ है[2]?

---

[1] अत्र 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छा० ७।७।१) इति द्वितीयान्त पाठः अजमेरमुद्रिते काशी-शास्त्रार्थे तु 'आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' (छा० ७।२।४) इति श्रुतिरुपलभ्यते। अत्रस्थयोत्तरकथया चापि प्रतीयते यदत्र श्रुतिपाठनिरूपण व्यत्यासःसमजनीति।

[2] स्वामीजी ने जब स्वपाठ की शुद्धि और काशीस्थ पण्डितों के पाठ की अशुद्धि के लिए 'पराजय' की शर्त पर उन्हें ललकारा तो पण्डित लोग बगलें झांकने लगे, और स्वपराजय को छिपाने के लिए ताराचरण ने 'उल्टा चोर कोतवाल को डाटे' वाली उक्ति के अनुसार स्वामीजी से उक्त वचन कहे।

दयानन्दः—(अग्राह्याभावेन) नहि युष्माभिः पराजितोऽहम् । जयाजये युष्माकमेव स्वकीयेच्छा ।

(अस्वीकार्य के भाव से) **तुम लोगों से मैं पराजित नहीं हुआ हूं । जय पराजय में [यह] तुम्हारी अपनी ही इच्छा है ।**

ताराचरणः—अद्यापि विचारयितुं प्रवृत्तश्चेत् कथय ।

अब भी यदि विचार करने के लिए प्रवृत्त हो, तो कहो ।

दयानन्दः—(उपहसति)[1] को थोय, को थोय, हा हा हाः ।

(उपहास) **को थोय, को थोय, हाः हाः हाः (यहां 'कथय' शब्द के ताराचरण के बंगाली असाधु उच्चारण का अनुसरण किया है) ।**

ताराचरणः (सकोपं) किमेवं मुखव्रीडनं कुरुषे ? त्वत्सदृशा मे बहवश्छात्राः सन्ति ।

(कुपित होकर) **इस प्रकार मुंह क्या बनाते हो ? तुम्हारे जैसे मेरे बहुत से छात्र हैं ।**

दयानन्दः—(प्रहस्य) वद ! वद ! यथा बहवो मूर्खाः प्रत्यहमागत्यागत्य मां विविधकटून् वदन्तो गच्छन्ति तथा त्वमपि वद ।

(हंसकर) **कहो कहो । जैसे बहुत से मूर्ख प्रतिदिन [मेरे पास] आ आकर मेरे प्रति विविध प्रकार का कटु भाषण करके चले जाते हैं, वैसे तुम भी कहो ।**

सभ्याः—(विमृश्य) किमनेन लौकिकेन ? क्षणमात्रेणैव समस्तः कोलाहलो निवर्त्स्यति, तत्प्रकृतमनुसर ।

(विचार कर) **इस लौकिक [विवाद] से क्या लाभ ? क्षणमात्र में ही सारा कोलाहल शान्त हो जायेगा, इसलिये प्रकृत बात कहो ।**

माधवाचारी—(अत्युच्चैः सवागाडम्बरम्) शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणे अश्वमेधप्रकरणे—अष्टमेऽहनि इतिहासपाठः, नवमे अहनि पुराणपाठः श्रूयते; पुराणानामप्रामाण्ये तत्र तत्पाठः कथं वेदविहितः ?

(अति ऊंचे स्वर से वागाडम्बर सहित) **शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अश्वमेध प्रकरण में—'आठवें दिन इतिहास का पाठ, नवम दिन पुराण का पाठ करने का विधान किया है । पुराणों का अप्रामाण्य मानने पर उनका वहां पाठ वेद-विहित कैसे होगा ?**

---

[1] बाङ्गस्य ताराचरणस्य अकारस्य ओकारोच्चारणरूपानुकरणम् ।

दयानन्दः--तत्रान्यथैव व्याख्येयम्, पुस्तकमानय ।

वहां इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार की है, पुस्तक लाओ ।

माधवाचारीः--गृहाण, एवं पाठः—"अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्युर्मत्स्यः सामदो राजेत्याह, तस्योदकेचरा विशस्त इम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति, तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमाञ्जुहोति । अथ नवमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्युस्तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि [विशिस्तानीमान्यासत इति वयांसि] च वयो विद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति न प्रक्रमाञ्जुहोति ।"[1]

लो, वहां ऐसा पाठ है—(शतपथ का "अथाष्टमे···जुहोति" संस्कृत में दिया पाठ पढ़ता है) ।

दयानन्दः—(तत्पत्रं गृहीत्वा बहुकालमावर्ज्य प्रत्यावर्ज्य च दृष्ट्वा स्वगतं पश्यन्निव तूष्णीं स्थितः) ।

(उस पत्रे को लेकर बहुत काल तक लौटा पौटा कर और देखकर अपने मन में विचार करते हुए के समान चुप रहा) ।

विशुद्धानन्दः--हर हर महादेव, ब्रुवन् उत्थितः । सभाभङ्गः । करतालिध्वनिश्च ।

हर हर महादेव ! ऐसा बोलते हुए [स्वामी विशुद्धानन्द] खड़े हो गये । सभा समाप्त हो गई और तालियां बजाई गईं ।

[इसके आगे के 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' के पाठ, जिससे उनके पक्ष की हीनता स्पष्ट प्रदर्शित होती थी, को काशी के प्रकाशकों ने छोड़ दिया (नहीं छापा) । वह परित्यक्त पाठ भाग्यवश प्रथम परिशिष्ट में प्रदर्शित 'प्रत्नकम्रनन्दिनी से उद्धृत पाठ में सुरक्षित उपलब्ध है, हम उसे नीचे देते हैं—)

श्रीमन्महाराजस्तु गभीरधीश्चारुक्षुर्दृष्ट्वाऽऽद्यन्तं विचारकोलाहलं नहि तृप्तिं जगाम । ततः प्रकाशितवांश्च क्रमादिदं स्वागतम् । अस्तु, दयानन्दो धृष्टो मूर्खश्च परं न एकेन केनचित्कोविदेन पराजेयः संभाव्यते । स हि षड्भिः कर्णो निपातित इति न्यायेन

---

[1] शतपथ १३।४।३।१२, १३।।

ध्वस्तबलो निरस्तः । अपि च नहि तन्निरासेनैव विचारः शेषतां गतः । उद्भावयन्तु कोविदा मिश्राः खण्डनं मण्डनं मण्डनं खण्डनं च ग्रन्थाकारेण प्रकाशमेतु च तत्समस्तं मदाज्ञया इति ।

गम्भीर बुद्धि और उत्तम आंखों वाले महाराजा शास्त्रार्थ का आदि अन्त देखकर और कोलाहल पर विचार करके सन्तुष्ट तो न हुए, परन्तु उन्होंने अपना अभिप्राय क्रम से इस प्रकार प्रकट किया—दयानन्द ढीठ और मूर्ख है, परन्तु उसे किसी एक विद्वान् के द्वारा पराजित करना सम्भव नहीं है । कर्ण को छः योद्धाओं ने गिराया था, इस न्याय से दयानन्द का बल नष्ट कर देने और उसे हरा देने मात्र से विचार समाप्त नहीं हुआ । मैंने सब पण्डितों को आज्ञा दी है कि आपस में मिलकर खण्डन-मण्डन और मण्डन खण्डनात्मक ग्रन्थ बनाओ ।

अपरे श्री हरेकृष्णव्यासः, श्री जयनारायण तर्कपंचाननः, श्री शिवकृष्ण वेदान्तसरस्वती इत्येवमादयो विद्वदग्रगण्याः कतिपया वदन्ति—विचारस्तु सम्यक् न भूतः, परं दयानन्दः पराजित इति तु सत्यम् ।

श्री हरेकृष्णव्यास, श्री जयनारायण तर्कपंचानन, श्री शिवकृष्ण वेदान्त-सरस्वती आदि कतिपय विद्वान कहते हैं कि शास्त्रार्थ तो ठीक नहीं हुआ, परन्तु यह सत्य है कि दयानन्द हार गया ।

[श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित इस शास्त्रार्थ वृत्त से भी यह बात सूर्य की भांति स्पष्ट है कि काशी के पण्डित मूर्ति पूजा का विधान वेद से सिद्ध नहीं कर सके । सिद्ध करना तो दूर रहा, एक टूटा फूटा प्रमाण भी उपस्थित नहीं कर पाये । इतना ही नहीं, काशी के पण्डित लोग अनेक बार निग्रहस्थान में आकर पराजित हुए । एक बार तो छान्दोग्य पाठ पर स्वामीजी ने जय पराजय की शर्त लगाकर ताल ठोक कर पराजित किया । इतना ही नहीं, काशीस्थ पण्डितों द्वारा प्रकाशित इस शास्त्रार्थ में जान बूझकर छोड़े गये दोनों अंशों से स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ में दयानन्द सरस्वती का पराजय नहीं हुआ अपितु काशीस्थ पण्डित मण्डली ही, पराजित हुई । —यु० मी०]

परिशिष्ट (३)

सहायक-ग्रन्थ-सूची

१. **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—ले० युधिष्ठिर मीमाँसक। प्रथम संस्करण २००६ वि०।

२. **श्रीमद्दयानन्दग्रन्थ-संग्रह**—सं० जगत्कुमार शास्त्री। प्र० गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली २०१० वि०।

३. **श्रीमद्दयानन्ददिग्विजयार्क (प्रथम खण्ड)**—ले० पं० गोपाल शास्त्री शर्मा। द्वितीय संस्करण १८८७ ई०।

४. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—सं० पं० भगवद्दत्त। श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, द्वितीय सस्करण २०१२ वि०।

५. **दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह**—सं० रघुनन्दन सिंह निर्मल। आर्ष साहित्य प्रचारक ट्रस्ट, दिल्ली।

६. **काशी-शास्त्रार्थ**—वैदिक यंत्रालय, काशी से प्रकाशित द्वितीय स्करण १८३९ सं वि०।

७. **काशी-शास्त्रार्थ**—वैदिक यंत्रालय, अजमेर का १३ वां संस्करण २०२६ वि०।

८. **काशी-शास्त्रार्थ का इतिवृत्त**—ले० आचार्य विश्वश्रवा व्यास, २०२६ वि०।

९. **काशी के विद्वानों का और स्वामी दयानन्द जी का सच्चा काशी शास्त्रार्थ**—सं० मथुरा प्रसाद दीक्षित।

१०. **दूषण-मालिका**—ले० (भारतेन्दु) हरिश्चन्द्र। खङ्ग-विलास प्रेस, बांकीपुर (पटना)।

११. **प्रतिमा-पूजन-विचार**—प्रकाशक (भारतेन्दु) हरिश्चन्द्र खङ्गविलास प्रेस, बांकीपुर (पटना) १८८८ ई०।

१२. **सत्यधर्म- विचार मेला-चांदापुर**—प्रथम संस्करण १९३७ वि० में प्रकाशित।

१३. **Mela Chandapur (Translated into English)**—By Prof. Bawa Arjan Singh.

१४. **आर्य-दर्पण**—१८८० ई० की संचिका (शाहजहांपुर से प्रकाशित)।

१५. **देशहितैषी**——१९३९ वि की संचिका (आर्यसमाज अजमेर से प्रकाशित)।

—×—

पृष्ठ २०१ की अवशिष्ट टिप्पणी

इस शास्त्रार्थ संग्रह के पृष्ठ २०१ पर 'ईश्वर ने चारों ऋषियों को वेदों का उपदेश कैसे और कितने काल में दिया' प्रश्नों के जो उत्तर छपे हैं, उन के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के पृष्ठ २८३ और पूना के छठे प्रवचन[1] में इस विषय पर प्रकाश डाला है। दोनों स्थानों के शब्दों में तो भेद है परन्तु भाव एक ही है। जो इस प्रकार है—

आदि सृष्टि में मनुष्य युवा उत्पन्न हुए परन्तु उनकी शारीरिक चेष्टाएं बाल्य-काल के समान थीं। वे इन्द्रियों के द्वारा सामान्य रूप से क्रिया करते थे अच्छे बुरे का उन्हें ज्ञान नहीं था। यह अवस्था पांच वर्ष तक चलती रही। फिर परमेश्वर ने मनुष्यों को वेद-ज्ञान दिया।

विशेष—सत्यार्थप्रकाश, पूना-प्रवचन तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में **आदि सृष्टि** शब्द का प्रयोग मिलता है। इन स्थानों में **आदि सृष्टि** से तात्पर्य सृष्टि के प्रारम्भ के पांच वर्षों से है। आरम्भ के पांच वर्षों की उक्त संज्ञा ऋषि दयानन्द द्वारा परिभाषित है। वे पूना प्रवचन के छठे प्रवचन[2] में लिखते हैं—

जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है, उसी अवस्था में प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी। इस लिये वर्तमान सृष्टि को उत्तर सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं। और पूर्व सृष्टि को आदि सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं। जिससे सब की समझ में आजाये।

इस स्पष्टीकरण के बिना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा गया **आदि सृष्टि** शब्द समझ में नहीं आता है। आदि सृष्टि शब्द को सामान्य शब्द मानने पर **सृष्टेरादिः** विग्रह करके षष्ठ्यन्त सृष्टि शब्द के परनिपात की कल्पना करनी पड़ेगी। ऋषि दयानन्द की पारिभाषिक आदि सृष्टि संज्ञा मानने पर **आदिश्चेयं सृष्टिश्च** में कर्मधारय समास सरलता से उपपन्न हो जाता है। यु० मी०

---

[1] हमारा प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६०।

[2] वही, पृष्ठ ५६।

दयानन्द-प्रवचन-संग्रह

(अन्तर्गत)

पूना-प्रवचन

प्रवचन-काल (सन् १८७५) में ही प्रतिदिन मराठी भाषा में
छपी हुई अत्यन्त दुर्लभ पुस्तिकाओं (अर्थात् ट्रैक्टों) से
अक्षरशः मिलाकर तथा परिशोधन करके
विस्तृत शोधपूर्ण भूमिका तथा
विविध शतशः टिप्पणियों
तथा परिशिष्टों से युक्त
सुसम्पादित
संस्करण

सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक

टिप्पणियों में प्रयुक्त विशिष्ट ग्रन्थों का विवरण

यहां पर ऋषि दयानन्दकृत उन्हीं ग्रंथों का विवरण दिया है, जिनके पृष्ठ और पङ्क्तियों का टिप्पणी में निर्देश किया है।

१–**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**–रामलाल कपूर ट्रस्ट से वि० सं० २०२४ का छपा स्थूलाक्षर संस्करण।

२–**सत्यार्थप्रकाश**–(प्रथम संस्करण)—सन् १८७५ में काशी के 'स्टार प्रेस' में छपा हुआ।

३–**सत्यार्थप्रकाश**–(संशोधित संस्करण)—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा वि० सं० २०३२ में छपा आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण २।

४–**संस्कारविधि** (प्रथम संस्करण)–वि० सं० १९३३ में बम्बई के 'एशियाटिक प्रेस' में छपी हुई।

५–**संस्कारविधि** (संशोधित संस्करण)—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा वि०सं० २०३ में छपा आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण।

६–**आत्मचरित**–रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा वि० सं० २०३१ में छपे दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह के अन्तर्गत।

७–**ऋग्वेदभाष्य** (नमूने का अंक) पूर्वोक्त दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह के अन्तर्गत

८–**भ्रान्तिनिवारण**–पूर्वोक्त दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह के अन्तर्गत

९–**भ्रमोच्छेदन**– ,, ,, ,, ,, ,,

१०–**पञ्चमहायज्ञविधि**– ,, ,, ,, ,, ,,

११–**वेदान्तध्वान्तनिवारण**–,, ,, ,, ,, ,,

१२–**भागवत-खण्डनम्**– ,, ,, ,, ,, ,,

१३–**आर्योद्देश्यरत्नमाला**– ,, ,, ,, ,, ,,

विशेष—टिप्पणियों में जहां कही संख्या ६ से १३ तक के ग्रन्थों के आगे पृष्ठ और पंक्ति संख्या दी गई है, वह रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह की है।

ग्रन्थ-परिचय

श्रीयुत न्यायमूर्ति गोविन्द रानाडे[1] और महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि कतिपय प्रसिद्ध समाज-सुधारक व्यक्तियों के निमन्त्रण[2] पर स्वामी दयानन्द सरस्वती सं० १९३२, आषाढ कृष्णा १४ मंगलवार तदनुसार २० जून[3] १८७५ को पूना पधारे थे। श्री पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित जीवन-चरित के अनुसार स्वामीजी महाराज ने पूना नगर और कैम्प (छावनी) में ५० व्याख्यान दिये थे और वे सभी लिपिबद्ध किये गये थे तथा उसी समय पत्रों में प्रकाशित भी हो गये थे।[4] हमें ज्ञात हुआ है कि पूना नगर में दिये गये १५ व्याख्यानों को स्वयं श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने लिपिबद्ध किया था, परन्तु उनके अस्वस्थ हो जाने से कैम्प में दिये गये व्या-

---

[1] पूना में आर्यसमाज की स्थापना होने पर न्यायमूर्त्ति रानाडे उस के प्रथम प्रधान निर्वाचित हुए। द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ ६१, पं० ४।'

[2] द्र०—परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित 'स्वामी दयानन्द सरस्वती यांचे पुण्यां चे व्याख्यान' की श्री नरहरि विष्णु गाडगिल लिखित प्रस्तावना, पृष्ठ ३। तथा पं० देवेन्द्रनाथ द्वारा संकलित म० द० सरस्वती का जीवन-चरित, भाग १, पृष्ठ ३४८, 'आर्य साहित्य मण्डल अजमेर' द्वारा सं० १९९० में प्रकाशित प्रथम संस्करण।

विशेष—इस ग्रन्थ में जहां कहीं भी इस जीवन-चरित की पृष्ठ संख्या दी गई है, वह सं० १९९० में प्रकाशित प्रथम संस्करण की है।

[3] यह तारीख श्री पं० लेखराम जी ने ऋ० द० के अनन्य भक्त श्री पं० सेवकलाल कृष्णदास (बम्बई) के कथनानुसार जीवन-चरित (हिन्दी सं० पृष्ठ २७९) में दी है। श्री लाला लाजपतराय जी ने ऋ० द० के जीवन-चरित में यही तारीख लिखी है। अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता। हमने ऊपर जो तिथि-वार का निर्देश किया है उसका आधार यही '२० जून १८७५' की तारीख है।

[4] द्र०—पं० देवेन्द्रनाथ सं० जी० भाग १, पृष्ठ ३४८।

ख्यान लिपिबद्ध नहीं किये जा सके। अस्वस्थ होने पर भी के कैम्प के व्याख्यानों को सुनने क लिए उपस्थित अवश्य होते थे।

श्री न्यायमूर्ति गोपालराव हरि देशमुख द्वारा लिखे गये 'पं० स्वामी श्रीमद्दयानन्दसरस्वती' नामक मराठी निबन्ध[1] के आर्यभाषानुवाद करनेवाले प्रा० श्री कुशलदेव शंकरदेव वडवलकर (नांदेड़, महाराष्ट्र) ने उक्त निबन्ध की टिप्पणी सं० ५ (ख) में भांबुडर्या ग्राम (वर्त्तमान में पूना का 'शिवाजीनगर' नामक उपनगर), पूना छावनी तथा ५ सितम्बर १८७५ को भिडेवाड़े के दीवान खाने में दिये गये अन्य ३ व्याख्यानों का सप्रमाण उल्लेख किया है।[2]

व्याख्यानों की भाषा— ऋषि दयानन्द ने सभी व्याख्यान आर्यभाषा[3] (हिन्दी) में दिये थे। पूना के कतिपय स्वार्थी पण्डितों ने

---

[1] यह निबन्ध श्री पं० गोपालराव हरि देशमुख ने अपनी 'लोकहितवादी' नाम की मासिक पत्रिका के वर्ष २, अङ्क ४-५, जनवरी फर्वरी १८८४ के सम्मिलत अङ्क में ऋ०द०स० के स्वर्गवास के पश्चात् प्रकाशित किया था। पत्रिका पर भूल से सन् १८८४ के स्थान में १८८३ छप गया है। इस निबन्ध के सम्बन्ध में लिखने वाले अनेक लेखकों ने सर्वत्र १८८३ का ही निर्देश किया है। यथा—पं० गोपालराव हरि(फर्रुखाबाद)द्वारा लिखित 'दयानन्द दिग्विजयार्क' खण्ड ३, पृष्ठ ३२१, पं० ११ (सं० १९४४) नया संस्करण, (देहली) पृष्ठ २८५, पं० ३१, पं० लेखराम कृत ऋ०द० का जीवन चरित, पृष्ठ २०१ (हिन्दी सं०) तथा प्रा० निर्मल कुमार (शोलापुर) रचित 'लोकहितवादी: काल आणि कर्तृत्व, पृष्ठ २३९, पं० १६ इनमें से किसी ने भी यह नहीं सोचा कि ऋ० द० का स्वर्गवास ३० कक्टूबर ८३ को हुआ, पुनः फरवरी १८८३ के लोकहितवादी में स्वर्गवास का निर्देश कैसे हो सकता है?

[2] द्र०—ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्वद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख, पृष्ठ १०६ पर टि० सं० ५ का 'ख भाग तथा. (वेदवाणी, वर्ष ३४, अंक ५ मार्च १९८२, पृष्ठ १०६ पर टि० ५ का 'ख' भाग)।

[3] महात्मा मुंशीराम जी (स्वा० श्रद्धानन्द जी) ने पूना के व्याख्यानों का 'उपदेशमञ्जरी' के नाम से जो उर्दू संस्करण प्रकाशित किया था, उसकी भूमिका में इन व्याख्यानों का 'संस्कृतभाषा' में होने का उल्लेख किया है, वह अशुद्ध है। महात्मा मुंशीराम जी की यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है अतः

"स्वामी दयानन्द संस्कृत अच्छी प्रकार नहीं जानते, इसी से हिन्दी में बोलते हैं" ऐसा प्रवाद फैला दिया। अतः ऋषि दयानन्द ने १७ जुलाई १८७५ के दिन अपना 'पुनर्जन्म' विषयक छठा व्याख्यान संस्कृतभाषा में आरम्भ किया। ऋषि दयानन्द की सुललित, सुमधुर, सुस्पष्ट, सुगम और स्वाभाविक प्रवाह-पूर्ण संस्कृतभाषा को सुनकर श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो गये, परन्तु संस्कृत न जाननेवाले विपुल जन-समूह की प्रार्थना पर शेष व्याख्यान आर्यभाषा में पूर्ण किया।[1]

व्याख्यान-स्थल--ऋषि दयानन्द के पूना-नगर के सभी व्याख्यान बुधवार पेठ में तांबड़े जोगेश्वरी [मन्दिर और वेद-पाठशाला के मध्य] जवर्शल भिड़े के बाड़े में हुए थे।[2] प्रा० कुशलदेव जी वडवलकर के लेखानुसार भिड़ेवाड़े की पहली मञ्जिल के दीवान खाना (हिन्दू क्लब) नामक ७०×२० फिट के हाल में हुए थे।[3]

प्रथमतः मराठी भाषा में प्रकाशन--ऋषि दयानन्द के उक्त भाषणों का सारांश भाषणकाल में ही न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा लिखा गया।[4] उनका मराठी भाषा में अनुवाद उस समय के समाचार पत्रों में तथा २०×२६ अठपेजी आकार में पृथक्-पृथक् पुस्तिकाओं (ट्रैक्टों) के रूप में उसी समय प्रकाशित किया गया।

हमने इसे 'पूना-प्रवचन' के अन्त में परिशिष्ट रूप में छापा है। पाठक उसे अवश्य देखें।

[1] द्र० पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जी० च०, भाग १, पृष्ठ ३४९।

[2] त्यांचा या मुक्कामांत त्यानी बुधवार पेठेतील तांबड़े जोगेश्वरी जवर्शल भिडे यांचे वाडयांत ता० ४ जुलै पासून्.........अनेक विषयांवर व्याख्याने दिली। परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'स्वा० द० स० यांचे पुण्यांचे व्याख्यान' प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

[3] ऋ० द० और आ० स० से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख, पृष्ठ १०५ पर टि० ५ (क) तथा वेदवाणी मार्च १९८२ का अंक, पृष्ठ १०५, टि० ५ (क)।

[4] सम्भवतः यह निर्देश महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन चरित की भूमिका में है।

कालान्तर में उन्हीं के आधार पर 'उपदेशमञ्जरी'[1] अथवा 'पूना-प्रवचन' के नाम से ये व्याख्यान आर्यभाषा में प्रकाशित हुए।

सन् १८७५ के मराठीभाषा में प्रकाशित व्याख्यानों की उपलब्धि के लिये मैं लगभग २० वर्ष से प्रयत्न कर रहा हूं। इसी के मध्य सन् १९६१ में पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल स्व० न० वि० गाडगिल ने मराठी भाषा में छपे ८ व्याख्यान परोपकारिणी सभा अजमेर को दिये। उक्त सभा ने उन्हें सं० २०२० (सन् १९६३) में प्रकाशित किया। इसके अनन्तर इन व्याख्यानों का अन्वेषण करते हुए 'भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट' पूना के पुस्तकालय में **'मराठी-ग्रन्थ-सूची'**[2] के प्रथमभाग में १३ व्याख्यानों का विवरण उपलब्ध हुआ। उसी विवरण से ज्ञात हुआ कि प्रतिदिन के व्याख्यान मराठी भाषा में पृथक्-पृथक् छपे थे, परन्तु मुझे उपलब्ध नहीं हुए। तत्पश्चात् इसी वर्ष जनवरी में जब मैं प्रस्तुत संग्रह प्रकाशित कर रहा था, श्री गौरीशंकरसिंह जी द्वारा सम्पादित 'आर्यसमाज साहित्य सर्वस्व' से ज्ञात हुआ कि नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता के पुस्तक-संग्रह में १२ व्याख्यान विद्यमान हैं। मैंने पहले अपने मित्र श्री पं० उमाकान्त जी उपाध्याय (आ० स० विधानसरणि कलकत्ता) को इन की प्राप्ति के लिये लिखा। उन्हें इस में सफलता नहीं मिली। अन्त में मैं स्वयं १० मार्च १९८२ को कलकत्ता गया। परन्तु वहां पर्याप्त प्रयत्न करने पर भी उक्त व्याख्यान उपलब्ध नहीं हुए।

अकस्मात् १३ व्याख्यानों की उपलब्धि—कलकत्ता जाने से कुछ दिन पूर्व भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट के ग्रन्थपाल श्री वा० ल० मंजूल जी का २०-२-१९८२ का पत्र अकस्मात् मिला। उस में लिखा था—

'हमारे पुराणे संग्रह खोजते समय पूज्य स्वामी दयानन्द जी ने पूना में जुलै आगष्ट १८७५ में जो व्याख्यान दिये थे उस व्याख्यान की छोटी प्रिंटेड किताब हमें मिली है। शायद वह आप के काम की हो।

---

[1] सम्भवतः पूना प्रवचनों को 'उपदेश-मञ्जरी' नाम म० मुंशीराम जी ने ही प्रथमतः दिया होगा। और वही आगे प्रसिद्ध हो गया।

[2] एस० जी० दाते, ग्रन्थसूची कार्यालय, ९९३ सदाशिवपेठ, पूना २।

इस का शिवत है "स्वामी दयानन्द सरस्वती यांणि जाहीराती बर-हुकुम बुधवार पेठें तील भिडयांचे वाडयांत ता० ८ माहे जुलै. १० जुलै, १६ जुलै, १७ जुलै, २० जुलै, २४ जुलै, २५ जुलै, ३१ जुलै, ३ आगष्ट, ४ आगष्ट रोजी रात्री व्याख्यान दिले त्यांचा सारांश।"

इस के पेजस ९६ होंगे और फ़ेरोक्सीज चार्जेस पोस्टेज सहित ५० रु० हो सकेगा। अगर आप चाहते हैं तो लिख दीजिये।"

मैंने इस पत्र को पाते ही इन व्याख्यानों की फोटोस्टेट (फ़ेरोक्स) कापी के लिये ५० रुपये भेज दिये। कलकत्ता से खाली हाथ लौटने पर मुझे पूना से आया हुआ पैकट मिला। बड़ी उत्सुकता से खोला। तिथिक्रम का मिलान करने पर इस में १३ व्याख्यान उपलब्ध हुए। इस से मेरा अन्तःकरण अत्यन्त हर्षित हुआ। मेरी चिर-काल की साध और प्रयत्न अन्त में सफल हुआ। इस प्रकार तृतीय व्याख्यान से पन्द्रहवें व्याख्यान तक १३ व्याख्यान सन् १८७५ के मराठी भाषा में छपे हुए तथा परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ८ व्याख्यानों में से आरम्भ के दो व्याख्यान मिलाकर पूरे १५ व्याख्यान मराठी भाषा में हमें उपलब्ध हो गये। इन्हें शीघ्र ही हम प्रकाशित करेंगे। कैम्प में दिये गये व्याख्यान न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के रुग्ण हो जाने के कारण लिखे ही नहीं गये, अतः वे प्रकाशित नहीं हुए।

मराठी भाषा के अनुवादक—परोपकारिणी सभा (अजमेर) ने सं० २०३३ में जो 'पूना-प्रवचन' (हिन्दी) छपवाया, उसकी भूमिका (पृष्ठ iv) में डा० भवानीलाल भारतीय ने पं० शङ्करदेव विद्यालंकार के पत्र के आधार पर लिखा है—'सन् १८७५ में पूना हाईस्कूल के सहायक मुख्याध्यापक **श्री गणेश जनार्दन आगाशे बी० ए०** ने मराठी भाषा में लिपिबद्ध किया।'

मराठी-संस्करण के सम्पादक—पं० देवेन्द्रनाथ के लेखानुसार मराठी भाषा में प्रकाशित व्याख्यानों का सम्पादन **श्री महादेव गोविन्द रानाडे** ने किया था।[1] पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने भी लिखा है—'पूने वाले व्याख्यान मराठी अखबार में छपे। फिर उनका

---

[1] देवेन्द्रनाथ संकलित जी० च० भाग १, पृष्ठ ३४८।

संग्रह और सम्पादन मराठी में महादेव गोविन्द रानाडे जैसे विद्वान् ने किया था ।[1]

इस संस्करण का विवरण—प्रत्येक दिन के भाषण का सारांश मराठी भाषा में पुस्तिका (ट्रैक्ट) के रूप में दूसरे वा तीसरे दिन प्रकाशित हो जाता था । सभी भाषण जिस आकार में तथा जितने पृष्ठों में छपे उन का उल्लेख नीचे दे रहे हैं—

संख्या	तारीख	आकार	पृष्ठ
१	४ जुलाई १८७५	९.३×६.३ इंच (=२४ सें.)	३
२	६ ,, ,,	,, ,,	३
३	८ ,, ,,	,, ,,	५
४	१० ,, ,,	,, ,,	५
५	१३ ,, ,,	,, ,,	६
६	१७ ,, ,,	,, ,,	९
७	२० ,, ,,	,, ,,	९
८	२४ ,, ,,	,, ,,	८
९	२५ ,, ,,	,, ,,	२
१०	२७ ,, ,,	,, ,,	६
११	२९ ,, ,,	,, ,,	४
१२	३१ ,, ,,	,, ,,	६
१३	२ अगस्त ,,	,, ,,	४
१४	३ ,, ,,	,, ,,	३
१५	४ ,, ,,	,, ,,	७

पं० लेखराम जी ने ऋ० दयानन्द के जीवन चरित में १५ व्याख्यानों की यही तारीखें दी हैं ।

विशेष—'मराठी ग्रन्थ सूची' में संख्या १-१० तथा १३-१५ अर्थात् १३ व्याख्यानों का विवरण मिलता है । 'आर्यसमाज साहित्य सर्वस्व' में पृष्ठ ९४-९५ पर १-४, ६-१०, तथा १३-१५ अर्थात् १२ व्याख्यानों

---

[1] राष्ट्रिय इतिहास का अनुशीलन, पृष्ठ २४ । प्रकाशक—हिन्दीभवन, जालन्धर, सन् १९६६ ।

का उल्लेख है। आ० स० सा० सर्वस्वकार ने विवरण में इनकी स्थिति नैशनल लायब्रेरी कलकत्ता में दर्शाई है, परन्तु हमें ११ मार्च १९८२ को वहां जाने पर उपलब्ध नहीं हुए। मराठी-ग्रन्थ-सूची में आकार इञ्चों में दिया है और आ० स० सा० सर्वस्व में सेंटीमीटर में दिया है। आ० स० सा० सर्वस्व के विवरण में कहीं-कहीं पृष्ठों की संख्या में भूल है।

मराठी संस्करण में विषयक्रम में भिन्नता और अशुद्धि—मराठी संस्करण में १३ वें और १४ वें व्याख्यान के क्रम में पौर्वापर्य है, अर्थात् १३वां व्याख्यान 'नित्य कर्म और मुक्ति' विषयक है तथा १४वां व्याख्यान पूर्व प्रकृत इतिहास विषयक है। परन्तु दोनों के आरम्भ में **नित्यकर्म वा मुक्ति या विषयावर** का उल्लेख है। साथ ही १४ वें व्याख्यान में पूर्व के ११-१२ व्याख्यानों के आरम्भ में मन्त्रपाठ के अनन्तर जैसे (**इतिहास पुढ चालूं**) लेख है उसी प्रकार १४ वें व्याख्यान के आरम्भ में भी उपलब्ध होता है। १५वें व्याख्यान के आरम्भ में प्रारम्भिक उल्लेख में तो '**नित्यकर्म वा मुक्ति या विषयावर**' ही छपा है, परन्तु इसके नीचे स्थूलाक्षरों में '**आयलें पूर्वीचे चरित्र सर्वत्रांस कलविलेत्या सम्बन्धाने झालेल्या भाषणांचा सारांश** लेख भी मुद्रित है।'[1]

इससे विदित होता है कि संख्या १३-१४-१५ के भाषण एक साथ छपे हैं। छपते समय तारीख तो बदल दी गई, परन्तु भाषण के विषय निर्देशक शब्द बदलने रह गये। मुद्रण के समय असावधानता से ऐसी भूलें प्राय: हो जाती हैं। ऋषि दयानन्द के द्वारा काशी में सं० १९३६ में वैदिक यन्त्रालय की स्थापना के अनन्तर **वर्णोच्चारण शिक्षा** का मुद्रण हुआ। मुख पृष्ठ पर ग्रन्थ नाम के नीचे **पाणिनिमुनिप्रणीता श्रीमत्स्वामि दयानन्दसरस्वती कृत व्याख्यासहिता** छपा था। उस के अनन्तर **संस्कृतवाक्यप्रबोध** छपा। उसके मुख पृष्ठ पर ग्रन्थ नाम के नीचे वही **पाणिनि**…………**व्याख्यासहिता** जैसे का तैसा छप गया। अर्थात् वर्णोच्चारणशिक्षा के मुख पृष्ठ का कम्पोज रखा हुआ होगा उस में ग्रन्थ नाम आदि कुछ अंश बदल दिये गये परन्तु **पाणिनि**…… ……**व्याख्यासहिता** वैसा ही पड़ा रह गया।

---

[1] पं० लेखराम जी ने १५वें व्याख्यान का विषय तो शुद्ध कर दिया, परन्तु १४ वें का अशुद्ध ही बना रहा। द्र० हिन्दी सं० पृष्ठ २८१।

इस विवेचना से १४ वें १५ वें व्याख्यान के आरम्भ में छपे **नित्यकर्म वा मुक्ति विषयावर** की समस्या तो हल हो ही जाती है, साथ ही यह भी निश्चय हो जाता है कि २ अगस्त का १३ वां व्याख्यान 'नित्यकर्म और मुक्ति' विषय का ही था। उसके पश्चात् ३ अगस्त को पूर्व अवशिष्ट इतिहास विषय को पूर्ण किया गया। इस क्रम भेद का कारण अज्ञात है। आर्यभाषा में तथा पं० हरि सखाराम तुंगार कृत मराठी रूपान्तर में छपे पूना के प्रवचनों में १३ वां व्याख्यान इतिहास विषयक है और १४ वां नित्यकर्म और मुक्ति विषयक। गुजराती रूपान्तर हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

यद्यपि विषय के क्रम से प्रस्तुत संस्करण में १३वां इतिहास विषयक व्याख्यान पहले छपना चाहिये तथा 'नित्यकर्म और मुक्ति' विषयक पीछे। यथा हिन्दी संस्करणों और तुङ्गार के मराठी संस्करण में छपे हैं, तथापि **हम इस संस्करण में सन १८७५ को छपे मूल मराठी संस्करण के अनुसार ही १३ वां 'नित्यकर्म और मुक्ति' विषयक तथा १४ वां 'इतिहास' विषयक ही छाप रहे है।** क्रमविच्छेद महान् दोषाधायक नहीं होता है। मीमांसक के **पाठक्रमात् अर्थक्रमो बलीयान्** (=पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है) इस न्याय से मध्य में १२ वें व्याख्यान के विषयान्तर होने पर भी अर्थ सम्बन्ध १२ वें व्याख्यान का १४ वें व्याख्यान के साथ हो ही जायेगा। आगे मुद्रयमाण **बम्बई-प्रवचन** में भी १५ वां १६ वां व्याख्यान वेदविषयक है। १७ वां 'आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी का संबन्ध' विषय है, तथा १८ वां पुनः वेदविषय है। १३ वें और १४ वें व्याख्यानों का विषयक्रम से पौर्वापर्य किस ने किया, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका, क्योंकि सबसे प्राचीन पं० भगवती प्रसाद शुक्ल का आर्यभाषानुवाद तथा गुजराती अनुवाद हमें उपलब्ध नहीं हुए।

सन् १८७५ के मराठी संस्करण के पूर्वार्ध का पुनः प्रकाशन–– उपर्युक्त मराठी भाषा में पृथक्-पृथक छपे १५ व्याख्यानों में से आरम्भ के १-६ तथा ८-९ का दूसरी बार इकट्ठा प्रकाशन हुआ था[1]। इन पुनर्मुद्रित व्याख्यानों की एक प्रति स्व० नरहरि विष्णु गाडगिल ने सन् १९६१ में परोपकारिणी सभा को दी थी। सम्भवतः इसी पुनर्मुद्रित मराठी संस्करण की एक प्रति कोल्हापुर के श्री हरि

---

[1] इस संस्करण में ७ वां व्याख्यान सम्भवतः उपलब्ध न होने से नहीं छपा।

सखाराम तुङ्गार को भी प्राप्त हुई थी । उस का मुख पृष्ठ फटा हुआ था । इसलिये उन्होंने **'आर्यधर्मेन्द्र दयानंद सरस्वती यांची पुणें येथील व्याख्यानें** के प्रारम्भिक वक्तव्य में लिखा है—"महर्षि के व्याख्यानों की एक पुरानी प्रति यहां के 'सार्वजनिक पुस्तकालय' में दृष्टि में आई, उसमें केवल ९ व्याख्यान थे । उसे किसने छापा, कहां छपी, कब छापी नहीं जाना जा सका, क्योंकि इसका मुख पृष्ठ फटा हुआ था ।[1]

पूर्वार्ध का दुबारा प्रकाशन—श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने १-६ तथा ७-९ व्याख्यानों की इकट्ठी छपी जो प्रति परोपकारिणी सभा को दी, उसको परोपकारिणी सभा ने सन् १९६३ में प्रकाशित किया । इसकी प्रस्तावना न० वि० गाडगिल ने लिखी है ।

११ वें से १५ वें व्याख्यान तक की तारीखों में भ्रान्ति—कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के डा० के० सी० यादव ने १६ जनवरी १९७३ को मुझ पत्र लिखा । उसमें यादव जी लिखते हैं--[आपके संस्करण में] पहले व्याख्यान से लेकर ९वें व्याख्यान तक की तारीखें बिल्कुल सही हैं । १०वां व्याख्यान उसी जगह उसी समय (८ बजे) २७ जुलाई को हुआ । सारांश तुरन्त छपा । ६ पृष्ठ ९.३×६.३ साइज पर, ११ वां २ अगस्त को ५ पृष्ठ वही साइज, १२वां २ अगस्त को ३ पेज, वही साइज, १३वां ४ अगस्त को ७ पेज वही साइज । १४ और १५ की कापियां उपलब्ध नहीं हैं । हां, पं० भगवदत्त की तारीख ४ अगस्त १५ वें व्याख्यान के लिये बिल्कुल गलत है । उसे अगले संस्करण में ठीक करें ।

श्री यादव जी ने १०-११-१२-१३ व्याख्यानों की जो तारीखें दी हैं उनका आधार पूर्व निर्दिष्ट मराठी-ग्रन्थ-सूची है । उसमें १३ व्याख्यानों का व्यौरा दिया है । यह हम पूर्व लिख चुके हैं । उसमें दी गई तारीखों को श्री यादव जी ने क्रमशः १३ व्याख्यानों की तारीखें समझ कर, श्री पं० भगवदत्त जी ने आत्मचरित पर जो ४ अगस्त तारीख दी है, उसे 'बिल्कुल गलत' कहा है । यहां यादवजी यदि मराठी ग्रन्थसूची के विवरण

---

[1] यह 'आर्यधर्मेन्द्र दयानन्द सरस्वती यांचीं पुणे येथील व्याख्यानें' के प्रारम्भिक वक्तव्य के दूसरे पृष्ठ के मराठी पाठ का भावानुवाद है ।

को ध्यान से पढ़ते तो उन्हें अपनी भूल प्रतीत हो जाती। वस्तुतः मराठी ग्रन्थ-सूचो के निर्माता को ११वां तथा १२वां व्याख्यान उपलब्ध नहीं हुआ। यादवजी जिन्हें ११वां १२वां १३वां व्याख्यान समझते हैं वे वस्तुत: १३वां १४वां १५वां है। पं० भगवद्दत्त जी के १५वें व्याख्यान की ४ अगस्त तारीख का आधार पं० लेखरामजी कृत ऋ० द० का जीवन चरित है। यह तारीख १८७५ के छपे मूल मराठी व्याख्यानों की उपलब्धि से परिपुष्ट होती है।

१४ व्याख्यानों का मराठी भाषा में पुनः रूपान्तर एवं प्रकाशन–श्री हरि सखाराम तुंगार महोदय ने ऋ० द० के पूना में दिये गये व्याख्यानों को 'ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी (मथुरा) के अवसर पर शकाब्द १८४७ (सं० १९८२, सन् १९२५) में '**आर्य धर्मेन्द्र दयानंद सरस्वती यांचीं पुणें येथील व्याख्यानें**' नाम से प्रकाशित किया। इस मराठी संस्करण में ७[1], १०, ११, १२, १३, १४ व्याख्यानों का किसी हिन्दी संस्करण के आधार पर पुनः मराठी रूपान्तर किया गया। शेष व्याख्यानों का पूर्व मुद्रित मराठी संस्करण में स्वल्प परिवर्तन करके स्वीकार कर लिया। १५वें व्याख्यान को लेखक ने स्वयं छोड़ दिया क्योंकि ऋ० द० का जीवन चरित वे प्रकाशित कर चुके थे।

तुङ्गारजी के संस्करण में क्रमभेद– तुङ्गार—जी के मराठी संस्करण में पांचवां वेद विषयक व्याख्यान छठे व्याख्यान के रूप में छपा है। इस पर १३ जुलाई के स्थान में १४ जुलाई भी अशुद्ध मुद्रित हुआ। इसी प्रकार छठा जन्म विषयक व्याख्यान पांचवें स्थान पर छपा है। इस पर १७ जुलाई का निर्देश है। इस तिथिव्यत्यास से विदित होता है कि यह विपर्यय मुद्रण दोष से हुआ है।

स्वयंकल्पित तारीखें—तुङ्गार जी अपने मराठी अनुवाद में प्रारम्भ के ९ व्याख्यानों की तारीखें तो उन्हें उपलब्ध पुराने मराठी संस्करण के अनुसार ठीक दी है (१३ जु० के स्थान में १४ को छोड़कर)। नवमें व्याख्यान की तारीख है २५ जुलाई १८७५। इसके आगे

---

[1] यहां तुंगार जी की प्रस्तावना में संख्या ६ लिखी है, वह अशुद्ध है क्योंकि उन्हें जो मराठी संस्करण उपलब्ध हुआ था उसमें छठा व्याख्यान है, ७ वां व्याख्यान नहीं है।

उन्होंने आर्यभाषा में अनूदित व्याख्यानों का पुनः मराठीकरण किया है। आर्यभाषा के संस्करणों में इन व्याख्यानों की तारीखें नहीं दी हैं। अतः श्री तुङ्गार जी ने १० से १५ तक के व्याख्यानों की २८,२९, ३०,३१ जुलाई तथा, १,२ अगस्त की तारीखें सम्भवतः अपनी कल्पना से दे दी हैं।

गुजराती अनुवाद—पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय के लेखानुसार पूना के १५ व्याख्यानों का गुजराती भाषा में अनुवाद उसी समय अर्थात् मराठी संस्करण के प्रकाशन के कुछ काल पश्चात् ही हो गया था।[1] इसका नाम **'स्वामी दयानन्द सरस्वती नु भाषण'** था। चीखली' जिला सूरत के सुखराम त्र्यम्बक ने अपने १६-१२-[१८]८१ को ऋषि दयानन्द के नाम लिखे पत्र में लिखा है—"अहमदाबाद गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी ने अवल 'दयानन्द सरस्वती नुं भाषण' नाम ग्रन्थ की एक प्रत उक्त पुस्तकालय में रखने के लिये खरीद करके ली है जिनकी कीमत रु० ।।।) है वह पुस्तक कौन सा है ?"।[2] इस गुजराती अनुवाद का कर्त्ता कौन था ? कब और कहां से छपा, यह सब अज्ञात है।

गुजराती अनुवाद ढूंढने का प्रयत्न—गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' अहमदाबाद में विद्यमान उक्त पुस्तक को ढूंढने के लिये गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' में दो बार मैं स्वयं गया और तत्पश्चात् मेरी प्रेरणा पर सं० २०२२ में श्री पं० भगवान् देव जी (तत्कालीन अधिष्ठाता म० द० स्मारक टंकारा) ने भी उक्त पुस्तकालय की पर्याप्त छानबीन की, परन्तु उक्त पुस्तक हम दोनों को वहां उपलब्ध नहीं हुई।

आर्यभाषा में अनुवादक—आर्यभाषा में ऋषि दयानन्द के पूना में दिये गये १५ व्याख्यान 'पूना-प्रवचन', 'उपदेश मञ्जरी' नाम से तथा बिना किसी विशिष्ट नामकरण के कई संस्करण प्रकाशित

---

[1] द्र०—लाला लाजपतराय लिखित 'महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम'। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा देहली द्वारा सार्वदेशिक पत्र के २० अगस्त १९६७ को विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित, पृष्ठ १९५।

[2] म० मुंशीराम सम्पादित ऋ० द० का पत्रव्यवहार, भाग १, पृष्ठ २९२। रा० ला० कपूर ट्रस्ट द्वारा ३ भागों में प्रकाशित हो रहे 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के तीसरे भाग में इस पत्र को तिथि क्रमानुसार देखें।

हो चुके हैं। परन्तु दो संस्करण को छोड़ कर किसी पर भी अनुवाद का नाम उपलब्ध नहीं होता। अत: इस विषय में हमें जो जानकारी उपलब्ध हुई है, उसे हम नीचे प्रकाशित करते हैं—

१—**पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा**—मारवाड़ (जोधपुर के आर्योपदेशक पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा ने ऋ० द० के पूना के व्याख्यानों का महाराष्ट्रीय भाषा से नागरी भाषा में अनुवाद किया था। इसे राजस्थान और मालवा की आर्यप्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री बा० रामविलास शारदा ने संवत् १९५० (सन् १८८३) में वैदिक यन्त्रालय अजमेर में २००० दो सहस्र छपवाकर प्रकाशित किया। पं० गणेश रामचन्द्र द्वारा आर्यभाषा में अनूदित ९ व्याख्यान सात पुस्तिकाओं (ट्रेक्टों) के रूप में उपलब्ध होते हैं। इन में प्रथम और द्वितीय पुस्तिकाओं में दो-दो दिनों के व्याख्यान और तद्विषयक शंका-समाधान का संग्रह है। प्रतीत होता है पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा ने ९ प्रवचनों का ही आर्यभाषा में अनुवाद किया था। इन पुस्किाओं (ट्रैक्टों) पर निम्न पाठ छपा हुआ है—

श्री १०८ श्री दयानन्द सरस्वती जी
महाराज के व्याख्यान
जिसको
पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा उपदेशक मारवाड़ ने
महाराष्ट्रीय से
नागरी भाषा में उल्था किया
और
बा० रामविलास सारदा मन्त्री ने
आर्य पुस्तक प्रचारिणी सभा राजस्थान की
ओर से प्रकाशित किया
अजमेर
वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित हुआ
संवत् १९५०[1]

---

[1] सं० १९५० के आगे प्रत्येक पुस्तिका में पृथक्-पृथक् उन महिनों के नामों का उल्लेख मिलता है, जिनमें वे पुस्तिकाएं छपी थीं।

हमारे संग्रह में विद्यमान प्रथम पुस्तिका का मुख पृष्ठ फटा हुआ है और तृतीय ट्रैक्ट हमारे संग्रह में नहीं है।

पं० गणेश रामचन्द्र का यह अनुवाद भाव-प्रधान है। इसलिये इसमें कहीं-कहीं मूलपाठ मराठी से अधिक भी लेख मिलता है। यथा तृतीय प्रवचन के अन्त में दान-प्रकरण के अन्त में 'धन लगाया जाये' के पश्चात् '**दीन, अपायज, रोगी, कुष्ठी, अनाथ आदिकों को सहायता करना**' इतना अंश मराठी पाठ से अधिक है।

२—**पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल**– मौजा कलम्ब के निवासी पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल ने पूना के १५ व्याख्यानों का आर्यभाषा में अनुवाद किया था। इसके सम्बन्ध में म० मुंशीरामजी ने उर्दू में प्रकाशित 'उपदेशमञ्जरी' की भूमिका[1] में इस प्रकार लिखा है—

'इसी असना में (शायद पं० लेखराम जी की दर्खास्त पर) आर्यसमाज के पुरुषार्थी और धार्मिक सभासदों यानी ठाकुर गोविन्दसिंह साहिब मन्सबदार व पं० श्री निवासरावजी नायब मुहासिब धाराशिव रियास्त हैदराबाद ने पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल साकिन मौजा कलंब से इन्हीं पन्द्रह व्याख्यानों का देवनागरी में तर्जुमा करवाया।'

पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल का आर्यभाषानुवाद हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

३—**पं० बदरीदत्त शर्मा**—हमारे संग्रह में 'उपदेशमञ्जरी'[2] (पूना के १५ व्याख्यान) का सन् १९१० ई० (सं० १९६७) का छपा १८× २२ अठपेजी आकार का एक संस्करण है, जिसे श्यामलाल वर्मा बुक्सेलसर बांस बरेली ने छपवाया था। उसके मुख पृष्ठ पर छपा है—

श्रीमान् पण्डित बदरीदत्त शर्मा कानपुर द्वारा
सरल और मनोहर भाषा में अनुवाद
कराके प्रकाशित किया

---

[1] इस भूमिका को हम पूना-प्रवचन के अन्त में छाप रहे हैं।

[2] पूना-प्रवचनों के संग्रह का 'उपदेश-मञ्जरी' नाम से प्रकाशन सब से पूर्व म० मुंशीराम जी ने सन् १८९८ में किया था। तदनन्तर आर्यसमाज के अन्य प्रकाशकों ने भी इन्हें 'उपदेश-मञ्जरी' नाम से ही प्रकाशित किया।

इस संस्करण में इस बात का कोई संकेत नहीं कि यह अनुवाद मराठी गुजराती और उर्दू[1] भाषाओं में से किस भाषा से कराया गया। पुस्तक में अनुवादक वा प्रकाशक का कोई वक्तव्य भी नहीं है। अतः यह लेख अस्पष्ट है।

उर्दू से आर्यभाषा में अनुवाद की सम्भावना—पं० बदरीदत्त शर्मा ने जो आर्यभाषा में अनुवाद किया है, उस का मूल सम्भवतः महात्मा मुंशीराम जी का उर्दू अनुवाद है। इस संभावना का कारण यह है कि दसवें इतिहास विषय व्याख्यान के आरम्भ में **'कोदिस्टकी-ब्राह्मण'** नाम मिलता है। पूना के सन् १८७५ के मराठी संस्करण में 'कोशीतकी ब्राह्मण' (मराठी उच्चारण) नाम उपलब्ध होता है। मराठी से आर्यभाषा में प्रथम अनुवाद करनेवाले पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल ने निश्चय ही 'कौषीतकि ब्राह्मण' अथवा मराठी उच्चारण 'कौशीतकीब्राह्मण' ही लिखा होगा। यही शब्द महात्मा मुंशीराम जी ने उर्दू में दिया होगा (उर्दू अनुवाद हमारे पास नहीं है)। उर्दू में लिखे गये कौषीतकि या कौशीतकी शब्द को उर्दू लिपि की अपूर्णता के कारण तथा कौषीतकि ब्राह्मण का परिचय न होने के कारण पं० बदरीदत्त ने 'कोदिष्टिकी' पढ़ लिया होगा। पं० बदरीदत्त शर्मा के आर्यभाषानुवाद के आधार पर छपे कुछ उत्तरवर्ती संस्करणों में भी यह भूल उपलब्ध होती है।

४—पं० श्रीराम शर्मा—श्री पं० श्रीराम शर्मा ने 'पूना-प्रवचन' के नाम से पूना के १५ व्याख्यानों का एक सुन्दर संस्करण सम्पादित किया था। इस संस्करण को सं० १९९४ (सन् १९३७) में श्री मदन-मोहन चौबे, अधिष्ठाता आर्य साहित्य प्रकाशन मन्दिर, आगरा ने प्रकाशित किया था। यह २०×३० सोलह पृष्ठी आकार में समाचार पत्रीय कागज (न्यूजप्रिण्ट) पर छपा था। यह संस्करण जोधपुर निवासी प्रा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० ने 'स्त्री आर्यसमाज जोधपुर' के पुस्तकालय से लेकर सन् १९६९ में भेजा था। भाषा की दृष्टि से यह संस्करण उपलब्ध संस्करणों में सबसे उत्तम है।

---

[1] १. पूना के प्रवचनों का उर्दू भाषानुवाद म० मुंशीराम जी ने प्रकाशित किया था। इस का वर्णन हम आगे करेंगे।

अब तक आर्यभाषा में 'उपदेश-मञ्जरी' नाम से वा पूना-प्रवचन नाम से इस के अनेक संस्करण निकल चुके हैं।

चार संस्करणों की तुलना का निष्कर्ष—हमने 'ऋषिदेवी रूपलाल कपूर पब्लिक ट्रस्ट, देहली' की ओर से सं० २०२६ (सन् १९६७) प्रकाशित संस्करण को तैयार करते समय निम्न चार संस्करणों की तुलना की थी—

१—पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा द्वारा सं० १९५० (सन् १८९३) में अनूदित तथा अजमेर से प्रकाशित ६ व्याख्यान।

२—पं० बदरीदत्त शर्मा द्वारा अनूदित सन् १९१० (सं० १९६७) में बरेली से प्रकाशित।

'आर्यसमाज साहित्य सर्वस्व' (पृष्ठ २) से ज्ञात होता है कि सन् १९३१ में इसका छठा संस्करण प्रकाशित हुआ था।

३—पं० श्रीराम शर्मा द्वारा संशोधित सं० १९९४ (सन् १९३७) में आगरा से प्रकाशित।

४—प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली से सन् १९६१ (सं० २०१८) में प्रकाशित।

इन चारों संस्करणों की तुलना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि पं० बदरीदत्त शर्मा के अनुवाद के आद्य ९ व्याख्यानों का मूल पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा का किया हुआ भाषानुवाद है। शेष ६ व्याख्यानों का मूल सम्भवतः म० मुंशीराम जी का उर्दू अनुवाद हो। प्रेम पुस्तक भण्डार से प्रकाशित संस्करण का मूल पं० बदरीदत्त शर्मा का अनुवाद है। इन में उतना ही स्वल्प नाममात्र का अन्तर है, जितना मुद्रण-प्रमाद आदि से पुनर्मुद्रण में प्रायः हो जाता है। पं० श्रीराम शर्मा का संस्करण कहीं कहीं इन से भिन्न है। इस का कारण भाषा आदि का संशोधन प्रतीत होता है।

आर्यभाषा के अन्य संस्करण—इस (सं० २०३९) समय हमारे पास 'उपदेशमञ्जरी अथवा पूना-प्रवचन के नाम से आर्यभाषा में छपे चार संस्करण और हैं। उन का विवरण इस प्रकार है—

१—**उपदेशमञ्जरी**—जगत् राम आर्य (द्विवेदी) द्वारा आर्यप्रकाशन मण्डल, लाजपत मार्केट, देहली से पौष २००७ (जनवरी १९५१) में प्रकाशित। यह २०×३० सोलह पेजी आकार में छपा है।

२—**उपदेशमञ्जरी**—इसका आद्यन्त भाग नष्ट हो चुका है। अतः यह किसने, कब और कहां से प्रकाशित किया, अज्ञात है। जिस कागज में यह लिपटा हुआ रखा है, उस पर 'बरेली की छपी' लिखा हुआ है। यह अखबारी कागज पर २०×३० सोलह पेजी आकार में छपा हुआ है। सम्भव है यह पूर्व वर्णित प्रेम पुस्तकालय बरेली द्वारा प्रकाशित संस्करण ही हो।

३—**पूना-प्रवचन** (उपदेशमञ्जरी)—इसके सम्पादक डा० भवानीलाल भारतीय है और यह परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा स० २०३३ में १८×२२ अठपेजी आकार में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में श्री भारतीय जी ने हमारे द्वारा सम्पादित और 'ऋषि-देवी रूपलाल कपूर ट्रस्ट' देहली द्वारा सं० २०२६ में प्रकाशित पूना-प्रवचन की उदारता पूर्वक संस्तुति करते हुए स्पष्ट लिखा है—

'प्रस्तुत संस्करण में हमने प्रवचनों का श्री मीमांसक जी द्वारा निर्धारित पाठ ही स्वीकार किया है। किन्तु साधारण पाठकों के लिये अधिक उपयोगी न जानकर [उनको] बहुत सी टिप्पणियों को हटा दिया है (भूमिका पृष्ठ vii)।

श्री भारतीय जी ने अपने संस्करण में **'पूना-प्रवचनः** एक आलोचनात्मक विश्लेषण' में पूना-प्रवचनों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

४—**उपदेशमञ्जरी**—इसके सम्पादक श्री पं० राजवीर शास्त्री हैं और प्रकाशक **'आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट'** कमला नगर, देहली। यह सं० २०३७ में २३×३६ सोलह पेजी आकार में प्रकाशित हुई है। सम्पादक ने अपने प्राक्कथन में '**इस संस्करण की विशेषता**' सन्दर्भ के अन्तर्गत श्री पं० बदरीदत्त शर्मा और डा० भवानीलाल भारतीय के संस्करणों का तो उल्लेख किया है, किन्तु श्री भारतीय जी ने हमारे जिस संस्करण की संस्तुति की है, हमारे द्वारा निर्धारित पाठ और टिप्पणियों को स्वीकार करने का उल्लेख किया है, उस हमारे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण का निर्देश करना भी श्री राजवीर जी ने स्वयं अथवा ट्रस्ट के संस्थापक श्री दीपचन्द जी की धारणानुसार पाप समझा है। पाठक इतने से ही श्री राजवीर जी के अथवा श्री दीपचन्द जी की हमारे प्रति क्या मनोवृत्ति है, इस को समझ सकते हैं। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा करना जघन्य अपराध माना जाता है।

मिथ्या लेख—इसी प्राक्कथन में श्री राजवीर जी ने श्री पं० बदरीनाथ जी के प्रकाशन की टिप्पणियों को उचित समझकर अपने संस्करण में स्थान देने का उल्लेख किया है। प्रथम तो पं० बदरीदत्त जी के संस्करण में कोई टिप्पणियां हैं ही नहीं और यदि श्री राजवीर जी के पास उनका कोई ऐसा अद्भुत संस्करण है, तो उसकी कौनसी टिप्पणी राजवीर जी ने अपने संस्करण में दी है, इसका कुछ पता नहीं चलता। कारण, श्री राजवीर जी के संस्करण में जितनी भी टिप्पणियां हैं, उनमें से चार को छोड़कर शेष सभी टिप्पणियां श्री भारतीय जी के संस्करण में विद्यमान हैं (इन्हें श्री भारतीय जी ने हमारे संस्करण से लिया है)। और जो शेष चार टिप्पणियां श्री भारतीय जी के संस्करण में नहीं हैं, उन्हें श्री राजवीर जी ने सीधा हमारे संस्करण से लिया है। वे चार टिप्पणियां निम्न हैं—

१—पृष्ठ ५७ की टि० १—हमारी टिप्पणी को कुछ बदल कर छापा है।

२—पृष्ठ १०८ की टि० १—अक्षरशः हमारी टिप्पणी छापी है।

३—पृष्ठ ११३ की ☼ चिह्नित टि०—यह अक्षरशः हमारी टिप्पणी है।

४—पृष्ठ ११८ की ☼ चिह्नित टि०—यह भी अक्षरशः हमारी टिप्पणी है।

अपने को दयानन्द का अनुयायी सिद्ध करने का ढिंढोरा पीटने वाले व्यक्ति का 'सत्य का छिपना' अथवा 'असत्य लिखना' क्या देव दयानन्द की दृष्टि में महापाप नहीं है ? क्या ये लोग अपने ऐसे ही आचरण से देव दयानन्द की महत्ता को बढ़ायेंगे ?

उर्दू अनुवादक—महात्मा मुंशीराम जी ने पूना के प्रवचनों का उर्दू में अनुवादक करके सन् १८९८ (सं० १९५५) में 'उपदेशमञ्जरी' नाम से प्रकाशित किया था। उनके अनुवाद के आधार पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा और पं० भगवतीप्रसाद शुक्ल द्वारा विहित आर्य-भाषानुवाद थे। यह महात्मा जी ने स्वयं अपने उर्दू संस्करण के 'दीवाचा' (भूमिका) में लिखा है।

लाला लाजपतरायजी का भ्रम—श्री लाला जी ने अपनी महर्षि स्वामी दयानन्द और उनका काम' पुस्तक में लिखा है—'स्वामी जी

ने यहां (पूना) में १५ व्याख्यान दिये, जो उसी समय गुजराती भाषा में प्रकाशित हो गये, जिनको अब लाला मुंशीराम ने उपदेशमञ्जरी नाम से प्रकाशित किया है'।[1]

लाला लाजपतराय जी के लेख से यह ध्वनित होता है कि महात्मा मुंशीराम जी ने गुजराती भाषा से उर्दू भाषा में अनुवाद करके अपना उर्दू संस्करण छपवाया था। यदि लाला लाजपतराय जी का यही भाव हो तो उनका लेख म० मुंशीराम जी द्वारा प्रकाशित उपदेशमञ्जरी की भूमिका के लेख से विपरीत होने से चिन्त्य है।

हमारा सं० २०२६ का संस्करण—हमने सं० २०२६ (सन् १९७९) में ऋषिदेवी रूपलाल कपूर पब्लिक ट्रस्ट से पूना-प्रवचन का जो संस्करण छपवाया था, उसमें 'ग्रन्थ-परिचय' के अन्तर्गत लिखा था—

'हमने मूल मराठी अनुवाद (जो अभी परोपकारिणी सभा से छपा है)[2] पं० गणेश रामचन्द्रशर्मा, पं० बदरीदत्तशर्मा, पं० श्रीराम शर्मा और प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली के संस्करणों की तुलना करके यह विशिष्ट संस्करण तैयार किया है। हमने पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा के अनुवाद को (जहां तक वह प्राप्त है) प्रधानता देते हुए मूल मराठी संस्करण (१-६,८-९ व्याख्यान) से भी शब्दशः तुलना करके मराठी संस्करण के अनुसार अनेक स्थानों पर उचित संशोधन किया है। १० वें प्रवचन से अगले पाठ के लिये हमारे पास एकमात्र पं० बदरीदत्त शर्मा का ही संस्करण प्रमाणरूप रहता है, जो उपलब्ध संस्करणों में सबसे प्राचीन है।'

प्रस्तुत संस्करण—सन् १८७५ के छपे ३-१५ तक १३ मराठी व्याख्यानों की अचानक उपलब्धि हो जाने से इस संस्करण में हमने पूना-प्रवचन के सभी प्रवचनों के भाषानुवाद को मराठी अनुवाद से भली प्रकार मिलाकर पूर्ण उचित संशोधन करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से **हमारा यह संस्करण सबसे अधिक प्रामाणिक है।** इसके अतिरिक्त इस संस्करण में २०२६ में छापे गये संस्करण की अपेक्षा

---

[1] द्र० पृष्ठ २५३ की टिप्पणी १।

[2] इस मराठी संस्करण में व्याख्यान १-६ तथा ७-८ हैं।

बहुत सी टिप्पणियां बढ़ाई हैं। तथा अन्त में कई एक आवश्यक परिशिष्ट भी दिये हैं।

विशेष—प्रस्तुत संस्करण के विषय में पाठकों को निम्न दो बातें विशेष ध्यान में रखनी चाहियें—

(१) यह संस्करण मूल मराठी भाषा में सन् १८७५ में छपे १५ व्याख्यानों के साथ अक्षरशः मिला कर तैयार किया गया है। अतः इसमें पूर्व मुद्रित संस्करणों से बहुत स्थानों में पाठभेद उपलब्ध होगा। इसका कारण यह है कि पूर्व मुद्रित आर्यभाषा अनुवाद भाव-प्रधान है। हमारा यह संशोधित अनुवाद भाव की पूर्णतया रक्षा करते हुए भी शब्द-प्रधान है।

२—इस संस्करण में मूल मराठी संस्करण के अनुसार पूर्व संस्करणों में मुद्रित 'नित्यकर्म और मुक्ति' विषयक १४ वां व्याख्यान १३ वें स्थान पर है और १३ वां 'इतिहास' विषयक अन्तिम व्याख्यान १४ वें स्थान पर छपा है। इस विषय में पूर्व पृष्ठ २४६ पर विस्तार से लिख चुके हैं।

पूना-प्रवचन की स्थिति—पूना-प्रवचन के मुद्रित मराठी अनुवाद की स्थिति यह है कि ऋषि दयानन्द के द्वारा जो व्याख्यान आर्यभाषा में दिये गये, उन्हें उसी समय न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे ने अपने सामर्थ्यानुसार लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया था (प्रारम्भिक ४-५ व्याख्यानों का तो सारांश मात्र ही लिपिबद्ध किया गया, ऐसा प्रतीत होता है)। अतः यह कई स्थानों पर त्रुटित सा प्रतीत होता है, कई स्थानों पर पाठ भ्रष्ट है। हमने ऐसे सभी स्थानों पर बड़ी सावधानता से उपलब्ध मूल पाठ में हस्तक्षेप न करते हुए पाठों की पूर्ति वा संशोधन करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। इसी प्रकार हमने व्याख्यान में दिये गये उद्धरणों को मूल ग्रन्थों से मिलाकर शुद्ध करने और उनके पते देने का भी उनके प्रयास किया है। हमने मूल पाठ में जो भी अंश पाठ-पूर्त्यर्थ वा विस्पष्टार्थ बढ़ाया है, उसे [ ] इस प्रकार के चतुष्कोण कोष्ठक में रखा है। यद्यपि हमने इस संस्करण को तैयार करने में पूरी सावधानतावर्ती है, पुनरपि मानुष-प्रमाद से कहीं न्यूनता रहना सम्भव है।

प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने में उपयुक्त संस्करण--

क. मराठी संस्करण--(व्याख्यान १-६, ७-८)परोपकारिणी सभा द्वारा सं० २०२० में २०×३० सोलह पेजी आकार में प्रकाशित। इस संस्करण में अनेक स्थानों पर मुद्रण सम्बन्धी दोष उपलब्ध होते हैं। ८ जुलाई १८७५ के व्याख्यान में पृष्ठ १७ पं० १३--**असें सुश्रुत यांचे ह्मणणें आहे**' के आगे जो पाठ छपा है, वह १० जुलाई के पृष्ठ २५ की अन्तिम पंक्ति से आगे का है। इस प्रकार ८ जुलाई के 'व्याख्यान का अंश १० जुलाई के व्याख्यान में पृष्ठ २६-२७ पर छपा है और १० जुलाई के व्याख्यान का २५ वें पृष्ठ से आगे का भाग ८ वें व्याख्यान के पृष्ठ की,१४ वीं पङ्क्ति आगे पृष्ठ १९ तक छपा है।

परोपकारिणी सभा के इस संस्करण में संख्या ३,५,६,८,९ के व्याख्यानों के ऊपर स्थूलाक्षरों में वार तारीख माह और सन् का निर्देश मिलता है वह सन् १८७५ के संस्करण में नहीं है। सम्भवतः यह पाठ किसी सम्पादक ने बढ़ाया है। इनमें वार का निर्देश अशुद्ध है।

ख. मराठी संस्करण--(व्याख्यान ३-१५) ९.३×६.३ आकार के पृष्ठों में सन् १८७५ पृथक् पृथक् छपे व्याख्यान। ये मूल रूप में भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटचूट पूना में वर्तमान हैं। वहीं से हमने इनकी फोटोस्टेट (फ़ेरोक्स) कापी प्राप्त की है।

ग. पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा द्वारा मराठी से आर्यभाषा में अनूदित सं० १९५० के ७ ट्रेक्ट। इनमें १-९ व्याख्यान छपे हैं।

घ. पं० बदरीदत्त शुक्ल का अनुवाद—श्यामलाल वर्मा बरेली द्वारा सन् १९१० में प्रकाशित प्रथम संस्करण।

ङ. पूना-प्रवचन—श्री पं० श्रीरामजी द्वारा सम्पादित सन् १९३७ में आगरे से प्रकाशित (यह संस्करण हमने डा० श्री भवानीलाल जी भारतीय से प्राप्त किया था, उसे उन्हें वापिस लौटा दिया)।

पूना-प्रवचन की महत्ता—ऋ० द० ने पूना में व्याख्यान आर्यभाषा में दिये थे। न्यायमूर्ति रानाडे सदृश महनीय व्यक्ति ने इन्हें यथाशक्ति लिपिबद्ध किया, और उसको मराठी भाषा में अनुवाद कराकर छपवाया था। तदनन्तर मराठी संस्करण का आर्यभाषान्तर किया गया। इस कारण इस ग्रन्थ का उतना प्रामाण्य तो नहीं माना

जा सकता है, जितना ऋषि दयानन्द के स्वयं निर्मित ग्रन्थों का है। तथापि उक्त कारणों से यह प्रवचन-सग्रह सवर्था हेय भी नहीं है। ऋषि दयानन्द के व्याख्यानों का सारांश होने से अत्यन्त उपयोगी है। इस विषय में हम म० मुंशीराम जी द्वारा उर्दू भाषा में प्रकाशित उपदेशमञ्जरी की भूमिका का वह अंश नीचे दे रहे हैं, जिसमें उन्होंने इस संग्रह की महत्ता दर्शाई है। म० मुंशीराम जी लिखते हैं–

"इन लैक्चरों के शाया करने की वजह जतलाना इस जगह जरूरी है। दौराने तर्जुमा में बाज भाइयों ने मुझ से पूछा था कि जब सत्यार्थप्रकाश सी मुफसत किताब श्री स्वामी जी के सिद्धान्तों को जाहिर करनेवाली मौजूद है तो फिर इन लैक्चरों के तबा करने की क्या जरूरत है। मेरा जबाब यह है कि इन लैक्चरों में बाज अमूर ऐसे ब्यान हुए हैं, जो कि सत्यार्थप्रकाश के बाज अमूर पर ज्यादा रोशनी डालेंगे और आर्यसमाज के बाज सिद्धान्तों को ज्यादातर वाजह तौर पर जाहिर करेंगे। एक ही मिसाल से मेरे इस दावा की ताईद हो जायेगी। महर्षि पतञ्जलि के योगशास्त्र के विभूति पाद की निस्बत अक्सर आर्यसमाजस्थ पुरुषों को दिक्कत मालूम दिया करती है। अणिमा गरिमा वगैरा सिद्धियों का जिस्म के साथ तालुक असम्भव सा मालूम होता है, लेकिन स्वामी जी महाराज ने एक लैक्चर में इस दिक्कत को बिलकुल दूर कर दिया है। उन्होंने वहां ब्यान किया है कि चूंकि योगाभ्यास आत्मा का विषय है इसलिये सिद्धियां जिस्म को नहीं हासिल होतीं बल्कि आत्मा को होती हैं। इस तरह पर और बहुत सी जगहों में नई नई बातें मालूम होती हैं। न सिर्फ यही बल्कि महर्षि से अपने जीवन के बहुत से नये हालात इन लैक्चरों से मालूम होते हैं। मेरी राय में ये लैक्चर सत्यार्थप्रकाश के जमीमा (=भूमिका) का काम देंगे और बाज हालात में एक उमदा तफसीर से कम कारोमद न होंगे। अगर इस तरह पर हर एक जगह के लैक्चरों का खुलासा हमारे लिये मजफूज रहता तो शायद बाज शुबहात जो अक्सर भाइयों को सिद्धान्तों के समझने में पैदा होते हैं साफ हो जाते।"

पूना-प्रवचन और आदिम सत्यार्थप्रकाश–पूना के ये प्रवचन ऋ०द० सं० ने १९३२ (सन् १८७५) में दिये थे और इसी वर्ष आदिम सत्यार्थ-

प्रकाश भी प्रकाशित हुआ था। इस कारण इन दोनों में कई विषय एक समान हैं। उनसे एक दूसरे ग्रन्थ को समझने में महती सहायता मिलती है। हमने ऐसे सभी स्थानों पर आदिम सत्यार्थप्रकाश के पाठ की ओर टिप्पणी में संकेत कर दिया है और ग्रन्थ के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में आदिम सत्यार्थप्रकाश के उन पाठों को छाप भी दिया है। जिससे पाठक स्वयं दोनों ग्रन्थों के पाठों की तुलना कर सकें।

आशा है पूना-प्रवचनों का हमारा यह संस्करण शोधकर्ताओं एवं स्वाध्यायशील व्यक्तियों को हमारे पूर्व संस्करण की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

चैत्र शुक्ला १ विदुषां वंशवदः—
सं० २०३६ युधिष्ठिर मीमांसक

—:o:—

पूना-प्रवचन का मराठी-संस्करण

पूना-प्रवचन के उपलब्ध मराठी-संस्करण को हम किसी योग्य मराठी भाषा के विद्वान् से सम्पादित करवा कर शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे। इस से मूल मराठी-पाठ भी चिरकाल के लिये सुरक्षित हो जाये।

ओ३म्

पूना-प्रवचन

प्रथम-प्रवचन

ईश्वर-सिद्धि

[१]स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूने के बुधवार पैठ में भिड़े के वाड़े में तारीख ४ जौलाई सन् १८७५[२] के दिन रात्रि में [८ बजे][३] जो व्याख्यान दिया था, उसका सारांश निम्नलिखित है—

ओ३म्, शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥[४]

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । [ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद् वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥][५]

(इत्यादि[६] पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा—)[७]

---

[१] प्रत्येक व्याख्यान के उपर स्थूल अक्षरों में जो यह पाठ छापा गया है, वह मराठी व्याख्यान की पुस्तिकाओं में स्थूलाक्षरों में शीर्षक के रूप में छपा हुआ है ।

[२] आषाढ़ शुक्ला १, रविवार, सं० १९३२ ।

[३] '८ बजे' का निर्देश मराठी संस्करण में प्रथम दो व्याख्यानों को छोड़कर सर्वत्र है, अत एव हमने यहां भी दे दिया है ।

[४] ऋग्वेद १।९०।९॥

[५] तै० उप० शिक्षावल्ली १।१॥

[६] आदि पद से सूचित शेष मन्त्रपाठ हमने कोष्ठक में दे दिया है ।

[७] (   ) इस प्रकार के कोष्ठक में रखा गया पाठ लेखक की ओर से

'ओम्' यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है, क्योंकि इसमें उसके सब गुणों का समावेश होता है।[१]

प्रथम हमें ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए, उसके पश्चात् धर्म-प्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है, क्योंकि **"सति कुडये चित्रम्"** इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं होती तब तक धर्म-व्याख्यान करने का अवकाश नहीं है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।[२]

न तस्य कार्यं करणं च [विद्यते **न** तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते ।]
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।[३]

(ये वाक्य कहकर स्वामीजी ने इनकी व्याख्या की।)

मूर्त्त देवताओं[४] में ये गुण नहीं लगते। इसलिए मूर्ति-पूजा निषिद्ध है। इस पर कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभाव करने के लिए और भक्तों को मुक्ति होने के अर्थ [ईश्वर को] अवतार लेना चाहिए; परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; इससे अवतार की आवश्यकता दूर होती है। कारण, इच्छा मात्र से वह रावण [जैसों] का नाश तो कर सकता था। इसी प्रकार भक्तों

लिखा हुआ है। आगे जहां जहां भी (   ) इस कोष्ठक के अन्तर्गत पाठ मिले, उसे लेखक द्वारा लिखित जानें। (मराठी संस्करण में इस प्रकार का पाठ कोष्ठक में नहीं है। हमने लेखक के वाक्य का प्रवक्ता के पाठ से भिन्नता दर्शाने के लिये (   ) कोष्ठक का प्रयोग किया है। हमने जहां कहीं कोई पद वा वाक्य अपनी ओर से बढ़ाया है, उसे सर्वत्र [   ] इस प्रकार के चतुष्कोण कोष्ठक में रखा है।

[१] 'ओम्' नाम की व्याख्या के लिये सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि के अन्तर्गत गायत्री मन्त्र की व्याख्या देखें।

[२] यजुः ४०।८।। परोपकारिणी सभा द्वारा छापे गये मराठी संस्करण में यह पता मूल पाठ के साथ ही छपा है।

[३] श्वेता० उप० ६।८।।

[४] अर्थात् मन्दिरों में देवताओं के नाम पर स्थापित मूर्तियों में।

को उपासना करने लिए ईश्वर का कुछ आकार[1] होना चाहिए, ऐसा भी बहुत से लोग कहते हैं; परन्तु यह कहना भी बरोबर[2] नहीं है। कारण, शरीर-स्थित जो जीव है, वह भी आकार-रहित है। ऐसा सब स्वीकार करते हैं। वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं, और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि [अदृष्ट] मनुष्य के विषय में रखते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, यह कहना बरोबर नहीं है। इसके सिवाय मन का आकार नहीं है, मन द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है, उसे जड़ेन्द्रिय-ग्राह्यता लगाना[3] यह अप्रयोजक है।

श्रीकृष्णजी एक भद्र पुरुष थे। उनका भारत[4] में उत्तम वर्णन किया है,[5] परन्तु भागवत [पुराण] में उन्हें सब प्रकार के दोष लगाकर दुर्गुणों का बाजार गरम कर रक्खा है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। शक्ति[6] का अर्थ क्या है? **"कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्"** ऐसी शक्ति नहीं है। किन्तु सर्वशक्तिमान् अर्थात् न्याय न छोड़ते हुए काम करने की शक्ति रखना। यही सर्वशक्तिमान् का अर्थ है। कोई कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा[7] पाप-मोचनार्थ

---

[1] सब अनुवादों में 'अवतार' पाठ है, परन्तु मराठी में 'आकार' पाठ ही है।

[2] यह शब्द मराठी और गुजराती भाषा में समानरूप से प्रयुक्त होता है। ऋ० द० के आर्यभाषा में लिखे ग्रन्थों में भी क्वचित् 'बरोबर' वा 'बराबर' का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है— ठीक, यथार्थ, सही, यथोचित।

[3] यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। श्रीराम शर्मा ने 'घटाना' शब्द रखा है।

[4] अर्थात् महाभारत में।

[5] तुलना करो—सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० (सन् १८७५) पृष्ठ २७०; सत्यार्थप्रकाश (संशोधित) पृष्ठ ५२९, पं० १९-२२ (आसशसं० २)। विशेष द्रष्टव्य—'भागवत-खण्डनम्' परिशिष्ट पृष्ठ ४०७, ४०८ (दलग्रसं)।

[6] किन्हीं संस्करणों में 'शक्तिमान्' और किन्हीं में 'सर्वशक्तिमान्' पाठ। मराठी में 'शक्ति' इतना ही पाठ है। यही ठीक है।

[7] अर्थात् ईसा मसीह को।

[जगत् में] भेजा, कोई पैगम्बर[1] को उपदेश करने के लिये भेजा ऐसा कहते हैं। सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यकता नहीं। कारण, वह सर्वशक्तिमान् है।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं। बल, ज्ञान और क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी हैं। ईश्वर का आदि कारण नहीं है। आदि कारण मातने पर अनवस्था-प्रसंग आता है।[2] निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र पर से हुई प्रतीत होती है, परन्तु सांख्य-शास्त्रकार कपिल मुनि निरीश्वरवादी न थे। उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे, ऐसा कोई कहते हैं; परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ बरोबर नहीं किया जाता। वे सूत्र हैं—

ईश्वरासिद्धेः।
मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।
उभयथाप्यसत्करत्वम्।
मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा।[3] इत्यादि,

परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एक ही है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ऐसा कपिल मानते थे। कारण, 'पुरुष है' ऐसा उनका सिद्धान्त था। वही पुरुष **सहस्र-शीर्षादि सूक्तों**[4] में वर्णित है। उसी के सम्बन्ध से **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**[5] इत्यादि कहा है।

प्रमाण बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द इत्यादि। भिन्न-भिन्न शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं।

---

[1] अर्थात् मोहम्मद साहब को।

[2] ईश्वर का आदि कारण मानने पर उस आदि कारण का आदि कारण मानना पड़ेगा, फिर उसका आदि कारण। इस प्रकार यह आदि कारण की परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी। इसे ही 'अनवस्था-प्रसंग' से सूचित किया है।

[3] सांख्य १।९२, ९३, ९४, ९५। यह स्थान निर्देश परो० सभा के मराठी सं० में सूत्रों के साथ मूल पाठ में छपा है। अन्तिम सूत्र का मराठी संस्करण में शुद्ध पाठ है। कहीं-कहीं 'प्रशंसोपासा०' 'उपासना०' पाठान्तर भी मिलते हैं।

[4] ग.घ.ङ. में 'सूत्रों' पाठ है। मराठी सं० (क) में 'सूक्त' का ही निर्देश है। सहस्रशीर्षा सूक्त ऋ० १०।९०, यजुः ३१॥

[5] यजुः ३१।१८॥

मीमांसा-शास्त्रकार जैमिनि दो प्रमाण मानते हैं। गौतम न्याय-शास्त्रकार आठ मानते हैं। कोई अन्य न्याय-शास्त्रकार चार मानत हैं। पतञ्जलि योग-शास्त्रकार तीन मानते हैं। सांख्य-शास्त्रकार तीन मानते हैं। वेदान्त में छः प्रमाण स्वीकार किए हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न संख्या मानना, यह उस-उस शास्त्रकार के विषयानुरूप है। सारे प्रमाणों का [एक दूसरे में] अन्तर्भाव करके तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इन तीन प्रमाणों की लापिका[1] कर ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की लापिका करने के पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिए। कारण, प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत ही संकुचित है और क्षुद्र[2] है। एक व्यक्ति का इन्द्रिय द्वारा कितना ज्ञान हो सकता है? इसी से प्रत्यक्ष को एक ओर रख कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान को ही प्रमाण विशेष गिना गया है। व्यवहार के लिए [भी] अनुमान आवश्यक है।[3] अनुमान के विना भविष्य के व्यवहारों के विषय में हमारा जो दृढ़ निश्चय है, वह निरर्थक होगा। कल सूर्य उदय होगा, यह प्रत्यक्ष नहीं, तथापि इस विषय में किसी के मन में तिलमात्र भी शङ्का नहीं होती। अत्र इस अनुमान के तीन प्रकार हैं—**शेषवत्**, **पूर्ववत्** और **सामान्यतोदृष्टम्**। **पूर्ववत्** अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, **शेषवत्** अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, **सामान्यतोदृष्ट** अर्थात् संसार में जिस प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है उस पर से जो अनुमान होता है, वह।

इन तीनों अनुमानों की लापिका करने से ईश्वर=परम पुरुष=सनातन ब्रह्म सब पदार्थों का बीज है, ऐसा सिद्ध होता है। रचनारूपी कार्य दीखता है। इस पर से कोई रचना करनेवाला है।[4] पञ्चभूतों की सृष्टि आप ही आप रची हुई नहीं हैं। कारण, व्यवहार में घर

---

[1] 'लापिका' शब्द 'आलापिका' का एक देश है। जैसे सत्यभामा—भामा। मराठी भाषा में प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ है—आलाप=विचार।

[2] अर्थात् अल्प।

[3] यह वाक्य मराठी सं० में है।

[4] ग. घ. ङ. 'इस पर से अनुमान होता है कि उसका रचने वाला कोई है' पाठ है। हमारा पाठ मराठी संस्करण के अनुसार है। आगे जहां जहां भी हमारा पाठ अन्य संस्करणों से भिन्न होवे, वहां सर्वत्र हमारे पाठ को मराठी संस्करण के अनुकूल समझें। सर्वत्र पुराने पाठ उद्धृत नहीं करेंगे।

[बनाने] का सामान विद्यमान होने ही से घर नहीं बन जाता, यह हम देखते हैं और यही अनुभव सर्वत्र है। साथ ही [पञ्चभूतों का] नियमित प्रमाण से 'मिश्रण' वा विशिष्ट कार्य उत्पन्न होने की सुगमता के लिए कभी भी आप स्वयं घटित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते हैं, उसका उत्पादक और नियन्ता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिए।

अब प्रत्यक्ष प्रमाण ईश्वर की सिद्धि में लगता है क्या? ऐसी किसी की अपेक्षा होवे तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है। गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता।[१] इसी प्रकार ईश्वर सम्बन्धी गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसी पर से इन गुणों का अधिकरण जो ईश्वर है, उसका ज्ञान होता है[२], ऐसा समझना चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[३]

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है, किन्तु हिरण्य अर्थात् "ज्योति[४] जिस के उदर[५] में है, वह ज्योतिरूप परमात्मा" ऐसा अर्थ है। मूर्तिपूजा का पागलपन लोगों में फैला हुआ है। इसका क्या करना चाहिए? यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। मूर्ति का आडम्बर जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा[५] परमात्मा॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है। उससे जो भिन्न है वह सब झूठा है, वह अपना आधार [मान्य] नहीं है॥

---

१. कतिपय नैयायिक पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं मानते, उनके गुणों का ही प्रत्यक्ष मानते हैं। अन्य नैयायिक गुणसहित गुणी का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। ऊपर का लेख प्रथम प्रकार के नैयायिकों के मतानुसार है।

२. द्र० स० प्र० समु० ७, पृष्ठ २७८, पं० ६-१२ (आसशसं० २)।

३. ऋ० १०।१२१।१॥ ४. ज्योति वै हिरण्यम्। शत०ब्रा० ६।७।१।२॥

५. छा० उ० ७।२४।१॥ यहां आगे का 'परमात्मा' पद व्याख्यानरूप अथवा अध्याहृत है।

दूसरा-प्रवचन

ईश्वर-विषयक प्रश्नोत्तर

मंगलवार ता० ६ जौलाई १८७५[१] के दिन, [रात्रि में ८ बजे स्वामी] दयानन्द सरस्वती के ईश्वर-विषयक व्याख्यान[२] पर हुए वाद-विवाद का सारांश—

१ **प्रश्न**—कार्य और कारण भिन्न-भिन्न हैं वा कैसे हैं ?

उत्तर—कहीं-कहीं अभिन्न हैं और कहीं-कहीं भिन्न भी हैं। उदाहरण--मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है, परन्तु मांस शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस और शोणित ये नख नहीं हैं। इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है, परन्तु इससे मकड़ी जाला नहीं होती ।

गोमयाज्जायते वृश्चिकः ।[३]

[अर्थात्—गोबर से बिच्छू उत्पन्न होता है ।] तो गोबर और बिच्छू क्या एक हो सकते हैं ? सर्वशक्तिमान् [और] चैतन्य[४] इन में चैतन्य[४] पर सर्वशक्तित्व है अर्थात् सामर्थ्य के योग से चैतन्य निमित्त कारण होता है। इस स्थल पर जड़-पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण है वह और निमित कारण चैतन्य[४] एक नहीं हैं। अब—

एकमेवाद्वितीयम्[५]

ऐसी श्रुति है। उसका अर्थ करने में इस उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ अड़चन नहीं आती। कारण, [इसका अर्थ] 'अद्वितीय अर्थात्

---

१. आषाढ़ शुक्ला ४, सं० १९३२। सोमवार को द्वितीया-तृतीया सम्मिलित थी।

२. अर्थात् ४ जुलाई का प्रथम व्याख्यान ।

३. यह लौकिक प्रसिद्धि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट है ।

४. यहां सर्वत्र इस पद का प्रयोग 'चेतन' शब्द के स्थान पर है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द 'मान' के स्थान पर सर्वत्र 'मान्य' शब्द का प्रयोग करते हैं।

५. छा० उ० ६।२।१।।

ईश्वर ही उपादान [कारण] हुआ', ऐसा नहीं है । कारण, भेद तीन प्रकार का होता है—कभी-कभी स्वजातीय भेद रहता है, कभी-कभी विजातीय और कभी[1] स्वगत भेद होता है । अब 'अद्वितीय है' अर्थात् 'सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है' ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं । परन्तु यह अर्थ उपयोगी (=ठीक) नहीं, किन्तु [अद्वितीय का] दूसरा ईश्वर नहीं, एक ही ईश्वर है और वह संयुक्त नहीं है, यही अर्थ है । अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत् ।

ऐसे अर्थ की श्रुति है[2], इसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिए ? अथवा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।[3]

इस वाक्य का अर्थ कैसे करें ? आधुनिक वेदान्ती 'इदं विश्वं' ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय 'सर्वं' इसकी ओर करते हैं, परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रन्थ के अगले पिछले अभिप्राय की ओर दृष्टि देने से 'इदं' शब्द का अन्वय 'ब्रह्म' शब्द की ओर करना पड़ता है । [जैसे–] **"इदं सर्वं घृतम्"** अर्थात् यह बिल्कुल घी है, तेल मिश्रित नहीं । इस प्रकार 'यह ब्रह्म नाना वस्तुओं से मिश्रित नहीं है' ऐसा 'सर्वं' शब्द का अर्थ है । ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने से [कोई] अड़चन रहती ही नहीं ।

"नाना वस्तु ब्रह्मणि"[4] अथवा बृहदारण्यकोनिषद् में **"य आत्मनि तिष्ठन् आ[त्मनोऽन्तरो यमा]त्मा न वेद"**[5] अथवा **"यस्य**

---

[1] परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मराठी संस्करण में **'विजातीय भेद असतो, केव्हां'** इतना पाठ संशोधक के प्रमाद से छूट गया प्रतीत होता है, क्योंकि हिन्दी अनुवादों में 'विजातीय और कभी' पाठ विद्यमान है ।

[2] द्र० **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तै० उ० २।६) ।

[3] छा० उ० ३।१४।१।

[4] यह लौकिक वाक्य प्रतीत होता है ।

[5] शतपथ माध्यन्दिन पाठ १४।६।७।३०।। बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ के अन्तर्गत है । शतपथ के माध्यन्दिन और काण्व दो पाठ उपलब्ध हैं । वर्तमान में प्रसिद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् काण्वपाठानुसारी है । स्वामीजी का पाठ माध्यन्दिनपाठानुसारी है । स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश समु० ७ पृष्ठ ३०२,

आत्मा शरीरम्"[१] इस वाक्य के अर्थ के विषय में अड़चन आयेगी, इसका विचार करना चाहिए। एक शरीर के स्थान में व्याप्य और व्यापक इन दोनों धर्मों की योजना करते नहीं बनती। 'गृह यह आकाश में स्थित है' और आकाश यह व्यापक है, गृह यह व्याप्य है। इस से आकाश और गृह ये एक हैं वा अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान निकालते नहीं आता।[२] इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता।

अहं [३]ब्रह्मास्मि—इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का उदाहरण (=आदर्श) है, यही लौकिक दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है—जैसे 'मेरा मित्र मैं ही हूं' ऐसा कहते हैं, परन्तु मैं और मेरा मित्र, इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है, ऐसा फलितार्थ नहीं होता।

समाधिस्थ होते समय **तत्त्वमसि**[४] ऐसा मुनि लोग कह गए, परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह कथन 'जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है' इस मत का पोषक नहीं होता। कारण, इसी वचन के पूर्व भाग[५] में इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का **ऐतदात्म्य** [कथित] है। परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं, **स आत्मा**'[६] वही आत्मा है **'तदन्तर्यामी त्वमसि'**[७] जो सब जगत् का आत्मा, वह तेरा ही है। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा इनके मध्य परस्पर सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते हैं। ऐतरेयोपनिषद् में—

पं० ६ (आसशसं २) में भी यही पाठ बृहदारण्यक के नाम से उद्धृत किया है। वेदान्तिध्वान्तनिवारण पृष्ठ ३७१, पं० ३-४ (दलग्रसं) में भी यही पाठ उद्धृत है।

[१] श० मा० १४।६।७।३०॥ द्र० पूर्व पृष्ठ २७२ टि० ५।

[२] अर्थात् ऐसा अनुमान करते नहीं बनता।

[३] बृ० उ० १।४।१०॥

[४] छा० उ० ६।८, ९, १० खण्डों में।

[५] मराठी संस्करण सहित सर्वत्र 'उत्तर भाग' अपपाठ है, क्योंकि अगले वाक्य में जिस विषय का निर्देश किया है वह 'तत्त्वमसि' वाक्य से पूर्व पठित है।

[६] छा० उ० ६।८, ९, १०॥

[७] यह 'तत्त्वमसि' का अर्थ है। अर्थात् **स आत्मा=परमात्मा, तत्=स**

प्रज्ञानं ब्रह्म[1]

ऐसा वाक्य है । उसके महावाक्य-विवरण में–

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म[2]

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना, ऐसा अर्थ "**तत् सृष्टि प्राविशत्**"[3] इस वाक्य पर से[4] करने पर कार्य कारण की भिन्नता[5] होती है । यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिकों के आधीन होकर सृष्टच्युत्पत्ति का कारण हुआ, ऐसा कहने में 'उसको भ्रान्ति हुई' ऐसा प्रतिपादन करना पड़ता है । जहां देश, काल, वस्तु [का] परिच्छेद है, वहां भ्रान्ति है । यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई, यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है । [अतः] यह विचारणीय वार्ता है ।

इसी तरह 'जीव-भावना' भ्रान्ति का परिणाम है । भ्रान्ति दूर हुई अर्थात् जीव ब्रह्म हो गया, ऐसी समझ है तो [यह समझ] बरोबर नहीं । कारण, भ्रान्ति परमात्मा में संभव नहीं । आधुनिक वेदान्त के अनुसार मुक्ति को स्वीकार करने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष प्रसंग आता है । जीव और ब्रह्म को यदि एक कहें तो जीव में ब्रह्म के गुण नहीं हैं, जीव का अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नहीं है । यदि हम ब्रह्म बन जावें तो हम जगत् भी रच लेवें । इस से पुनः एक बार ऐसा समझना चाहिये कि विश्व जड़, ब्रह्म चेतन है[6] और इनका आधार-धेय, सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।

आत्मा अन्तर्यामी यस्य, तादृशस्त्वमसि । द्र०—वेदान्तिध्वान्तनिवारण, पृष्ठ ३७२, पं० १९-२० (दलग्रसं०) ।

[1] ऐ० उ० ५।३॥

[2] द्र०—मठाम्नाय उप० ४ ।

[3] तुलना करो—'**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** ।' तै०उ० २।६।। मुद्रित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

[4] अर्थात् 'वाक्य के आधार पर करने से ।'

[5] मराठी संस्करण में 'अभिन्नता' पाठ है । वह पूर्वापर प्रसंगानुसार अशुद्ध है । अथवा 'अभिन्नता नहीं होती है' ऐसा पाठ होना चाहिये ।

[6] 'विश्व जड़, ब्रह्म चेतन है' के मध्य में जीवविषयक पाठ मराठी संस्करण में ही छूटा होने से अनुवादों में भी छूट गया प्रतीत होता है, अन्यथा उत्तर पाठ में 'सेव्य-सेवक' सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता ।

“**सुखमस्वाप्सम्**”[1] इस अनुभव की योजना की जाती है। कारण, यह चैतन्य नित्य ज्ञानी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किए हुए हैं।

सारांश—जीव ब्रह्म नहीं, जगत् ब्रह्म नहीं। इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न-भिन्न हैं। यही प्रकार सत्य है[2], परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किए। वह सामर्थ्य उसी के पास सदा रहता है, इस तात्पर्य से भेद नहीं आता।

२ **प्रश्न**—अवतार नहीं हुए, ऐसा तुम कहते हो तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यों मानते हो?

उत्तर—प्राकृत जनों में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण अर्थात् परब्रह्म, ऐसा अर्थ करके इस सम्बन्ध से वाद चलता है, परन्तु यह अर्थ बरोबर नहीं हैं। “**स पर्यगात्**”[3] इस श्रुति पर से अवतार का होना बिल्कुल ही संभव नहीं होता। “**कविः, मनीषी**”[4] “**एको देवः**[4]-**निर्गुणश्च**” ऐसे-ऐसे श्रुति वाक्य हैं। इन से ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है, परन्तु जड़ के गुण उसमें नहीं है। इन गुणों के असम्बन्ध से वह निर्गुण[5] है। प्रथम जो मैंने श्रुति

---

[1] मराठी सं० और हिन्दी अनुवादों में ‘सुखमवाप्सम्’ पाठ अशुद्ध है।

[2] उपर्युक्त ‘**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**’ आदि चार वाक्यों तथा नवीन वेदान्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना के लिये सत्यार्थप्रकाश समु० ७, पृष्ठ ३००-३१०; समु० ११, पृष्ठ ४५१-४६५ (आसशसं २); वेदान्तिध्वान्तनिवारण, पृष्ठ ३६७-३८४ (दलग्रसं०) तथा बम्बई-प्रवचन का दूसरा प्रवचन देखें।

[3] यजु० ४०।८॥

[4] मराठी संस्करण सहित सर्वत्र ‘**एको भूतो**’ अपपाठ है। पूरा पाठ इस प्रकार है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
श्वेता० उ० ६।११॥

[5] ‘निर्गुण’ शब्द पर अनेक आक्षेप करते हैं कि निर्गुण का अर्थ है—‘गुण जिस में से निकल गए’। इसी प्रकार निराकार का अर्थ भी करते हैं—

कही[1] उसके साहचर्य की ओर ध्यान देने से मेरे द्वारा कहा हुआ ऐसा ही अर्थ निकलता है।

३ **प्रश्न**—प्रार्थना क्यों करनी चाहिए? ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है तो उसे हमारे मन की बात विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पाप-विषयिणी प्रवृत्ति [हम में] रखकर हमारे पाप का दण्ड देता है, तो ईश्वर न्यायी कैसा?

उत्तर—हमारे माता पिता ईश्वर के बनाए हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं। इन उपकारों को स्मरण करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिए। द्वितीय—कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है। तृतीय—परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है। चतुर्थ—प्रार्थना से पाश्चात्ताप होता है और आगे को पाप-वासना का बल घटता है। पञ्चम—सत्यता और प्रेम ये गुण हम में दृढ़ होते हैं। षष्ठ—स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वरस्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है। कारण, ज्यों-ज्यों उसके गुण समझ में आते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रीति अधिक दृढ़ होती है।

फिर उपासना के सम्बन्ध से आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है। इस उपाय को छोड़ पापनाशन करने का दूसरा उपाय नहीं है। काशी जाने से हमारे पापों का नाश होता है[2] यह हमारी समझ, अथवा 'तोबा' करने से पाप छूट जाते हैं[3], किंवा हमारे पाप का भार

'आकार जिसमें से निकल गया', अर्थात् पहले उसमें गुण और आकार विद्यमान थे। परन्तु इन शब्दों के ये अर्थ सर्वथा अशुद्ध हैं। इस पर विशेष विचार के लिए देखिए श्री पं० विद्यासागर शास्त्री कृत **'अष्टोत्तरशतनाममालिका'** पृष्ठ १६० (रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य)। निर्गुण सगुण की व्याख्या के लिए आर्योद्देश्यरत्नमाला संख्या २७, २८ तथा सत्यार्थप्रकाश समु० १, पृष्ठ ४४ पं० १०-१८; समु० ७ पृष्ठ ३११, पं० ८-१०(आसशसं २)भी देखने चाहिए।

[1] अर्थात्—**'एको देवः—निर्गुणश्च'**।

[2] यह पौराणिकों का मत है।

[3] यह मुसलमानों का कहना है।

अमुक भद्र पुरुष लेकर बलि हो गया (=सूली चढ़ गया)[1] इत्यादि अन्य लोगों की समझ है, यह सारी अप्रशस्त है अर्थात् भूल पर है। उपासना के योग से विवेक उत्पन्न होता है। विवेकी होने से क्षणिक (=नाशवान्) वस्तुओं से शोक और आनन्द ये दोनों नहीं होते।

अब ईश्वर ने जीव को स्वतन्त्र किया, इस लिये उसके हाथ से पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़ पदार्थवत् बना रहता। जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती। कारण, इन दोनों[2] में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। बच्चे को खुला छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा, यह सोचकर माता बालक को बांधे नहीं रखती। तो भी बालक दंगा, ऊधम, फसाद अवश्य करेगा, यह ज्ञान माता को रहता ही है। इस लौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म को सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य में कुछ भी आपत्ति नहीं आती। ज्ञान के विषय में स्वतन्त्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय में उससे दिए हुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतन्त्रता मनुष्य की है। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज हो रहा है वह न होता और जीव-सष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती।

---

[1] ईसाई मत के अनुसार ईसा मसीह।

[2] अर्थात् जीन के स्वातन्त्र्य और ब्रह्म की सर्वज्ञता में।

तीसरा-प्रवचन

धर्माधर्म

[1]स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकुल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ८ माह जुलाई[2] के दिन रात्रि में ८ बजे व्याख्यान दिया, उसका सारांश—

ओम्, भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरै॰ङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ऋक्संहिता १।८९।८॥[3]

ओ३म्, शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(यह स्वामीजी ने प्रथम ऋचा पढ़ी, फिर धर्माधर्म इस विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया—)

परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म; विधि यह धर्म, निषेध यह अधर्म; न्याय वह धर्म, अन्याय यह अधर्म; सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म; निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म है ।

---

[1] परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मराठी संस्करण में इस पंक्ति के ऊपर स्थूल अक्षरों में 'बुधवार ता० ८ जुलाई १८७५' पाठ छपा है । यह हमें प्राप्त सन् १८७५ के छपे मराठी संस्करण में नहीं है । यहां 'बुधवार' निर्देश अशुद्ध है । ८ जुलाई १८७५ को बृहस्पतिवार था । परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मराठी सं० में व्याख्यान ४,५,६,८,९ के आरम्भ भी ऐसा ही लेख मिलता है, जो प्रक्षिप्त है । व्याख्यान ५,६,८,९ में वार का निर्देश भी अशुद्ध है ।

[2] आषढ़ शुक्ला ६, बृहस्पतिवार, सं० १९३२ ।

[3] हिन्दी के ग.घ.ङ. संस्करणों में इस मन्त्र का पता 'ऋक् संहिता मं० १ । अनु० १४ । सूक्त ८९। मं० ८' छपा है । परन्तु मन्त्र पाठ यजुर्वेद (२५।२१) का बना दिया गया है । मराठी सं० में (ऋक्संहिता १।८९।८) पता कोष्ठक में छपा हुआ मिलता है । मराठी सं० में मन्त्रपाठ ऋग्वेद का ही है । यजुर्वेद (२५।२१) का पाठ '०स्तुष्टुवा ꣳ सस्तनूभिर्व्यशेमहि' है ।

(व्रतेन दीक्षामाप्नोति[1] इस प्रतीक का शुक्ल यजुः[2] संहिता में का मन्त्र कहा और उसका अर्थ किया।)

अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है ? **प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्**[3] इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे, वही सत्य है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास ।

अहिंसा परमो धर्मः ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम् ।। मनु का ६।९२।।

(धर्म और अधर्म ये अनेक हैं, परन्तु उनमें से विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म हैं ।[4] उनका स्वामीजी ने विशेष विवरण किया।)

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपनिष्ट हैं।

प्रथम **अहिंसा** का लक्षण—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।
योगसूत्र साधन पाद, ३० सूत्र ।

अहिंसा—इसका केवल 'पशवादि न मारना' ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं, परन्तु व्यासजी ने ऐसा अर्थ किया है कि—

---

१. यजु, १९।३०।। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—**व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् । दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।**

२. ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के लिए 'शुक्ल यजुः' अथवा 'शुक्ल यजुर्वेद' शब्द का व्यवहार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १७३, पं० ७; पृष्ठ ३३४ पं० १०; सत्यार्थप्रकाश (सन् १८७५) पृष्ठ ३३२, पं० ११; ऋग्भाष्य के नमूने का अङ्क पृष्ठ १४६, पं० १; भ्रान्तिनिवारण पृष्ठ २२२, पं० ८; पूना के १५ वें प्रवचन के आरम्भ में किया है। **कृष्ण यजुर्वेद** शब्द का प्रयोग भी भ्रान्तिनिवारण, पृष्ठ २२२, पं० ९ में मिलता है। ३. न्यायभाष्य १।१।।

४. आगे कहे गये ग्यारह लक्षण धर्म के और ग्यारह लक्षण अधर्म के सत्यार्थप्रकाश (सन् १८७५) में भी पृष्ठ १६९–१७१ तक उल्लिखित हैं। संस्कारविधि में धर्म के ये ही ११ लक्षण गिनाये है, परन्तु अधर्म के लक्षण भिन्न हैं। द्र० पृष्ठ २६२, २६३ (आसशसं)।

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः[1] अहिंसा ज्ञेया ॥ अर्थात् [सर्वथा सर्वदा सब भूतों के साथ] वैर त्याग करना।

(२) **धृति**—अर्थात् धैर्य। राज्य जाये तो भी धर्म का धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये, धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।

(३) **क्षमा** –अर्थात् सहनता[2]। बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिये किया तो छोटे ने उसे सहन कर लिया, यह क्षमा नहीं है। यह असामर्थ्य हैं। शरीर में सामर्थ्य होते हुए बुरे का प्रतिकार न करना, यह क्षमा है।

(४) **दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः**—मन की वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है। वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है।

(५) **अस्तेय**—अन्याय से धनादि ग्रहण करना, विना आज्ञा के पर-पदार्थ उठा लेना यह स्तेय है। स्तेय-त्याग अर्थात् अस्तेय [कहलाता है]।

(६) **शौच**—दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना, यह शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना, यह मानसिक शौच है। शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

(७) **इन्द्रियनिग्रह**—अर्थात् सारी इन्द्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना। इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर सम्बन्ध से होता है। मनु ने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥[3]

इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहिनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।

(८) **धी**—अर्थात् बुद्धि। सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो ऐसे ही आचरण करना चाहियें, शरीर-बल के विना बुद्धि-बल का क्या

---

[1] योगदर्शन १।३० के व्यासभाष्य में। अगले पद वाक्य की पूर्ति के लिये अध्याहृत हैं।

[2] 'सहनता' का अर्थ है—'सहनशीलता'।

[3] मनु० २।२१५॥

लाभ ? इसलिए शरीर-बल सम्पादन करने और उसकी रक्षा करने के लिए अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

(९) **विद्या**—योग-सूत्र में अविद्या का लक्षण किया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।[1]

तस्य हेतुरविद्या। योगसूत्र साधनपाद, २४ सूत्र।

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम, अभिमान यह हैं। बड़े-बड़े पाठान्तर[2] करने से ही विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन यह विद्या है यथार्थविहित ज्ञान यह विद्या है[3]। प्रमा[4] के विरुद्ध भ्रम है, विद्या में भ्रम नहीं होता। **'अनात्मनि आत्मबुद्धिः' 'अशुचिपदार्थे शुचिबुद्धिः'** यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं।

जिस पुरुष को, मैं धनाढ्य हूं मैं बड़ा राजा हूं, ऐसा अभिमान होता है तो वह अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना, यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करना चाहिए। हमारे देश में न्यून अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-सम्पादन करने में अड़चन[5] होती है। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस [विद्या] का ह्रास हुआ यानी उस देश की दुर्दशा हुई।

(१०) **सत्य**--तीन प्रकार का है—**सत्य-भाव, सत्य-वचन, सत्य-**

---

[1] योग दर्शन २।५॥

[2] 'पाठान्तर' मराठी शब्द है। इसका अर्थ है—'कई ग्रन्थों के वाक्यों को कण्ठस्थ करना'।

[3] परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रित मराठी सं० में **'यथार्थ विहित ज्ञान ही विद्या आहे'** इतना पाठ मुद्रण दोष से छूट गया है।

[4] प्रमा=यथार्थ ज्ञान.

[5] हिन्दी सं० में 'आपत्ति' पाठ है 'अड़चन शब्द का प्रयोग अधिक युक्त है। मराठी सं० में भी यही प्रयुक्त है।

क्रिया । सत्य-भावना असली होनी चाहिए, सत्य-भाषण करना चाहिए और सत्य-आचरण तो करना ही चाहिए । किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिये । असत्य का त्याग करना चाहिये । विकल्प[1] का लक्षण योग-सूत्र में किया है—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।[2]

सम्भव कौन सा [और] असम्भव कौन सा, इसका विचार करना चाहिए । कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदासजी का एक दोहा है—

जोजन[3] एक मूंछ रहि ठाढ़ी, जोजन चार नासिका बाढ़ी ।

देव मामलेदार[4] की बात कोई इस समय इस प्रकार कहते हैं कि उसने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बना दिया था । ऐसी असम्भाव्य बातें हमारे देश में बहुत सी फैली हुई हैं । इसलिए प्रमाणों के साहाय्य[5] से अर्थ-विवेचन करके देखने से विचार के अन्त में झूठ बात कौन सी और सच्ची बात कौन सी है, समझना चाहिये ।

(११) **अक्रोध**—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसका सर्वथा ही त्याग करना चाहिए । स्वाभाविक क्रोध तो जा नहीं सकता, परन्तु उसे भी रोकना यह मनुष्य का धम है । क्रोधाधीन होने से बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं ।

इस प्रकार का एकादशलक्षणी सनातन धर्म है, [जो मनुष्य मात्र का कर्तव्य है ।][6]

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

मनुस्मृति अ० २।२०॥

---

[1] मराठी संस्करण में 'विवेकांचे' अपपाठ है । [2] योग दर्शन १।९॥

[3] हिन्दी सं० में 'योजन', मराठी सं० में 'जोजन' पाठ है ।

[4] देव मामलेदारकर नाम का एक साधु दक्षिण में हुआ था । उसके विषय में दन्त-कथा प्रसिद्ध है ।

[5] हिन्दी संस्करणों में 'सहाय' पाठ है । मराठी संस्करण में तद्भव 'सहाय्य' शब्द प्रयुक्त है ।

[6] यह कोष्ठान्तर्गत पाठ हिन्दी अनुवादों में है, परन्तु मराठी संस्करण में नहीं है ।

व्यवहार धर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिए। सारी दुनिया में इसी आर्यावर्त[1] से विद्या गयी। इस आर्यावर्त[2] के आर्य लोगों के वैभव का वर्णन [जितना] किया जाय उतना थोड़ा है। समुद्र पर चलनेवाले जो जहाज, उन पर कर लगाना, ऐसा मनु ने अष्टमाध्याय में लिखा है–

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥
मनुस्मृति अ० ८।१५७॥

इससे स्पष्ट है कि समुद्र-यानादिक पहले हमारे लोग बनाया करते थे।[3]

अधर्म—अर्थात् अन्याय। इसका विचार करना चाहिए। मनु ने ऐसा लिखा है कि—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥५॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥६॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥७॥
मनुस्मृ० अ० १२।५,६,७॥

---

[1] मराठी सं० में 'हिन्दुस्थान' शब्द का प्रयोग है। स्वामीजी महाराज 'हिन्दु' या 'हिन्दुस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। उन्होंने यहां निश्चय ही 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग किया होगा। हिन्दुस्थान शब्द का प्रयोग मराठी अनुवादक ने अथवा सारांश संग्रहीता ने लिखा होगा। चतुर्थ प्रवचन में 'प्राण-प्रतिष्ठा' के प्रकरण में भूल से हिन्दू शब्द का उच्चारण हो जाने पर अपनी भूल स्वीकार की है और 'हिन्दू' शब्द का मूल अर्थ बुरा है, यह दर्शाया है। पाठक उस प्रकरण पर भी ध्यान देवें।

[2] हिन्दी अनुवादों में 'इस देश' पाठ है। मूल मराठी सं० में 'हिन्दुस्थान' शब्द प्रयुक्त है (द्र० इसी पृष्ठ की टिप्पणी १)।

[3] यह वाक्य मराठी संस्करण सहित सभी संस्करणों में श्लोक से पूर्व है। प्रसंगानुसार श्लोक के पश्चात् चाहिए। अत एव हमने इसे यथास्थान रख दिया है।

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म है। [परद्रव्येष्वभिध्यानम् अर्थात्[1]] परद्रव्यहरण अथवा चोरी; मनसानिष्टचिन्तनम् अर्थात् लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईर्ष्या करना वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना।

वाचिक अधर्म चार है—पारुष्य अर्थात् कठोर भाषण। सब ठौर सब समय मृदु भाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ए अन्धे' ऐसा कहना निस्सन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृतभाषण अर्थात् झूठ बोलना। पैशुन्य अर्थात् चुगली करना। असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जान बूझ कर उखड़ी-उखड़ी बातें करना।

शारीरिक अधर्म तीन हैं—अदत्तानामुपादानम् अर्थात् चोरी। हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म। परदारोपसेवा अर्थात् व्यभिचार किसी मनुष्य ने अपने खेत में की जमीन में न बोकर अपना बीज लेकर दूसरे की जमीन में बोया तो उसे हम क्या कहेंगे? क्या उसे हम मूर्ख न कहेंगे? अपने वीर्य को अगम्यागमन करके खर्च करने हारा तो महामूर्ख है। कोई ऐसा कहते है कि हम नकद पैसा देकर बाजार का माल मोल लेते हैं, इसमें व्यभिचार का पाप क्या होगा? परन्तु पल्ले का पैसा खर्च करके अपने [अमूल्य] वीर्य को खर्च करना यह व्यापार किस प्रकार का? ऐसा व्यापार करने वाला महामूर्ख नहीं है क्या?

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।[2]

यज्ञ—अर्थात् होम। यज्ञ करने से वायुशुद्धि होकर देश में पुष्कल वृष्टि होती है। मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मन्त्रमयी देवता मानी है और विग्रहवती देवता नहीं मानी[3]। इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारों ने बहुत सा झगड़ा मिटा दिया, परन्तु—

---

[1] १. यह पाठ मराठी सं० में भी नहीं है, तथापि अगले पाठों के अनुसार होना चाहिए।

[2] २. **त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति** । छा० उप० २।२३।१ ।।

[3] ३. मीमांसा ६।१।६ के भाष्य में देवता को मन्त्रमयी कहा है और विग्रहवती देवता का खण्डन किया है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ।[1]

इस पुरुषसूक्त में की ऋचा की व्यवस्था का लगाना पर्याप्त कठिन पड़ता है ।[2]

अध्ययन—अध्ययन अर्थात् लड़कों को पढ़ाना, वैसे ही लड़कियों को पढ़ाना यह है ।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिष्क्रिया । मनुस्मृ० २।६७॥

इसमें **'गुरौ वासः'** अर्थात् [गुरु के समीप अध्ययन के लिए रहना । परन्तु][3] कुल्लूक भट्ट ने 'पति के घर में वास करना' ऐसा अर्थ करके अर्थ का घोटाला (=अनर्थ) कर दिया ।

पूर्व काल में आर्य लोगों में स्त्रियां उत्कृष्ट रीति से पढ़ती थीं । आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो—स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे । यह सबको विदित ही है ।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियां होकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के संशयों का समाधान करती थीं, फिर [न मालूम][4] कुल्लूक भट्ट ने **'पतिसेवैव गुरौ वासः'** ऐसा अर्थ कहां से किया ? आथर्वण[5] संहिता में—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० वे० ११।५।१८ ॥

ऐसा स्पष्ट वाक्य है । इस वाक्य को एक ओर रखकर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना बहुत कठिन होगा । सुशिक्षित स्त्रियां

---

[1] ऋक् सं० १०।९०।१६ ॥ यजुः सं० ३१।१६॥

[2] इस पंक्ति की भाव अस्पष्ट है । हमारे विचार में यहां वक्ता यह कहना चाहते हैं कि उक्त मन्त्र में तो विग्रहवान् देवों को स्वीकार करना ही पड़ेगा । ये विग्रहवान् देव **विद्वाꣳसो हि देवाः** (शत० ३।७।३।१०) के अनुसार वेदज्ञ विद्वान् लोग हैं ।

[3] यह पाठ मराठी संस्करण में नहीं है । इस के विना वाक्य रचना लड़खड़ाती है ।

[4] यह पाठ सभी हिन्दी सं० में है । अर्थ की स्पष्टता के लिए आवश्यक है । [5] मराठी सं० में 'अथर्वण' पाठ भ्रष्ट है, 'आथर्वण' पाठ होना चाहिए ।

कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार साहाय्यकारी होती हैं। संगति बल कितना है, इसका विचार करो। विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग पड़े तो उसका परिणाम कैसे लगे? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़ें इतना ही नहीं; किन्तु सब जातियों को वेदाभ्यास करने का अधिकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि. जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥
वाजसनेय यजुः संहिता अ० २६, मं० २।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥[1]

'शूद्र ब्राह्मण हो जाता है, ब्राह्मण शूद्र हो जाता है' इस मनु वाक्य का भी विचार करना चाहिए।

अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ा भारी धर्म है। ब्रह्मचर्य के कारण शरीर-बल और बुद्धि-बल प्राप्त होता है। आजकल लड़के-लड़कियों के शीघ्र विवाह करने की बुरी चाल पड़ गई है। काशीनाथ ने **'शीघ्रबोध'** नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है, उसमें ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥१॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥२॥

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है, ऐसी बकवास की है। इस ग्रन्थ को बने अभी ८० वर्ष[2] भी नहीं हुए।

---

[1] मनु० १०।६५॥

[2] ग.घ.ङ संस्करणों में '१०० वर्ष' पाठ है। मराठी सं० में 'ऐशी वर्षे' अर्थात् '८० वर्ष' पाठ है। प्रतीत होता है पं० गणेश रामचन्द्र ने जब सं० १९५० में हिन्दी अनुवाद किया, उस समय व्याख्यान काल सन् १८७५=सं० १९३२ में १८ जोड़कर ८०+१८=९८ अर्थात् १०० वर्ष बना दिया। अगले संस्करणों में यहीं से यह भूल होती चली गई। वर्तमान सं० २०३९ में १८७ वर्ष जानने चाहिएं।

स्वयंवर के विषय में मनु का वचन है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यतु मत्यपि ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥[1]

इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करें। वचन—

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्[2] ॥

पुरातन सुश्रुत और चरक –इन वैद्यक के ग्रन्थों में आयु के चार भाग कल्पित किये हैं—(१) वृद्धि (२) यौवन (३) सम्पूर्णता और (४) हानि। इनकी व्यवस्था इस श्लोक[3] में दी है—

[4]**वृद्धियौवन सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेर्यौवनं[5], आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति ॥**

पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम-से-कम चालीस वर्ष वय[6] होनी चाहिए। निकृष्ट पक्ष में पच्चीस वर्ष की वय होनी

---

१. मनु० ९।९०।। मनुस्मृति में द्वितीय चरण का पाठ 'कुमार्यृतुमती सती' है। स० प्रकाश, सं० वि० में शुद्ध पाठ है। प्रतीत होता है सारांश लेखक से उत्तर श्लोक के आधार पर यहां का पाठ भ्रष्ट हो गया है।

२. मनु ९।८९ ।।

३. हिन्दी सं० में 'इन वाक्यों' में। मराठी सं० में 'या श्लोकान्त' पाठ है। वस्तुतः यह श्लोक नहीं है, गद्य है।

४. इससे पूर्व हिन्दी संस्करणों में **'तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य'** पाठ अधिक है। यह मराठी सं० में नहीं है तथा वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध भी है। सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं०, समु० ३, पृष्ठ १०१; संशोधित सं० समु० ३, पृष्ठ ८० (आसशसं २) संस्कारविधि प्रथम सं० पृष्ठ १०१, संशोधित सं० पृष्ठ ४२, १२१ (आसशसं) में **'चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य'** पाठ है, परन्तु सुश्रुत में यहां पाठभेद है। द्र० सूत्रस्थान ३५।२९।।

५. संस्कारविधि गर्भाधान संस्कार पृष्ठ ४२ (आसशसं) में **'आचतुर्विशतेयौवनं'** पाठ है, परन्तु अर्थ में 'पच्चीसवें वर्ष से' ही लिखा है।

६. मराठी सं० में 'वय' पद का निर्देश है। वह युक्त है। भारत की

चाहिए और लड़की की सोलह वर्ष की वय होनी चाहिए, ऐसा सुश्रुत का कहना है ।

[1]पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्[2] ।।

छान्दोग्य उपनिषद्[3] में प्रातःसवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है । यह पुरुषों की कुमार अवस्था है । चवालीस वर्ष तक मध्य-सवन वर्णित है । यही यौवनावस्था है । अड़तालीस वर्ष तक सायं-सवन वर्णन किया है, अर्थात् यह सम्पूर्णता की अवस्था है । इसके पश्चात् जो समय आता है, वह [उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिए माना गया है ।][4] विवाह होने के पूर्व वेदाध्ययन अवश्य कराना चाहिए । इन दिनों ब्राह्मण लोगों ने वेदाध्ययन स्वार्थवश नष्ट कर दिया है ।

अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् की कहानी प्रसिद्ध है ।[5] स्वार्थवश पण्डित लोगों ने नये-नये श्लोक बनाये वा लोगों के मनों में जाने बूझे विषयों में भ्रम डाला, यह बड़े ही दुःख की बात है । शालायें[6] हों,

---

कतिपय अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी 'वय' शब्द ही प्रयुक्त होता है । 'आयु' पद का व्यवहार सम्पूर्ण जीवितव्य काल के लिए होता है । अतः हिन्दी में उमर के लिए 'आयु' का व्यवहार चिन्त्य है ।

[1] यहां से लेकर इस व्याख्यान की समाप्तिपर्यन्त का मराठी अंश वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित मराठी संस्करण में चौथे व्याख्यान में पृष्ठ २६ पर छपा है और पृष्ठ २६ से चौथे व्याख्यान के अन्त तक का अंश इस व्याख्यान में पृष्ठ १७-१६ तक छपा है । यह प्रत्यक्ष प्रूफ संशोधक के प्रमाद का लक्षण है । सन् १८७५ के मराठी संस्करण में पाठ यथास्थान ठीक मुद्रित हैं ।

[2] सुश्रुत सूत्रस्थान ३५ । १३ ।। [3] द्र. ३ । १६ । २—६ ।

[4] यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मराठी संस्करण में नहीं है । मराठी सं० का पाठ त्रुटित है, यह उसके पाठ से स्पष्ट है । हिन्दी सं० में यह पाठ पं० गणेश रामचन्द्र ने जोड़ा है ।

[5] इसके विषय में स० प्र० समु १४ के अन्त में (पृष्ठ ८४०) में तथा 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' (सं० ३) पूर्ण संख्या ७४२, भाग २, पृष्ठ ७५१ का पत्र देखें । [6] अर्थात् पाठशालाएं ।

उनमें [वेद का] अध्ययन चलाया जावे, परीक्षायें होवें और वेदाध्ययन को सब प्रकार[1] से उत्तेजना मिले, ऐसा [प्रयत्न करना] उचित है ।[2]

दान—दान शब्द का अर्थ आजकल जो लेते हैं वह नहीं है। पेटभरू ब्राह्मण कहते हैं—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः ।

विवेचनामूलक दान सदा होता रहा है। इन दिनों लोगों ने "**पीत्वा पीत्वा[3] ब्रह्मापि मृतः**" ऐसे वाक्यों को कहकर दान का मिथ्या ही अर्थ किया है। विद्या वृद्धि के लिए खर्च, कला कौशल [की उन्नति] के लिए खर्च करना, यह दान उचित है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व ही हो चुका है।

गृहस्थ आश्रम में परस्पर प्रीति बढ़कर सामाजिक हित बढ़े, यही मुख्य धर्म है। इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिये मूर्ति-पूजादिक पाखण्ड नष्ट होना चाहिये ।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भार्या भर्त्रा[4] तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥[5]

---

[1] हिन्दी संस्करणों में 'दुःख की बात है' के आगे 'इसलिये ऐसा हो कि स्थान स्थान पर वेदशालायें हों, वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवायी जावें अर्थात् वेदाध्ययन को हर प्रकार' पाठ मिलता है।

[2] यही आदेश ऋषि दयानन्द ने अपने अनुयायियों को अन्यत्र भी बहुधा दिया है और अंग्रेजी फारसी की पाठशालायें खोलने को मना किया है (द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४२, २५९, ५०१, ६२९, ६३५, ६८४, ७८१ आदि संस्क० ३) तथा पं० भगवद्दत्त लिखित 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' की भूमिका (प्रथम भाग) पृष्ठ ४७-७२ (तृतीय सं०)। परन्तु आर्यसमाज ने ऋषि के इस महान् आवश्यक आदेश का उल्लंघन किया और कर रहा है। इसका फल आर्यसमाज के नाश के अतिरिक्त कुछ न होगा।

[3] यहां पाठ भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है, 'दत्त्वा दत्त्वा' पाठ होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण दान का है, पान(=पीने) का नहीं है।

[4] मनुस्मृति में '**भर्त्रा भार्या**' ऐसा पूर्वापर पाठ है। स० प्र० तथा सं० वि० में उद्धृत पाठ ठीक ही है। यहां लेखक प्रमाद से पाठ का व्यत्यास हुआ प्रतीत होता है।

[5] मनु० ३।६०॥

उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते हुए निर्वाह करना चाहिए, यह उनका मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ--इस आश्रम में विचार करना चाहिए। तप अर्थात् विद्यासम्पादन करना यह उचित है।

संन्यासी--संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे। यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथार्थ उपदेश के विषय में मनु कहते हैं--

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥[3]

पंचशिखा[चार्य] और शङ्कराचार्य इनका इतिहास देखना चाहिए। उन्होंने सदा सत्य और सदुपदेश ही किये। उसी प्रकार संन्यासी को सदुपदेश करना चाहिए।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ कृष्णयजुर्वेद संहिता।[४]
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(यह कहकर व्याख्यान समाप्त किया।)

—:o:—

---

३. मनु० ६।४६॥

४. तै० आ० ८।१॥

चौथा-प्रवचन

धर्माधर्म-विषयक प्रश्नोत्तर

शनिवार ता० १० जुलाई १८७५[1], धर्माधर्म इस विषय पर दयानन्द सरस्वती ने व्याख्यान दिया[2] उस पर जो प्रश्नोत्तर हुए वे—

प्रश्न—[क्या] वेदों में मन्त्रमयी देवताओं का अथवा विग्रहवती देवताओं का प्रतिपादन है? सावयव देवताओं के विना जड़मति अज्ञानी लोग पूजा किस प्रकार करें और धर्म-व्यवहार में उनका निर्वाह कैसे होगा?

उत्तर—वेदों के तीन काण्ड हैं—उपासना, कर्म और ज्ञान। परन्तु उपासना-काण्ड में केवल एक उपासना ही प्रतिपादित है ऐसा नहीं है, अथवा ज्ञान-काण्ड में ज्ञान ही प्रतिपादित है अथवा कर्म-काण्ड में कर्म ही प्रतिपादित है, यह नहीं है। उपासना-काण्ड में उपासना प्रधान है, परन्तु उसमें ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है। इसी प्रकार सर्वत्र[3] है।

मीमांसा का प्रारम्भ **"अथातो धर्मजिज्ञासा"** ऐसा है। इसमें कर्म-विचार है। इसमें अथ और अतः इन दो शब्दों के अर्थ के विषय में बड़ी ही मेहनत की है[4] और उस पर से भिन्न-भिन्न काण्ड की बिलकुल भिन्न-भिन्न व्यवस्था विषयक ज्ञापन होता है ऐसा कोई

---

[1] आषाढ़ शुक्ला ७, सं० १९३२। यह तारीख और दिन का निर्देश चौथे प्रवचन रूप प्रश्नोत्तर विषयक है।

[2] देखो प्रवचन संख्या ३। यह व्याख्यान ८ जुलाई बृहस्पतिवार को हुआ था (द्र० पृष्ठ २७८, टि० २)।

[3] अर्थात् ज्ञानकाण्ड में ज्ञान प्रधान है, कर्म और उपासना गौण हैं, कर्मकाण्ड में कर्म प्रधान है, कर्म और उपासना गौण हैं।

[4] यह संकेत सम्भवतः मीमांसा के शाबर-भाष्य (१।१।१) की ओर है। शाबरभाष्य में इन शब्दों के अर्थों के विषय में पर्याप्त विचार किया है।

कहते हैं, परन्तु वैसा कहना प्रशस्त नहीं है। आश्वलायन[1] ने व्यवस्था अच्छी की है, उसे देखना चाहिए। इन दिनों कर्म वेद-मन्त्रों के अनुकूल नहीं होता। कारण, जैमिनि[2] ऋषि ने कर्म-काण्ड में मन्त्रमयी देवता मानी है[3] और कर्म का अधिकार स्नातक[4] इस योग्यता को प्राप्त हुए पुरुषों को है। इस पर से कर्म के विषय में जड़बुद्धि पुरुष की योग्यता नहीं है, ऐसा [सिद्ध] होता है। कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता है तो मूर्त देवताओं को उसमें[5] घुसने का स्थान नहीं है।

उपासनादिकों को योगशास्त्र का आधार है, जैसे कर्म-काण्ड को मीमांसा का है। परन्तु योगशास्त्र में मूर्ति-पूजा के विषय में कुछ भी वर्णन नहीं है। ज्ञान-काण्ड में मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती, ऐसा सर्व-सम्मत [सिद्धान्त] है। इस पर जैमिनि के मत में, पतञ्जलि के मत में और व्यास के मत में मूर्ति-पूजा गृहीत नहीं होती अर्थात् पूर्व-मीमांसा-शास्त्र, योग-शास्त्र, उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त-शास्त्र, इनमें तो मूर्ति-पूजा का कहीं भी अवकाश नहीं है।

अब कोई ऐसा कहे कि स्मृति-ग्रन्थों में मूर्ति-पूजा है और स्मृति

---

[1] इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि आश्वलायन ने पूर्वमीमांसा की व्याख्या लिखी थी और उसमें 'अथ' तथा 'अतः' की शबरस्वामी कृत व्याख्या से भिन्न व्याख्या थी। सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मीमांसा के व्यासमुनि कृत भाष्य पढ़ने का निर्देश किया है। 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ के लेखक ने पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसा पर बौधायन मुनि कृत व्याख्या का निर्देश किया है। वेदान्त पर बौधायन वृत्ति का निर्देश अर्वाचीन आचार्यों ने भी किया है। इस सब पर विचार करने से हमारा मत है कि आश्वलायन के स्थान पर बौधायन नाम अधिक युक्त हो सकता है।

[2] हिन्दी तथा मराठी सं० में 'जैमिनी' पाठ है।

[3] मन्त्रमयी देवता का वर्णन पूर्वमीमांसा अ० ९ पाद १ सू० ९ के शाबर भाष्य में देखें।

[4] स्नातक अर्थात् अधीतवेद। अत एव सभी मीमांसा-व्याख्याकारोंने प्रथम सूत्र की व्याख्या में 'वेदाध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या' ऐसा स्पष्ट लिखा है।

[5] अर्थात् कर्मकाण्ड में।

को अनुमान से श्रुति-मूलकत्व है,[1] उपलब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा उपदिष्ट न हो तो भी लुप्त श्रुति में मूर्ति-पूजा [का विधान] है, ऐसा मानकर मूर्ति-पूजा करनी चाहिए[2]। ऐसा श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मानकर अनुपस्थित श्रुति का अवलम्बन करके उपस्थित ग्रन्थों के आधार में जो विचार करना, उसमें गड़बड़ मचाना, यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता। इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखाएं भी उपलब्ध हैं।[3] शाखा भेद कई प्रकार का है[4]। जो

---

[1] स्मृतियों के श्रुतिमूलकत्व अनुमान का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने **'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्'** (अ० १ पा० ३ सूत्र ३) में किया है। परन्तु श्रुति से विरोध होने पर तथा लोभादि प्रत्यक्ष हेतुमूलक होने पर स्मृति प्रमाणार्ह नहीं होती हैं, यह मुख्य सिद्धान्त है (द्र० मी० १।३।३-४)।

[2] द्र० स० प्र० प्रथम सं० समु० ११, पृष्ठ ३३१ तथा संशोधित सं० समु० ११, पृष्ठ ५४६-५४८। वहां इस विषय में अधिक विस्तार से लिखा है। इस पूरे सन्दर्भ की तुलना के लिये हम सत्यार्थप्रकाश के दोनों संस्करणों के पाठ प्रथम परिशिष्ट में दे रहे हैं।

[3] सम्प्रति ऋग्वेद की शाकल शैशिरीय और शाङ्खायन; शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व; कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ-कपिष्ठल; सामवेद की कौथुम राणायनी और जैमिनीय; अथर्ववेद की शौनक और पैप्पलाद—ये १४ शाखायें मुद्रित तथा हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं।

[4] शाखाभेद मुख्यतया दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें वेद के गूढ़ अथवा अस्पष्ट अर्थवाले पद के स्थान पर प्रसिद्ध अर्थवाले पद का निर्देश करके अर्थज्ञान कराया जाता है। यथा यजुर्वेद १. १७ के 'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान पर काण्वशाखा में 'द्विषतो वधाय' पाठ किया गया है। दूसरा भेद मन्त्र के पाठ-भेद के साथ ब्राह्मण भाग का भी संमिश्रण रूप होता है। यथा कृष्णयजुः की शाखाएं।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में यही बात इस प्रकार स्पष्ट की है कि—"शाखा वेदव्याख्यानों की नांई ब्रह्मादिक ऋषि मुनि के किए हैं। जैसे **'मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य'** ऐसा पाठ शुक्ल यजुर्वेद में है और तैत्तिरीय शाखा में **'मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यस्य'** ऐसा पाठ है। इससे [जूति शब्द] स्पष्टार्थक हो गया।" स० प्र० प्रथम स० पृष्ठ ३३२।

मूल बीजरूपी वेदों में [है] वैसा ही उपलब्ध शाखाओं में नहीं है, वह लुप्त शाखाओं में है, यह कल्पना सयुक्तिक नहीं। आश्वलायन, कात्यायनादि श्रौत-सूत्रकार[1], नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बना, इसलिए अमुक मन्त्र नहीं लिए, ऐसा कहीं भी कहते नहीं, और शास्त्र-व्यवस्था के लिए स्मृत्यवलम्बन करना चाहिए, ऐसा भी उनका[2] कथन नहीं। हमारा भी यही कहना है कि पूर्व मीमांसा, योग और उत्तर मीमांसा इन शास्त्रों को कृपा करके लगा कर देखो। इसी प्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्जल महाभाष्य में। नष्ट शाखाओं का[3] गौण प्रकार से भी दिखाई पड़नेवाला सूचक लिङ्ग नहीं है। इससे 'स्मृति का श्रुतिमूलकत्व है', इस मत के द्वारा आधुनिक अशुद्ध व्यवहार के जितने चाहियें उतने ज्ञापकों[4] को निकालना, यह बहुत ही अप्रशस्त है। अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्ति-पूजा का [कहीं] विधान नहीं, इसका विचार हो चुका।

अब मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं के विना अपना निर्वाह कैसे करें? इस प्रश्न पर विचार करें। हमारे विचार में मूर्ति-पूजा की मूर्खों को भी आवश्यकता नहीं है, [कारण], मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़-बुद्धि, फिर उसके पीछे लगाई जाये जड़ पदार्थों की पूजा, तो फिर उसकी बुद्धि और अधिक जड़ [अथवा कैसी?]

---

[1] इन पदों का सम्बन्ध आगे 'ऐसा कहीं भी कहते नहीं' के साथ है। तात्पर्य यह है कि इन श्रौतसूत्रकारों ने यह कहीं नहीं लिखा कि हम से लुप्त शाखाओं के मन्त्र लेते नहीं बना। इससे हमने लुप्त शाखाओं के मन्त्र नहीं लिये।

[2] अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट श्रौतसूत्रकारों का।

[3] अर्थात् लुप्त शाखाओं में मूर्तिपूजा के विषय में अप्रत्यक्षरूप से भी सूचक लिङ्ग नहीं है।

[4] अर्थात् वर्तमान अवैदिक कर्मकाण्ड की प्रत्येक विधि के श्रुतिमूलकत्व ज्ञापकों का निकालना। सम्भवतः यह संकेत भट्ट कुमारिल के स्मृत्यधिकरण (मी० १।३।२) के तन्त्रवार्तिक व्याख्यान की ओर है। इस अधिकरण में शबरस्वामी ने जिन-जिन स्मृति वचनों को श्रुतिविरुद्ध तथा लोभादि दृष्ट-मूलक कहा है, उन सब का भट्ट कुमारिल ने महान् गटाटोप से श्रुतिमूलकत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है।

होगी ? जड़मूर्ति की पूजा से तो जड़बुद्धि का जड़त्व ही बढ़ेगा, [इससे] उन्नति तो कभी भी होगी नहीं, किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी।

अब पूजा शब्द का अर्थ देखो। पूजा शब्द का अर्थ 'सत्कार' ऐसा है, षोडशोपचार पूजा नहीं है। देखो—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥[1]

इस स्थल पर माता, पिता, आचार्य और अतिथि इनका पूजन अर्थात् सत्कार करना है। उसी प्रकार मनु में भी स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रियवचन इत्यादिकों द्वारा सत्करणीय है। मनु [क्या कहते हैं–]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥[2]

जड़ पदार्थों की सत्कार अर्थ वाली पूजा करते नहीं बनती। सचेतन का, सजीव का ही केवल ऐसा सत्कार करते बनता है। सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिकों का सत्कार करने से बहुत लाभ होते हैं—

मनुष्यों को सत्संग होने से उनकी बुद्धियों का परिपाक होकर वे वैशद्य को प्राप्त होते हैं और उससे मन्द-बुद्धि पुरुषों का कल्याण भी होता है। दूसरा–मनुष्यों की स्वभाव से 'हमारी कीर्ति होवे और आस-पास के मनुष्य हमें अच्छा कहें, हमारे आचरण को पसन्द करें' ऐसी इच्छा होती है। इस इच्छा से उनके मन में सदाचरण की इच्छा दृढ़ होती है। पर यह कैसे होवे ? जब उस मनुष्य को [सत्पुरुष की] संगति होवे तभी, अन्यथा कभी सम्भव नहीं। हमें स्पष्ट विदित है कि जड़ मूर्तियों के सम्मुख मन्दिरों में कितने[3] दुराचरण होते हैं, वैसे दुराचरण पांच वर्ष के बच्चे के सम्मुख भी करने की मनुष्य की

---

[1] तै० आर० ७।४।२॥ परोपकारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित मराठी संस्क० में 'तै० उ० प्र० ७ अनु० ११ पता दिया है। वह अशुद्ध है। तै० उ० में प्रपाठक विभाग ही नहीं है।

[2] मनु० ३।५५॥

[3] कितने अर्थात् कैसे कैसे।

हिम्मत नहीं होती । इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य से मनुष्य जितना डरता है, उतना जड़ मूर्तियों से नहीं डरता । ऐसा होता है कि लाख मूर्तियों के मध्य में भी मनुष्य खड़ा होने, उसका चित्त भ्रष्ट और चञ्चल होवे तो वह दुराचरण की प्रवृत्ति दिखाता है । जड़ पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्ननि नहीं होती; परन्तु सद्विचार महाविचार इन में मन लगाने से बुद्धि की उन्नति होती है । सत्संगति से, दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न हो कर प्रीति सदृश उत्तम गुण उनमें उत्पन्न होते हैं । यह इतना पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ से मूर्तिपूजा के विषय में विचार हुआ ।

अब मूर्ति के षोडशोपचार पूजा के विषय पर विचार करना चाहिए । जड़ मूर्ति की केवल जड़ पदार्थ के नाते से पूजा नहीं होती । इसलिए प्रथम उसमें उसकी प्राण-प्रतिष्ठा[1] करनी पड़ती है । मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है । भावना अर्थात् विचारणा ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

जैसी-जैसी भावना वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है, ऐसा कोई कहते हैं, परन्तु यह [उनका] मिथ्या प्रलाप है । कारण, सब मनुष्यों को सर्वदा ही सुख प्राप्ति की दृढ़ भावना रहती है, फिर उनको सर्वदा सुख प्राप्ति क्यों नहीं होती ? उसी तरह पर्वत के मध्य सुवर्ण की दृढ़ भावना की जाय तो भी पर्वत सोने का कभी नहीं बन सकता । हमारी भावना का सम्बन्ध करने से जड़ मूर्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता । प्राण-प्रतिष्ठा करने पर भी मूर्ति सचेतन नहीं होती । और आंखों से देखे, ऐसा नहीं होता । यह हम सबों को अच्छी तरह ज्ञात है । अस्तु, परमेश्वर का अखण्ड निश्चय[2] इस सब जगत् भर में चल रहा है । उसमें हमारी कृति से कभी परिवर्तन नहीं होगा । जो जड़ है वह [ही रहेगा, और] सचेतन वह सचेतन ।

अब प्राण-प्रतिष्ठा के कारण जड़ मूर्ति को पूजनीय, ऐसा मानने

---

[1] इस विषय में स० प्र० प्रथम सं०, समु० ११, पृष्ठ ३२८ तथा संशोधित सं० समु० ११, पृष्ठ ४८४ देखना चाहिए । दोनों के पूरे उद्धरण प्रथम परिशिष्ट में देखें ।

[2] अर्थात् निश्चित नियम ।

का क्या आधार है उसे देखो, इन चारों वेदों में, अथवा गृह्य श्रौत सूत्रों में अथवा षड्दर्शनों में कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र नहीं हैं, तो फिर **प्राणेभ्यो नमः** इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र[1] कहां से आये ? इसका विचार हम हिन्दुओं को, नहीं मैं भूला, हम आर्यों को करना चाहिए। हिन्दू इस नाम का उच्चारण मैंने भूल से किया। हिन्दु अर्थात् काला [काफिर चोर इत्यादि] यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है। उसको मैंने मूर्खता से स्वीकार किया। आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, यह हमारा नाम है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥
ऋग्वेद सं०।[2]

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥ अष्टाध्यायी पाणिनीय।[3]

अहो[4] ! दस्युसदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं सो स्मरण रहे। अस्तु

प्रतिष्ठामयूखादि अथवा लिङ्गार्चन-चिन्तामणि इत्यादि तन्त्र ग्रन्थों में के मन्त्र लेकर हम जड़मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि [हम] उन तन्त्र ग्रन्थों को प्रमाण मानते [हैं] तो यह तान्तिक मन्त्र देखो—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

ऐसे तान्त्रिक मन्त्रों के मध्य वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आवे ? इसीलिए जड़मूर्ति में चेष्टा उत्पन्न नहीं होती। इस मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा, परन्तु स्वाभाविक जीव के रहने के सावयव मृत शरीर में, जिसमें प्राण

---

[1] स० प्र० समु० ११, प्रथम सं० पृष्ठ ३२८ में प्राणप्रतिष्ठा-विषयक प्रायः सभी मन्त्र उदधृत हैं।

[2] ऋ० १।५१।८॥

[3] अष्टाध्यायी ६।२।५८॥

[4] यह मराठी में आदरसूचक अव्यय है। उसी के स्थान पर हिन्दी अनुवादों में 'भाइयो' पद रखा है।

आना चाहिए और मुर्दा जिन्दा हो जाये, उसमें वैसा नहीं होता। इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के ढकोसले में क्या रखा है ?

प्रश्न—भिन्न-भिन्न वर्ण तो आप नहीं मानते, फिर वर्णाश्रम की व्यावस्था कैसे करोगे—ब्राह्मण कौन ? वैश्य कौन ? क्षत्रिय कौन ? शूद्र कौन ?

उत्तर—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास। सुसंगति, अध्ययन इस का अधिकार सब मनुष्यमात्र को है। जिस-जिस प्रकार का जिस-जिस पर संस्कार होगा उसी-उसी प्रकार उसकी योग्यता मनुष्यमात्र में बढ़ेगी। हमारे देश में कोई बड़ी धर्मसभा नहीं अथवा परिषद् नहीं, जिसके कारण आश्रम-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था[1] विचित्र असंगत हो गई है। भला आदमी दुःख उठाता है, मजदूर [जितने] चाहिए उतने मजूरी करने के लिए नहीं मिलते, और देश में साधुओं की टोलियां-की-टोलियां फिरती हैं। आधुनिक सम्प्रदायों के अनुसार जो साधु बने हैं, उनकी गणना चार आश्रमों में किस आश्रम में की जाए ? शास्त्र का आधार छोड़ अपनी मरजी से लोग रहने लगे हैं, यह जबरदस्ती है। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था, गुण, और कर्म[2] से की जाये और प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था इसी प्रकार की थी। वे जन्म से ब्राह्मण नहीं मानते थे। जानश्रुति [और] जाबाल ये नीच [कुल के] थे[3], जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद् में दी हुई है। जाबाल की माता व्यभिचारिणी थी, परन्तु गुरु के पास [जाकर] जाबाल सत्य बोला, इतने ही कथन से गुरु प्रसन्न होकर उससे कहने लगे—'जाबाल ! तुमने सत्य भाषण किया, तू ब्राह्मण है।'[4] ऐसा कहकर उसे ब्राह्मणत्व दिया।

---

[1] मराठी सस्करण में 'जाति-व्यवस्था' पाठ है। इस का अभिप्राय 'वर्ण-व्यवस्था' से है। आगे भी सर्वत्र 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के अर्थ में ही जानना चाहिये।

[2] ऋ० द० वर्ण व्यवस्था 'गुण कर्म स्वभाव' से मानते हैं। सम्भव है यहां 'स्वभाव' पद छूट गया हो। हिन्दी संस्करणों में 'स्वभाव' पद भी मिलता है।

[3] जानश्रुति को छां० उप० ४।२।३ में शूद्र कहा है, जाबाल की कथा छां० उप० ४।४।१-५ में है।

[4] छां० उप० ४।४।४-५।।

अब पुरुष सूक्त में एक श्रुति है, उसका भी अर्थ करना चाहिए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[1]

पुरुष सूक्त के बीच में '**सहस्रशीर्षा**' यह पद बहुव्रीहि है, तत्पुरुष नहीं है।[2] जिस प्रकार '**गङ्गायां घोषः**' इसका अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है। उसी पद्धति को रखकर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिए।

पूर्णत्वात् पुरिशयनाद् वा पुरुषः। यह निरुक्त का प्रमाण है।[3]

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान्—ज्ञानवान् [जो है] वह ब्राह्मण। शतपथ ब्राह्मण में "बाहु" अर्थात् "वीर्य" ऐसा अर्थ दिया है।[4] इससे जो वीर्यवान् वह क्षत्रिय, ऐसी व्यवस्था

---

[1] ऋ० १०।९०।१२॥ वै० यं० अजमेर के छपे मराठी सं० में सम्पादक ने इसका पता "य० अ० ३१, मं० ११" दिया है, वह अशुद्ध है। इसका कारण यह है कि मन्त्र से पूर्व 'पुरुष-सूक्त' शब्द का निर्देश है। यजुर्वेद में सूक्त शब्द का व्यवहार नहीं है, ऋग्वेद में है। ग. घ. ङ. अनुवादों में मन्त्र के आगे (यजु०) पद का निर्देश है, यह भी अशुद्ध है। हिन्दी अनुवादों में तो ऋग्वेदीय '**पद्भ्यां शूद्रो**' पाठ को यजुर्वेदीय '**पद्भ्याꣳ शूद्रो**' पाठ में भी परिवर्तित कर दिया गया। मराठी सं० में मन्त्र पाठ ऋग्वेदीय ही है। हिन्दी अनुवादक ने पूर्वत्र भी '**भद्रं कर्णेभिः**' के ऋग्वेदीय पाठ को यजुर्वेदीय पाठ में परिवर्तित कर दिया, यह हम पूर्व (पृष्ठ २७८, टि० ३) लिख चुके हैं।

[2] द्र० सत्यार्थ प्रकाश, समु० ११, प्रथम सं०, पृष्ठ ३२९। वहां अधिक स्पष्टीकरण किया है।

[3] निरुक्त के नाम से उद्धृत पाठ अर्थतः अनुवाद है। निरुक्त का मूल पाठ इस प्रकार है—'**पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।**' २।३॥

[4] द्र० **बाहुर्वै वीर्यम्**। यह पाठ ऋषि दयानन्द ने सत्या० प्र० चतुर्थ समु० (आसशसं० २) पृष्ठ १४४ मे भी उद्धृत किया है। पर इस आनुपूर्वी का पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। हां, इस अर्थवाला '**वीर्यं वा एतद् राजन्यस्य यद् बाहू**' पाठ श० ब्रा० ५।४।१।१७ में मिलता है। ऋग्वेदादिभाष्य-

होती है। व्यावहारिक विद्या में जो चतुर, वह वैश्य। अब **'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** इस स्थल पर 'पद' इसका अर्थ नीच मानकर मूर्खत्वादि गुणों से शूद्र होता है ऐसा [सोचकर उन्हें नीच] कहना किस प्रकार चल सकेगा? **'यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे'** इस स्थल पर 'पद' की कितनी भारी योग्यता है, यह तुम्हें विदित ही है। इस विचार से शूद्र अर्थात् मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और मनु के वाक्य का अर्थ सम्यक् प्रकार लग जाता है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ।।[1]

सब जाति के अध्ययन का समय ब्रह्मचर्य है, और संसार को एक ओर रखकर अध्ययन करने में, उपदेश करने में और लोकहित करने में जो सम्पूर्ण समय लगाना यह संन्यास है। गृहस्थियों को समय नहीं है और संन्यासियों को अवकाश मिलता है; यही मुख्य भेद है।

अब जन्म के सम्बन्ध से ही यदि ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व होता है, तो जब ब्राह्मण मुसलमानों के समान आचरण करने लगता है तो उसका ब्राह्मणत्व कहां जाता है? इससे जन्म-सिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं, किन्तु आचार-सिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है। जिस समय इस आर्यावर्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी। कोई कहे कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिए विना संन्यास न लेना चाहिए। यह कहना अप्रशस्त है। क्योंकि रोग होने पर औषध [दी जाती है]। जिस पुरुष को विषयासक्ति नहीं, और इन्द्रिय-भोगेच्छा नहीं, उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं, वह तो संन्यासी ही है।

गार्गी ने कभी भी संसार नहीं किया[2], वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। संन्यासियों को शरीर-सम्बन्ध-मात्र होता है, दूसरे व्यवसाय उन्हें नहीं होते। उपदेश वा

भूमिका के वर्णाश्रमधर्म प्रकरण (रा० ल० कपूर ट्रस्ट सं० पृष्ठ २६६) में शत० ब्रा० का पूर्व निर्दिष्ट वचन ही उद्धृत है।

२. मनु० १०।५६।।

१. अर्थात् गृहस्थी नहीं बनी।

अधर्म की निवृत्ति करना, यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य है। अब कोई ऐसा कहे कि पुत्रोत्पत्ति के विना जन्म कैसे सफल होगा? तो उन्हें ऐसा कहना चाहिये कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं—विद्या और योनि इन दोनों ही सम्बन्धों से पुत्र प्राप्ति होती है। **"गरीयान् ब्रह्मद: पिता"**[1]। मूढ़ लोग जनपद में दुराचार करके कभी किसी आपत्ति में पड़ें उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।

इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म अत्याचार हो रहे हैं। संन्यासियों को वन में रहना चाहिए, एक बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहें, इत्यादि प्रतिबन्ध हैं। इन्हें माना जाए, तो फिर उन्हें उपदेश किस प्रकार और कौन करें? क्या वह इस गांव से उस गांव को दौड़ता फिरे? संन्यासियों को आग का स्पर्श नहीं चाहिए, ऐसा भी कहते हैं;[2] परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे [अर्थात् वह तो उनमें बना ही रहेगा।[3]] आधुनिक **'विश्वेश्वर-पद्धति'** नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है।

अच्छा आधुनिक साधु लोगों के तन मन धन का समर्पण कराते है यह क्या है? अहो! मन का समर्पण कैसे होगा? और तन का समर्पण किया अर्थात् क्या मल मूत्रादिकों का भी समर्पण करे? आधुनिक साधुओं ने निराली ही व्यवस्था बनाई है। उन्हें वेद-शास्त्रों से क्या काम? विचारे संन्यासीमात्र का [यह] हाल है। मुझे कुछ धन की प्राप्ति होवे,[4] इसलिए मैं ऐसा भाषण करता हूं, कृपा करके ऐसा न समझें। मेरी मनोवृत्ति का साक्षी ईश्वर है।

---

[1] मनु० २।१४६॥

[2] यहां संन्यासियों के लिये जो प्रतिबन्ध गिनाये हैं, उनमें 'संन्यासी सुवर्ण आदि धातुओं का स्पर्श न करें' ऐसा पाठ लेखक से छूट गया प्रतीत होता है। द्र० अगली टिप्पणी ४।

[3] कोष्ठान्तर्गत पाठ हिन्दी सं० में है, वह स्पष्टार्थता के लिए है।

[4] इस वाक्य से प्रतीत होता है कि पूर्व संन्यासियों पर लगाये गये प्रतिबन्धों में 'संन्यासी सुवर्ण आदि धातुओं का स्पर्श न करे' का उल्लेख भी भाषण में किया होगा जो लिखने में छूट गया। द्र० सत्यार्थप्र०, प्रथम सं०,

प्रश्न—मूर्त पदार्थों के विना ध्यान कैसे करते बनेगा ?

उत्तर—शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ? ज्ञान, सुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट हुए कि जीव निकल गया है, यह किसान भी देखकर समझता है। ध्यान यह ऐसा ही पदार्थ है। योग आदि शास्त्र में ध्यान का लक्षण किया—

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥१॥
ध्यानं निर्विषयं मनः ॥२॥ सांख्य शा० ।[1]
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥[2] योग शा० ।

साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान सम्भव नहीं होता [अर्थात् यह नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाय]। देखो, एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम [और] मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान बल से कल्पने में आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देखने से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें ? इसमें मेरा इतना कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिए और भी बहुत से दृढ़तर सबल उपाय हैं। देखो ! अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ये सात[3] उपाय हैं। अनुमान ज्ञान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है ?[4] यह विचारणीय है, अस्तु।

—:o:—

समु० ५, पृष्ठ १७२-१७३; तथा संशोधित संस्क० समु० ५, पृष्ठ २१६ (आसशसं० २)।

[1] सांख्य ३।३०; ६।२५ ॥

[2] योग ३।२ ॥

[3] मराठी संस्करण में 'आठ' शब्द है। पूर्व वाक्य में 'प्रत्यक्ष के सिवाय' निर्देश होने से यहां 'सात' शब्द ही होना चाहिये।

[4] द्र०—पूर्व पृष्ठ २६६, पं० ८-१८।

पांचवां-प्रवचन

वेद-विषय

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ के बाड़े में ता० १३ जुलाई[1] के दिन रात्रि में आठ बजे 'वेद' विषय पर जो व्याख्यान दिया उस का सारांश—

ओ३म्, दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[2]

आज के व्याख्यान का विषय 'वेद' है। तीन प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिए—

(१) वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?
(२) वेद का कर्त्ता कौन है ? और
(३) वेदों का प्रयोजन क्या है ?

परमेश्वर वेदों का कर्त्ता है। वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या। ज्ञान वा विद्या ये सम्पूर्ण सृष्ट[3]-पदार्थों के बीच उत्तम है। ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दुःखकारक होता है। कारण, ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती। अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसीलिए "**अनन्ता वै वेदाः**"[4] ऐसा

---

[1] आषाढ़, शुक्ला १०, मंगलवार, सं० १९३२।

[2] यजु० ३६।१८ ॥ परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रित मराठी सं० में "य० ५।३४" पता दिया है, वह अशुद्ध है। पूर्व मुद्रित हिन्दी संस्करणों में ठीक पता होते हुए भी यह भूल कैसे हुई, यह ज्ञातव्य है। सन् १८७५ के मराठी सं० में कुछ भी निर्देश नहीं है।

[3] अर्थात् ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किये गये पदार्थों में।

[4] तै० ब्रा० ३ १०।११ ॥

वचन है । अनन्त यह उसकी संज्ञा है । अनन्त-ज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए और उसे ऊंचे पद पर पहुंचाने के लिए सहज[1] प्रवृत्त है और इस हेतु[2] को सफल करने के लिए [जिस] विद्या का प्रकाश करता है, वह प्रकाश[3] 'वेद' है । मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के अर्थात् वेद-ज्ञान के लिये योग्य अधिकारी है । इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं हुई ।

अब यदि ईश्वर साकार नहीं तो उसने वेद का प्रकाश कैसे किया, ऐसा प्रश्न उद्भव[4] होता है । [वह] तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि इन अधिकरणों वाला[5] नहीं, तो उस से शब्दोच्चारण कैसे बनेगा ? इसका उत्तर देना सरल है । ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो फिर स्वभावतः [उसे] मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा सम्भव नहीं । शब्दोच्चारण के लिये संयोगादि कारण अल्प-शक्ति वालों को अपेक्षित होते हैं । किञ्च—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥
मुण्डकोपनिषद् ।[6]

हम सब स्वीकार करते हैं कि हाथ के विना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की । तो फिर मुंह के विना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी ?

कोई ऐसी शंका करे कि वेद-रूपी पुस्तकों की रचना तो शक्य काम है । इसके लिए 'ईश्वर की साक्षात् कृति' की कल्पना नहीं

---

[1] मराठी सं० सहज = स्वभावतः । अन्य संस्करणों में 'सदा' अपपाठ है।

[2] अर्थात् अपनी सहज-प्रवृत्ति को ।

[3] अर्थात् विद्या का प्रकाश ।

[4] अर्थात् उत्पन्न ।

[5] ताल्वादि अधिकरण, जहां शब्द उत्पन्न होता है । मराठी का पाठ 'ज्या अधिकरणीं' है ।

[6] यह मुण्डक उपनिषद् में नहीं है । द्र० श्वेताश्वतर उ० ३।१९ । यहां तृतीय चरण के आदि में **'स वेत्ति वेद्यं'** और चतुर्थ चरण के अन्त में **'पुरुषं महान्तम्'** पाठ है । हिन्दी के कुछ संस्करणों में मन्त्र के अन्त में कोष्ठक में (मुण्डकोपनिषद्) छपा है, उसका आधार मराठी संस्करण है ।

करनी चाहिये। परन्तु इस स्थल[1] पर जरा विचार करना चाहिए। विद्या और जड़ सृष्टि-रचना इन में महत् अन्तर है। केवल जड़ सृष्टि-रचना परमेश्वर ने कर दी तो इससे उसका बड़ा माहात्म्य सिद्ध नहीं होता। कारण, विद्या के सम्मुख जड़ सृष्टि-रचना कुछ भी नहीं है। इसलिए विद्या के कारण ही ईश्वर का माहात्म्य सिद्ध होता है, ऐसा मानना चाहिए। अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण करके विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे ऐसा कैसे [सम्भव] हो सकेगा?

अब वेद-विद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इसका तात्पर्य क्या है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। उसका उत्तर यह है कि आदि-विद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्त्वमात्र ईश्वर द्वारा प्रकाशित हुआ। उसका विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यास द्वारा होता है।

अब यह आदि विद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किए हैं, उसके प्रमाण—

(१) **प्रथम प्रमाण** यह कि वेद में पक्षपात नहीं है। ईश्वर सब जगत् पर [समान रूप से] अनुग्रह करनेवाला है। इसलिये तत्प्रणीत जो वेद, उसमें पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है। इसलिए उसमें पक्षपात की सम्भावना नहीं हो सकती।

जिसमें पक्षपात है, वह विद्या ईश्वर प्रणीत नहीं हैं। इसका उदाहरण—वेद की भाषा क्या है? संस्कृत ही ना। संस्कृत भाषा वेदों की है, क्या यह पक्षपात नहीं है? ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना बराबर नहीं है। [क्योंकि] **संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है।**[2] अंग्रेजी सदृश भाषायें उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। **एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है।** **'वयम्'** इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण[3] होकर **'वी'**[4] यह शब्द उत्पन्न हुआ—उसी तरह **'पितर'** इस से **'पेतर'** और

---

[1] अर्थात् इस विषय में।

[2] इस सन्दर्भ की तुलना के लिये सत्यार्थप्रकाश (प्रथम सं०) समु० ११, पृष्ठ २५०-२५१ का पाठ प्रथम परिशिष्ट में देखें। 'वेदवाणी' वेदाङ्क सं० २०१७ में मेरा 'भाषा-विज्ञान और ऋषि दयानन्द' लेख पढ़ें।

[3] अर्थात् 'य' के स्थान में 'ई'। [4] मराठी सं० में **'वुई'** अपपाठ है।

‘फादर’, **‘यूयम्’** इस से **‘यू’** [और] **‘आदिम’** इस से **‘आदम’** इत्यादि । **ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों का अनुसरण करके होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार से होते हैं । इसके विषय में विशेष कहना नहीं** । ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह संस्कृत-भाषा में भी अनन्तानन्द है । इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक, सर्व भाषाओं की माता, ऐसी दूसरी कौन सी भाषा है ?

अब कोई कहे कि यह भाषा[1] एक ही देश की क्यों होनी चाहिए ? तो देखो, संस्कृत-भाषा एक ही देश की नहीं है । सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है । इसलिए सर्वज्ञान का मूल जो वेद, वे भी संस्कृत ही में हैं । जिस-जिस देश में संस्कृत-भाषा पहुंची, उस-उस देश के विद्वान् लोगों के मन को आकर्षण करती जाती है[2] और यह दूसरी भाषाओं के मातृ-स्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है ।[3]

फिर देखो, वेद की ही कुछ मुख्य बातों का प्रचार जगत् के सारे देशों में चल रहा है । यहूदी लोग सदा वेदी बनाते और यज्ञ करते थे । यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था ? उन्हें होता, उद्गाता, ब्रह्मा इनकी व्यवस्था के साथ यज्ञ करना चाहिए, यह विदित नहीं था । इसमें कुछ विशेष[4] नहीं । हम आर्यों की रीतियों में उनसे भूल

---

[1] अर्थात् ‘वेद की भाषा’ ।

[2] फ्राइड्रिश श्लैगल, विल्हैल्म फान श्लैगल, हम्बोल्ड, शोपेन हाएर प्रभृति प्राचीन योरोपियन विद्वानों ने, जिन पर यहूदी—ईसाई मत के पक्षपात का भूत सवार नहीं था, सबने संस्कृत वाङ्मय की भूरि प्रशंसा की। द्र० भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, संस्करण २, पृ० ३६, ३७ ॥

[3] अर्थात् विदेशी विद्वान् भी ऐसा मानने लगे हैं । मैक्समूलर से प्राचीन तथा समसामयिक अनेक पक्षपात-शून्य योरोपियन विद्वान् ग्रीक लैटिन और इंगलिश परिवार की योरोपियन भाषाओं का मूल संस्कृत भाषा को मानते थे । यह बात यहूदी ईसाई मत पक्षपाती मैक्समूलर के “अब इस बात को कोई नहीं मानता कि ग्रीक लैटिन और ऐङ्ग्लो सैक्सन भाषाएं संस्कृत से ही निःसृत हैं । कुछ दिनों पूर्व ऐसा माना जाता था” कथन से ही स्पष्ट है (द्र० हम भारत से क्या सीखें ? पृष्ठ ४१, इलाहाबाद से १९६४ में प्रकाशित हिन्दी अनुवाद) ।

[4] विशेष अर्थात् भेद ।

हुई। इस तरह पारसी लोग भी अग्यारी[1] में अग्नि पूजा करते हैं। क्या यह आचार वेद-मूलक नहीं है?

वेद में पक्षपात नहीं, यह स्पष्ट है। यहूदी लोग अन्य लोगों से द्वेष करना सीखे थे, मुसलमान लोग दूसरों को 'काफिर' कहते हैं और उनके समझ के अनुसार उन के धर्म-पुस्तकों में [ऐसा करने का] उत्तेजन[2] है। इस प्रकार के अभिमान के लिए वेदों में उत्तेजन नहीं है। इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत हैं, ऐसा [सिद्ध] होता है।

(२) **द्वितीय प्रमाण**—वेद यह सुलभ[3] ग्रन्थ है। अर्वाचीन पण्डित अवच्छेदक-अवच्छिन्न पदों को घुसेड़ कर बड़े परिष्कार करते हैं। परन्तु उन परिष्कारों में केवल शब्द-जाल मात्र रहता है, विशेष अर्थ-गाम्भीर्य्य नहीं होता। इस प्रकार के वेद ग्रन्थ नहीं हैं।

जब कोई कहे कि दुर्बोध होने के कारण परिष्कार में का काठिन्य पाण्डित्य-सूचक है, तो कौवे जब आपस में लड़ते हैं, तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पड़ता, तो क्या दुर्बोध होने के कारण काकभाषा में पण्डित्य सम्भव है? अस्तु, वाक्सुलभता और अर्थ-गांभीर्य्य, ये ही सामर्थ्य के प्रमाण हैं। ज्ञानप्राप्ति क्लेश के विना होनी यह ईश्वर-कृति का दर्शक है। यों ही "शक्यतावच्छेदक" "शक्यतावच्छिन्न" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो वात्स्यायन ने प्रतिपादन किया है, उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानीति शक्यप्राप्तिः।[4]

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महापण्डित क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा गंवार[5] ठहरता है? नहीं। फिर वात्स्यायन की भाषा की अपेक्षा वेदों की भाषा लाख-दरजा सरल है।

---

[1] 'अग्यारी' पारसियों की यज्ञशाला का नाम है।

[2] अर्थात् बढ़ावा, प्रोत्साहन, प्रेरणा।

[3] मराठी में भी 'सुलभ' ही पाठ है। यहां इसका अभिप्राय सरल अर्थात् 'सुगम' से है।

[4] न्याय वात्स्यायन भाष्य १।१।३२।।

[5] सब हिन्दी संस्करणों में 'पागल' पाठ है। मराठी पाठ 'वेडा' है। इसका अर्थ पागल और गंवार दोनों होते हैं। यहां 'गंवार' अधिक उचित है।

(३) **तृतीय प्रमाण**—ऐसा है कि वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं। जैसे—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ य० सं० अ० १६।[1]

मनुष्यों के बनाए हुए पुस्तकों में एक ही विषय का प्रतिपादन रहता है। जैमिनि के सारे मत[2] का ओघ[3] एक धर्म और धर्मी इस विषय का विचार करते समाप्त हुआ। भगवान् कणाद के मन का ओघ[3] षट् पदार्थों के विवेचन के विचार ही में समाप्त हुआ। इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण-भाष्य और योग-शास्त्र की व्यवस्था लगाने में भगवान् पतञ्जलिजी को सारी आयु बीती।[4] परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण हैं, इसलिए वेद मनुष्य के रचे हुए नहीं हैं; किन्तु ईश्वर प्रणीत ही हैं। अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद हैं अर्थात् सारी विद्याओं के मूलतत्त्वों का दिग्दर्शन मात्र वेद में है। उदाहरणार्थ देखें—

वराह्योपानहोपनह्यामि०[5]
सहस्रारित्रां शतारित्रां नावमित्यादि०[6]
एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे० । य० सं० ।[7]

---

[1] यजु० १६।६४।

[2] मराठी सं० में 'सर्व मताचा ओघ' पाठ है। अगले वाक्य में 'मनाचा ओघ' पाठ है। अतः हमारे विचार में वहां भी 'सर्व मनाचा ओघ' पाठ ही होना चाहिए। तदनुसार अर्थ होगा—'जैमिनि के मन का सारा प्रवाह।'

[3] 'ओघ' मराठी शब्द है, इसका अर्थ है 'प्रवाह'।

[4] लोक में यह किंवदन्ती है कि आयुर्वेदीय चरक संहिता, व्याकरण-महाभाष्य और योग-शास्त्र का रचयिता एक ही पतञ्जलि है। यह कथन उक्त किंवदन्ती के अनुसार है। पर यह किंवदन्ती अशुद्ध है। इस विषय के विशेष परिज्ञान के लिए हमारा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ—३३५-३३७ संस्करण ३ देखें।

[5] मुद्रित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। तुलना करो—**वाराह्या उपानहा उपमुञ्चते**। शत० ब्रा० ५।४।३।१६॥

[6] **'शतारित्रां नावम्'** इत्यादि पाठ ऋ० १।११६।५ में मिलता है।

[7] यजु० १८।२४॥

प्रथम उद्धरण में रचना विशेष[1] का निरूपण किया है, दूसरे में नौका-शास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणित-शास्त्र का निरूपण है।

अब कोई कहे कि ईश्वर ने सब विद्याओं के मूल तत्त्व ही क्यों प्रकाशित किए और साद्यन्त विद्या और कला का विवरण क्यों नहीं [प्रकाशित] किया ? तो उसमें मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धि-व्यापार का, उसी तरह बुद्ध्युन्नति का भी अवकाश रखा।

(४) **चतुर्थ**—कोई ऐसी शंका भी करते हैं कि वेद अनेक पुरुषों से घटित[2] हैं, तो वेदों में [जो] एकवाक्यतादि गुण हैं, उनकी व्यवस्था कैसी लगाओगे ?[3]

पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्यायें भारत-खण्ड में वेदों के सम्बन्ध से प्रसिद्ध थीं। जैसे विमान विद्या, अस्त्र-विद्या, इत्यादि[4]। इन विद्यायों के पुस्तक नष्ट हो गयें तो वे विद्यायें भी नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया। जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया। सन् १८५७ के साल के लगभग जब दंगा-फसाद हुआ, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवा के भारी पुस्तकालय को जला दिया—ऐसी लोक में किवदन्ती[5] हैं। इस से कितनी विद्या नष्ट होती आई है, इस पर विचार करो।

उपरिचर नामक राजा था वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हुआ हवा ही में फिरा करता था। पहले के लोग विमानों के द्वारा

---

[1] उपानह्=जूते की रचना। [2] घटित अर्थात् रचे हुए।

[3] अर्थात् अनेक व्यक्तियों के द्वारा रचित ग्रन्थ में एक वाक्यता, समान भाषा वा शैली कभी नहीं होती। इसके विपरीत वेद में एक वाक्यता, समान भाषा वा शैली दिखाई देती है।

[4] वेदों में विद्यमान कतिपय विद्याओं का निदर्शन व्याख्याता ने अपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ग्रन्थ में कराया है। तथा 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' पृष्ठ २-३।

[5] मराठी सं० में 'वदंता' पाठ है। इसका अर्थ है—किंवदन्ती, अफवाह।

लड़ाइयां लड़ते थे, उन्हें विमान-रचने का उत्कृष्ट ज्ञान था। विमान-रचना का एक पुस्तक मैंने भी देखा है।[१] अहो! उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे। उस व्यवस्था के सन्मुख आगगाड़ी[२] की क्या प्रतिष्ठा है?

(५) **पञ्चम**—वेद सनातन सत्य हैं, इससे उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है। देखो! शार्मण्य (जर्मन) देश के लोग वेदों का अवलोकन कर उनकी कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं। इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के सत्य के सामर्थ्य से हो रहा है,[३] सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता, सुगम रचना, भाषा-लावण्य, निष्पक्षपातता, सर्व विद्यामूलकत्व, ये गुण वेदों में ही केवल सम्भव हैं। इसी से वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। इन दिनों हमारे अंग्रेजी पढ़े हुए लोग अंग्रेजी ग्रन्थों की लटपट[४] देखकर वही सच है, ऐसा मानते हैं, सो यह ठीक नहीं है। [उधर] हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग परम्परा न छोड़ने के विषय में हठ करके बैठे हैं। यह भी ठीक नहीं। कारण, आगगाड़ी में प्रवास करनेवालों का परम्परा का हठ कहां चला जाता है? क्या बाप अन्धा हो तो पुत्र को भी अपनी आंखें फोड़ लेनी चाहियें? मतलब [यह है कि] सम्पूर्ण परम्परा को स्वीकार करने से धर्म-प्रबन्ध में सब घोटाला

---

[१] यह कौन सा पुस्तक था, इस पर कहीं से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हां, इन दिनों भारतीय विद्वानों की खोज से '**भारद्वाज**' कृत विमान-शास्त्र का कुछ अंश प्रकाश में आया है। यह अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन करने का श्रेय श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी को है। सन् १८७५ तक, जब वे व्याख्यान दिए गये थे, योरोप में विमानों का प्रचलन तो क्या उसके नमूने का भी निर्माण नहीं हुआ था। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। अनेक योरोप-भक्त स्वामी दयानन्द पर आक्षेप लगाते हैं कि उन्होंने योरोपीय विज्ञानोन्नति को ध्यान में रखकर उसे हठात् वेद से दिखाने की चेष्टा की है। यह विचार विमान के वर्णन से ही खण्डित हो जाता है।

[२] अर्थात् रेलगाड़ी।

[३] द्र० इसी व्याख्यान में पृष्ठ ३०६ की टिप्पणी २।

[४] यह मराठी शब्द है। इसका अर्थ है—निकड़म, चालाकी, धांधली।

हो गया । इस घोटाले का विचार करने से वस कलेजा फटने लगाता है ।

देखो ! चारों ओर जाति-विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं । पहले आर्य लोगों में[1] शतघ्नो अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् वन्दूकें भी थीं ।[2] यह सब हमारा वल किधर चला गया ? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ ? आजकल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि केवल मन्त्रोच्चार के सामर्थ्य से पहले आग्नेयास्त्रादि निष्पन्न होते थे;[3] परन्तु ऐसा नहीं है । मन्त्रों के संबन्ध से आग उत्पन्न होती थी, ऐसा मानें तो मन्त्र बोलने वाला कैसे नहीं जलता था[4] ? अतः ऐसा नहीं है । मन्त्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेत-मात्र सम्बंध है[5] । जलाने का सामर्थ्य नहीं है । जैसे अग्नि शब्द में दाहकत्व नहीं है, तद्वत् मंत्र जपने में कोरा काल-क्षेप होना है । व्रतबन्ध[6] के समय लड़के का अल्प सामर्थ्य रहने से एक ही मन्त्र उसे वार-वार रटना पडता है । इससे यह मंत्र का एक सच्चा विनियोग नहीं है । मन्त्र अर्थात् विचार । राजमन्त्री अर्थात् विचार करने वाला, यही सत्य अर्थ है ऐसा न मानें तो राजमंत्री वा अमात्य अर्थात् राजा का माला लेकर जप करनेवाला ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, तो मन्त्री शब्द का अर्थ जप करने वाला नहीं है, परन्तु 'विचार करने वाला' यह होता है । तो वेद-मन्त्र का सच्चा विनियोग अर्थात् बुद्धि-वैशद्य, बुद्धयुन्नति, बुद्धि-प्रकाश, बुद्धि-सामर्थ्य

---

१. अर्थात् आर्यों के पास ।

२. भुशुण्डी=बन्दूक और शतघ्नी=तोप का वर्णन रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में बहुत्र मिलता है । शुक्रनीतिसार अ० ४ श्लोक १९५-२०० तक इनका क्रमशः लघुनालिकास्त्र तथा बृहन्नालिकास्त्र के नाम से उल्लेख है । इसके आगे अग्निचूर्ण=बारूद बनाने का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है ।

३. अर्थात् अग्निदेवता के मन्त्र को पढ़ कर जो बाण फेंका जाता था, वह शत्रु सेना में आग लगा देता था, वायु देवता के मन्त्र को पढ़कर फेंका गया बाण अन्धड़ पैदा कर देता था आदि ।

४. न्यायदर्शन २।१।५३।। ५. न्यायदर्शन २।१।५५

६. व्रतबन्ध=यज्ञोपवीत संस्कार ।

को उत्पन्न करना, यह है। इस प्रकार का सामर्थ्य पहले आर्यों में था। वे एक ही मन्त्र को लेकर जपने नहीं बैठते थे; परन्तु अनेक मन्त्रों की मीमांसा करते थे। इसीलिए वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्रादि का उन्हें ज्ञान था अर्थात् पदार्थों के गुणों का ज्ञान करके उनकी विशेष योजना वे करते थे।[1] विशल्यौषधि नामक उन्हें एक औषधि विदित थी, जिससे कैसा ही जख्म क्यों न हो इस औषधि से झट भर जाता था।[2] पहले बंगाल में आर्य लोगों की वैद्यक विद्या को लोग हंसी उड़ाते थे। परन्तु डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार सदृश विद्वान् पण्डित ने चरक, सुश्रुत सदृश ग्रन्थ का उज्जीवन किया, जिससे अंग्रेजी सीखे हुए लोगों का भ्रम दूर हुआ। महेन्द्रनाथ ने प्राचीन आर्य ग्रन्थों का उज्जीवन करने के लिए बहुत-सा धन इकट्ठा करने का प्रयत्न चलाया है, यह उनका बड़ा भूषण है, अस्तु। पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है।[3]

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥[4]

सृष्ट पदार्थों के विवेचन करने के लिए, उसी तरह ईश्वर के ज्ञान-प्राप्त्यर्थ बुद्धि-सामर्थ्य को सम्पादन करना, यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है। वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यासजी ने संग्रह अर्थात् संहिता बनाई, ऐसा आजकल के पण्डित लोग कहते हैं, परन्तु यह

---

[1] इस विषय पर सत्यार्थ-प्रकाश (संशोधित सं०) समु० ११, पृष्ठ ४३०-४३१ पर विस्तार से विचार किया है (द्र० आसशसं० २)।

[2] इस का उल्लेख सत्यार्थ-प्रकाश (प्रथम सं०) समु० ११, पृष्ठ २१९, पं० २५-२७ में भी है।

[3] वेदों में प्रत्येक पदार्थ के वर्णन में विशिष्ट शब्दों के प्रयोग द्वारा बड़ी सूक्ष्मतावर्ती है। एक-एक विशेषण और सामान्यरूप से पर्याय समझे जाने वाले विभिन्न नाम उस-उस पदार्थ के सूक्ष्म भेद का निदर्शन कराते हैं। निघण्टु में जल के १०० नाम पढ़े हैं, वे जल के १०० प्रकारों वा अवस्थाओं के वाचक हैं, न कि वे सभी जल के सामान्य पर्याय हैं। इसीलिए मीमांसकों में "**अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम्**" (मी० १।३।२६) अर्थात् एक पदार्थ के लिए अनेक शब्दों का व्यवहार अन्याय्य है—यह न्याय अद्यावधि प्रसिद्ध है।

[4] मनु० १।२३॥

कहना बराबर नहीं है। कारण, मनु में ब्रह्मदेव ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों से वेद पढ़कर फिर आगे वेद का प्रचार किया, ऐसा लिखा है। ब्रह्मदेव का चतुर्मुख नाम है। इससे उनके सचमुच चार मुख थे, ऐसा नहीं है। यदि सचमुच चार मुख होते तो बेचारे ब्रह्मदेव को बड़ा दुःख होता होगा, फिर बेचारे सुख से कैसे सोते होंगे? तो ऐसा नहीं है, किन्तु **'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः'** ऐसा समास करना चाहिए। प्रथम आरम्भ में ईश्वर-ज्ञान से जिन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुए और उनसे ब्रह्मदेव ने सीखे और पश्चात् उन्होंने सारी दुनिया भर में प्रसार किया, और उनसे मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिए उनका 'वेद' ऐसा नाम है और पहले ऋषि लोग एक दूसरे से सुनते आए, इसलिए 'श्रुति' ऐसा वेदों का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इस पर कोई कहेगा कि ये आदि ऋषि चार क्यों थे, एक या अधिक क्यों न थे, तो ये शंकायें पांच या तीन भी होते, तब भी संभव थी। यह अशोकवनिका न्याय[1] होगा।

अब कोई कहते हैं कि वेद आधुनिक हैं, नित्य नहीं हैं। कारण, ब्रह्मदेव के मन में ज्ञान-लहर उत्पन्न हुई, और उसी समय से वेद की परम्परा चल सकी है, फिर नित्य कैसे? ऐसा नहीं है। ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है, और ज्ञान [वा] रचना नित्य है, जैसे सृष्टि का वैसे ही वेदों का आविर्भाव तिरोभाव केवल होता है। कारण—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्० । ऋ० सं० ।[2] इत्यादि

---

[1] अशोकवनिका न्याय का भाव यह है कि रावण ने सीता को अशोकवन=अशोकवाटिका में नजरबन्द रखा, उस पर कोई कहे कि अशोकवन में ही क्यों रखा, अन्यत्र क्यों नहीं रखा? यह प्रश्न अशोकवन से अन्यत्र भी सीता को रखा जाता, तब भी उत्पन्न होता कि वहीं क्यों रखा अन्यत्र क्यों नहीं रखा। यही स्थिति प्रकृत प्रसंग में है। यह वक्ता का अभिप्राय है।

[2] ऋ० १०।१९०।३ ॥ सब हिन्दी सं० में (ऋ० सं० अ० ८। अ० ८। व० ४८) पाठ है।

यह वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान का प्रमाण है ।

ब्रह्मदेव के पीछे विराट् उत्पन्न हुआ, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्ष प्रजापति, स्वायंभुव मनु आदि हुए । इन सब ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया ।[1]

अब यह व्याख्यान पूरा करने के पूर्व वेद-विषय में साधारण विचार करना चाहिए—

कोई कहते हैं कि चन्द्र, सूर्य आदि भूतों[2] की पूजा वेदों में उपदिष्ट है, परन्तु यह कहना सम्भव नहीं ।

(शुक्ल[3] यजुर्वेद ॥ ३२ । १ ॥)[4]

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

तथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति [अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः] ॥

ऋ० सं० ।[5]

अग्नि, इन्द्र, वायु ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं। इसलिए अनेक देवताओं का वाद बिलकुल ही सम्भव नहीं ।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ।।

---

[1] यहां निश्चय ही पाठ भ्रष्ट हुआ है । क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती 'अग्नि आदि चार ऋषियों के मन में ही ईश्वर द्वारा वेद का प्रकाश हुआ' ऐसा मानते हैं । इस व्याख्यान में भी पूर्वत्र ऐसा ही वर्णन किया है। अथवा यहां 'प्रकाश किया' का अभिप्राय **'मन्त्रार्थदर्शन कराया'** से हो सकता है ।

[2] अर्थात् भौतिक पदार्थों की।

[3] द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २७९ टि० २ ॥

[4] यहां मूल मराठी सं० मे ३१।१॥ अपपाठ है ।

[5] ऋ० १।१६४।४६॥

एतमग्निं वदन्त्येके[1] मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।
मनुः अध्याय १२ ।[2]

परिच्छेद, प्रकार, विकार इत्यादि सम्बन्ध से एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न नाम हो सकते हैं ।

कोई कहते हैं कि वेदों में बीभत्स[3] कथा है । **'माता च ते पिता च ते'**[4] इस वचन पर महीधर ने भाष्य कर बड़ा ही बीभत्स रस उत्पन्न किया है । **गभे'** के स्थान पर वर्ण-विपर्यास कर **'भगे'** यह शब्द निकाला है, परन्तु इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण को देखो—

वृक्ष वृक्षो राज्यं भगश्रीः स्पसो राष्ट्रं श्रीर्वा वृक्षस्याग्रम् ।[5]

इस प्रकार राष्ट्र के स्थान पर[6] इस वचन की योजना करने से बीभत्सपन नहीं रहता ।[7]

इसी तरह पुराणों में काश्यपीय प्रजा का वर्णन है । मरीचि का पुत्र कश्यप है, दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ, इस प्रकार का वर्णन है । इस कथा के लिए

---

[1] यही पाठ सत्यार्थप्रकाश (प्रथम सं०) समु० १, पृष्ठ ४, तथा संशोधित सं० समु १, पृष्ठ १७ में भी है (आसशसं २ की टि पृष्ठ १७ की टि० १ भी देखें) । मनुस्मृति १२।१२२ में **'एतमेके वदन्त्यग्निम्'** पाठ है । यह पाठ भी ऋ० द० ने वेदभाष्य के नमूने के अङ्क (दलग्रसं० पृष्ठ १४०) तथा ऋग्वेदभाष्य १।१।१ में उद्धृत किया है ।

[2] द्र० मनु० १२।१२२, १२३ ।।

[3] मराठी भाषा में 'बीभत्स' शब्द का अर्थ अश्लील होता है ।

[4] यजु० २३।२४ ।।

[5] द्र० शत० १३।२।६।७ ।। पूना-प्रवचन में शतपथ का पाठ लेखकदोष से भ्रष्ट हो गया है । स्वामी दयानन्द का संकेत इस मन्त्र के शतपथ १३।२।६।७ में व्याख्यात अंश की ओर ही है ।

[6] अर्थात् राष्ट्र के विषय में ।

[7] इस मन्त्र का ठीक अर्थ जानने के लिए यजुर्वेद-भाष्य (स्वा० दयानन्द) तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का 'भाष्य-करण-शंकासमाधान' प्रकरण देखना चाहिए ।

वेदों में बिलकुल आधार नहीं है। कश्यप अर्थात् आद्यन्त के विपर्यास से 'पश्यकः'[1] परमात्मा का नाम है।

पश्यकः[1] सर्वदृक् परमात्मा गृहीतः।[2]

इसी प्रकार किसी ने कोई कथा करने के लिए **'ब्रह्मोवाच'** लगाकर अनेक पुराणों का पाखण्ड रचा है। इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक सम्प्रदायी लोगों ने तो बहुत ही किया है।

ब्रह्मोवाच

टका[3] धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते॥

इस [टका] सम्प्रदाय का बाजार आजकल खूब गरम है। इसके सम्बन्ध से जो दूकानदारी प्रारम्भ हुई है, उसे सम्प्रदायी लोग कैसे छोड़ेंगे? यजमान की चाहे तीन जन्म[4] की हानि हो तो उनका क्या गया? जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेदों का अवलोकन करेंगे, तब इन सम्प्रदायियों की लटपट[5] बन्द होगी, तब ही कण्ठी द्वारा वैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। जो एक कण्ठी के संयोग से बैकुण्ठ मिल जाय तो कण्ठियों की लड़ियां गले में लटकाने से संसार में सुख क्यों नहीं मिलता? चन्दन, तिलक से यदि स्वर्ग मिलता है तो सारे मुंह पर चन्दन लीपने से कुछ सुख क्यों नहीं होता? चन्दन, तिलक,

---

[1] यहां मराठी सं० में **'कः पश्यः'** लेखकप्रमाद-जन्य अपपाठ है।

[2] द्रष्टव्य—**कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्।** तै० आरण्यक १।८॥

[3] यहां 'टका' से अभिप्राय रुपये से है। बंगाली आदि कई प्रान्तीय भाषाओं में 'टका' शब्द रुपये के लिये व्यवहृत होता है। सन् १९५० से पूर्व उत्तरभारत के कई प्रान्तों में 'टका' शब्द दो पैसे (आधे आने) के तांबे के सिक्के के लिये भी प्रयुक्त होता था। इसका भार भी रुपये के बराबर ही होता था।

[4] सब हिन्दी संस्करणों (ग. घ. ङ.) में 'तीन क्या दश जन्म' पाठ है। हमारा पाठ मराठी सं० के अनुसार है।

[5] यह मराठी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—तिकड़म, चालाकी, धांधली, गड़बड़ी।

कण्ठी ये सब सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-प्राप्त करने के साधन हैं। ये सच्चे तीर्थ नहीं हैं। सच्चे तीर्थ कौन से हैं ? इस विषय में वचन हैं–

[छान्दोग्य उपनिषद्]

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः ।[1]
सतीर्थ्यः सब्रह्मचारी ।[2] विद्याव्रतस्नातः[3] ।। इत्यादि०

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात, व्रतस्नात [और विद्याव्रत स्नात][4] होते थे। इससे वेदविद्या ही मुख्य तीर्थ है।

—:०:—

---

[1] छा० उ० ८।१५।१ ।।

[2] ये दोनों पद 'तीर्थे ये, चरणे ब्रह्मचारिणि' (अष्टा० ६।३।८६, ८५) पाणिनीय सूत्रों के क्रमशः उदाहरण हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण इस विषय में विशेष द्रष्टव्य है।

[3] द्र० पारस्कर गृह्य २।५।३२—त्रय एव स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च ।

[4] जो वेद को समाप्त करके और व्रत को समाप्त न करके स्नान करता है, वह विद्यास्नातक होता है। जो व्रत को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये स्नान करता है, वह व्रतस्नातक कहाता है। जो विद्या और व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है, वह विद्याव्रतस्नातक होता है। यही श्रेष्ठ स्नातक होता है। द्र० पार० गृह्य २।५।३३-३४-३५ ।।

छठा-प्रवचन

जन्म-विषयक

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़ें के बाड़े में ता० १७ जुलाई[1] के दिन रात्रि में आठ बजे इस विषय पर जो व्याख्यान दिया उसका सारांश—

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥[2]

(यह स्वामी जी ने प्रथम ऋचा पढ़ी ।)

आज के व्याख्यान का विषय 'जन्म अर्थात् काया (=शरीर) है। इसका लक्षण प्रथम करना चाहिए। शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य ऐसा परमाणुओं का संघात जब बनता है तब जन्म होता है, अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया-योग्य जब शरीर होता है, तब जन्म होता है। वास्तव में[3] इन्द्रिय और (प्राण) अन्तःकरण

---

[1] आषाढ़ शुक्ला १४ सं० १९३२ ॥

[2] सन् १८७५ के छपे हुए मराठी संस्करण में मन्त्र के पश्चात् कोष्ठक में (ऋक् संहिता ॥ ८ ॥ ४९ ॥ ८ ॥) पाठ छपा है। इस में दो अशुद्धियां हैं—प्रथम ऋक्संहिता का जो पता छपा हुआ उपलब्ध होता है, वह न मण्डल क्रम के अनुसार युक्त है और न अष्टक क्रम के अनुसार। दूसरा— ऋ० सं० मं० १, सू० ८९, मं० ८ में इस मन्त्र के चतुर्थ चरण में **'व्यशेम'** पाठ है, **व्यशेमहि** पाठ नहीं है। **व्यशेमहि** पाठ यजुर्वेद २५।२१ का है। ग. घ. ङ. हिन्दी संस्करणों में 'ऋ० सं० मं० १, अनु० १४, सूक्त ८९, मं० ८' पता छपा है। परोपकारिणी सभा मुद्रित मराठी सं० में (ऋ० सं० १। ८९।८) निर्देश मिलता है। मन्त्रपाठ में **व्यशेमहि** पाठ उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि ऋक्संहिता का मन्त्र नहीं है, यजुर्वेद २५।२१ का मन्त्र है। इस विषय में तीसरे प्रवचन के प्रारम्भ में पृष्ठ २७९ की टि० ३ भी द्रष्टव्य है।

[3] मराठी संस्करण में 'अर्थात्' पद है। यह मराठी भाषा में क्रिया

ये शरीर के मध्य उपयुक्त होते हैं, तब जन्म होता है। जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा इनका संयोग। वास्तव में शरीर और जीवात्मा इनका वियोग अर्थात् मरण [कहाता है]।[1]

अब इस जन्मान्तर के अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि मनुष्य का जन्म एक ही है अर्थात् मरने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता। कोई कहते हैं कि जन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य के मरने पर फिर दूसरे जन्म हैं।

हमारा सिद्धान्त—मनुष्य का पुनर्जन्म है अर्थात् जन्म अनेक हैं, ऐसा है।

एक-जन्मवादियों के और अनेक-जन्मवादियों के कथन में बहुत-सी युक्ति-प्रयुक्तियों का आधार है। अब इन युक्ति-प्रयुक्तियों का विचार करना चाहिये। **'गतानुगतिको लोकः'** इस न्याय[2] से परम्परागत ज्ञान का स्वीकार करना, यह विद्वानों को उचित नहीं। तर्क-वितर्क करके निर्णय करना, यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है।

एक-जन्मवादी ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि इस जन्म के पूर्व यदि दूसरा जन्म होता तो उस जन्म का हमें कुछ तो स्मरण रहता। क्योंकि[3] पूर्व जन्म का स्मरण नहीं है इससे पूव जन्म न था, यही कहना ठीक है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान हम यों करते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है। स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है और नैमित्तिक ज्ञान की वृद्धि और ह्रास,

---

विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है (मराठी-हिन्दी शब्द संग्रह, सन् १९४९, पृष्ठ ११)। इसके अर्थ हैं—अवश्य, सहज ही में, वास्तव में। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले 'अर्थात्' के लिये मराठी में 'म्हणजे' शब्द प्रयुक्त होता है।

[1] ग. घ. ङ. सब हिन्दी सं० में "जीवात्मा का संयोग, तो इससे स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा का वियोग भी मरण कहलाता है" पाठ है। हमारा पाठ मराठी सं० अनुसारी है।

[2] अर्थात् साधारण जन अन्य लोगों के पीछे चलने वाले होते है।

[3] मराठी सं० में पाठ 'ज्या अर्थी' है। इस का अर्थ है—क्योंकि, चूंकि।

न्यूनाधिक लाभ और हानि आदि ये सब प्रसंग आते हैं। इसका दृष्टान्त—अग्नि का 'दाह करना' यह स्वाभाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म अग्नि के परमाणुओं में भी रहता ही है। यह उसका निज धर्म उसे कभी भी नहीं छोड़ता। इसलिए अग्नि की दाहक-शक्ति का जो ज्ञान है उसे स्वाभाविक ज्ञान समझना चाहिए। फिर भी [अग्नि के] संयोग के कारण जल में उष्णता यह धर्म उत्पन्न होता है; और वियोग होने से वह उष्णता धर्म नहीं रहता। इसलिए जल के उष्णता विषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञान है, और जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान होता है। अब जीव को–'मैं हूं' अर्थात् 'अपने अस्तित्व का' जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान है; परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान होता है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा-जैसा कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे-वैसे आत्मा पर संस्कार होते हैं। अब जैसे-जैसे ये निमित्त दूर होते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है, अर्थात् पूर्व जन्म का देश, काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता। इसको छोड़ इस विचार में एक विशेष बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद से आत्मा में दो तीन ज्ञान एकदम स्फुरित नहीं हो सकते। इस नियम की लापिका[1] से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भली-भांति हो जाता है। इस जन्म में 'मैं हूं' अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक-ठीक रहता है। इसीलिए पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता।

फिर भी, इसी जन्म ही में व्यवस्था कैसी होती है इसका विचार करें। मैं ही जो अब भाषण कर चुका हूं, उस भाषण का उसी तरह उस सम्बन्ध के मनोव्यापार का, सब परम्पराओं का मुझे स्मरण कहां है? भाषण के स्थूलावयव का तो स्मरण है; परन्तु बोलते-बोलते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण हो गया है। इससे मैंने भाषण नहीं किया, ऐसे मानते नहीं बनता। दूसरा बाल्यावस्था में जो बातें

---

[1] द्र० पूर्व पृष्ठ २६६ टि० १ ॥

हुईं उनका अब विस्मरण हुआ है। इससे बाल्यावस्था नहीं थी—ऐसा मानते नहीं बनता। पुनरपि जाग्रत अवस्था में जिन-जिन बातों का स्मरण रहता है, उन-उन बातों का निद्रा में सर्वथा ही विस्मरण होता है। इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता, इतने ही से पूर्व जन्म का असम्भव [सिद्ध] नहीं होता। दो जन्मों के बीच में मृत्यु आ गई है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्यावृत अन्धकार में गिरना है।

फिर, मन का धर्म कैसा है? इसका विचार करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में उससे राग द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसका विस्मरण होता है। फिर सहज ही पूर्व जन्मावस्था में दूरगत पदार्थ-विषयक आत्मा को विस्मरण होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? [अर्थात् इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं]।

मैं एक दृष्टान्त देता हूं। पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हैं। उनमें से कुछ लड़कों को विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है, दूसरों को कुछ विलम्ब लगता है और तीसरे को विषय की उपस्थिति होने में बड़ी अड़चन पड़ती है। इस प्रकार यहीं-के-यहीं ही उत्तम बुद्धि, मध्यम बुद्धि और अधम बुद्धि ऐसे [भिन्न-भिन्न] प्रकार दीखते हैं, तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उपस्थिति के विषय [में] कितनी अड़चन होती होगी, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। इससे जन्म एक है, ऐसा प्रमाण मानना, यह युक्ति-विरुद्ध है।

ज्ञान यह आठ प्रकार से होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,[1] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ऐसे आठ प्रकार हैं। इनमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिलकुल ही क्षुद्र[2] है। अव्यभिचारी, अव्यपदेशी और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कभी भी नहीं होता[3]।

---

[1] १. मराठी सं० में 'शाब्द' पाठ है।

[2] २. अर्थात् स्वल्पविषयक। यहां पूर्व पृष्ठ २६८-२६९ का प्रसंग भी स्मर्तव्य है।

[3] ३. यहां 'कभी कभी ही होता है' ऐसा पाठ होना चाहिये। क्योंकि बिना निर्दोष प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुमान का प्रसार ही नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं

इससे दूसरे ज्ञान–साधन[1] का अवलम्बन करना चाहिए। दृष्टान्त—कोई वैद्य नहीं है, ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो मुझे रोग किस कारण से हुआ, यह भी उसको ज्ञान नहीं होता। तो फिर रोग के निदान का उसे ज्ञान कहां से होगा? फिर भी रोगी को ऐसा ज्ञान नहीं है इससे [उसे] रोग ही नहीं है, यह कहते नहीं बनता। कारण विना कार्य कभी नहीं होता। इसलिये इस रोग का भी कुछ-न-कुछ कारण होना चाहिए—ऐसा अनुमान होता है। रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान नहीं, इससे रोग का कारण नहीं, ऐसा क्या कभी किसी ने माना है? [कभी नहीं]। फिर रोग देखकर और उसका निदान और चिकित्सा कर अमुक-अमुक कारण से यह रोग उत्पन्न हुआ है, ऐसा अनुमान प्रमाण के बल से वैद्य ठहराता है और वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी योग्यता अनुमान प्रमाण की है, अस्तु।

परमात्मा न्यायकारी और निष्पक्ष है, यह बात भी सब स्वीकार करते हैं। ऐसे न्यायकारी परमात्मा से निर्मित संसार में लोगों की स्थिति में और सुख लाभ में बड़ा ही भेद दीखता है—यह भी निर्विवाद है। इसके विषय में एक दृष्टान्त देना चाहिए। एक ही मां-बाप के दो पुत्र हुए, उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिए रखा और उनके खाने-पीने के सब साधन सब प्रकार एक से रखे। ऐसा होते हुए भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होने से वह बड़ा विद्वान् और नीतिमान् होता है और दूसरा भूलने वाला मूर्ख, ऐसा ही रहता है।[2] इसका कारण क्या है? इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है, और भेद तो पड़ा है। ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया ऐसा कहें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। फिर ईश्वर ने नहीं किया, ऐसा कहें तो भेद की उत्पत्ति होती नहीं। इससे पूर्व जन्म है ऐसा मानना अवश्य होता है। पूर्व जन्मार्जित पाप-पुण्य के

प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। द्र० 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' न्याय सूत्र १।१।५ ॥

[1] अर्थात् अनुमान ज्ञान का।

[2] समानमीहमानानामधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। महाभाष्य प्रत्याहार सूत्र ५।

अनुसार ही यह व्यवस्था होती है, ऐसा माने विना दूसरी कल्पना जमती नहीं। अस्तु,

एक जन्मवादी ऐसा कहेंगे कि ईश्वर स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी है। जैसे कोई माली अपने बगीचे में जैसे चाहे वैसे ही वृक्ष लगाता है और जैसी चाहे उन वृक्षों में खाद डाल उन्हें बढ़ाता है, उसी तरह इस जगत् में ईश्वर की लीला है। इस प्रकार का ईश्वर में स्वातन्त्र्य मानने से ईश्वर के न्यायकारित्व की हानि होती है और उन्मत्त प्रसंग ईश्वर पर आता है। परन्तु सब प्रकार सृष्टि क्रम के और वेद के अवलोकन से देव (=परमेश्वर) न्यायी है, ऐसा सिद्ध होता है। तब इस विरोध का निराकरण करने के लिए पूर्व जन्म था, ऐसा मानना ही चाहिए। ऐसा न मानें तो यह स्थिति-भेद कैसे उत्पन्न होता है, इसका समुचित उत्तर मिलता नहीं। संग-प्रसंग-भेद से यह स्थिति-भेद हुआ ऐसा भी कहते नहीं बनता; क्योंकि संग-प्रसंग-भेद की कल्पना जहां नहीं है, ऐसी जो माता के उदर में की स्थिति है, वह भी सबों के लिए कहां समान रहती है? पेट में होते हुए एक जीव को सुख होता है और दूसरों को क्लेश होता है। एक धर्मात्मा के पेट जन्मता है और दूसरा पाप-स्थान में जन्म लेता है। [तो बताओ] यह भेद कहां से और क्योंकर हुआ? पूर्व-जन्म न मानने से इस भेद के कारण ईश्वर पर कितना दोष आता है, इसका [कुछ] विचार करो।

पूर्व-जन्म विषयक उपर्युक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जीव को शरीर-चेष्टा होने से पूर्व प्रथम हमें प्रत्यक्ष होता है,[1] फिर आत्मा पर संस्कार होता है, फिर स्मृति होती है और पश्चात् कार्यविषयक प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, यह प्रकार सर्वत्र अटल है। अब शरीर योनि में से बच्चा बाहर पड़ने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है, तो यह प्रवृत्ति उसके पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगी? माता का स्तन खींचकर दूध पीने लग जाता है, यह प्रवृत्ति कहां से हुई? दूध के विषय में तृप्त होने पर निवृत्त होता है, यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है?

---

[1] इसका भाव यह है कि पहले प्रत्यक्ष होता है, पश्चात् जीव शरीर से चेष्टा करता है उससे संस्कार होता है।

माता ने कुछ धमकी दी, तब बच्चा जो समझता है यह पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगा ? इससे निश्चय पूर्व-जन्म था, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

पुनरपि, सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय इनके क्रम को देखते हुए उस के सादृश्य से जीव-सृष्टि का भी पूर्व-जन्म था । यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी जन्म होने वाले हैं । इस परम्परा से यह मध्य-जन्म है । इसलिये पूर्वजन्म था, ऐसी संभावना होती है । कारण, कुयें में जल न हो तो डोल में पानी कहां से आवे ? इस दृष्टान्त की योजना इस स्थल पर ठीक होती है ।

अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुए बैठा है और यह व्यवस्था कभी बिगड़ती है और कभी सध जाती है । जैसे ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में कहा है कि ईश्वर ने एक सुन्दर बगीचा बनाया, उसमें एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा रखा और उसमें एक ज्ञान-वल्ली लगा रखी और [परमेश्वर ने] दोनों स्त्री-पुरुष को आज्ञा दी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो । फिर सहज ही उन स्त्री-पुरुषों ने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा । उन पर ईश्वर को बड़ा गुस्सा आया, फिर ईश्वर ने उन्हें वहां से निकाल दिया ।[1] अब यदि ईश्वर की व्यवस्था [इस प्रकार] बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा ? इसलिए ऐसी व्यवस्था ठीक नहीं बैठती । इसलिए एक जन्मवाद भी नहीं जमता । ईश्वर सब जगत् का धारण मात्र करता है; परन्तु उसने कृति एक ही बार कर रखी है, ऐसा जानना चाहिए । कोई ऐसा न समझे कि उसने सात दिन श्रम किया और आठवें[2] दिन आराम किया [अर्थात् विश्राम लिया] । यह कहना सर्वशक्तिमान् के विषय में किसी प्रकार सम्भव नहीं । उसी प्रकार बगीचे के बीच व्यवस्था की, उसे एक समय भूला और

---

[1] द्र० बाइबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० २, ३ ।।

[2] मराठी तथा हिन्दी संस्करणों में 'सात दिन श्रम किया और आठवें दिन' ऐसा पाठ है । यह ठीक नहीं है । 'छ दिन श्रम किया और सातवें दिन आराम किया' ऐसा पाठ होना चाहिए । बाइबल (उत्पत्ति, अ० १,२) में ऐसा ही लेख है ।

फिर उसे ठीक करूं ऐसा ईश्वर के मन में आया। इसलिए उसने लोगों के पाप-निवारणार्थ यह व्यावस्था की[1], यह कहना भी ठीक-ठीक सम्भव नहीं होता। मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है यह मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु सुज्ञ पुरुषों को [उचित है कि] दुराग्रह को [परे] फेंक सत्य को परीक्षा करें, यही उनका भूषण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी उठाता है। इसमें एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है, ऐसा कहना यह भ्रम है। राजा के मन में परचक्र[2] को अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःख का पहाड़ उत्पन्न करती रहती है। इसलिए राजा को बाहर से जितना सुख होता है उतना ही अन्दर से दुःख रहता है। रात्रि को नींद आने में भी अड़चन होती है। इधर इसके बिलकुल विरुद्ध कहारों को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है, पालकी उठाना पड़ता है और रूखी-सूखी रोटी उसे मिलती है तो भी कम्बल डाला कि निश्चिन्त खुर्राटे की नींद सोता है। इससे दोनों स्थितियों में सुख-दुःख समान ही हैं। इसलिए 'एक जन्म ही मानना ठीक है।'

इस पूर्व पक्ष का समाधान करना सहज होता है—

श्रीमानों और दरिद्रियों को, सशक्तों और अशक्तों को सुख-दुःख समान ही है यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है। राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के एक पुत्र हुआ। राजपुत्र को गर्भ में सुख, जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख, खाने-पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में लिये सेवक लोग खड़े रहते हैं। [इसके विरुद्ध] भंगी के लड़के को गर्भ समय में दुःख, जन्मते समय किसी पाषाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यावस्था में खाने-पीने में कठिनाई, वस्त्र का तो नाम तक निकालते

---

[1] अर्थात् परमेश्वर ने आदम-हव्वा और उसकी सन्तति को शाप दिया तथा उन्हें बहकाने के लिए शैतान को उत्पन्न कर मनुष्य को पापी बनाया। अपनी इस भूल को सुधारने के लिए मनुष्यों के पाप-हरण करने के लिए ईसा को भेजा, यह मानना ईश्वर को अल्पज्ञ बताना है।

[2] अर्थात् शत्रु-राज्य।

नहीं बनता, अन्न-जल के लिए कई बार उसे रो-रो कर जी घबराना पड़ता है। इस प्रकार दृष्टिगत होता है। यह सुख-दुःख का भेद कहां से आया ? फिर सब मनुष्यों को 'श्रीमन्ती (=सम्पत्ति) मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की स्थिति प्राप्त हो' यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है, यह भी तुम्हारी दृष्टि में आता है। इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है। इससे सुख-दुःख का भेद वास्तविक है भ्रम नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है।[1]

अब यदि सुख-दुःख का भेद है और जन्म एक ही है, तो ईश्वर इससे अन्यायी ठहरता है। ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना यह हमारे प्रथम सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिए जन्म अनेक हैं यही कहना योग्य है, अर्थात् ईश्वर न्यायकारी है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दण्ड देता है, अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना ही उसे दुःख भोगना पड़ता है, ऐसा सिद्ध होता है।

कोई-कोई ऐसा पूर्वपक्ष करते [हैं] कि मनुष्य पाप करने के कारण वह पशु योनि में गया, ऐसा कुछ काल के लिए मान भी लें; परन्तु पशु होकर "मुझे पाप करने के कारण यह पशु-जन्म प्राप्त हुआ है" ऐसा यदि उसको ज्ञान नहीं है तो ज्ञान विना दण्ड भोगना, यह व्यवस्था किस प्रकार की है ?

इसका समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है। दुःख भोगते हुए दुःख के कारण का ज्ञान कभी भी नहीं रहता। लालच करके बहुत सा खा लिया, फिर उसके कारण किसी रोग ने [शरीर को] जकड़ लिया, उस समय जो दुःख होता है, उस दुःख के कारण—उसके कारण का भान होता हो ऐसा देखने में नहीं आता। इसी प्रकार अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होगी [अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेगी]।

अस्तु, इस संसार में सुख-दुःख के जो भेद दीखते हैं उनका कुछ-न-कुछ कारण [अवश्य] होना चाहिए। कारण के विना ये कार्य

---

[1] इस सन्दर्भ (पैरे) की तुलना सत्यार्थ प्रकाश प्रथम सं० सन् १८७५ के पृष्ठ २८० पं० २५ 'प्रश्न–सुख वा दुःख' लेकर, पृष्ठ २८२ पं० १० 'न्यून देख पड़ते हैं' तक करनी चाहिये।

नहीं हो सकेंगे । इन सुख-दु:ख के भेदों के कारण पूर्व जन्म के कर्म हैं । इसलिए शेषवत् अनुमान से सुख-दु:खादि के भेदों की व्यवस्था ठीक लग जाती है । अब कर्मों के विषय में कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं । नाना प्रकार के आत्मा पर संस्कार होते हैं उनके कारण नाना प्रकार के मानस कर्म उत्पन्न होते हैं । ईश्वर के घर की ऐसी व्यवस्था है कि उन-उन कर्मों के योग से पाप-पुण्य उत्पन्न होने चाहियें । और पाप-पुण्यों के अनुसार सुख-दु:ख होने चाहियें ।[1] इस प्रकार पाप-पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं होता, पापों को भोगना ही पड़ता है, वे कभी नहीं छूटते ।

अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर कि भक्ति करने से, प्रार्थना करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दण्ड नहीं देता, सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है । ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दण्ड नहीं चुकता; किन्तु आगे के होने वाले पापों से ही केवल निवृत्ति होती है । यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिए यत्किञ्चित् भी भीति (=भय) किसी को न होती ।

अब इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी चाहिए । कोई ऐसी शंका करते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, उसे हमारे मन के सारे भाव विदित ही हैं । पतिव्रता की सी भक्ति किस की है और वेश्या के सदृश भक्ति किसकी है, यह उसे विदित है । हम मनुष्यों को तो प्रसंगवश ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं । ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव, पाप-पुण्य-वासना और परमेश्वर-भक्ति-भावना ये सब प्रत्यक्ष हैं । यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से ईश्वर दया कर पाप-दण्ड से हम को न छुड़ावें तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी ? ऐसी शंका है । इसलिए मुक्ति का तात्पर्य क्या है ? इसका प्रथम विचार करें ।

मुक्ति अर्थात् ईश्वर प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना, यही मुक्ति का लक्षण है । इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर

---

[1] 'और········होने चाहियें' पाठ मराठी सं० के अनुसार है ।

सदानन्द की स्थिति प्राप्त होती है। शोक से चित्त बिगड़ता है यह तो ठीक ही है, परन्तु हर्ष से चित्त बिगड़ जाता है, इसे दिखलाने के लिए दृष्टान्त देना चाहिए। किसी गरीब आदमी को लाख रुपया एक दम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपन आ घेरता है। सब को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ईश्वर[1] को छोड़कर चाहे कितने ही दूसरे कर्म किए जायें, परन्तु उनसे आत्मा मुक्त नहीं होती। मुक्त होने के लिए जो कुछ है वह एक ईश्वर प्राप्ति ही कारण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि जब हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते हैं तो अवश्य सृष्टि का कहीं-न-कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिए और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, उस समय योनि-भेद था। यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा, क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों की नीच योनि में जायें और कुछ एक मनुष्य की योनि में जायें, यह कैसे?

इस पूर्वपक्ष का समाधान ऐसा है। कोई[2] ऐसा कहते हैं कि पहले देव (=परमेश्वर) ने एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया, फिर स्त्री ने सर्प[3] के कहने से ज्ञानवल्ली का फल खाया, तब स्त्री के अपराध के कारण स्त्री-पुरुष पतित हुए।[4] इसलिए जगत् में पाप और पुण्य घुसा। ऐसी व्यर्थ की कहानी को कहकर हम अपना समाधान नहीं करते, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? और इस विषय में आर्य लोगों ने शास्त्र द्वारा सूक्ष्म रीति से क्या विचार किया है, उसे देखें। जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है, उसी स्थिति में प्रारम्भ की सृष्टि नहीं थी। इसलिए [मैं] वर्तमान सृष्टि की **'उत्तर-सृष्टि'** ऐसी संज्ञा देता हूँ और पूर्व सृष्टि की 'आदि-सृष्टि'[5] ऐसी संज्ञा देता हूं, जिससे झट समझ में आ जाय।

---

[1] अर्थात् ईश्वर की उपासना को। [2] अर्थात् ईसाईमतानुयायी।

[3] सर्प देहधारी शैतान। 'पापी' अर्थ वाला संस्कृत का 'पाप' शब्द द्रविड़ भाषा में सर्प का वाची है। [4] द्र० बायबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० २, ३।

[5] 'आदि सृष्टि' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग ऋ० द० कृत सत्यार्थप्रकाश, प्रथम सं० सन् १८७५, पृष्ठ २८४, पं० २ में तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका रालाकट्रस्ट सं० पृष्ठ २२ पं० ११; पृष्ठ ४१ पं० १ में भी मिलता है। आदि-

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ॥ इत्यादि ॥ तै० उपनि०[1] ।

आदि सृष्टि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किए—"**ततो मनुष्या अजायन्त**" इत्यादि य० सं०[2]। परन्तु उसमें अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति (=कर्म) के कारण भेद न था। वे सब केवल आहार-विहार और मैथुन, इतना ही जानते थे, और इन विषयों में भी सब प्राणी एक जैसे और एकरस थे।[3] सब शरीर सब जीवों के भोग के लिये हैं एक ही जीव के लिये अर्थात् ये सब जीव-जन्तु परमेश्वर से उत्पन्न हुए।

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।[4]
तथाक्षरात् सोम्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते, इत्यादि ॥
छान्दोग्योपनिषद् ।[5]

जैसे छोटे बच्चों की अब भी यहां पर स्थिति होते हुए दीखती है [कि उसे किसी कर्म का दण्ड नहीं मिलता] उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दण्ड नहीं होता, उसी तरह इस आदि-सृष्टि में सब मनुष्य बाल्यावस्था[6] में थे। उनकी अशिष्टाप्रतिषिद्ध

सृष्टि का अर्थ 'सृष्टेरादिः' (सृष्टि का आरम्भ) करने पर 'सृष्ट्यादि' प्रयोग होना चाहिये ।

[1] तै० उ० ब्रह्मा० १ ॥

[2] य० सं० ३१ में 'साध्या ऋषयश्च ये' पाठ है । ऊपर उद्धृत पाठ शत० १४।४।२।५ में मिलता है ।

[3] द्र०—'सो जिस समय आदि सृष्टि भई थी उस समय मनुष्यों और पश्वादिकों में कुछ विशेष नहीं था। स० प्र० प्र० सं० (१८७५) पृष्ठ ३८४, पं० २ ।

[4] छा० उ० ६।८।४।।

[5] छान्दोग्योपनिषद् में नहीं है । तुलना करो—तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते······। मुण्डक २।१।१।। 'तस्मादक्षरात् महत्, महतोऽहंकारः, तस्मादहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि······गोपालोप० २।१३, द्र० उपनिषद्वाक्य-महाकोष पृ० २४१ पर उद्धृत ।

[6] यहां बाल्यावस्था का अभिप्राय बालसदृश बालबुद्धि से है । स० प्र०

चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन[1] या प्रतिषेध नहीं लगाए थे, नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप को देखें, श्रोतों से अपना काम करें अर्थात् शब्द सुनें, पांव से अपना काम करें अर्थात् इधर-उधर फिरें, इससे हटकर विशेष व्यापार आदि-सृष्टि में नहीं था। ऐसी व्यवस्था आदि-सृष्टि में पांच वर्ष चलती रही, फिर देव (=परमात्मा) ने मनुष्यों को वेद-ज्ञान दिया।[2]

ओ३म् खम्ब्रह्म।[3]

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। य० सं०[4]

अब वेद-ज्ञान से पाप-पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा-वैसा आचरण भेद होता गया। अनन्तर पाप-पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही कार्य उत्पन्न होने लगे। मनुष्य पाप के कारण पशु जन्म को गए और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य जन्म में आए। आदि-सृष्टि में पशुओं को एक दफे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। अनन्तर आचार-भेद के अनुकूल पाप-पुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर में आ फंसे।

अब कोई ऐसी शंका करें कि मनुष्य को पाप-वासना क्यों हुई? तो उसका इतना ही समाधान है कि देव (=परमात्मा) ने मनुष्यों को स्वतन्त्रता दी है और उस स्वतन्त्रता के जो परिणाम होवेंगे, उन्हें भी स्वीकार करने चाहिए। सुख के सब सामान होने पर भी

प्रथम सं० (१८७५) में इसी प्रकार के प्रकरण में पृष्ठ २८२ पं० २१-२२ में स्पष्ट लिखा है—'किसी की बाल्यावस्था भी नहीं थी किन्तु सब स्त्री और पुरुषों की युवावस्था ही ईश्वर ने रची थी'।

[1] यहां शासन से अभिप्राय 'विधि' से है। अर्थात् 'यह कर्म करो' ऐसी विधि, यह कर्म मत करो ऐसा प्रतिषेध नहीं किया गया था।

[2] आदिसृष्टि में ५ वर्ष तक ज्ञान के अभाव में विधि-प्रतिषेध रहित व्यवस्था चलती रही। तत्पश्चात् वेद का ज्ञान दिया गया। यही बात स० प्र० सं० (१८७५) पृष्ठ २८२ पं० २१ से पृष्ठ २८३ पं० १० तक कही है। इसी तरह का अस्पष्ट संकेत उदयपुर शास्त्रार्थ पृष्ठ १९९ पं० २९-३० में मिलता है। विशेष परिशिष्ट १ में देखें।

[3] यजुः ४०।१७॥ [4] यजुः ४०।८॥

यदि स्वतन्त्रता नहीं है तो वह स्थिति दुःखमिश्रित स्वतन्त्रता होकर अतिदुःसह होती है । तब पाप-वासना होती है यह अपनी स्वतन्त्रता का विकार है । इसके लिए ईश्वर पर दोष नहीं लगा सकते । कोई ऐसा मानते हैं कि एक दुःख-विशेष देश नरक है और सुख-विशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रकार के प्रदेशों में मनुष्य को पाप-पुण्य के अनुकूल एक समय [अर्थात्] जगत्-प्रलय के समय न्याय कर अनन्तकाल तक सुख वा दुःख में ईश्वर रखेगा । ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा । ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव[1] नहीं है । प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने पाप-पुण्य के अनुसार हमें भला-बुरा जन्म मिलता है ।

पाप-पुण्य इस मनुष्य जन्म में ही केवल होते हैं । पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये [पाप-पुण्य का] सम्पादन नहीं होता ।

कोई ऐसी शंका करते हैं कि मनुष्य-जन्म एक ही समय मिलता है अथवा कैसे ? 'मनुष्य जन्म वारम्वार प्राप्त होता है' यह उत्तर है ।

मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना है, ऐसा हम पूर्व कह चुके हैं ।[2] तो वह कैसे आती है ? [3]इस विषय में कोई कहते हैं कि गरुड़ पुराण में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण का हरण करने के लिए यमदूत आते हैं । इन यमदूतों के मुख दरवाजे जितने बड़े होते हैं और शरीर पर्वत के सदृश होते हैं, यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है । निरुक्त में अन्तरिक्ष काण्ड है, उसमें वायु के यमराज[4] धर्मराज ये नाम दिए हैं—

---

[1] रुकावट, अर्थात् सृष्टिप्रलय से पहले ईश्वर न्याय नहीं करेगा, ऐसी रुकावट । उपर्युक्त व्यवस्था ईसाई और मुसलमानों के मत में है ।

[2] द्र० पूर्व पृष्ठ ३१६ पं० २-३ ।

[3] इस से आगे के वर्णन की तुलना सत्यार्थ प्रकाश (सन १८७५) प्रथम सं० 'पृष्ठ २६४-२६५ के साथ करें ।

[4] निरुक्त दैवतकाण्डान्तर्गत अ० १०, ११ अन्तरिक्ष काण्ड है । इसमें अन्तरिक्षस्थ देवताओं का व्याख्यान है । निरुक्त अ० १० खं० १३ में यम-देवता-विषयक जो ऋ० २।२४।५ का मन्त्र उद्धृत किया है उसमें **'यमं राजानम्'** पद आए हैं ।

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैव हृदि स्थितः ।[१]

इससे जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु में, वायु के द्वारा अन्य योनि के बीच उसका प्रवेश होता है, ऐसा समझना चाहिए। मरने पर जीव वायु में मिलता है। अस्तु, ऐसे हमारे उपदेश से कट्टहा[२] लोगों की हानि होगी, विद्वानों की क्या हानि हो सकती है? [अर्थात् विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है।][३] हां!

कोई ऐसा भी कहते हैं कि "जीव (=प्राण) ले; परन्तु जीविका न ले।" हमारे भाषण से गरुड़ पुराणादिक ग्रन्थों के विषय में [लोगों की] अश्रद्धा उत्पन्न होने से सहज ही कट्टहाओं की जीविका डूबेगी, उससे हमें पाप लगेगा, ऐसा हमें भय नहीं है। कारण, राजा दुष्ट लोगों को दण्ड देता है [उससे उसे पाप नहीं लगता][४] उसी तरह हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो हमें पाप क्यों लगेगा? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन, याजन करने का अधिकार है। उनका मतलब-सिन्धु साधने के लिए कट्टहापन का धन्धा करना जन्म-पत्रिका बनाना और आप ही शनि बन लोगों को लग जाना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना, ये सब पाप आजकल के ब्राह्मणों के सिर चढ़ते हैं। जरा विचार तो करो कि सारे महाभारत भर में एक स्थान पर भी जन्म-पत्रिका का वर्णन नहीं आया है। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष का मूल आधार आर्य-विद्या में नहीं है, यह स्पष्ट है।

मृत्यु-समय में यमदूत जीव को ले जाता है अर्थात् वायु जीव का हरण करता है ऐसा समझना चाहिये। अस्तु, वायु मनुष्य का हरण करता है और फिर पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर-

---

[१] अनुपलब्धमूल।

[२] मृतक के पिण्डदान आदि करा कर दक्षिणा आदि लेने वाले लोगों की। इन्हे उत्तर भारत में 'महाब्राह्मण' भी कहते हैं।

[३] यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मराठी सं० में नहीं है। यह पूर्ववाक्य के स्पष्टीकरण के लिए हिन्दी संस्करण में बढ़ाया है।

[४] यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मराठी सं० में नहीं है।

नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन जाता है। इसमें वैतरणी नदी और गोपुच्छादि सदृश पाखण्ड मत को अवकाश कहां है ? [अर्थात् इन सारे प्रलापों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं।][1]

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं, इस व्यर्थ की कथा का वर्णन करने की [आवश्यकता] नहीं है। जगत् में कितनी योनियां हैं इसका शोध गणक शास्त्री लोग लगावें।

विद्वांसो हि देवा: ।[2]

शतं ये मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि० ॥ तै० उपनिषद्०[3] ।

जिनके पाप-पुण्य सम होते हैं, वे मनुष्य जन्म पाते हैं । जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है वे देव, पापातिशय के कारण तिर्यग् योनि प्राप्त होती है। परन्तु पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इन्हें भोगकर पाप-पुण्य सम होने पर मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार पाप-पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने कर रखी है और यही व्यवस्था यथार्थ है । इस प्रकार आदि-सृष्टि का वर्णन हुआ।[4]

अब कोई ऐसी शंका निकाले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव

---

[1] यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मराठी सं० में नहीं है। पूर्व वाक्य के स्पष्टीकरण के लिये हिन्दी संस्करण में बढ़ाया है। [2] शत० ३।७।३।१० ॥

[3] द्र० तै० उप० ब्रह्मा० ८। वहां **'ते ये शतं मानुषा आनन्दाः'** पाठ है। परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रित मराठी सं० में मूल उद्धरण पाठ को बदलकर तै० उप० का पता दे दिया है। उक्त उद्धरण में इत्यादि पद से पूरा अनुवाक द्रष्टव्य है, यह सूचित किया है। तै० उप० का यह प्रमाण कुछ विशेष योनियों की ओर संकेत करने के लिए उद्धृत किया है। इस प्रकरण में **'मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति'** योनियों का निर्देश करके सौ-सौ गुना उत्तरोत्तर योनि में आनन्द दर्शाया है। इन सबसे अर्थात् अन्तिम प्रजापति से भी १०० गुना ब्रह्म का आनन्द है। यह ब्रह्म के आनन्दातिशय के द्योतन का एक प्रकार है अर्थात् आनन्दातिशय द्योतनार्थ यह अर्थवाद है।

[4] यह वाक्य ग. घ. ङ. हिन्दी संस्करणों में नहीं है, मराठी सं० में है।

को भोगने के सिवाय छुटकारा नहीं, ऐसा हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या ? उसका उत्तर [यह है कि] पश्चात्ताप से पाप-क्षय नहीं होता; परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्या पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ।। मनु० अ० श्लो० १३०[1]

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी कृत पापों को तो भोगना ही होगा। इसका दृष्टान्त—कोई कुयें में गिरा और हाथ-पांव तोड़ लिये, पश्चात् उसे कितना ही पश्चात्ताप होवे तो भी उसके हाथ-पांव टूटे सो तो टूटे ही वह तो कुछ छूट नहीं सकता [अर्थात् टूटे हुए हाथ-पांव ठीक नहीं होते]। हां, आगे के लिए कुये में न गिरे, इतना ही होगा।

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है, तो पाप-पुण्य भोगने के लिए देश, काल, वस्तु ये साधन चाहिएं ही। इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा ? जब भोग न होगा तो फिर आनन्द कसे प्राप्त होगा ? अब इस पर कोई ऐसा कहे कि मुक्त समय में शरीर न होने पर [जीव सुख कैसे भोगेगा ? इस का उत्तर—][2] मुक्त जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होकर वह परमेश्वर को ही प्राप्त होता है, फिर एक परमेश्वर ही उसका आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द के प्रसंग में शरीर का प्रयोजन नहीं है। शरीर अर्थात् भोगायतन, वह इस जगत् में पाप-पुण्य भोगने का साधन है, इसका सम्बन्ध मुक्तावस्था[3] में नहीं है।

---

[1] यह मराठी सं० (१८७५) में दिया हुआ मनुस्मृति का पता अशुद्ध है। मनु० अ० ११ श्लो० २३ होना चाहिये। परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रापित मराठी सं० में मनुस्मृति का श्लोक नहीं है। सन् १८७५ के मराठी संस्करण में विद्यमान होने से विदित होता है कि परोपकारिणी सभा के मराठी सं० में यह पाठ छूट गया है।

[2] मराठी संस्करण में कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है, परन्तु पाठ की संगति के लिये इतना पाठ आवश्यक है। सम्भव है व्याख्यान लिखते समय अथवा छपते समय यहां पाठ टूट गया है।

[3] हिन्दी संस्करणों में 'मूलावस्था' पाठ है। मराठी सं० में भी **'मूला-**

अब पुनरपि मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है ? इसका विचार करें।

कोई ऐसी शंका करता है कि इस जन्म में पूर्व-जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा। जिस ज्ञान का निमित्त छूटना है तो उस ज्ञान का भी विस्मरण हो जाता है।

गौतमसूत्र—**युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्** ।[1]

ये सब आपत्तियां अमुक्त आत्मा को लगती हैं, परन्तु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिसकी आत्मा उसमें सञ्चार कर सकती है और जिनके आत्मा से पूर्वजन्म के संस्कार निकल चुके हैं, वह और जिसके आत्मा में स्थायी शान्ति उत्पन्न हुई है, अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति इन की पहचान जिसके आत्मा को हो चुकी है और जिसकी दृष्टि को और मनोवृत्ति को ज्ञान सुख के विना अन्य सुख विदित नहीं हैं, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसे मुक्त पुरुष को देश, काल, वस्तु परिच्छेद का [युगपत्][2] ज्ञान होता है, उन्हें युगपत् ज्ञान की अटक नहीं है। इसका दृष्टान्त—एक कण शक्कर का यदि चींटी को मिले तो वह उसे लेकर जाने लगती है, परन्तु उसे एक शक्कर का गोला मिल जाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चींटी लिपट जाती है; इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है।

—:०:—

वस्थेत' पाठ है। यहां '**मुक्तावस्था**' का प्रसंग होने से 'मुक्तावस्था' ही पाठ होना चाहिए।

[1] न्यायदर्शन १।१।१६॥

[2] यह पद मराठी सं० में नहीं है।

सातवां-प्रवचन

यज्ञ और संस्कार विषयक[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ के भिड़े के बाड़े में २० जुलाई[2] के दिन रात्रि में आठ बजे 'यज्ञ व संस्कार' विषय पर जो व्याख्यान दिया, उस का सारांश—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः [शान्तिर्विश्वे देवाः] शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ य० सं०[3] ।

(यह ऋचा[4] बोलकर [स्वामीजी ने] व्याख्यान आरम्भ किया ।)

यज्ञ और संस्कार क्या है ? इसका विचार आज करना है ।

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है ? यज्ञ के साधन कौन-कौन से हैं । उसकी कृति (=क्रिया) कैसी है ? और उनके फल कौन से हैं ? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं । इसके उत्तर हम अब यथाक्रम देते हैं—

'यज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रथम देवपूजा, दूसरा संगतिकरण और तीसरा दान है ।

अब प्रथम देव-पूजा के विषय में विचार करें । केवल[5] देव पद का मूल अर्थ द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप ऐसा है; और वेदमन्त्रों की

---

[1] इस व्याख्यान का मराठी अनुवाद परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मराठी संस्करण में नहीं छपा । कारण अज्ञात है ।

[2] श्रावण कृष्ण २ शं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में आषाढ कृष्णा २) ।

[3] यजु० ३६।१७ ॥

[4] यह मन्त्र गद्य रूप होने से यजुःसंज्ञक है, ऋचा नहीं है ।

[5] केवल अर्थात् अन्य पद से असंबद्ध अकेले देव पद का ।

भी देव ऐसी संज्ञा है, क्योंकि उनके द्वारा विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है। यज्ञ यह कर्मकाण्ड का विषय है। यज्ञ में अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेध[1] पर्यन्त का समावेश होता है। देव शब्द का परमात्मा ऐसा भी अर्थ है, क्योंकि उसने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है। देव अर्थात् विद्वान् ऐसा भी अर्थ है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में **'विद्वांसो वै देवा:'**[2] ऐसा वर्णन किया है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

'पितृभिर्भ्रा० ।[3] पूजितोऽतिथि: ।[4] पूजितो गुरु:'[4] इत्यादि।

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार, ऐसा अर्थ होता है। चेतन पदार्थों का सत्कार सम्भावित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्तियों का सत्कार सम्भव नहीं होता। मुख्यत्व[4] से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता है। इसीलिए प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में [अर्थात् होम के साथ] मन्त्रों की योजना की है। इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय ऐसा नाम दिया है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् । महाभारते[5]

इसीलिए ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन भी पांच महायज्ञों में से एक यज्ञ है।

स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि । मनु[6]

---

[1] ऋषि दयानन्द ने यज्ञ के प्रसंग में सर्वत्र इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। इन यज्ञों की विधि ऋषि दयानन्द न लिख पाए। उनके पश्चात् आर्यसमाज ने इन प्राचीन यज्ञों की ओर से मुख मोड़कर ब्रह्मपारायण आदि काल्पनिक नवीन यज्ञ घड़ लिए। यह ऋ० द० के मन्तव्य के विरुद्ध है।

[2] शत० ३।७।३।१० में **'विद्वांसो हि देवा:'** पाठ है।

[3] यहां स्वामी जी ने पूरा श्लोक पढ़ा होगा, लेखक ने प्रतीक मात्र लिखा। पूरा इस प्रकार है—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि: ।। मनु० ३।५५ ।।

[4] यह लौकिक प्रयोग है।

[5] गीता ३।१५ ।। गीता महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत ही है।

[6] मनु० ३।८१ ।।

इस से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को [कोई] न समझे, देवालय का अर्थ यज्ञशाला ही होता है ।

अब दूसरा अर्थ **संगतिकरण**—अर्थात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक, प्रेमपूर्वक, देवता का ध्यान, देवता का विचार, उसी प्रकार सत्पुरुषों का संग करना, इसे भी यज्ञ कहते हैं ।

अब तीसरा अर्थ **दान**—विद्यादान को छोड़ दूसरे दान तो दान नहीं हैं । केवल विद्या का दान ही दान है,[1] अन्न-वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं, इसलिए उन्हें भी दान ऐसी संज्ञा दी है, विद्यादान यह अक्षय दान है ।

अब यज्ञ से क्या फल होते हैं, इसका विचार करें । यज्ञ का रूढ्यर्थ वेदी में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना ऐसा है । अब इसमें काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को व्यर्थ अग्नि में क्यों जलावें ? ऐसी शंका उत्पन्न होती है । इस शंका का समाधान यह है कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

जनतायै यज्ञो भवतीति । शतपथ ब्राह्मण[2] ।

पुष्टि, वर्धन[3], सुगन्ध प्रसार और नैरोग्य **ये** चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं । ये लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने पर ही होते हैं । कहा है कि—

संस्कृतं हविः होतव्यमिति । शतपथ ब्राह्मण ।[4]

योग्य रीति से यथाविधि होम करना चाहिए । एकदम बीस मन[5]

---

[1] **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।**
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ।। मनु० ४।२३३ ।।

[2] तुलना करो—**यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति** । ऐ० ब्रा० १।२ ।।

[3] पुष्टि अर्थात् शरीर की पुष्टि=दृढ़ता, वर्धन अर्थात् वृद्धि=वैशद्य । द्र० पृष्ठ ३३९ पं० १२ पर बुद्धि-वैशद्य शब्द का प्रयोग ।

[4] ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः **आग्नेयमष्टाकपालं यजेत** इत्यादि वाक्य प्रयुक्त हैं । इसका अर्थ होता है—अग्नि देवता वाले आठ कपालों पर संस्कृत हवि से यजन करे । यहां '**संस्कृतं हविः होतव्यम्**' तात्पर्यमात्र कहा है ।

[5] मराठी पाठ 'खण्डी भरघृत' है । खण्डी शब्द का अर्थ 'बीस मन' होता है । द्र०—मराठी हिन्दी शब्द संग्रह, पृष्ठ ७१ ।

घी जला दिया अथवा चम्मच-चम्मच[1] करके बीस मन घृत वर्ष भर जलाते रहे तो भी होम नहीं होगा । फिर कोई कहते हैं कि होम अर्थात् दैवतोद्देशक त्याग है । देवता लोग यजनदेश में आते हैं और सुगन्ध लेते हैं । इसलिए होम करना चाहिए । यह कहना अप्रशस्त है । क्या देव-लोक में सुगन्धि की न्यूनता है, जो वे हमारे क्षुद्र हवि-र्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं ?

इसी तरह [कोई कहते हैं कि] श्राद्ध आदिकों में पितृलोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे तृषार्त्त होकर निराहार रह के क्या मर जायेंगे ? पितृलोक में क्या सब दरिद्रता ही है ? यह समझ बराबर नहीं है । देव-लोक वा पितृ-लोक में कुछ कमी नहीं है । होम हवन उनके उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है । सुवृष्टि और वायु-शुद्धि होम-हवनादि से होती है, इसलिए होम करना चाहिए । सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धि-वैशद्य को वायु और जल का ही आधार है । दृष्टान्त—इन दिनों पंढरपुर[2] में बड़ा हैजे (विषूचिका) का दौर चल रहा है तो वहां का जलवायु बिगड़ा यही उसके होने का कारण है । हरद्वार में एक मेला हुआ था[3], वहां पर वायु के बिगड़ने से हजारों मनुष्य मर गए । ब्रह्माण्ड में संचार करने वाला [जो वायु है] वह जीवन का हेतु है । अतः अन्तर-वायु के ठीक व्यापार करने के लिये बाहर का ब्रह्माण्ड-वायु शुद्ध होना चाहिए । ब्रह्माण्ड-वायु को शुद्ध करने के लिए यज्ञकुण्ड में घृत, कस्तूरी, केशर ऐसे द्रव्यों का हवन करना चाहिए । सुगन्धित द्रव्यों के दहन (=जलाने) से ब्रह्माण्ड-वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है । इस हवन के योग से जो सुगन्धित वायु उत्पन्न होता है उस के सुगन्ध के सम्मुख वायु के सब दुष्ट दोष नहीं से (=दूर) होकर नैरोग्य उत्पन्न होता है ।

---

[1] मराठी सं॰ में॰ 'पळी-पळीने' पाठ है । पळी शब्द का अर्थ है—कड़छी करछुली । यहां **पळी-पळी** का तात्पर्य 'थोड़ा-थोड़ा' से है । अतः भाषा में 'चमच-चमच' पाठ ही अधिक उपयुक्त है । कड़छी में यज्ञीय प्रमाण से अधिक घृत आता है ।

[2] दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान ।

[3] वि॰ सं॰ १९२४ में. उस समय ऋषि दयानन्द भी वहां गए हुए थे ।

अब कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शंका करते हैं कि पदार्थों का दहन होने से उनका पृथक्करण होता है और उनके गुण नष्ट हो जाते हैं, तब हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा ?

इस विषय में हमारा प्रथम उत्तर ऐसा है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं। उनमें स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता, संयोगजन्य गुणों का वियोग से ह्रास (घटती) होता है। यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों में न माने जायं तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा ?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ा सा तेल निकलता है; इसलिए समुदाय स्थित बहुत से तिलों का तेल बहुत निकलता है। एक जल परमाणु में शीतलता है, इसलिए परमाणु-समुदायरूप जल का शीतलता स्वाभाविक धर्म है। सुघन्धित पदार्थों का सुगन्धि स्वाभाविक गुण है, वह दहन (=जलने) से फैलता है, उसका नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगन्धित [वस्तु के] जलाने से दुर्गन्धि का नाश होता है, यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसा ही तद्गुणविशिष्ट अर्क निकलता है। अर्क अर्थात् आसवादि सत्त्व अतर आदि द्रव्य होता है।

अग्नि-परमाणु में जो गुण हैं वे अग्नि के परमाणु [के साथ] अत्यन्त सूक्ष्म होकर मेघ-मण्डल पर्यन्त विस्तीर्ण होते हैं और उससे वायु-शुद्धि यह परिणाम होता है।

अब कोई ऐसी शंका करे कि होम एक छोटा सा कार्य है, इससे ब्रह्माण्ड-वायु कैसे शुद्ध होगा ? समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डाली तो क्या सारा समुद्र सुगन्धित और शुद्ध होगा ?

इसका समाधान यह है कि सौ घड़े रायते में थोड़ी-सी [हींग के] बघार से [सुगन्ध और] रुचि आ जाती है, यह प्रत्यक्ष है। इसकी जैसी उपपत्ति समझी जाती है तद्वत् ही यह प्रकार भी है।

कोई ऐसी शंका करे कि होम तो यहां करे और अमेरिका में उसका परिणाम कैसे होगा ?

इसका समाधान यह है कि वायु द्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले, यह वायु का धर्म है। इसके सिवाय सब लोगों के अपने-अपने घर में आर्यसम्मत रीति से हवन करने से यह शंका सम्भव नहीं होती। पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान कर बारह[1] आहुति देता था। इससे प्रातःकाल जो मल-मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी, वह दुर्गन्धि प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमा हुई जो दुर्गन्धि उसका नाश होकर सारी रात वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। प्राचीन आर्य लोग बड़े ही युक्तिमान् (=विवेकी) थे, इसमें सन्देह नहीं है। फिर अमावस्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था। उनके करने से भरतखण्ड में वायु-शुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे? इसका विचार करने से 'यह छोटा सा प्रकार है' ऐसा किसी को प्रतीन न होगा। अब वायु-शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है। वृष्टि का और वायु का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और सब देशों में जल वृष्टि से उत्पन्न होता है।

जल स्वच्छ और वायु के स्वच्छ होने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस बडे शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसलिए शरीर को सुख होकर शुद्ध अन्न से बल उत्पन्न होता है। प्राचीन आर्य लोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसंग में करने की आवश्यकता नहीं है। वायु और जल इन की दुर्गन्धि नष्ट होकर उनमें शुद्धि और पुष्टि-वर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचर को सुख होता है। इसलिए कहा है कि—

---

[1] संस्कारविधि में भी ४ आहुति प्रातः वा सायं की तथा 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' से लेकर 'अग्ने नय' तक ८ आहुतियां मिलकर १२ ही आहुतियां होती हैं। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में १६ आहुतियों का विधान है, परन्तु वहां एक समय में १६ आहुतियां वा दोनों समय की मिलाकर, यह स्पष्ट नहीं है। सत्यार्थप्रकाश में **'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा'** आदि की ४ आहुतियों के साथ सायं वा प्रातः की ४ आहुतियां जोड़ने पर ८+८=१६ आहुतियां दोनों समय की होती हैं।

स्वर्गकामो यजेत[1], सुखकाम इति शेषः ॥

होम—हवन से परमेश्वर की सेवा कैसे होती है ? ऐसा यदि कोई कहे, उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है । परमेश्वर की सेवा [अर्थात्] उसको जो प्रिय है उस का आचरण करने से, उसके न्यायकारी होने के कारण, उसके द्वारा योग्य प्रत्युपकार होता है, ऐसा एक नियम ही है । अब स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष अथवा विद्या और नरक अर्थात् दुःख विशेष अथवा अविद्या है । विद्या स्वर्ग प्राप्ति का तथा बुद्धि-वर्धन का कारण है । बुद्धि-वर्धन को शारारिक दृढ़ता अवश्य चाहिए और शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्धान्न इनके विना शरीर-दृढ़ता कैसे प्राप्त होगी ? होम-हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है । उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति=सुख प्राप्ति होती है ।

कोई ऐसी शंका करे कि वायु-शुद्धचर्थ यदि हवन है तो उसमें वेदमन्त्रों का पठन क्यों करना चाहिये ? और होम करने में अमुक ही रीति की ईंट रखकर अमुक ही प्रकार की वेदी बनावे, ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिये ?

इस शंका का समाधान ऐसा है कि विशेष योजना के अनुसार कोई भी बात किए विना उससे विशेष कार्य नियमित समय पर सम्पन्न नहीं होता । इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल नीचे और सोलह अंगुल ऊंची[2] गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उसमें नियमित प्रमाण का ही साधन[3] लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन

---

[1] यह वचन ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत स्थानों पर मिलता है ।

[2] यहां मराठी सं० में 'चार अंगुले खोल व सोला ऊंच' ऐसा पाठ है । खोल शब्द का अर्थ 'गहरा' होता है । यदि गहरा का अर्थ 'ऊपर से नीचे की गहराई' समझी जाये तो अगले वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं बैठता । अतः हमने ऋ० द० द्वारा उपदिष्ट कुण्ड-निर्माण विधि के अनुसार शब्द रखे हैं । यहां ऊपर की चौड़ाई नहीं कही है । उसे भी सोलह अंगुल समकोण जानना चाहिये ।

[3] मराठी सं० 'मस घेऊन' पाठ है । 'मस' का अर्थ मस्सा होता है ।

करने से, अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है और उष्णता के सम्बन्ध से वायु शुद्ध होकर जल के परमाणु वायु में उड़ जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत् उत्पन्न होती है और मेघ-मण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है। इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गड़गड़ाहट अर्थात् इन्द्र-वज्र-संघात-जन्य शब्द, ऐसा वर्णन किया है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि इन्द्र अर्थात् सूर्य, और सूर्य की उष्णता के योग से विद्युत् और मेघ-गर्जनादि कार्य होते हैं।

कोई कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि को मारता है, सो यह बात झूठ है। बलि राजा पाताल में राज्य करता है और पाताल अर्थात् अमेरिका देश। अब उस अमेरिका में बलि राजा कहां पर है? इसी तरह वेदी की एक आध ईंट टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है, यह कहना भी अप्रशस्त है[1]। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलब-सिन्धु का घोटाला है। वे कहते हैं कि हम जो कहें उसमें शंका मत करो, शंका करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे। इस प्रकार हमें रोकते हैं।

यदि पुराने हिन्दी अनुवाद के 'मसाला लेकर' के अनुसार 'नियतमित प्रामाणाचाच मसाला घेऊन' पाठ मानें तो अर्थ होगा—नियमित प्रमाण की सामग्री लेकर। सामग्री शब्द से यह सन्दिग्ध रहता है कि उससे क्या क्या वस्तु अपेक्षित है। स० प्र० प्रथम सं० (१८७५) समु० ३ में स्रुव और प्रणीतादि पांच पात्रों का तथा समिधा का उल्लेख मिलता है। ये सब नियमित प्रमाण के होते हैं। अतः हमने 'साधन' शब्द रखा है।

१. इसका यह अभिप्राय नहीं कि यज्ञकर्म में जैसा चाहो प्रमाद करो, यज्ञ तो हो ही जायगा। प्रमाद स्वयं दुर्गुण है। उससे सदा बचना ही चाहिए। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में जहां ऐसे प्रकरणों में **'यज्ञमानं हिनस्ति'** पद प्रयुक्त होता है। वहां सर्वत्र प्रमाद-कृत कार्य से 'यजमान के वास्तविक अभिप्राय वा प्रयोजन का नाश होता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिए। यही बात स्वा० दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कही है—**'तेनार्थेन हीनं करोति'** (द्र० पृष्ठ ३५७, रा० ला० कपूर ट्रस्ट संस्करण)।

अब होम समय में वेद [मन्त्रों का] पठन किसलिए है ऐसा पूछा था । इसका उत्तर ऐसा है कि दो काम एक ही समय में हो सकते हों तो उन्हें करना चाहिए,[1] ऐसा उद्देश्य कर प्राचीन आर्य लोगों ने जब हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में व्यस्त किया, तब मुंह खाली न रहे, परमेश्वर का स्तुति-पाठ मुंह से होता रहे, इसलिए पहले के ऋषि लोग वेद-मन्त्र बोलते थे । इसके लिए ब्राह्मण लोगों ने वेद कण्ठस्थ आज तक किया । इसीलिए वेद-विद्या भी आजतक बनी रही है । फिर वेदपाठ करने से परमेश्वर की भक्ति होती थी, उससे विचार-शक्ति उत्पन्न होती थी ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे । ऋ० सं०[2] ।

दूसरा ऐसा विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।[3] इससे मन्त्रोच्चारण कर्म के उद्देश्य से नहीं होता, किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुंह से होती रहे, यही प्रधान उद्देश्य है ।[4] इस प्रकार कर्मकाण्ड बिलकुल निष्फल नहीं है । अस्तु,

कोई ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में बीभत्स (=अश्लील) कथायें क्यों हैं ?

---

[1] 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' यह प्रसिद्ध न्याय है ।

[2] ऋ० ६।४७।११ ॥

[3] हमारी समझ में यहां व्याख्यान को लिखते समय पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार वही मन्त्र विनियोग ठीक माना जाता है जो क्रियमाण कर्म को कहता है—**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति** । ऐ० ब्रा० १।४ ॥.........'**यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति** । गो० ब्रा० २।२।६ ॥ ऋ० दयानन्द का भी यही मत है—'**मन्त्रार्थानुस्मृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्राह्यः** । ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञा विषय, पृष्ठ ३८२ (रालाकट्रसं०) । इस विषय में मीमांसा २।१।३१ भी द्रष्टव्य है ।

[4] इससे आगे ग. घ. ङ. हिन्दी संस्करणों में 'और कोई कोई मन्त्र ऐसे भी है जिनमें होम के लाभ कहे गये हैं । सारांश यह कि वेदमन्त्रों को कहने से वेद की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है ।' इसका मूल मराठी संस्करण में नहीं है । इसे अनुवादक ने सत्यार्थप्रकाश समु० ३ के अग्निहोत्र-प्रकरण के अनुसार बढ़ाया है ।

उत्तर—वेदों में वीभत्स कथायें नहीं हैं। ऐसी कथायें हैं, ऐसा अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते हैं। सो यह दोष वेद पर नहीं लग सकता। यह केवल भाष्यकार की बीभत्स बुद्धि का दोष है। दृष्टान्त—किसी सुवासिनी (=सौभाग्यवती) स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया, विधवा क्या आशीर्वाद देती है कि 'मुझ जैसी तुम भी होवो'। बस, इसी प्रकार स्वार्थी लोगों को जैसी आवश्यकता हुई वैसा वेदों में से अर्थ निकाला। शतपथ ब्राह्मण को देखो—

श्रीर्वै राज्यस्याग्रमित्यादि० । (शतपथ ब्राह्मण)[1]

जब कोई ऐसा कहे कि अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार[2] यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है। उस का[3] ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में जो बीभत्स प्रकार लिखा है, उन्हें हम पढ़ नहीं सकते, उलटी आती है, तथापि ऐसा बीभत्सपना [कभी] प्रचार में न आया हो तो यह कहते नहीं बनता। कारण, पद्धति-निरूपक ग्रन्थों[4] में यह बात स्पष्ट मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व बौद्ध[5] लोगों ने जो ग्रन्थ बनाये उनमें ऐसी बातों को उद्देश्य[6] कर ब्राह्मणों की निन्दा की है।

अब कोई ऐसी शंका करे कि ये बीभत्स कथाएं फिर उनमें हैं क्या? अश्व को फेरते थे और सार्वभौम राजा लोग इससे क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे?

---

[1] शत० ब्रा० १३।२।६।७ में **'श्रीर्वै वृक्षस्याग्रम्'** पाठ मिलता है। यही पाठ पूर्व ५वें व्याख्यान (पृष्ठ ३१५) में उद्धृत कर चुके हैं।

[2] यहां 'शिश्न का सम्बन्ध यजमान की स्त्री के साथ कहा है' पाठ होना चाहिए।

[3] अर्थात् शिश्न का।

[4] सम्भव है 'पद्धति-निरूपक ग्रन्थों' से अभिप्राय श्रौत-सूत्रों से हो।

[5] यहां 'चारवाक लोगों ने' पाठ होना चाहिये।

[6] **अश्वस्यात्र शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।** द्र० सर्वदर्शनसंग्रह, चारवाक दर्शन। विशेष सत्यार्थ प्रकाश समु १२, पृष्ठ ६३४-६३५ (रालाकट्र० सं० २)।

इनमें हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अग्निर्वा अश्वः ।[1] **आज्यं मेधः ।।**[2] शतपथ ब्राह्मण

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना [इतना ही अर्थ है]। उसी तरह ग्रन्थ के साहचर्य[3] की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, शुनःशेप[4] इत्यादि कथाओं का निर्वाह होता है ।

अब केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्ता है । यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला । अग्नि से वह तिनका न जला । फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा । वायु से भी वह तिनका न उड़ा, ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया है ।

यज्ञ में मांस आदि खाना यह गपोड़ अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है ।

कोई-कोई व्यभिचार के विषय में ऐसी ही कोटियां (=सूझें) निकालते हैं ।' कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सरायें नहीं थीं ? हम नकद रुपया दे बाजार में कोई माल मोल लेवें तो इसमें दोष क्या है ? ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं ? कभी नहीं । अस्तु,

'पुरुषमेध' का अब थोड़ा सा विचार करें । यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ।। य० सं०[5]

होम देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का [रखें], यह व्यवस्था मजेदार है वा नहीं ? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर

---

[1] शत० ३।६।२।५ ।।

[2] द्र० तै० ब्रा० ३।६।१२।१—मेधो वा आज्यम् ।

[3] यहां कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है ।

[4] हरिश्चन्द्र शुनःशेप की कथा ऐ० ब्रा० (७।१३,१८) में मिलती है ।

[5] य० ३०।३ ।। याज्ञिकों के मत में यह अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है ।

को बनाई है ऐसा हमें तो निश्चय नहीं होता [अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कह सकते हैं]।

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है और ऐसी निष्कारण हानि का व्यवहार नहीं है। देखो—एक गौ सदृश [परोपकारी] पशु को खाने के लिए वा यज्ञ के लिए मारने से कितनी हानि होती है। एक गाय चार सेर दूध देती है। इस दूध को औटाकर खीर बनाने से पुष्टि कारक अन्न न्यून-से-न्यून चार मनुष्यों के लिए [पर्याप्त] होता है, अर्थात् प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है। अब गाय ने दस महीने दूध दिया तो न्यून-से-न्यून चौबीस सौ (२४००) मनुष्यों का पोषण उस गाय के एक बेत[1] में होगा। इस प्रकार आठ बेत औसत मानने पर (१९२००) उन्नीस हजार दो सौ लोगों का पोषण होगा।[2] वही गाय मारकर खाई जाय तो पच्चीस-तीस[3] मनुष्यों की एक समय की मौज होती है। इस प्रकार युक्ति की रीति से भी मांस-भक्षण ठीक नहीं है। अस्तु,

इन दिनों मांसाहारियों ने राज्य-बल के आधार से इतना जबर हाथ फेरना प्रारम्भ किया है कि चौपाये नहीं से होने लगे हैं [अर्थात् बहुत न्यून होते जाते हैं]। पांच रुपये के बैल के आजकल पच्चीस रुपये लगने लगे हैं और गरीब लोगों को दूध-घृत मिलने में कठिनाई होने लगी है। जिस देश में मांस बिलकुल नहीं खाते, उस देश में दूध घी की समृद्धि है। अस्तु,

अब लों तो होम में पशु-वध न करने के विषय में युक्तियों तथा शास्त्र का विचार किया। अब 'कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं?' इस शंका पर विचार करें।

होम दो प्रकार के हैं—एक राज-धर्म सम्बन्धी और दूसरा सामाजिक। इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया। अब राज-धर्म सम्बन्धी जो होम है उसकी सब व्यवस्था भिन्न है।

---

[1] एक बार व्याने पर।

[2] इस विषय को विस्तार से जानने के लिए स्वा० दयानन्द सरस्वती का 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ देखना चाहिये।

[3] गोकरुणानिधि मे ८० संख्या है।

उसमें पशु मारने की क्या बात है; परन्तु मनुष्यों को भी मारना पड़ता है । युद्ध-प्रसंग में हजारों मनुष्यों का प्राण लेना, यह राज-धर्म विहित है[1] । मृगादि सदृश जानवर जो खेती को नष्ट करते हैं उनके प्राण लेना यह ठीक है, [हिंसक] जंगली पशु को मारना यह आवश्यक है । परन्तु सब होमों में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है । किसी प्राणी को पीड़ा देना, यह धर्म-विहित कैसे होगा ? उन को मुंह बांधकर घूंसे मार कर उनका जीव लेना, यह ईश्वर-प्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा ।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ? ऐसी कोई शंका करें [तो जानना चाहिए कि] यज्ञविषयक कर्म-काण्ड में जिनकी प्रवृत्ति है, उन्हीं को केवल अधिकार है । कर्म से विचार-शक्ति थोड़ी-थोड़ी जाग्रत होती है । उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है । फिर ज्ञान में विचार-दृढ़ता और पक्वता आती है और वह ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है ।

अब हम होम के विषय में फुटकर शंकाओं का विचार करते हैं—

राज-नियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है, तो फिर होम किस लिए करें ? ऐसा कोई कहते हैं । उस का उत्तर—अपने घरों को स्वयं स्वच्छ बनाये विना ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा ? और ग्राम के बाहर की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी ?

दूसरी ऐसी शंका है कि आगगाड़ी (=रेल के इञ्जन) में और रसोई के घर में धुआं बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि बहुत होनी चाहिए [तो फिर] होम किस वास्ते करना चाहिए ?

इस पर हमारा ऐसा कहना है कि यह धूम्र दुर्गन्धित और दूषित रहता है, इससे वायु शुद्ध नहीं होती । आजकल होम की कमी होने से वारंवार वायु बिगड़ रही है, वारंवार विलक्षण विलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं ।

अब तक यज्ञ का विचार हुआ, अब थोड़ा सा संस्कारों का विचार करें ।

---

[1] इसके आगे ग. घ. ङ. हिन्दी संस्करणों में जो पाठ है, वह अनुवादक द्वारा मनमाना बदला हुआ है । हमारा पाठ मराठी संस्करण के अनुसार है ।

दूसरा भाग—संस्कार

संस्कार[1] का अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का विचार प्रथम करना चाहिए।

किसी भी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना, इसका नाम संस्कार है। इस प्रकार की स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे, इसके लिये आर्य लोगों ने सोलह संस्कारों[2] की योजना की है, परन्तु उन संस्कारों के सम्बन्ध से निकम्मे पुरोहित माल उड़ावें, ऐसी प्राचीन आचार्यों की इच्छा न थी। कारण वे आचार्य आर्य महाजन (= श्रेष्ठ जन) थे, तो फिर वे अनार्य अर्थात् अनाड़ियों की समझ में क्योंकर मदद देते।

१. **निषेक**[2]—अर्थात् ऋतु-प्रदान। यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ मनुः[3]

ऐसा मनु में वाक्य है। पिता ही सब उपदेश और संस्कार कराये। पुत्रेष्टि का वर्णन छान्दोग्य[4] उपनिषद् में किया है। उस स्थल पर गर्भ-धारण करने वाली स्त्रियों को क्या-क्या पदार्थ खाने चाहिएं जिससे पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है, यह मुख्यकर विचार किया है।[5] प्राचीनकाल के आर्य लोग अमोघवीर्य थे और स्त्रियों की भी पूर्ण वय होने के कारण वीर्याकर्षता उनमें रहती थी। पुत्रेष्टि यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२. **पुंसवन**—इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः शरीर में किस प्रकार जमावें[6] इस योजना के सम्बन्ध से है। वीर्य में सदा

---

[1] इन संस्कारों के लिए स्वा० दयानन्द सरस्वती का 'संस्कारविधि' ग्रन्थ देखना चाहिए। वहां प्रत्येक संस्कार की पूर्ण विधि और प्रमाणादि दिए हैं।

[2] अर्थात् गर्भाधान।

[3] मनु० २।१४२ ॥

[4] यहां 'बृहदारण्यक' नाम होना चाहिए। बृह० उप० अ० ६, ब्रा० ३-४ में गर्भाधान का विस्तार से वर्णन मिलता है।

[5] द्र० बृह० उप० ६।४।१३-१८ ॥

[6] अर्थात् जमा करें। यह इस संस्कार के विषय में ऋ० द० की अपनी

स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य ये गुण रहने चाहिए, अन्यथा विकृत वीर्य से संतति में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। एतदर्थ सूत्रकारों ने औषधियां बतलाई हैं। वीर्य-वृद्धचर्थ और [दोष] शान्त्यर्थ वर्ष भर पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए, ऐसा भी निर्बन्ध कहा है।

३. **सीमन्तोन्नयन**—स्त्रियों का अकाल में गर्भपात होने का बड़ा भय रहता है, सो वह न हो और निरोगी और पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन में उत्साह रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे। एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४. **जातकर्म**—इस संस्कार के विषय में विशेष होम कहा है। कारण, सूतिका-गृह (=जच्चा के घर) का अमंगलपना दूर करने के लिए सुगन्धिवर्धक होम करना योग्य है। बच्चे की नाभि काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे, ऐसा इस संस्कार का उद्देश्य है।

५. **नामकरण**—नाम रखने में भी कोई भूल न करे, इतनी प्राचीन आर्य लोगों की बारीक दृष्टि थी। नाम का सुख से उच्चारण हो, उसमें मधुरता रहे। इसलिए दो अक्षर वाला या चार अक्षर वाला नाम होवे, ऐसा कहा है। व्यर्थ लम्बा-चौड़ा नाम न होवे। नहीं तो कभी-कभी इन दिनों लोग मथुरादास, गोपवृन्द सेवकदास ऐसे लम्बे-चौड़े नाम रखकर गड़बड़ मचाते है।[1] इन दिनों सब प्रकार की मूर्खता फैल रही है, फिर नाम रखने में ऐसा दोष हो तो आश्चर्य क्या है? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं। स्त्रियों के नामों में भी मधुरता होनी चाहिए और वे दो अक्षरवाले या चार अक्षरवाले होवें—जैसे भामा, गंगा[2], अनसूया, सीता, लोपामुद्रा, ऐसे-ऐसे प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

दृष्टि है। संस्कारविधि आदि में पुंसवन संस्कार का यही प्रयोजन ऋ० द० ने लिखा है। अन्य आचार्य पुंसवन का प्रयोजन पुमान् पुत्र की उत्पत्ति मानते हैं। ऋ० द० वैदिक मर्यादा के अनुसार पुत्र और पुत्री में भेद नहीं मानते है (द्र० निरुक्त ३।४ में उद्धृत श्लोक)।

[1] इसके आगे हिन्दी संस्करणों में नाम विषय एक पंक्ति अनुवादक द्वारा प्रवर्धित है।

[2] हिन्दी संस्करणों में 'गङ्गा' नाम नहीं है और लोपामुद्रा के आगे

६. **निष्क्रमण**—कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए ले जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है ।

७. **अन्नप्राशन**—योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करें तो बड़ा दुःख होता है । इसलिए इस संस्कार की योजना है ।

८. **चूड़ाकर्म**—मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण जो मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिए इस संस्कार की योजना की है ।

९. **व्रतबन्ध**—पुरुषों को विद्यारम्भ के समय उत्साह होवे इस उद्देश्य से व्रतबन्ध—विषय में विशेष नियम ठहराये हैं। स्त्रियों को भी विद्या-सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पहले करते थे । विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास (=रुई) का यज्ञोपवीत विशेष चिह्न धारण करने को देते थे ।[५] इसके धारण करने में बड़ी ही जबाबदारी रहती थी । क्षत्रिय वा वैश्यादिकों के बालकों को कार्पास का तो नहीं; किन्तु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिए देते थे[१] । यदि ठीक विद्या-सम्पादन न हुई तो ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न[हुए को]अब्राह्मण्य का प्रसंग आने पर उसका यज्ञोपवीत उस मूर्ख से छीन लिया जाता था । उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्यासम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे । इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रखी थी । इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्या-सम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता था । विद्या के अधिकारानुसार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे ।

यशोदा सुखदा नाम बढ़ाए हैं । यहां 'ऐसे-ऐसे प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे' की दृष्टि से मराठी सं० में 'गङ्गा' का निर्देश किया है । 'गङ्गा' भीष्म की माता का नाम था ।

[१] मनुस्मृति १।४४ में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के पुत्र को क्रमशः कपास, सन तथा ऊन के यज्ञोपवीत का विधान है ।

तदनन्तर दसवां **वेदारम्भ** और ग्यारहवां **वेदाध्ययन-समाप्ति** अर्थात् **समावर्त्तन** अथवा **सोडमुंज**[1] ऐसे दो संस्कार हैं।

१२. **विवाह** –इस संस्कार का आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे, उस समय विचार करगे[2]। इन दिनों मुहूर्त्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रखा है यह जबरदस्ती है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्त्ता हो, इसलिए काल के नियम में ध्यान अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ में व्यर्थ लटपट (=धांधली) करते रहना यह अनुचित है। इसी प्रकार पहले आर्य स्वयंवर करते थे। एक नाड़ी(=घड़ी) आई[3], और मनुष्य अड़ंगा लगाने लगे।[4] इस प्रकार का ढकोसला उन दिनों में नहीं था।

१३. **गार्हपत्य**[5]—गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते हैं इसका विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।[6]

१४. **वानप्रस्थ**—पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करने वाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे, ऐसी योजना थी। वान-

---

[1] यह मराठी का शब्द है। इस का अर्थ है—अध्ययन समाप्ति का संस्कार अथवा गृहस्थ बनने की अनुज्ञा का धार्मिक संस्कार।

[2] द्रष्टव्य १२ वां प्रवचन।

[3] इस का भाव यह है कि विवाह के मुहूर्त से कुछ देर हुई की लोग अड़ंगा लगाने लगते हैं।

[4] हिन्दी संस्करणों का पाठ अस्पष्ट और कल्पित है।

[5] यह स्वतन्त्र संस्कार नहीं है। यहां चूड़ाकर्म के पश्चात् कर्णवेध संस्कार छूट गया है। संस्कारविधि में 'कर्णवेध' का निर्देश किया है। इस प्रकार १६ संख्या वहां बताई है। विवाह के पश्चात् गृहस्थकर्म के प्रकरण को वहां भी संस्कार संज्ञा दी है, पर उसे संस्कार मानने पर १७ संख्या हो जाती है।

[6] द्रष्टव्य १३ वां प्रवचन—'नित्यकर्म और मुक्ति'। हिन्दी संस्करणों में यह १४ वें प्रवचन के रूप में छपा है। हमने इस संस्करण में मराठी-संस्करण (१८७५) के अनुसार क्रम रखा है।

प्रस्थ आश्रम में धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होता था, और विचार के लिए समय मिले और गुण दोष का निर्णय करने में आवे, इसलिए उचित समय पर वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५. **संन्यास**—धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह आश्रम है।

१६. **अन्त्येष्टि**—आश्वलायन सूत्र में इस संस्कार का वर्णन किया है। आजकल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कुछ लोग मृतक देह को जलाते हैं, कुछ लोग जंगल में ले जाकर डाल आते हैं और कुछ लोग जल-समाधि देते हैं।

प्राचीन आर्य लोगों में अन्त्येष्टि यह यज्ञ है। उसमें दहन-प्रकार मुख्य है। अब मुर्दे को गाड़ने वाले ऐसी शंका करें कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है, परन्तु मुसलमान आदिकों को विचार करना चाहिए कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई ऐसी शंका करेगा कि जल में देह डालने से मच्छियां उसे खाती हैं, क्या यह परोपकार नहीं है; परन्तु जल बिगड़ता है इसका भी तो विचार करना चाहिए। गंगा सदृश महान् नदियों के तल में प्रेतों [की अस्थि-भस्म आदि] को डालने से जल में विकार होता है, फिर छोटी-मोटी नदियों की तो कथा ही क्या है। अब गंगा में हड्डियां ले जाकर [बहुत से लोग] डालते हैं, यह कितना भारी अज्ञान है? मरे हुए प्राणी का देह मृत्तिका है। उसे गङ्गा में डालने से क्या लाभ होगा? वन में ले जाकर फेंकने से दुर्गन्धि उत्पन्न होकर रोग उत्पन्न होता है, इसे कहने की [कोई] आवश्यकता नहीं है।

इससे प्राचीन आर्य लोगों ने दहन-विधि ही को मुख्य माना था, यह ठीक ही है। वे श्मशानभूमि में एक वेदी बनाते थे और उसे पक्की ईंटों से बांधते थे और फिर उसमें मृत देह को जलाते समय बीस सेर घृत डालकर चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ भी डालते थे। शुक्ल यजुर्वेद के ३९ वें अध्याय में इसका वर्णन किया है।[1]

---

[1] अर्थात् इस अध्याय का अन्त्येष्टि में विनियोग है। श्रौत-कर्म में यह अध्याय प्रवर्ग्य के 'महावीर' पात्र के निर्माण में विनियुक्त है। एक ही प्रकरण विभिन्न क्रियाओं में विनियुक्त होता है, यह श्रौत-सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट

आजकल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता, नाम-मात्र होता है। केवल कट्टहाओं[1] को धन मिलता है, सो यह जबरदस्ती है।[2]

—:०:—

है। अनेक आधुनिक विद्वान् जो ब्रह्मपारायणादि अवैदिक यज्ञ कराते हैं वे यजुर्वेद-पारायण यज्ञ में प्रायः इस अध्याय को छोड़ देते हैं। वे समझते हैं कि ये अन्त्येष्टि-प्रकरण के मन्त्र हैं, इनके पाठ से यजमान का अनिष्ट होगा, परन्तु ये अल्पज्ञ यह नहीं जानते कि श्रौत-कर्म में यह अध्याय अन्त्येष्टि में विनियुक्त ही नहीं है। इस प्रकरण में एक और भी विचारणीय बात है कि वेदों में सभी कर्मों का वा विषयों का उल्लेख है। तब वे अन्त्येष्टि से अतिरिक्त अन्य अप्रासंगिक प्रकरणों का पाठ क्यों करते हैं? अतः इस प्रकार के विचार अज्ञानमूलक हैं।

[1] अर्थात् महाब्राह्मणों को।

[2] इसके आगे हिन्दी संस्करणों में 'सब को उचित है कि फिर संस्कारों के विषय का सुधार करें जिससे कल्याण हो। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।' पाठ मिलता है। इसका मूल मराठी संस्करण (१८७५) में नहीं है। उसके पाठ की समाप्ति 'ही जबरदस्ती आहे' पर हो जाती है।

आठवां-प्रवचन

इतिहास-विषय

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़ें के बाड़े में ता० २४ जुलाई[1] के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर जो व्याख्यान दिया उसका सारांश—

ओम्, यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः ॥

य० सं० अध्याय ३६, मन्त्र २२

'इतिहास' यह आज के व्याख्यान का विषय है ।

क्रम से यह व्याख्यान होना चाहिए। इतिहास अर्थात् **"इतिहासो नाम वृत्तम्"** इतिवृत्त अर्थात् अतीतवर्णन। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आजकाल तक आ पहुंचता है। जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो एक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है। जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया[2] ?

---

[1] श्रावण कृष्णा ६ सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में—आषाढ़ कृष्णा ६)

[2] इन दो प्रश्नों के सम्बन्ध में आगे जो कुछ कहा है, उसी से मिलता जुलता विचार सत्यार्थप्रकाश (सन् १८७५) प्रथम सं० पृष्ठ २५३-२५७ में क्रम भेद से मिलता है।

विशेष—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सं० और पूना प्रवचन का काल लगभग एक ही है। इस समय तक ऋषि दयानन्द के कुछ विचार स्पष्ट नहीं हो पाये थे। वे नवीन वेदान्तियों के सदृश अकेले ब्रह्म तत्त्व को तो नहीं मानते थे। आत्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट हो चुका था, परन्तु प्रकृति के सम्बन्ध में विचार अस्पष्ट थे। इसी अस्पष्टता की झलक दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रणयन काल तक प्रकृति विषयक विचार कुछ स्पष्ट हो गये थे, तथापि उसमें भी दो चार स्थानों पर ऐसे वाक्य मिल जाते है, जो अस्पष्ट हैं।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।।
ऋ० सं०[1]

मूल में प्रकृति नहीं थी और न कार्य ही था। उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति, इसका वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है। उस शास्त्र में सत्त्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है, ऐसा माना है। सांख्यसूत्र देखो—

[2]**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।**[3]

प्रकृति से आगे उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में सांख्यशास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है—

प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।[4]

मूल में प्रकृति नहीं थी, तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ, इस विषय में संशय होवे तो [उसके लिए] एक दृष्टान्त है—

भूमि पर ओस पड़कर घास पर [और] वृक्ष पर उसके बिन्दु बन जाते हैं, तो इस ओस से पृथ्वी का आवरण नहीं होता[5]। इसी तरह पहले किसी प्रकार का भी आवरण नहीं था।

ईश्वर की इच्छा होने पर उसने सृष्टि उत्पन्न की, ऐसा कोई-कोई कहते हैं और उसमें निम्न वचन का प्रमाण देते हैं—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । छान्दोग्योपनिषदि ।[6]

---

[1] ऋ० १०।१२६।१ ।।

[2] मराठी सं० (१८७५) में यह सूत्रांश अगले सूत्रांश के साथ ही मिला हुआ छपा है, और 'प्रकृति से·········अनुसार है' का मराठी पाठ 'प्रकृति पासून·········लिहिल्या प्रमाणे आहे' इस सूत्रांश से पूर्व छपा है। परन्तु पाठक्रम को ध्यान में रखकर हमने आगे पीछे छापा है।

[3] सांख्य १।६१ ।। [4] सांख्य १।६१ ।।

[5] इस का निर्देश पूर्व उद्धृत मन्त्र के किमावरीवः कुह कस्य' पदों में निहित है।

[6] छा० उप० ६।२।३ ।। हिन्दी संस्करणों में 'तै० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६' पता दिया है, वह अशुद्ध है। वहां **'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति'** पाठ है।

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता। कारण, 'ईक्ष' शब्द का उपयोग किया है। इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन ऐसा है[1], परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है। ईश्वर की इच्छा हुई, यह बात सम्भव नहीं होती। इच्छा होने के लिए किसी भी वस्तु की अप्राप्ति होनी चाहिए, सो ईश्वर को सृष्टि में कौन-सी वस्तु अप्राप्त है? फिर देश, काल, वस्तु परिच्छेद ये इच्छा करने वाले को होते हैं। यह बात भी ईश्वर में होनी सम्भव नहीं। इसलिए ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहना अयोग्य है।

मूल प्रकृति हुई और प्रकृति से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥[2]
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥[3]

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

तै॰ आरण्यके।[4]

आकाश यह विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है और उससे भी विभु और अति सूक्ष्म परमात्मा है। आकाश को ईश्वर ने उत्पन्न किया।[5]

---

[1] धातुपाठों में 'ईक्ष-दर्शने' इतना ही पाठ मिलता है। दर्शन का अर्थ चाक्षुष ज्ञान और पर्यालोचन=विचार है।

[2] मराठी सं॰ में प्रतिमन्त्र मन्त्र-संख्या का निर्देश नहीं है। तीनों मन्त्रों के अन्त में १ संख्या का निर्देश है।

[3] ऋ॰ १०।१९०। १-३ ॥

[4] तै॰ आरण्यक ८।२ में 'अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः' पाठ भी मिलता है। द्र॰ आनन्दाश्रम पूना का छपा संस्कृ॰ पृ॰ ५६३ पर टि॰ ४।

[5] द्र॰ 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' पूर्व वचन।

आकाशस्तल्लिङ्गात् । व्याससूत्रम् ।[१]

ओं खं ब्रह्म । य० सं० ।[२]

आकाश और परमात्मा इन का आधाराधेय सम्बन्ध है। अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति उसी को आकाश कहना चाहिए।

अब कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन था ?

इस शङ्का का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। जिस प्रकार की इच्छा[६] जगत् में दिखाई देती है, उस प्रकार की इच्छा[३] ईश्वर में सम्भव नहीं होती, इसलिए—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥[४]

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता। क्षुधानिवृत्ति के लिए पाक-सिद्धि करनी पड़ती है। इसमें क्षुधा-निवृत्ति यह प्रयोजन है। अब ईश्वर से बड़ा पदाथ कोई नहीं है [और] वास्तव में ईश्वर को प्रवृत्त करने वाला ऐसा पदार्थ है ही नहीं। इसलिए ईश्वर के काम में उपर्युक्त अर्थ वाला प्रयोजन सम्भव नहीं होता। दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शंका करे, उस शंका करने वाले से हम यह पूछते हैं कि भाई ! सृष्टि न उत्पन्न करने में [ईश्वर का] क्या प्रयोजन है ? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन कहते नहीं बनता, तो हम से भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन कहते नहीं बनता, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई। परन्तु ऐसा नहीं है। सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा है कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे, ईश्वर की शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् यदि उसने जगत् उत्पन्न न किया तो फिर ईश्वर में उस शक्ति के रहने का क्या उपयोग ? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्त्व निष्फल होगा। सर्वशक्ति इस शब्द में रचना, धारण, दया इत्यादि गुणों का

---

[१] वेदान्त १।१।२२।। [२] यजु० ४०।१७।।

[३] मराठी सं० तथा ग०घ० दो हिन्दी सं० में 'ईर्षा' पद मिलता है। वह चिन्त्य है। प्रकरणानुसार 'इच्छा' शब्द होना चाहिये (द्र० पृष्ठ ३५७, पं० ३-७)। [४] न्याय १।१।२४।।

समावेश होता है, इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति-विषय में शक्ति-साफल्य होना, यही प्रयोजन है।

कोई कहते हैं कि ईश्वर ने लीला से यह जगत् उत्पन्न किया। उसमें जगदुत्पत्ति का लीला यह प्रयोजन है। परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है। ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव करनेहारा होगा, तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख भी सम्भव होगा। इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति का कारण ईश्वरलीला है ऐसा जो लोग कहते हैं, उन का कहना त्याज्य है।

कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष पैदा हुआ ?

यदि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ ऐसा कहें तो वृक्ष के विना बीज कहां से आया ? ऐसी उलझन आती है। यदि प्रथम वृक्ष उत्पन्न हुआ [ऐसा कहें] तो बीज के विना वृक्ष कैसे उत्पन्न हुआ ? इस ओर भी यह उलझन आती है। इस प्रकार **"उभयतः पाशा रज्जुः"** प्रसंग प्राप्त हुआ। यह प्रसंग न आवे, इसलिए हम प्रथम बीज ही आया कहते हैं। कारण, सब जगत् का बीज ईश्वर है। वहां से सब उत्पन्न हुए। अस्तु, पतिव्रता का एक मनोरञ्जक दृष्टान्त है—अपने उपास्य देवता के पास किसी एक पतिव्रता ने 'मेरा जो पति अभी है, वही अगले जन्म में फिर मेरा पति होवे' ऐसा वरदान मांगा। तब उस देवता ने उसको वैसा ही वर दिया। फिर वह पति मुक्त हो गया अर्थात् जन्म-मरण से छूट गया। ऐसे प्रसंग में देवता के वरदान की सफलता कैसे होगी ? इस प्रकार की कोई शङ्का करके नाना प्रकार के तर्क करते हैं। उनके प्रति इतना ही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा पति उसके सत्संग से उसकी पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी। फिर देवता के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा। सारांश—ऐसे उलटे-सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्त रीति से विचार करना, यह हमारा धर्म है। अस्तु,

अव्यक्त प्रकृति[1] अर्थात् आकाश। उस से वायु उत्पन्न हुआ, वायु

---

[1] मराठी सं० में 'शून्य' शब्द है। इस का अर्थ है आकाश। अव्यक्त प्रकृति को पूर्व पृष्ठ ३५८, पं० ३-४ में आकाश कहा है।

से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई । [1]साठ परमाणु का एक अणु होता है, दो अणु का एक द्वयणुक होता है। तीन द्वयणुक का एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है—

जालान्तर्गते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ।। मनुः[2]

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई । आगे प्रलय काल में त्रसरेणु का द्वयणुक होता है द्वयणुक के अणु होते हैं और अणु के परमाणु होते हैं । यह प्रलय-व्यवस्था है ।

अब ईश्वर सामर्थ्य यह उत्पत्ति की सामग्री है । और ईश्वर-सामर्थ्य यह जगत् का उपादान कारण है । यह [सामर्थ्य] ईश्वर के समान सनातन [और] सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व से है । यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और यह ईश्वर में [जब] लय होवे प्रलय होता है । अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ ।[3] वायु तक भी प्रलय नहीं हुआ । जल प्रलय हुए हैं । अग्नि तक प्रलय हुआ है ।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत्, तदपोऽसृजत्[4]**, तदन्नमसृजत् ।।**[5]
(छान्दोग्योपनिषद्)[6]

तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत् ।। (ऐ०)[7]

---

[1] यहां से आगे की पंक्तियों का पाठ सभी हिन्दी संस्करणों में अत्यन्त भ्रष्ट है । हमारा पाठ मराठी सं० के अनुसार है, और ऐसा ही निर्देश सत्यार्थ-प्रकाश (१८७५) प्रथम सं० पृष्ठ २५३-२५४ तथा २६१ में मिलता है ।

[2] मनु० ८।१३३।।

[3] इस की तुलना सत्यार्थ प्रकाश (१८७५) प्रथम सं० पृष्ठ २६५ के अन्त्य की तथा पृष्ठ २६६ की आदि की पंक्तियों के साथ करनी चाहिये ।

[4] परोपकारिणी सभा मुद्रित मराठी सं० में 'तदपो ऽसृजत्' पाठ नहीं है । सन् १८७५ के मराठी सं० में विद्यमान है ।

[5] छां० उपनिषद् में **'सा अपोऽसृजत्'** पाठ है ।

[6] छां० उप० ३।२।३-४ के पाठ में से विवक्षित अंश यहां उद्धृत किया है ।

[7] अनुपलब्ध मूल । ऐ० उप० के आरम्भ में ऐसा भाव मिलता है ।

पञ्च महाभूत अनन्त परमाणुओं का संचय होकर उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उद्भिज-सृष्टि और जीव-सृष्टि, जिन के असंख्य बीज हैं। वह भी ईश्वर शक्ति ही है। उसी तरह एक-जातीय [और] विजातीय परमाणु है। एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है। औषधि[1] से अन्न होता है, अन्न से रेत[2] उत्पन्न होता है और रेत से शरीर उत्पन्न होता है। अब कोई ऐसी शङ्का करे कि रेत किसलिए चाहिए। सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसा कहा जाय, तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह कि जीव-सृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है। उसमें केवल अन्न-ग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेत-सिंचन की आवश्यकता होती है।

तपसोऽध्यजायत ।[3]

धाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥[4]

'यथापूर्व' कहने से इस [सृष्टि] से कल्प-कल्पान्तर [की सृष्टि] में सृष्टि भेद है, ऐसा कहना अयोग्य है और 'यथापूर्व' शब्द से जैसा उसके ज्ञान में था, उसी के अनुसार उसने यह विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥[5]

अर्थात् उसके अनेक सामर्थ्य के योग से सृष्टि उत्पन्न हुई।

ततो रात्र्यजायत ।[6]

इन सब बातों का विचार **सत्यार्थप्रकाश**[7] और **पञ्चमहा-**

---

[1] **ओषध्यः फलपाकान्ताः** (मनु १।४६) लक्षण के अनुसार गेहूँ जौ धान मूंग चना आदि अन्नों के पौधे भी फल पकने के पश्चात् सूख जाते हैं। अतः ये ओषधियां कहलाती हैं।

[2] अर्थात् वीर्य।

[3] ऋ० १०।१९०।१ ॥

[4] ऋ० १०।१९०।३ ॥

[5] मुण्डक उप० २।१।१७ ॥

[6] ऋ० १०।१९०।१ ॥

[7] यहां सत्यार्थप्रकाश से सन् १८७५ वाले संस्करण की ओर संकेत है,

यज्ञ[1] नामक जो पुस्तकें रची हैं, उनमें विचार किया है ।

ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया, ऐसा कहें तो नवीन जगत् उत्पन्न करते हुए क्या उसने पुरानी भूलों को सुधारा ? अथवा [जिसकी उसे पूर्व] जानकारी न थीं, ऐसी बातों को उसमें डाला है ? इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान[2] उत्पन्न होता है और अनवस्था प्रसंग आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा आती है और पूर्वानवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आता है ।

सब के अनन्तर यह मनुष्य प्राणी उत्पन्न किया गया । वे मनुष्य अनेक थे । अन्य मतों में दो ही [मनुष्य उत्पन्न किये] थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है । इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास हो चुका ।

अब मनुष्य सृष्टि होने पर मनुष्य-जाति का इतिहास प्रारम्भ करना चाहिए ।

अनेक देशों के अनेक लोगों में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थकार हो चुके हैं । उन सब ग्रन्थकारों का 'वे सब प्राचीन काल में हुए,' इसलिये अपने मत को मान्य करने के लिये कहना, कितनी जबरदस्ती है । हमें सत्यासत्य-निर्णय करना आता है ।

किन्ही ठग लोगों की पुस्तकों में 'मनुष्यों को मार कर चोरी करना चाहिए' ऐसा कहा है और वह ग्रन्थ प्राचीन है इसलिए उस ग्रन्थ की बातें हम सभी मानते हैं क्या ? पुस्तकों की आड़ लेकर दाम्भिक मत का माहात्म्य बढ़ाने वाले इस उद्योग को फिर क्या कहना चाहिए ?

न कि १८८३ वाले पुनः शोधित संस्करण की ओर । क्योंकि ये व्याख्यान सन् १८७५ में दिए गए थे । वैसे दोनों संस्करणों में आठवें समुल्लास में यह प्रकरण है ।

[1] यह संकेत भी सन् १८७५ (वि० सं० १६३२) में प्रकाशित **'सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञ'** की ओर है, न कि सन् १८७७ (वि० सं० १६३४) में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' की ओर । यह विषय दोनों संस्करणों में अघमर्षण मन्त्र के व्याख्यान में विद्यमान है ।

[2] अर्थात् अस्थिरता ।

अब **"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे"**[1] इस न्याय के अनुसार अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपने ही देश के इतिहास का विचार कहना योग्य है।

प्रथम मनुष्य-जाति **काश्मीर वा नेपाल वा**[2] **हिमालय के उच्च प्रान्त**[3] में उत्पन्न हुई—ऐसा मानने से प्राचीन आर्य-ग्रन्थों की परदेशस्थ लोगों के ग्रन्थों के मतों के साथ एक वाक्यता होती है और प्राचीन आर्य लोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥[4]

इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां[5] हैं, इस व्यवस्था को देखो।

अब भिन्न-भिन्न भाषायें कैसे उत्पन्न हुई, इसका विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यहूदी लोगों में ऐसी कहानी है कि

---

[1] पारिभाषिक ४३।

[2] 'काश्मीर वा नेपाल वा' ये पद ग. घ. ङ. हिन्दी संस्करणों में नहीं हैं। मराठी सं० में विद्यमान हैं।

[3] हिमालय के इस उच्च प्रान्त का नाम त्रिविष्टप (तिब्बत) है। सं० संशोधित सं० (सन् १८८३) में यहीं सृष्टि होने का उल्लेख किया है। द्र० रालाकट्र० आसशसं० २, पृष्ठ ३५०)। यहीं वेद का प्रादुर्भाव हुआ। इसका द्योतक गायत्री-मन्त्र-विषयक एक वचन है—**उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्धनि**। नारायणोप० ३६, महानारायणोप० ११।६॥

[4] मनु० १।२१॥

[5] वार और राशियों का ज्ञान आर्यों ने यूनानियों से सीखा ऐसा पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। वार का निर्देश सामवेद उ० प्र० ७ (१), त्रिक ३ (२) में मिलता है। सौर मास और चान्द्र मास को बराबर करने के लिए जो अधिक मास होता है उसका निर्देश ऋ० १।२५।८ में मिलता है। सौर मास का सम्बन्ध संक्रान्ति के साथ है, संक्रान्ति का राशियों के साथ। इस प्रकार वार और राशि दोनों का मूल वेद में विद्यमान है।

उनके पूर्वज स्वर्ग इतना ऊंचा एक बुर्ज बना रहे थे। इससे ईश्वर संतप्त हुआ और उसने उनकी बोली में गड़बड़ मचा दी।[1] बस इसी से जगत् में अनेक भाषायें उत्पन्न हुईं, सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है।

देश, काल, भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूलभाषा से व्यवहार में भेद बढ़कर भिन्न-भिन्न भाषायें उत्पन्न हुईं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो [वै] वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०।[2]

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा यह आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु है। उसका पुत्र विराट् और उससे परम्परा से स्वायम्भुव मनु पर्यन्त वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ, यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है।

मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होने पर कुछ काल पश्चात्[3] आर्य और दस्यु ये दो भेद हुए।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०। (ऋग्वेद संहिता)[4]

आदिसृष्टि[5] में दो ही जातियां थीं। अर्थात् ऊपर कहे हुए आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् सुज्ञ, विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट। उसके पश्चात् शनैः शनैः चार वर्णों की उत्पत्ति हुई।[6] ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्यापनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषि कर्म व्यापारादि, शूद्रों का सेवादि, उसी तरह राजधर्म युद्धधर्म ये क्षत्रियों के हैं। इस प्रकार चार वर्ण हुए। इसके आगे चार

---

[1] बाइबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० ११। [2] श्वेता० उप० ६।१८॥

[3] हिन्दी संस्करणों में 'होने पर एक मनुष्य जाति ही थी, पश्चात्' ऐसा पाठ है। हमारा पाठ मराठी सं० के अनुसार है।

[4] ऋ० १।५१।८॥ [5] यहां आदि सृष्टि का अर्थ है सृष्टि के प्रारम्भ में। द्र० इसी पृष्ठ की पं० १२-१५। पूर्व पृष्ठ ३२८, पं० २४ में उक्त आदि-सृष्टि अभिप्रेत नहीं है।

[6] 'आदि……हुई' यह पाठ मराठी सं० अनुसार है। हिन्दी संस्करणों का यहां पाठ भ्रष्ट है।

आश्रम हुए। इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसंग में हो चुका है।[1]

अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है[2] इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वाले को फंसाते हैं, उसी प्रकार मनु के धर्म शास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं वे मूल मनु के नहीं है! 'यह कैसे' ऐसा कोई कहे तो इसका प्रमाण इस प्रकार है कि एकन्दर[3] इन श्लोकों को मनुस्मृति की पद्धति से मिलाकर देखने से वे श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं। मनु सदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रन्थ में अपने स्वार्थसाधन को सिद्ध करने के लिए चाहे जैसे वचनों को डालना यह नीचता प्रदर्शित करना है। अनुभूति स्वामी[4] नाम का कोई महान् पण्डित था। उसके मुंह में से 'पुंसु' इस प्रयोग के बदले 'पुंक्षु' ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकाला। उसी की उपपत्ति करके वह शुद्ध शब्द है ऐसा पण्डित लोग दिखाते हैं। मूढ़ लोगों की रीति कुछ-कुछ कौवों के सदृश है। कौवे को किसी जानवर से व्रण झट दिखाई देते हैं; परन्तु उन्हीं जानवरों के अच्छे शुद्ध (=व्रणरहित सुन्दर) भाग नहीं दीखते। अशुद्धियां झट दिखाई देती हैं। हमारे बन्धु पण्डित लोगों का स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेणारम्भं कुर्याच्छेषं[5] कोपेन पूरयेत्।

किसी ने "शास्त्र" शब्द का उपयोग किया तो प्रथम ही पूछने लग जाते हैं कि "शास्त्रस्य कोऽर्थः" ऐसे प्रश्न पूछकर वितण्डावाद करने की बड़ी हवस होती है, अब वितण्डा से कोई वितण्डावादी इस प्रकार का सहज ही प्रश्न करेगा कि "शकारस्य कोऽर्थः" "शाकार-

---

[1] पूर्व पृष्ठ २८९-२९० द्रष्टव्य।

[2] अर्थात् वर्तमान काल में मानव धर्मशास्त्र की क्या स्थिति है?

[3] यह मराठी का शब्द है इसका अर्थ है 'एक साथ सब मिला कर'।

[4] शुद्ध नाम 'अनुभूतिस्वरूप' है। इसके विषय में विशेष हमारे 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ भाग १ में सारस्वत व्याकरण के प्रसङ्ग में देखना चाहिए।

[5] मराठी सं० में 'अग्रहेणारम्भः कार्यात शेषं' ऐसा अशुद्ध पाठ हैं।

स्य कोऽर्थः"[१] "स्त्रकारस्य कोऽर्थः" "अनुस्वारस्य कोऽर्थ" इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा। वितण्डावाद छोड़ करके शान्त वृत्ति धारण कर वाद करें, यह हमें योग्य है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है कि जो दौड़ेगा सो गिरेगा, इसमें कुछ दोष नहीं—

'धावतः स्खलनं न दोषाय भवति'। महाभाष्य[२]

इस वचन के आधार से हमारे बोलने में प्रमाद [से] अगर अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उसका विषाद न मानना चाहिए। हम सर्वज्ञ नहीं, और सब बातें हम में उपस्थित भी नहीं। हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे। इस विषय में हमें अभिमान नहीं है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे। सत्य की छानबीन होनी चाहिए, वितण्डा नहीं होनी चाहिए, यही हमारी बुद्धि [में आता] है। थोड़े-से गुण पर भी ध्यान देना चाहिए और दोष को क्षमा करना चाहिए। शान्तता अर्थात् शम, दम, तप, ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिनमें ये गुण हों वे ही ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका अध्यापन, याजनादि कार्यों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना यह अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥ मनुः[३]

शम—अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दम—जितेन्द्रियत्व, तप—विद्यानुष्ठान, शौच—दोनों प्रकार का शारीरिक और मानसिक शान्ति, ऋजुता अर्थात् अनाग्रह ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं, तब उनमें गाम्भीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्राह्मण इन में ब्राह्मण्य का बड़ा घमण्ड मात्र रहता है, सो ठीक ही है। किसी धनिक को दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता; परन्तु दरिद्री को

---

[१] यह पाठ मराठी सं० के अनुसार है। इसमें 'शकारस्यकोऽर्थः' अनुस्वारस्य कोऽर्थः' अप्रासङ्गिक होते हुए भी प्रश्नों के प्रकार निर्देशार्थ जानने चाहियें।

[२] यह वचन महाभाष्य में नहीं मिलता। यह लौकिक न्याय है।

[३] मनु० ३।१०४।

दरिद्री कहने पर बहुत क्रोध आता है। अपनी अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुसार मनुष्यों की बोलने की रीति होती है।

आजकल का साधु साम्प्रदायिक है अर्थात् परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ देता है। उदाहरणार्थ जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

राम नाम लडुवा गोपाल नाम घी।

क्षत्रिय साधु हो तो वह यह कहता है कि—

राम नाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया।

वैश्य हो तो यों कहते हैं कि—

राम मेरा बानियां समज करे व्यापार।

शूद्र साधु हो तो, वह यों कहता है कि—

हरि को भजे सो हरि का होय, जात पांत पूछे ना कोय।

अनार्य्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
[पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥
पित्र्यं वा लभते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।]
न कथंचिद् दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥[1]

ब्राह्मणों का सबसे मुख्य धर्म कहा है ज्ञानप्राप्ति। ज्ञान अर्थात् यथार्थ निर्णय। ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना होता है। यही ब्राह्मण का श्रेष्ठ धर्म है। विज्ञान का अर्थ दृढ़ निश्चय है। अस्तु, ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहज ही वैभव को प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है। मनु के प्रथम अध्याय को देखो,

---

[1] मनु० १०।५९, ६०। मराठी तथा हिन्दी सं० में ५९ का उत्तरार्द्ध और ६० का पूर्वार्द्ध नहीं है। अर्थ की संगति के लिये हमने जोड़े हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता गुण पुरुष की वास्तविकता को व्यक्त कर देते हैं। दुर्योनि पुरुष अपने स्वभाव को किसी प्रकार नहीं छिपा सकता।

उसमें ब्राह्मणों[1] के धर्म का वर्णन किया हुआ है।[2]

अब क्षत्रियों का धर्म—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वर-भाव (=स्वामित्व) अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा से यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना है[3]। यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म अच्छे प्रकार होते हैं।[4]

बनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या, देना-लेना और खेती करना है।[5]

इस प्रकार की मनुष्यों में गुणकर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक पूरी हुई।[6]

मनु के दस पुत्र हुए—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥ मनुः।[7]

---

[1] मराठी सं० में 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग है। यहां 'ब्राह्मणों' पाठ होना चाहिए। क्षत्रिय का धर्म आगे कहा है।

[2] मनुस्मृति अ० १ श्लोक ८८ में ब्राह्मण के धर्म कहे हैं। क्षत्रिय और वैश्य के ८९ तथा ९० में कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥८८॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥८९॥
पशूनां रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥९०॥

[3] द्र० गीता १८।४३॥

[4] शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते। सुभाषित।

[5] मनु० १।९०॥ गीता १८।४४॥

[6] अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय था। तदनन्तर आर्य और दस्यु ये दो भेद हुए। तत्पश्चात् गुणकर्म स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था चली (द्र० पूर्व पृष्ठ ३६४, पं० १२-१५। यह व्यवस्था मनु के काल तक व्यवस्थित हुई।

[7] मनु० १।३५, ३६॥

स्वायंभुव मनु का पुत्र मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई।

अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा। कला-कौशल की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा यह परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली। फिर इस विमान में बैठ कर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे। ब्रह्मदेव का पुत्र विराट्, उसके पुत्र विष्णु, सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था। ये ही विष्णु और महादेव आगे ब्रह्मा के साथ त्रिमूर्ति में मुख्य देव करके प्रसिद्ध हुए। मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु जहां चल रही है, रमणीय वनस्पतियां जहां उगी हैं और स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक[1] वह रहा है, ऐसे हिमालय की ऊंचे प्रदेश पर विष्णु वास करने लगा। उसी को वैकुण्ठ कहते थे। फिर दूसरे हिम से आच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा, उसे कैलाश कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव, ये कुलों के नाम पड़ गए। ऊपर लिखे हुए विष्णु और महादेव आज तक जीवित हैं, यह कहना ठीक नहीं। इसमें दृष्टान्त इतना ही है कि मिथिला देश के जनकपुर के राजा को अभी तक जनक ही कहते हैं। इससे सीता जी का पिता जनक राजा अब तक जीवित है, यह कहना अप्रस्त है। इसी प्रकार ब्रह्म देव के विषय में भी लागू होता है।

अनन्तर आठ वसु उत्पन्न हुए और आर्यावर्त[2] में लोकसंख्या बहुत हो गई, उसे न्यून करना चाहिए, इसलिए आर्य लोग अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर विमान उड़ाते फिरते, जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा कि झट वहीं पर बस जाते। इस प्रकार सब जगत् के प्रत्येक देश में मनुष्य फैले।

इसी समय में [राजा] इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ

---

[1] अर्थात् झरने का पानी।

[2] यहां 'हिमालय' पद होना चाहिये। आर्यावर्त (भरतखण्ड) की वसाहत आगे कही है।

लेकर इस भरतखण्ड में प्रथम वसाहत की। आर्यावर्त देश अर्थात् पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्र अथवा दृषद्वती, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याद्रि, इनके बीच का प्रदेश है।[1] यह आर्यावर्त कितना सुन्दर है, कितना सुपीक (जरखेज) है, और जलवायु कितना उत्कृष्ट है। इसमें छहों ऋतु क्रम से आती हैं।

देव का अर्थ विद्वान् है। उन्हीं के कारण देवनदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई। इसलिए **"देवनद्योर्यदन्तरम्**[2]**"** ऐसा कहा है। प्रथम गंगा का नाम पद्मा था, फिर उस नदी की नहर निकाल कर भगीरथ लाया, इसलिए उसका नाम भागीरथी पड़ा।

उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इनका नाम आर्य था, उसका सूत्र है कि—

'आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः' (पाणिनिसूत्र)[3]

ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम 'आर्यस्थान' 'आर्यखण्ड' होना चाहिए, सो उसे छोड़ 'हिन्दुस्थान'[4] यह नाम कहां से आया? भाई श्रोतागण! 'हिन्दु' शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर ऐसा और हिन्दुस्थान अर्थात् काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है। उसका इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो? और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, आर्य अर्थात् अभिज्ञात, और वर्त अर्थात् ऐसों का देश, [ऐसा अर्थ होता है]। तुम अपना मूल का नाम भी भूल गए क्या? यह हम लोगों की स्थिति देखकर किस के हृदय को क्लेश न होगा? अस्तु, सज्जन जन! आज से 'हिन्दु' इस नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त इन नामों का अभिमान धरो। गुणभ्रष्ट हुए तो हुए, परन्तु नाम-भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए। ऐसी मेरी आप सबों से प्रार्थना है।

—:o:—

---

[1] सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ मनु० २।१७, २२॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मनु के ये श्लोक सत्यार्थप्रकाश समु० ८ में उद्धृत किए हैं और वहां भी ऐसी ही व्याख्या की है।

[2] मनु० २।१७॥

[3] अष्टाध्यायी ६।३।५८॥

[4] द्र० पूर्व पृष्ठ २८३ टि० १।

नवां-प्रवचन

इतिहास-विषयक

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २५ जुलाई[1] के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया, उसका सारांश—

'इक्ष्वाकु' यह आर्यावर्त में प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है। पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझें, एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जानें। पहला अधिकारी स्वायम्भुव [मनु] था। इक्ष्वाकु के समय लोग अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है। कारण, इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति बन्द पड़ने लगी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उस लिपि का नाम देवनागरी[2], ऐसा है[3] कारण, देव अर्थात् विद्वान्, इनका जो नगर। ऐसे विद्वान् नागर[4] लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया।

ब्रह्म की उत्पत्ति तक दिव्य[4] सृष्टि थी, पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई। उस के पश्चात् विराट् हुआ, और विराट् के पीछे मनु

---

[1] श्रावण कृष्णा ७ सं० १९३२ (दाक्षिणात्यमत में आषाढ़ कृष्णा ७)।

[2] मराठी सं० में 'देवनगरी' अपपाठ है।

[3] देवनागरी का प्राचीन नाम ब्राह्मी लिपि है। इसका प्रथम निर्माण ब्रह्मदेव ने किया था। लिपिज्ञान का संकेत ऋग्वेद के **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** (१०।७१।४) मन्त्र में मिलता है। वाणी का दर्शन (श्रवण के प्रतिपक्ष में) चक्षु से लिपि रूप में ही सम्भव है। इसी आधार पर ब्रह्मा ने ब्राह्मी-लिपि का निर्माण किया और उसका कार्य रूप में प्रचार इक्ष्वाकु के समय में हुआ ऐसा समझना चाहिए।

[4] अर्थात् अमैथुनी सृष्टि।

हुआ। मनु[1] ने धर्म-व्यवस्था बनाई। मनु के दस पुत्र थे[2], उनमें स्वायम्भुव [मरीचि] के समय में राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुईं।

इक्ष्वाकु जो राजा हुआ तो वह केवल राजकुल में उत्पन्न होने से राजा हुआ, ऐसा नहीं हुआ अथवा उसने बलात्कार से राज्य प्राप्त नहीं किया, परन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यता के कारण राजसभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया। उस समय सारे लोग वैदिक व्यवस्थानुकूल चलते थे। भृगुजी ने अपनी संहिता[3] में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इससे श्लोक बनाने का आरम्भ वाल्मीकि ने किया, यह कहना कितना सयुक्तिक है[4], सो देखो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में मनु के सातवें, आठवें और नवें अध्यायों में जो राज्य की विवेचना की है उसे देखो। केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुक्म चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष का अधिकार रखता था।[5]

---

[1] यहां मनु से अभिप्राय स्वायम्भुव मनु से है।

[2] देखो पूर्व पृष्ठ ३६८ पर मनुस्मृति का श्लोक।

[3] स्वायम्भुव मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र की जो पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध है वह भृगुप्रोक्त है। ऐसा मनुस्मृति के अन्त में स्पष्ट निर्देश मिलता है। इसी भृगुप्रोक्त मानव धर्मसंहिता की ओर यह संकेत है। यह भी ध्यान रहे कि मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र के राजप्रकरण का नारद ने भी प्रवचन किया था। वह नारदीय मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है।

[4] वाल्मीकिरामायण के क्रौञ्चवध सर्ग के एक वचन से यह प्रतीत होता है कि श्लोकों का निर्माण सर्वप्रथम वाल्मीकि ने किया। लोक में भी यही प्रसिद्धि है। इसी ओर संकेत करके स्वामी दयानन्द सरस्वती कह रहे हैं कि यह विचार अयुक्त है कि वाल्मीकि ने श्लोक बनाना आरम्भ किया। यतः वाल्मीकि से पूर्व की भार्गवी मनुसंहिता श्लोकात्मक विद्यामान है। वस्तुतः वाल्मीकिरामायण के उक्त प्रकरण का यह अर्थ नहीं कि वाल्मीकि से पूर्व श्लोक रचना होती ही नहीं थी, अपितु उसका भाव यह है कि वाल्मीकि से पूर्व अनुष्टुप् छन्द शास्त्ररचना के लिए ही प्रयुक्त होते थे, काव्य में इस छन्द का प्रधानरूप से प्रयोग सबसे पूर्व वाल्मीकि ने किया।

[5] मराठी पाठ 'अध्यक्षाचा अधिकार चालवीत असे' है। भाषा की दृष्टि से हमने 'रखता था' प्रयोग किया है।

राज्य की व्यवस्था कैसी होती थी, उसे संक्षेप में कहता हूं—

ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर, ऐसे देश-विभाग रहते थे। ग्रामों में सौ-सौ घर, महाग्रामों में हजार, नगर में दस हजार और पुर में इससे भी अधिक घरों की संख्या रहती थी। दश ग्राम पर एक [दशेश नाम का अधिकारी होता था, सौ ग्रामों पर][1] शतेश नाम का अधिकारी होता था, और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था। दश सहस्र [ग्रामों] पर महासुशील नीतिमान् ऐसा ही एक अधिकारी रहता था। लिखने-पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में दूत गुप्त वार्ताएं (खबरें) जानने के लिए, उसी प्रकार अधिकारी लोग अपना अधिकार कैसे चलाते हैं, इसका शोध रखने के लिये चारों ओर फिरते रहते थे, और यह दूतों का काम स्त्री अथवा पुरुष करते थे।

राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे—राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी और कोषाधिकारी। ऐसे चार महकमें के [चार] अधिकारी रहते थे। इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था। यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते तो उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था। देश में भिन्न-भिन्न जाति (=प्रकार) की सभायें थीं। उनमें राजार्य्य सभा ही मुख्य थी और धर्मसभा अर्थात् परिषद् भी स्थल-स्थल पर होती थीं। दश विद्वान् विराजे विना परिषद्=सभा नहीं होती थी और न्यून-से-न्यून तीन विद्वानों के आये विना तो सभा का काम चलता ही नहीं था। धर्मसभा को किसी प्रकार का अधिकार न था, किन्तु उसमें धर्माधर्म का विवेचन और उपदेश ही होते थे, और परीक्षा तथा शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूनाधिक के विषय में राजार्य सभा को विदित करके राजार्य सभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी। महाभारतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न-भिन्न

---

[1] मराठी सं० १८७५ है कोष्ठान्तर्गत नहीं है। पूर्वापर के पाठ से स्पष्ट है कि कोष्ठान्तर्गत पाठ लेखक-प्रमाद से छूट गया है। परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मराठी सं० में मूल 'शतेश' के स्थान में 'दशेश' पाठ बना कर शुद्ध करने का प्रयत्न किया है।

सभाओं का वर्णन किया हुआ है[1], उन्हें देखो। सेना के सिपाही लोगों का आज्ञा मानना ही मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, ऐसा बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे। आर्य लोगों को 'कवायद क्या है' यह विदित न था, ऐसा बहुत से अंग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपन का है। कारण, मकरव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना प्रकार प्राचीन काल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियां पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी ये होते थे।[2] अंग्रेज लोगों में अब तक 'व्यूह कैसे रचना', इस का पूर्ण ज्ञान नहीं है। थोड़ी सी कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं, ऐसा तुम्हें प्रतीत होता है। सारांश '**निरस्तपादपे[3] देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते**' यह कहावत सत्य है।

इससे अंग्रेजों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं हैं, ऐसा मेरा कहना नहीं है; किन्तु उनमें भी बहुत से अच्छे गुण हैं, और उनके अच्छे गुणों को हम स्वीकार करें, यही हमें योग्य है। पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के बालकों को वेतन मिलता था और युद्ध-प्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट देते थे। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करते और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है, यह जानकर सेना में लोगों को किसी प्रकार की चिन्ता न होवे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी।

---

[1] यहां इन्द्रसभा, यमसभा, वरुणसभा, धनद (कुबेर) सभा] और ब्रह्मसभा (वनपर्व अ० ७-११) आदि का वर्णन मिलता है।

[2] तोप, बन्दूक और बारूद आदि का वर्णन संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में बहुधा मिलता है। जिन्हें इस विषय में विशेष देखना हो वे शुक्रनीतिसार अ० ४।१९५ तथा अन्य रामायण महाभारत के युद्ध प्रसंग देखें।

[3] मराठी सं० में 'निष्पादपे' अशुद्ध पाठ है।

कार्षापणं भवेद्दण्डचो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद् दण्डचः सहस्रमिति धारणा ।। मनु ।[1]

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा सहस्र[2] गुणा दण्ड अधिक होता था। और राजा लोग मुनि लोगों से [धर्म]वाद करने में समय लगाते थे, इस विषय में पिप्पलाद मुनि की कथा देखो[3]। इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्य-व्यवस्था थी। इस प्रकार का सुशील, नीतिमान्, सुज्ञ, जितेन्द्रिय, विद्वान् और गुणसम्पन्न इक्ष्वाकु राजा था।

बहुत-सी पीढ़ियों के पश्चात् सगर राजा राज्य करने लगा। उस समय राजा लोग मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते थे अथवा अधिकार ही न देते थे।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चण्डाल-चौकड़ी ने घेर रखा है। तो फिर सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है? यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।

बहवः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।। महाभारत।[4]

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था। इस राजा का निपट मूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंजा नाम का पुत्र हुआ। उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया। इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन[5] किया और उसे एक

---

[1] मनु० ८।३६६ ।। मराठी सं० (१८७५) में पाठ अशुद्ध है।

[2] मराठी सं० में 'शत पट' अपपाठ है।

[3] यह कथा प्रश्नोपनिषद् में है।

[4] महाभारत उद्योगपर्व ३७।१५। वहां प्रथम चरण का 'सुलभाः पुरुषा राजन्' पाठ है। सं० १९३१ की 'सभाप्यसंध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि' के अतिथि-पूजन प्रकरण (द्र० दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ ३५५) तथा सत्यार्थप्रकाश (आसशसं० २) पृष्ठ १५८ में 'पुरुषा बहवो राजन्' पाठ मिलता है।

[5] अर्थात् दण्ड दिया।

भयंकर जंगल के बीच कैद कर रखा[1], इसी का नाम न्याय है ।[2]

कहते हैं कि—

समरथ को नहीं दोष गुसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ।।[3]

नहीं तो आजकल के राजा और उनका न्याय !!

* * *

---

[1] द्र० महाभारत वन० अ० १०७ श्लोक ३९-४३ ।

[2] इससे आगे हिन्दी संस्करणों में पाठ का बहुत अन्तर है । हमारा पाठ मराठी सं० के अनुसार है । हिन्दी संस्करणों का पाठ इस प्रकार है—

"नहीं तो आजकल के राजा लोग और उनके न्याय का क्या पूछना है । कहते हैं कि—

समरथ को नहीं दोष गुसाई । रवि पावक सुरसरि की नाई ।।

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया । प्यारे आर्य-गण ! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है क्योंकि उसे समझ देकर समर्थ किया है । वह भला, बुरा, पाप, पुण्य सब जान सकता है । तात्पर्य यह है कि ऐसे-ऐसे गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजों की धर्मशिक्षानुकूल बर्ताव रखें, इसी में कल्याण है ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः"

हिन्दी अनुवादकों ने अनुवाद में कितनी स्वतन्त्रता बरती है, इसे दिखाने के लिये यह पाठ उद्धृत किया है ।

[3] तुलसीदास की रामायण का यह वचन है ।

दसवां-प्रवचन

इतिहास-विषयक

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में २७ जुलाई[1] के दिन रात्रि में आठ बजे 'इतिहास' इस विषय पर व्याख्यान दिया, उस का सारांश—

इस प्रकार[2] सगर राजा के समय [जिस] दुष्ट राजपुत्र को दण्ड मिला और उसको राजाध्यक्ष बनने का अधिकार नहीं मिला। इस सगर राजा के सम्बन्ध में बहुत-सी[3] व्यर्थ की कहानियां प्रसिद्ध हैं। 'एक ही समय में साठ हजार पुत्र सगर राजा के पैदा हुए, और उन्होंने समुद्र को खोद डाला। इसके हाथ बड़े दृढ़ थे और शरीर भी विलक्षण पुष्ट थे'। ऐसी कहानी पर कौन विश्वास करेगा? कोई-कोई इस कथा की उपपत्ति इस प्रकार करते हैं कि यह सब अद्भुत प्रकार वरदान का प्रभाव था। वरदान में केवल शब्दोच्चारण होता है। परन्तु केवल शब्द में कर्तृत्व-शक्ति नहीं है। अग्नि शब्द को बोलने से जलन पाक वा प्रकाश उत्पन्न नहीं होता। शब्द में केवल वाच्य-वाचक सम्बन्धमात्र है। अस्तु, यह सब थोथी (=सारहीन) कथा हैं। इसमें समय खोना व्यर्थ है।

इस सगर के अनन्तर उपरिचर[4] [नाम का] राजा हुआ। वह

---

[1] श्रावण कृष्णा ९-१०, सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में 'आषाढ़ कृष्णा ९-१०)।

[2] अर्थात् गत व्याख्यान में कहे हुए।

[3] इसके आगे 'अलाउद्दीन की तरह कहानियां मनुष्यों मे प्रसिद्ध हैं' पाठ मिलता है। यह मराठी में नहीं है।

[4] भाषा संस्करणों में 'अग्रीचर' 'अप्रीचर' आदि अशुद्ध नाम छपे हैं। इस अशुद्धि का कारण उर्दू अनुवाद है। मराठी सं० में 'कौशीतकी' ब्राह्मण पाठ है।

विमान की विद्या में अत्यन्त निपुण था। कौषीतकि ब्राह्मण[1] में बहुत सम्राट् राजा का वर्णन किया है।

अयोध्या में ऋतुपर्ण नामी राजा राज्य करता था। इधर दक्षिण में राजा नल राज्य करता था, नल की रानी दमयन्ती का अपने पति से वियोग हो गया, उस समय का वर्णन किया गया है कि उसने ही स्वयम्वर के विषय में दो श्लोक स्वयं बनाये थे [और उसने अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के पास भेजे थे]। राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्निविद्या विदित थी। शतपथ ब्राह्मण में—

अग्निर्वै अश्वः। देवा एतं वज्रं ददृशुः। अग्निर्वै वज्रः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याऽभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत। तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यादश्वमानेतवै ब्रूयात् स पूर्वेणोपतिष्ठते। वज्रमेवैतदुच्छ्रयति।[3]

---

[1] यहां पं० श्रीराम शर्मा प्रकाशित संस्करण में 'कोदिष्टकी ब्राह्मण' नाम छपा है। इसी व्याख्यान में आगे 'कोरस्टिकनी ब्राह्मण' का नाम आया है। श्रीराम शर्मा ने वहां 'कोदस्टिकनी ब्राह्मण' नाम छापा है। यह अशुद्धि भी उर्दू अनुवाद से हिन्दी संस्करणों में आई है। मराठी सं० में 'कौशीतकि' ब्राह्मण पाठ हैं।

[2] यह वाक्य अस्पष्ट है। यहां 'बहुत प्रकार के सम्राट् आदि राजाओं का वर्णन है' ऐसा पाठ होना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण ८।६ में 'अनुराज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य, अतिष्ठ' इन ११ प्रकार के राज्य वा अधिकारों का उल्लेख मिलता है। तदनुसार ११ प्रकार के राजाओं वा अधिकारियों का वर्णन जानना चाहिए। कौषीतकि ब्राह्मण में हमें यह वर्णन नहीं मिला। सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण के स्थान में 'कौषीतकि ब्राह्मण' बोला गया।

[3] शतपथ २।१।४।१६॥ इस उद्धरण में **'अग्निर्वै अश्वः'** और **'अग्निर्वै वज्रः'** ये अन्यत्र के पाठ हैं। शतपथ का पाठ **'देवा एतं वज्रं ददृशुर्यदश्वं तं'** ऐसा है। यहां **'अग्निर्वै 'अश्वः'** पाठ मध्य में भूल से पड़ गया। शतपथ का पाठ भी मराठी सं० में अशुद्ध छपा है। उसे यहां शुद्ध करके दिया है।

इसके आगे हिन्दी संस्करणों में पूर्व उद्धृत शतपथ ब्राह्मण के पाठ का हिन्दी अनुवाद छपा हुआ मिलता है। वह मराठी संस्करण में उपलब्ध नहीं होता है। पहले भी बहुत से उद्धरणों का अनुवाद मराठी सं० में नहीं है। उपरि उद्धृत पाठ का यथार्थ अनुवाद इस प्रकार जानना चाहिये—

उस समय नल अयोध्या में [राजा] ऋतुपर्ण के यहां नौकर था। वहां से दमयन्ती के स्वयंवर में नल की अद्भुत विद्या के सामर्थ्य से एक ही दिन में ऋतुपर्ण राजा चलकर [विदर्भ] आया। इस कारण से नल की बड़ी प्रशंसा हूई थी। इसके साथ दुर्बल श्यामकर्ण घोड़ों की मनुष्य बहुत ऊटपटांग बात करते हैं। इसमें [कुछ भी] सच्चाई नहीं है।

अनन्तर भरत-कुल में अनेक राजा हुए। इसी कारण आर्यावर्त का भारतवर्ष ऐसा नाम हुआ। तदनन्तर रघु राजा हुआ, वह भी बड़ा महात्मा राजा था। राम राजा की अपेक्षा रघु राजा बड़ा था।[1] [रघु के] पीछे राम राजा हुए। इनका रावण से युद्ध हुआ। इनका सम्पूर्ण इतिहास रामायण में वर्णित है। इस प्रकार आर्यावर्त में बड़े बलवान्, अत्यन्तशूर, महापराक्रमी, अत्यन्तदक्ष, महाविद्वान् और बड़े न्यायकारी ऐसे आर्य राजा हुए। उस समय इस आर्यावर्त में [प्रत्येक विषय की] बड़ी उन्नति थी। कौषितकिब्राह्मण[2] में वर्णन किया है कि सब पुत्र वा पुत्रियां पांच वर्ष की होती थीं कि उसी समय पाठशाला में जाती थीं। और वे पाठशाला में भेजी जावें ऐसा सामाजिक नियम था। परन्तु कोई माता-पिता इस नियम को तोड़ते तो उनको राजसभा से दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति के दिन व्यतीत हुए। अन्त में शन्तनु राजा राज करने लगा। उस समय इस आर्यावर्त का ऐश्वर्य बहुत बढ़ा हुआ था। और इस ऐश्वर्य के मद के कारण सहज ही आर्यावर्त की व्यवस्था बिगड़ी। जिसके पास द्रव्य बहुत होता है तो मदोन्मत्त होता है। अनन्तर सहज ही देश में सामाजिक नियमों में अव्यवस्था उत्पन्न होती है।

"अग्नि ही अश्व है। देवों ने इस अश्वरूप वज्र को देखा। अग्नि ही वज्र है। जो उन्होंने (देवों ने) अश्वरूप वज्र को अग्निमन्थन देश के पूर्व में खड़ा किया। उसके वज्र-सम्बन्धी भय से रहित और राक्षस आदि द्वारा किये जाने वाले नाश से रहित और वायु से रहित स्थान में अग्नि प्रकट हुआ। इसलिये जहां अग्नि का मन्थन करना हो वहां अश्व को लाने के लिये कहे। वह अश्व पूर्व से उपस्थित होता है। वज्र को ही उठाता है।"

[1] सम्भवतः इसका अभिप्राय 'राम से भी अधिक गुण-सम्पन्न था' हो।

[2] द्र० पृष्ठ ३७८ की टि० १।

शन्तनु को अपरिमित ऐश्वर्य के कारण बड़ा अभिमान उत्पन्न हुआ और देश में ग्राम्यधर्म(=व्यभिचार) बढ़ गया। राज्य के निष्कण्टक होने से शन्तनु अत्यन्त मदोन्मत्त हुआ। कहा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ मनु०[1] ॥

अनन्तर शन्तनु में विषयासक्ति बढ़ती ही गई। सत्यवती के विषय में इसका लम्पटपना आप सब लोकों को विदित ही है, परन्तु शन्तनु ने राजा होकर भी उस समय उस पर बल प्रयोग नहीं किया। और सत्यवती का पिता गरीब था, फिर भी उसने शन्तनु को झिड़का (=डांटा) था। भीष्म ने उदारता दिखाकर 'अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को दिया, ऐसा भीष्म का वचन पाने तक सत्यवती के गरीब पिता ने राजा का कहना स्वीकार नहीं किया। इससे देखो, प्राचीन आर्य लोगों में कितनी स्वतन्त्रता थी और राजा लोग भी सामाजिक नियम में कितने बांधे गये थे। इस आर्यावर्त के राजाओं की कीर्ति उस समय सारे संसार में फैली हुई थी। योरुप और अमेरिका के राजा लोग इनकी सेवकाई में तत्पर होकर कर देते थे। उन्हीं आर्य लोगों की अब क्या दशा है, इसका विचार करें। ये सब बातें महाभारत के राजसूय पर्व[2] और अश्वमेध पर्व में वर्णित हैं। शन्तनु राजा के समय से पाप बढ़ा और राज्य की व्यवस्था बिगड़ी। और यही पाप बढ़ते-बढ़ते आगे कौरवों वा पाण्डवों का बड़े भारी संग्राम [का निमित्त] हुआ और [उसी समय से] इस देश के दुर्भाग्य का आरम्भ हुआ। अब राजा लोगों का इतिहास समाप्त किया जाता है।

[देवों का इतिहास]

अब आगे देवों का इतिहास, विद्या का इतिहास और ऋषियों का इतिहास कहते हैं। देव अर्थात् विद्वान्, ऐसा शतपथ ब्राह्मण में

---

[1] मनु २।१३॥ इसके आगे हिन्दी संस्करणों में मनुस्मृति के श्लोक का अर्थ इस प्रकार मिलता है—

"जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।" यह मराठी सं० में नहीं है।

[2] 'राजसूय' नाम का पर्व सभापर्व का अवान्तर पर्व है।

लिखा है।[1] इन विद्वानों की तीन कोटि थी—पहली देवकोटि, दूसरी ऋषि कोटि, तीसरी पितृकोटि। इन तीन कोटियों के सिवाय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तेंतीस देवों का वर्णन है।[2] आधुनिक तेंतीस करोड़ देवों की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। कारण, कोटि का अर्थ 'प्रकार' है इसका लोगों ने करोड़ अर्थ करके ऐसी गल्ती खाई है। आदित्य, रुद्र, वसु, इन्द्र [और प्रजापति] इस तरह के तेंतीस देव शतपथ ब्राह्मण में और बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में वर्णन किये गये हैं, उन्हें देखो। इन तेंतीस देवों में बारह आदित्य अर्थात् बारह महिने, ग्यारह रुद्र। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—

यदाऽस्मात् शरीरात् प्राणा निर्गच्छन्त्यथ रोदयन्ति॥ तस्माद् रुद्रा[4] इत्युच्यन्ते।

इस प्रमाण से बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार दश प्राण और जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र जानने चाहियें। वसु आठ हैं। वे कौन से कहे जाते हैं तो पृथिवी १, जल[5] २, तेज ३, वायु ४, आकाश ५, ये पांच महाभूत शुद्ध सृष्टि[6] में, द्यौ ६, चन्द्रमा ७, सूर्य ८, इस प्रकार आठ वसु हैं और वषट्कार[7] ३२, और प्रजापति ३३।

---

१. 'विद्वांसो हि देवाः। शत० ३।७।३।१०॥

२. शत० १४।६।६।३॥

३. बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काण्ड के अन्तर्गत है तथापि वर्तमान में प्रसिद्ध बृहदारण्य उपनिषद् काण्व शाखीय है। उसकी अति प्रसिद्धि के कारण सम्भव है यहां उसका पृथक् निर्देश किया हो।

४. शतपथ द्र० १४।६।६।३॥ बृहदारण्यक उप० द्र० ३।६।४॥

५. शत० ब्रा० और बृहदारण्यक उप० में 'जल' (=आपः) का निर्देश नहीं है। यहां आठवां वसु 'नक्षत्र' नाम से स्मृत है।

६. यहां 'शुद्ध सृष्टि' से मूल पञ्चभूत सृष्टि अभिप्रेत है क्योंकि आगे कहे 'द्यौ' आदि पञ्चमहाभूत के विकार रूप हैं।

७. यहां कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। शत० ब्रा० के अनुसार वषट्कार के स्थान में 'इन्द्र' पाठ होना चाहिये। इन्द्र का अर्थ स्तनयित्नु (विजली) और प्रजापति का अर्थ यज्ञ है। वषट्कार से भी यज्ञ का ही ग्रहण होने से पुनरुक्त दोष आता है।

विष्णु वैकुण्ठवासी थे अर्थात् उनकी राजधानी का स्थान वैकुण्ठ था। महादेव कैलाशवासी थे। कुबेर की अलकापुरी नगरी थी। इन सब बातों का केदारखण्ड[1] में वर्णन किया गया है। मैं स्वयं भी इस प्रदेश में घूमा हूं। और एक बार 'बर्फ में अपना देह गला कर [संसार से] मुक्त हो जाऊं' इस हेतु से प्राचीन अलकापुरी जिस पर्वत पर थी, वहां तक गया था। परन्तु वहां 'मर जाना कोई पुरुषार्थ नहीं, ज्ञान सम्पादन करके पुरुषार्थ और परोपकार करना चाहिये' ऐसा मन में विचार लेकर लौट आया। अब विदित हुआ कि वास्तव में जीवात्मा का मरण ही नहीं होता है।

काश्मीर से लेकर नैपाल की सीमा तक हिमालय का जो उच्च प्रदेश है वहीं देवलोक था।[2] और उस समय आज की तरह उस स्थान पर बर्फ नहीं पड़ती थी, ऐसा विदित होता है। प्राचीन समय में यदि इतनी बर्फ पड़ती होती तो देव लोगों की देवलोक में स्थिति कैसी होती ? इस देवलोक[3] में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस विषय में आज तक भारतखण्ड में प्रमाण मिलता है। दिल्ली में इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान है। वहां इन्द्र का[4] राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त इन स्थानों में ब्रह्मदेव ने राज्य किया। काशी,

---

[1] केदारखण्ड के विषय में दूसरे परिशिष्ट में देखें।

[2] कुमारसंभव ५।४५ में ब्रह्मचारी वेशधारी शिव पार्वती से कहते हैं–

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।

अर्थात्—हे पार्वति ! यदि तू स्वर्ग की कामना से तप कर रही है तो यह श्रम व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे पिता के प्रदेश ही देव भूमि है।

[3] मराठी सं० (१८७५) में 'आर्यवर्त में' पाठ है। वह प्रमादजन्य है। प्रकरण देवलोक=हिमालय के उच्च प्रदेश का है। यहां हिन्दी अनुवाद में पाठ इस प्रकार है—'गत समय की तरह प्रायः इस समय बर्फ नहीं पड़ती है। ऐसा विचार होता है कि यदि इस समय भीं' यह पाठ लेखक प्रमाद से भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है।

[4] इन्द्रप्रस्थ महाराज युधिष्ठिर ने बसाया था, यह महाभारत में स्पष्ट है। अतः यहां पाठ में अवश्य कुछ गड़बड़ हुई है।

हरिद्वार[1] और उज्जैन आदि में महादेवजी का राज्य था। इन देव आदि के बैरी भील[2] आदि असुर थे। इनके साथ वारवार [आर्यों को] युद्ध करना पड़ता था। विमानों[3] में बैठकर देवलोग युद्ध करते थे। और स्वयंवर के समान उत्साह के समय बुलाये गये विमानों पर बैठकर जाते थे। इन देवो में श्रेष्ठ पुरुष अत्यन्त वीर थे और इनकी स्त्रियां लड़ाई में पुरुषों के समान उत्साह पूर्वक अपने पतियों के साथ बरावर युद्ध में जाती थीं। और इन देव लोगों के राजकुलों की रीतिरिवाज (=व्यवहार) [आजतक[4] राजपूत लोगों से मिलते हैं। प्राचीन समय के राजा लोग युद्ध के समय रथ में बैठे भोजन किया करते थे। इस समय भी राजपूतों में ठाकुर[5] लोग अवसर आने पर ऐसा ही करते हैं। राजपूत लोग जहां कहीं आवश्यकता हो वहां खाते हैं। इसी सम्बन्ध में जयपुर शहर में कुछ वर्ष पूर्व एक घटना घटी, उसे सुनाता हूं—जयपुर के राजा लोग ब्राह्मण को अपना रसोईदार वनाकर नहीं रखते। इसका कारण इस प्रकार वर्णन करते हैं कि तीन चार पीढी के पहले रसोई का काम ब्राह्मण लोग नहीं करते थे। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के घर में शूद्र रसोईदार रहते थे और यह आचार मनुस्मृति में भी मिलता है।[6] और वर्तमान में भी राजपूत लोगों में शूद्र रसोईदार हैं। ब्राह्मण लोगों को रसोई के काम के लिए न रखने का कारण यह वताते हैं कि पूर्वकाल में एक बार [किसी] ब्राह्मण ने राजा के भोजन में विष डाल दिया था। अस्तु, यह हमारे ब्राह्मण लोगों की शोभा है?

प्राचीन काल का त्रिविष्टप[7] देश अर्थात् तिब्बत देश ऐसा समझें। विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि राजा आजकल हमें दिखाई

---

[1] शुद्ध नाम 'हरद्वार' है। हर=महादेव के स्थान कैलाश का द्वार।

[2] सम्भव है इसका अभिप्राय भीलों को असुरों की सन्तान कहने में हो।

[3] हिन्दी अनुवादों में 'गुब्बारों' अपपाठ है।

[4] अर्थात् अर्वाचीन काल के।

[5] अर्थात् बड़े जागीरदार।

[6] मनुस्मृति में प्रत्यक्ष वचन हमें नहीं मिला। प्रवक्ता ने सत्यार्थप्रकाश में इस विषय में आपस्तम्ब धर्मसूत्र का '**आर्याधिष्ठाता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः**' (२।२।३।४) वचन उद्धृत किया है।

[7] हिन्दी अनुवादों में 'त्रिष्टुप' अपपाठ है।

क्यों नहीं देते ? ऐसा कोई विचारते है। उनके लिए हमारा उत्तर है कि ये विद्वान् और भद्र पुरुष पराक्रमी देवलोक में थे, वे सब-के-सब मर गए। हिमालय में राज्य करने वाले लोग गये तो कहां गये ? ऐसा कुछ लोग विचार करते हैं। कोई ऐसा कहते हैं कि देव अमर हैं, परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला देव लोग तो [अमर होने के कारण] न देख पड़ें, उनके नौकर-चाकर तो हैं वा नहीं ? जो दीखाई पड़ता है, जो उत्पन्न हुआ हैं, वह मरने वाला है। यह सिद्धान्त है इस से देव भी मर गए—**यद् दृष्टं तन्नष्टम्**।

देव मर गए ऐसा कहा है। इस समय उनके देह नष्ट हो गये ऐसा समझें। देवों की तरह ही मनुष्य की आत्मा का अमरत्व है। और जाति के सम्बन्ध से देवजाति नित्य है अर्थात् **विद्वांसो वै देवाः**। ये देव आज भी है। इस अर्थ से देव अमर हैं सदैव कुछ-न-कुछ विद्वान् पुरुष रहते हैं। इस कारण से कहा है कि—**विद्वाꣳसो वै देवाः**।[1] इसलिए देवजाति तो अमर है।

अब हमारे देश के इतिहास में इतना घोटाला क्यों पड़ा ? कहीं भी किसी के चरित्र जीवन के, किसी भी ग्रन्थ के संवत् आदि ठीक नहीं मिलते। इसका कारण क्या है ? इस विषय में विचारें तो इसका कारण इस प्रकार है कि मतलबी लोगों ने पुस्तकों में से संवत् छिपा दिये [अर्थात् निकाल दिये]। उसी प्रकार जैनियों वा मुसलमानों ने वे ग्रन्थ जला दिए। अस्तु, इसप्रकार [संक्षेप से] देवों का इतिहास पूर्ण हुआ। यह संक्षेप से देवताओं का इतिहास वर्णन किया गया।

[विद्या का इतिहास]

अब संक्षेप से विद्या का इतिहास कहते हैं। आदि विद्वान् ब्रह्मा हुआ। उसने [अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा] चार ऋषियों के पास वेद पढ़ा। उस [ब्रह्मा] का पुत्र विराट् उसका पुत्र मनु, मनु के दश पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि हुए।[2] अब इस समय में अध्ययन अध्यापन कितना होता था, इसका अनुमान सरलता से किया जा सकता है। सामवेद की इक्कीस शाखा, यजुर्वेद की एक

---

[1] शत० ३।७।३।१०॥ [2] द्र०—आठवां के व्याख्यान, पृष्ठ ३६८।

सौ एक शाखा, सामवेद की एक हजार शाखा और अथर्ववेद की नव शाखा थीं। इसी प्रकार ग्यारह सौ इकत्तीस[1] शाखाएँ अध्ययन अध्यापन के लिए थीं। चारों वेदों को अर्थ के सहित जाननेवाला जो मुख्य याजक होता था, उसका नाम ब्रह्मा होता था।

ब्रह्मणा निर्मितं वेदस्य व्याख्यानं ब्राह्मणम् ।[2]

ऐसे ब्राह्मण और अनुब्राह्मण[3] रूप बहुत ग्रन्थ हैं। शुद्ध पानी और हवा जिन स्थानों की होती थी, ऐसे एकान्त स्थानों में रहने वाले ऋषि मन्त्रद्रष्टा, श्रवण वा मनन करने वाले वा पदार्थ-विवेचन करने वाले, ब्रह्म-विचार के लिये वा सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिए नैमिषारण्य सदृश स्थानों में सभा करते थे।[4]

एक पाणिनि की अष्टाध्यायी में कितने भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम हैं[5], इसका विचार करो। आजकल के व्यर्थ घूमनेवाले जो

---

१. हिन्दी सं० में प्रायः ‘इक्कीस अपपाठ है। मराठी सं० में ‘इकत्तीस’ ही पाठ है। ११३१ शाखाओं का उल्लेख महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १ में मिलता है। ये कृष्ण द्वैपायन व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त हैं।

२. इस का अर्थ है—ब्रह्मा=ब्राह्मण से निर्मित वेद के व्याख्यान ब्राह्मण कहाते थे। ऋ० द० ने ब्राह्मण शब्द का यही अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस प्रकार लिखा है—**चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि ब्राह्मणानि।** द्र० वेदसंज्ञा प्रकरण, पृष्ठ १०० (रालाकट्रसं०)। तथा ‘ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन’ (सं० ३) भाग २, पृष्ठ ८६९, पं० २४-२८।

३. अनुब्राह्मण का उल्लेख पाणिनि ने ४।२।६२ में किया है। इस विषय में हमने सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास अ० ६ भाग १ पृष्ठ २५४ (तृ० सं०) में विशेष लिखा है, वहां देखें।

४. ऐसी एक सभा का उल्लेख आयुर्वेद की चरक संहिता के आरम्भ में मिलता है। यह सभा हिमालय पर हुई थी। नैमिषारण्य की सभाओं का उल्लेख महाभारत और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। नैमिषारण्य में महासत्रों के अवसर पर भी ऐसी सभाएं होती थीं। ऋग्वेद के प्रातिशाख्य का प्रवचन शौनक ने नैमिषारण्य में किसी द्वादशाह सत्र में किया था, यह ऋक्प्रातिशाख्य के टीकाकार वेदमित्र ने लिखा है।

५. अष्टाध्यायी में १० ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं। यथा—आपि-

बैरागी लोग हैं, उनसे प्राचीन ऋषि कैसे होते थे, इसका अनुमान न करें। सब ऋषियों द्वारा मिलकर तैयार की हुई पुस्तकों का वा विद्या का ऋषियों की सभा में विचार होता था। उसके अनन्तर मूख्य राजधानी में धमसभा में विचार होता था। पश्चात् राजसभा में विचार होता था। तब एक आध [विचार] गोष्ठी का प्रबन्ध होता था।[1]

राज-सभा के विषय में मनु इस प्रकार कहते हैं कि—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१॥
अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥२॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्ति लब्धप्रशमनानि च ॥३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक्-पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥४॥[2]

शलि (६।१।६२), काश्यप (१।२।२५), गार्ग्य (८।३।२०), गालव (७।१।७४), चाक्रवर्मण (६।१।१३०), भारद्वाज (७।२।६३), शाकटायन (३।४।१११), शाकल्य (१।१।१६), सेनक (५।४।११२), स्फोटायन (६।१।१२६) ॥

[1] तुलना करो—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, संस्क० ३, भाग २, पृष्ठ ८६६, पं० २६-३२ तक। आयुर्वेदीय चरक संहिता सूत्र० अ० १ श्लोक ३३, ३४ में हिमालय पर हुई ऋषियों की सभा का वर्णन मिलता है। उत्तर-काल में राजसभाओं में शास्त्रकार-परीक्षाएं आरम्भ हुईं। इस विषय का निर्देश काव्यमीमांसा अधि० १ अ० १० के अन्त में मिलता है।

[2] मनु० ७।५४—५७ ॥ हिन्दी संस्करणों में श्लोक नहीं हैं। इन का अर्थ इस प्रकार दिया है—"अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखना चाहिए; क्योंकि सहायता विना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमानी नहीं है। निदान राजा को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करें—१. मित्र और २.

इन श्लोकों में राज-सभा के विषय में कहा है और राजा युद्ध करने वाले सैनिक लोगों का अपने पुत्र की तरह पालन करते थे, और इससे सैनिकों को युद्ध करने में अत्यधिक उत्साह होता था। और सब राजा लोग ऐसा वर्ताव करने वाले सैनिकों के लिये युद्ध-सामग्री, शस्त्रास्त्र और धन-संग्रह करते थे। मनु ने ऐसा कहा है कि—

रथांश्च हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ।।१।।
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोद्धृभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ।।२।।
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो यो धर्मः सनातनः ।
अस्माद् धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन रणे रिपून् ।।३।।[1]

और विद्या के विषय में राजसभा की अतिशय दृष्टि होती थी—

आवृत्तानां गुरुकुलाद् विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते ।।१।।[2]

महाभाष्य में कहा है कि **ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयश्चेति ।**[3]

इन छः अंगों में व्याकरण यह विषय मुख्य है और पाणिनि बड़े वैयाकरण हो गए हैं। इनकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही न्यून है। इन महामुनि ने पांच ग्रन्थ बनाये हैं—१. शिक्षा, २. उणादिगण, ३. धातुपाठ, ४. प्रातिपादिक-गण,[4] ५. अष्टाध्यायी[5]। इस प्रकार

शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किए हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना।" यह अर्थ मराठी संस्क० में नहीं है।

[1] मनु० ७।९६-९७-९८ । हिन्दी संस्करणों में ये श्लोक नहीं है। जो हिन्दी में इन का अभिप्राय लिखा है, वह मराठी सं० में नहीं है।

[2] मनु० ७।८२।। पूर्ववत् यह श्लोक भी हिन्दी संस्करण में नहीं है।

[3] महा० अ० १, पा० १ आ० १ के आरम्भ में इस प्रकार पाठ है—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।** [4] अर्थात् गणपाठ।

[5] यहां 'लिङ्गानुशासन' का नाम रह गया है। व्याकरण की पञ्चग्रन्थी

पांच ग्रन्थ हैं। पाणिनि कब हुए? इसके काल का निर्णय करने के लिये अनेक प्रकार की तर्कणायें प्रस्तुत की जाती हैं;[1] परन्तु इस विवाद में कुछ लाभ नहीं ऐसा विदित होता है। पाणिनि बहुत प्राचीन[2] ग्रन्थकार हैं, यह बात निर्विवाद है।

प्राचीन समय में चौदह विद्याओं का हमारे देश में अध्ययन होता था। चार वेद कौन से हैं यह तो सब को ज्ञात ही है। चार उपवेद और छः अंग मिलकर चौदह विद्या होती है।[3] चार उपवेद कौन से हैं और छः अंग कौन से हैं, इसका विचार करें।

चार उपवेदों में पहला **आयुर्वेद** गिना गया है। इस पर चरक, सुश्रुत और धन्वन्तरि के ग्रन्थ हैं[4]। मेरे सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ के

में लिङ्गानुशासन का अन्तर्भाव होता है। शिक्षा व्याकरण से पृथक् स्वतन्त्र वेदाङ्ग है। अतः उसकी पञ्चग्रन्थी में गणना नहीं होती। ऋषि दयानन्द के पत्र-व्यवहार (तृ० सं०) भाग १, पृष्ठ ३५ पंक्ति २-३ में भी लिङ्गानुशासन का निर्देश नहीं है, परन्तु संस्कारविधि के वेदारम्भ के अन्तर्गत पठनपाठन-विधि में लिङ्गानुशासन का निर्देश है।

[1] उस समय पाणिनि के काल के विषय में डा० गोल्डस्टुकर तथा डा० भण्डारकर आदि अनेक विद्वानों ने वहुत से लेख लिखे थे।

[2] पाश्चात्य मतानुयायी पाणिनि का समय ६०० ईसा पूर्व से ४०० ईसा पूर्व तक मानते हैं। भारतीय मतानुसार पाणिनि का काल विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व है। देखो हमारा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास अ० ५।

[3] ये ही १४ विद्याएं ऋषि दयानन्द ने सं० १९२६ में कानपुर में प्रकाशित विज्ञापन में गिनाई हैं। द्र० पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ १-२-३ (संस्क० ३)। पुराणों में १४ विद्याएं इस प्रकार गिनाई हैं—४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मीमांसा-न्याय-पुराण (ऐतिह्य) धर्मशास्त्र ये ४=१४। (द्र० वि० पु० अंश ३, अ० ६, श्लोक २८; वायु० ६१।७८)। इनमें ही ४ उपवेदों की गणना करने पर १८ विद्याएं मानी जाती हैं। (द्र० वायुपुराण ६१।७९, वि० पु० अं० ३, अ० ६, श्लोक २९)।

[4] धन्वन्तरि के ग्रन्थ से अभिप्राय धन्वन्तरिकृत निघण्टु से है। चरक सुश्रुत क्रमशः अग्निवेशकृत और धन्वन्तरिकृत ग्रन्थों के संस्कर्ता हैं। इन्हीं के नाम से सम्प्रति ये ग्रन्थ जाने जाते हैं।

तीसरे भाग में इस विषय पर विस्तार से वर्णन किया है।[1]

दूसरा **धनुर्वेद** है। इसमें अस्त्र-शस्त्र विद्या का विचार है। इस उपवेद में ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र नारायणास्त्र, वरुणास्त्र, संमोहनास्त्र, वायव्यास्त्र इन का विचार किया है। ये सब अस्त्र वेदार्थ विज्ञान का विचार कर और उन के गुण और दोष की योग्य व्यवस्था करके रचे जाते थे। और क्षत्रिय लोगों को यह धनुर्वेद बड़े परिश्रम से पढ़ना पड़ता था। केवल मन्त्रों के उच्चारण से शस्त्र और अस्त्र तैयार हो जाते थे, यह कहना मूर्खता है।

तीसरा **गन्धर्ववेद** है। इसमें गान और वाद्य का विचार किया है। उस समय अर्वाचीन कविता—पद, ध्रुवपद ख्याल, टप्पा, लावणी नहीं गाते थे। परन्तु [प्राचीन आर्य लोग] वेदमन्त्रों का मधुर गायन करते थे।

चौथा **शिल्पशास्त्र** वा **अर्थवेद** है। इसका विचार मयसंहिता[2], वराहसंहिता, विश्वकर्मसंहिता आदि ग्रन्थों में बहुत प्रकार से किया है।

एक मनोरंजक बात इस समय स्मरण हुई है, उसे आपको सुनाता हूं—एक विद्वान् अंग्रेजी पढ़े डाक्टर की और मेरी भेंट हुई। तब उसने [मुझ से[कहा—हमारे आर्य लोगों में वैद्य-क्रिया[3] करने के यन्त्रादि की योजना बिल्कुल ज्ञात नहीं थी। तब मैंने सुश्रुत ग्रन्थ में से यन्त्राध्याय[4] निकालकर उसे दिखाया। तब आर्य लोगों के वैद्य-क्रिया का चातुर्य और यन्त्रज्ञान अत्यन्त विलक्षण था, ऐसा उसको विश्वास हुआ।

अब वेदाङ्ग के विषय में विचार करना चाहिये। छः वेदाङ्ग हैं—

---

[1] यह संकेत सं० १९३२ (सन् १८७५) में छपे संस्करण की ओर है। तीसरे भाग का अभिप्राय तृतीय समुल्लास से है।

[2] मराठी संस्करण में 'यम-संहिता' पाठ है। सत्यार्थप्रकाश आदि में सर्वत्र मय संहिता का उल्लेख होने से यहां हमने 'मय संहिता' पाठ रखा है।

[3] अर्थात् शल्य-क्रिया—चीराफाड़ी।

[4] हिन्दी संस्करणों में 'नेत्राध्याय' अपपाठ उर्दू संस्करण मूलक प्रतीत होता है। सुश्रुत में यन्त्राध्याय सूत्रस्थान का ७ वां अध्याय है।

१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द शास्त्र, ६. ज्योतिष अर्थात् गणित विद्या। इतने ग्रन्थों का अवलोकन करने में बारह वर्ष लगते हैं और इन [ग्रन्थों] के दृढ़ अभ्यास से बुद्धि में उत्तम वैशद्य उत्पन्न होता है। इस समय कुछ ऐसी अनुचित पढ़ाने की रीति चालू हुई कि बुद्धिमान् विद्यार्थी को अत्यन्त परिश्रम करने पर एक ही विद्या बारह-बारह मिलकर चौबीस वर्ष तक पढ़ने पर भी नहीं आती है। इसका कारण—केवल तोता के समान घोखा-पट्टी चलती है।[1] किसी मतलब से अथवा पागलपन से उत्पन्न हुई इस शिक्षा-पद्धति को बन्द कर देना चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने विद्या-स्नातक होने तक ब्रह्मचारी विद्यार्थी के लिये बारह वर्ष का काल नियत किया है। और उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने बारह वर्षों में ये सब विद्यायें सीखी थीं ऐसा लेख मिलता है और प्राचीन रीति के अनुसार इस समय भी शिक्षा दी जावे तो बारह वर्ष से अधिक समय इस काम में नहीं लगेगा। अस्तु,

अब छः दर्शनों का कुछ थोड़ा-सा विचार किया जाता है—

पहला दर्शन जैमिनि का बनाया **मीमांसा** यह है। इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष वा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को माना है[2]। धर्म का लक्षण करते समय चोदना (=प्रेरक वेद-वाक्य) धर्म है ऐसा वर्णन किया है।

अब कणाद मुनि का बनाया **वैशेषिक** शास्त्र यह दूसरा दर्शन

---

[1] यह दूषित प्रणाली प्रत्येक शास्त्र के विषय में है, परन्तु व्याकरण के विषय में सबसे अधिक भयानक स्थिति है। सिद्धान्तकौमुदी आदि के क्रम से पढ़ने वाले छात्र को सूत्र, सूत्र की वृत्ति, उदाहरण, प्रसंग आदि सब कुछ घोटना पड़ता है, क्योंकि भट्टोजीदीक्षित ने पाणिनीय सूत्रक्रम को तोड़कर नये क्रम से सूत्रों का सन्निवेश किया है। इसलिए पाणिनीय क्रम से होने वाला अनुवृत्ति का ज्ञान न हो सकने के कारण वृत्ति भी, जो सूत्र से लगभग ४-५ गुनी होती है, घोटनी पड़ती है। अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने पर वृत्ति उदाहरण आदि नहीं घोटने पड़ते। वृत्ति का ज्ञान अनुवृत्ति से हो जाता है।

[2] यहां लेखन में कुछ भूल हुई है। ऐसा ही लेख पूर्व पृष्ठ २६९ पर भी मिलता है, परन्तु मीमांसक शब्दप्रमाण को ही धर्म में प्रमाण मानते हैं। यह अगली पङ्क्ति में भी स्पष्ट लिखा।

है । इसमें द्रव्य को मुख्य धर्मी मानकर गुण आदि धर्मों का निरूपण किया है । और इन्होंने भी दो ही प्रमाण माने हैं[1] और छः पदार्थों का निरूपण किया है ।

तीसरा गौतम ने **न्याय** दर्शन बनाया है । इसमें धर्मी का धर्म और धर्म का धर्मी क्यों नहीं होता[2] इस विचार से वाद आरम्भ कर के प्रमाण प्रमेय इनका परस्पर सम्बन्ध का निरूपण किया है और सोलह पदार्थ स्वीकार किये हैं ।[3]

इस पर कोई 'इन दर्शनों में परस्पर विरोध है' ऐसा कहते हैं । परन्तु इनमें परस्पर विरोध नहीं है ऐसा हम मानते हैं । इसलिए [पहले] विरोध शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए । यदि समान अधिकरण (=एक विषय) में भिन्न मत की प्राप्ति हो तब विरोध [होगा, और] व्यधिकरण (=पृथक् विषयों) में भिन्न मत की प्राप्ति हो तब विरोध नहीं होता है । तो इस प्रकार छः दर्शन प्रतितन्त्र सिद्धान्त[4] का कथन करते हैं, सर्वतन्त्र[5] सिद्धान्त का कथन नहीं करते ।

* * *

---

[1] यहां भी पाठ कुछ भ्रष्ठ है ।

[2] यहां भी पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है । सम्भवत: 'धर्मी का धर्मी और धर्म का धर्म क्यों नहीं होता' ऐसा कहना अभिप्रेत रहा हो ।

[3] सांख्य योग और वेदान्त के विषय में अगले व्याख्यान में विस्तार से वर्णन किया है ।

[4] प्रत्येक शास्त्र का अपना सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त माना जाता है । द्र० न्यायदर्शन १।१।२९ ।

[5] सब शास्त्रों में समान रूप से स्वीकृत सिद्धान्त सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहाता है । द्र०—न्यायदर्शन १।१।२८।

ग्यारहवां-प्रवचन

इतिहास-विषयक

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २९ जुलाई[1] के दिन रात्रि में आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया, उस का सारांश—

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥[2]

(इतिहास आगे चालू है)

गौतम ने सोलह पदार्थों का निरूपण किया है—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ता (न्त-अ) वयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्चयावगमः ।[3]

और आठ प्रमाणों का विवेचन किया है। और चार ही प्रमाण उचित हैं ऐसा सिद्धान्त किया है। इन प्रमाणों के योग से अर्थ का परीक्षण होकर सत्यासत्य वस्तु का निर्णय होता है।[4] ये प्रमाण हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. ऐतिह्य, ६. अर्थापत्ति, ७. संभव, ८. अभाव। इस प्रकार आठ हैं। इन में से ऐतिह्य का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में होता है। और शेष तीन [अर्थापत्ति, संभव और अभाव] का अन्तर्भाव अनुमान में होता है।[5]

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के लक्षण ये हैं—जिससे

---

[1] श्रावण कृष्णा १२, सं० १९३२ (दाक्षिणात्य आषाढ कृष्णा १२)।

[2] द्र०—न्यायदर्शन १।१।१। वहां अन्तिम पद '**निःश्रेयसाधिगमः**' है। मराठी सं० में न्याय का सूत्र पढ़ा है। हिन्दी संस्करणों में केवल १६ पदार्थों के नाम दिये हैं।

[4] प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

[5] द्र०—न्यायदर्शन २।२।१-१२॥

अर्थ की सिद्धि होती है, उसको **प्रमाण** कहते हैं; जो अर्थज्ञान का विषय हो, वह **प्रमेय** होता है; जो निश्चय करनेवाला है, उसको **प्रमाता** कहते हैं और अर्थ का जो विज्ञान उत्पन्न होता है उसको **प्रमिति** कहते हैं।[1]

हमें जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान है ऐसा समझते हैं उसके ज्ञान में भी अनुमान का साहाय्य बहुत होता है। इस का दृष्टान्त—एक वस्तु का सामने का भाग देखें तो हम को उस वस्तु का पूर्ण आकार समझ पड़ता है। वास्तविकता [यह है कि] देखे जा रहे उस वस्तु के पिछले भाग का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। ऐसा होने से उसका अनुमान के विना ज्ञान नहीं हो सकता। फिर अगले भाग का एक देशी ज्ञान से सब भागों का अनुमान होता है। यह इस शंका का समाधान है।

अब कोई इस प्रकार पूर्व प्रश्न करते हैं कि प्रमाण पहले है कि प्रमेय पहले? इसका उत्तर—दोनों एक समय में होते हैं। इस पर कोई ऐसी शंका करे कि **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्**[2] मन का लक्षण ऐसा है कि उसमें दो वस्तुओं का ज्ञान एक साथ नहीं होता है। तो भी प्रमाण और प्रमेय के विषय में यह नियम लागू नहीं होता है। कारण दूसरे के ज्ञान के विषय में जो प्रमाण होता है वह अपने ज्ञान की दृष्टि से प्रमेय भी होता है। इस तरह प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान एक ही समय में दो है। इसमें दृष्टान्त देते हैं जिससे अच्छी तरह समझ में आ जावे। दीपक की तरफ देखो, विद्यमान दीपक दूसरी वस्तु का प्रमाण [अर्थात् दीखानेवाला] है और स्वयं वह प्रमेय है; यह दोनों बातें एक ही समय में होती है। सूर्य से प्रकाश होता है; उससे सब पदार्थ पहले दिखाई पड़ते हैं और जो सूर्यप्रकाश है वह पीछे दिखाई देवे ऐसा नहीं होता है। दोनों एक साथ ही दिखाई देते हैं।

अब गौतम के मत में सब द्रव्य धर्मी हैं और सब गुणधर्म हैं। यह गौतम ने शास्त्रों पर विचार करनेवाले [हम] नये लोगों का बड़ा उपकार किया है। इस समय वाक्छल (धोखा) करने का एक प्रकार फैल रहा है। इस वाक्छल का लक्षण गौतम ने भली भांति किया है। गौतम सूत्र—

---

[1] द्र० न्यायभाष्य १।१।१ का उपोद्घात। [2] न्याय १।१।१६॥

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।[1]

इसका उदाहरण—किसी ने 'नवकम्बलोऽयं माणवकः' यह कहा । इस वाक्य में 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं—नव अर्थात् नया और दूसरा नौ इन दो अर्थों से भाषण में पकड़ने का जो प्रयत्न उस का नाम वाक्छल है । साधारण रीति से नव शब्द का अर्थ नया है, इसलिए ९ संख्या का ऐसा अर्थ सम्भव नहीं होता । गौतम ने जाति, व्यक्ति[2] और आकृति इन का भली-भांति विचार किया है । [जाति का लक्षण यह है कि=]

समानप्रसवात्मिका जातिः ।[3]

इस लक्षण के अनुसार जाति शब्द का प्रयोग मनुष्य जाति, पशु जाति इत्यादि में हो तो ठीक है और जाति भेद का जो वर्तमान प्रकार है उसका इस लक्षण से आधार प्राप्त नहीं होता है ।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार योगशास्त्र में किया है ।

मीमांसाशास्त्र में धर्म और धर्मी इन के लक्षण कहे हैं ।

कणाद के शास्त्र में द्रव्य और गुण इन विषयों का विचार किया है ।

गौतम के शास्त्र में प्रमाण और प्रमेय का कैसे विचार करना चाहिए इसका विवेचन है ।

इन तीनों मीमांसा, वैशेषिक और न्यायशास्त्रों ने श्रवण और मनन इन्हें कैसे भलीप्रकार जानें इस विषय का निरूपण नहीं किया । साधन का ही द्वार बनाया है । अब श्रवण मनन के आगे एक सीढ़ी है । वह कौन सी ? तो साक्षात्कार करना । इस विषय पर योगशास्त्र में विचार किया है । योग का लक्षणसूत्र है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**[4] निवृत्ति से ज्ञान बढ़ता है । परन्तु वह निवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए, इस पर विचार करते हुए [विदित होता है कि] सब बाहर वस्तुओं का ज्ञान होते हुए बहिर्मुखता अथवा बाह्य विषयों में आसक्ति न होवे, जीव अपने में अन्तर्मुख=बाह्य-

---

[1] न्याय १।२।१९।।

[2] सब हिन्दी संस्करणों में 'मुक्ति' अपपाठ है । मराठी संस्करण में 'व्यक्ति' शुद्धपाठ है ।

[3] न्याय १।१।५९।।

[4] योग १।२।।

विषयों का ज्ञान होते हुए अपने वश में रहे, इसका नाम निवृत्ति है। एक दृष्टान्त देता हूं—किसी नदी का बहाव बन्द कर देवे तो पानी लबालब परिपूर्ण भर जाता है। इस प्रकार बाहरी विषयों से चित्तवृत्ति को हटाने से स्वयं मन में सहज प्रागल्भता आती है। ऐसा जो योगशास्त्र का सिद्धान्त है उस का शुद्ध अर्थ बाहरी विषयों से निवृत्त होना है। अपने मन को 'बाह्य विषयों में न जाने देवे अर्थात् उस विषय में आसक्त न होवे, ऐसा है। 'बाह्य विषयों का ज्ञान न करने देवे' केवल ऐसा नहीं है। योगशास्त्र में एकान्त स्थान में बैठकर समाधि लगानी चाहिए ऐसा कहा है। कारण यह है कि एकान्त में बैठने से [बाहरी विषयों से] चित्त निवृत्त होता है। यद्यपि ऐसा है तो भी सदा एकान्त में रहना अच्छा नहीं है, [क्योंकि] एकान्त में रहने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। सत्संगति से ही ज्ञान प्राप्त होता है। योगशास्त्र का प्रयोजन ईश्वर के साक्षात्कार में है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।[1] ऐसा सूत्र है। इसमें द्रष्टा अर्थात् ईश्वर ऐसा समझे।[2]

योगी विभूति को सिद्ध करता है ऐसा योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा लघिमा गरिमा इत्यादि विभूतियां हैं। ये धर्म योगी के चित्त में पैदा होते हैं। सांसारिक लोग 'ये योगी के शरीर में पैदा होते हैं,' ऐसा मानते हैं। वह बराबर नहीं है। अणिमा अर्थात् अति-सूक्ष्म पदार्थों से भी मन सूक्ष्म होकर पदार्थों का परिमाण (=नाप) करता है। इसी प्रकार अतिस्थूल पदार्थों से भी बड़ा होकर उसका ज्ञान मन से होता है, उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनका सामर्थ्य नहीं है। पुनः इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्या-

---

[1] योग १।३॥

[2] 'द्रष्टा' का यही अभिप्राय ऋ० द० ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है। अन्य व्याख्याकार द्रष्टा से स्व-आत्मा का ग्रहण करते हैं। यह अभिप्राय भी ऋ० द० ने हुगली-शास्त्रार्थ में स्वीकार किया है। द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ३०।

सन, साक्षात्कार हुआ तो समझो अनामय (=त्रुटिरहित) निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है ।

[महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—]

तत्र ध्यानजं ज्ञानं निरामयम् ।[1] तत्र ऋतंभरा प्रज्ञा ।[2] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।[3] अहिंसासत्यमास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमा: ।[4]

योग के आठ अंग हैं । इनमें प्रथमयम कौन से हैं और नियम कौन से है इस विषय में उक्त सूत्र है । इन दोनों विषयों का पूर्व वर्णन कर चुके हैं ।[5]

स्थिरसुखमासनम् ।[6]

यह **आसन** का लक्षण है । [आसन वही है कि जिसमें सुख से बैठकर ईश्वर से योग हो सके ।] तो फिर आजकल के पागल या झक्की योगी चौरासी लाख आसन हैं,[7] ऐसा बडबड करते हैं, उसे कैसे मान लिया जावे । इसी तरह प्राणायाम के विषय में तमाशा बन रहा है ।

प्राणायाम का यथार्थ स्वरूप कैसा है पूर्व कह चुके हैं ।[8] नासिका और मुख बांधकर प्राणों की रुकावट करने से यदि कुम्भक होता है, तो जो फांसी पर चढते हैं, उन का कुम्भक प्राणायाम ठीक सिद्ध होता है । कुम्भक का यथार्थ स्वरूप यह है कि प्राण वायु को बाहर का बाहर रोक रखना । प्रच्छर्दन विषय (बाहर निकालने) में विशेष प्रयत्न करने से रेचक होता है । भीतर-के-भीतर प्राणों को रखने से पूरक होता है । ऐसा प्राणायाम का प्रकार है । यह यथार्थ लक्षण है । हठयोग का प्रकार एकदम बहुत तमाशा है । उसमें

---

[1] द्र० **तत्र ध्यानमनाशयम्** । योग ४।६॥

[2] द्र० **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** । योग १।४८॥

[3] योग २।२९॥

[4] योग २।३०॥

[5] पूर्व व्याख्यान ३ में

[6] योग २।४६ ।

[7] ब्रह्माण्ड में चौरासी लाख योनियां मानी गई हैं । उस प्रत्येक योनि के अनुकरण पर चौरासी लाख आसनों की कल्पना करते हैं । ८४ आसन तो प्रसिद्ध ही हैं ।

[8] प्रवचनों के इस संगृहीत अंश में यह अंश पूर्व उपलब्ध नहीं होता है ।

'बस्ति' अर्थात् गुदा के रास्ते से पानी चढ़ाकर संशोधन करना। त्राटक अर्थात् पलक विना झपके टकटकी लगाकर देखना। नेति अर्थात् नासिका में सूत्र डालकर मुख से निकालना। धोती अर्थात् लम्बे से लम्बा धोती का टुकड़ा[1] [मुख के रास्ते] पेट में डालकर फिर बाहर निकालना। इस प्रकार तमाशा रचाने को खटपट (प्रयत्न) करके योग कभी सिद्ध होवे तो साधो। परन्तु इन कामों से रोग तो पैदा होते ही हैं।

योग में प्राणायाम कहा है, परन्तु प्राणायाम क्या है? इसका क्षण भर विचार करो। प्राण अर्थात् श्वास और आयाम अर्थात् दीर्घता। दीर्घकाल पर्यन्त श्वास का निरोध करना। इसमें आजकल साधारण लोग संध्या में कैसी चेष्टा करते हैं, यह सर्वत्र विदित ही है। इस प्रकार दीर्घ काल पर्यन्त श्वास को निरुद्ध होने से [प्राणायाम का] चित्त की एकाग्रता में उपयोग होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।[2]

प्राणायाम का यथार्थ उपयोग ऐसा है कि श्वास और प्रश्वास के विषय में योग शास्त्र के नियमों का अनुसरण करने से नीरोगता उत्पन्न होती है।

प्रत्याहार अर्थात् ईश्वर में लौ लगाना।

धारणा अर्थात् देशबन्ध में लक्ष्य देकर वस्तु का ग्रहण करना।

ध्यान अर्थात् आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में स्थिर कर वस्तु का मनन करना।

समाधि अर्थात् ईश्वर में तल्लीन होना।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों युगपत् होवें, तो संयम होता है। इस विषय में [कहा है] **त्रयमेकत्र संयमः**[3]।

इसी प्रकार पतञ्जलि मुनि ने उपासना काण्ड का प्रबन्ध किया है [अर्थात् उपासना की पद्धति बतलाई है] और कैवल्य (=मुक्ति) पर्यन्त साधनों की योजना की है। परमेश्वर में चित्त का लय होवे,

---

[1] धोती क्रिया के लिये चार अंगुल चौड़ा १६-२० गज तक लम्बा मलमल का कपड़ा उपयोग में लाया जाता है।

[2] योग १।३४॥

[3] योग ३।४॥

इस विषय में मूर्तिपूजा का साधन है ऐसा कहीं भी नहीं कहा है। इसलिए उपासना की व्यवस्था में मूर्तिपूजा को आधार (=सहारा) नहीं है।

अब सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हुई? उसे देखो। सांख्यशास्त्र की उपपत्ति पदार्थों की गणना करने के लिए है। सांख्य के कर्ता ऐसा कहते हैं कि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।[1]

फिर ऐसा कहते हैं कि **अविद्यया बन्धो न भवति।**[2]

अवस्तु[3] के अभाव होने पर विवेक होता है, ऐसा सिद्ध किया है तो इस प्रमाण से सांख्यशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से विरोध नहीं है क्या? ऐसा कोई कहे तो वाह्य दृष्टिमात्र से यह विरोध दिखाई देता है। और शास्त्रकार अपने सिद्धान्त का कथन करते हुए इस प्रकार वर्णन का क्रम बांधते हुए दीखते हैं, परन्तु अन्त में सब का सिद्धान्त एक है। कारण यह सांख्यशास्त्र अविवेक का निरूपण करता है और अज्ञान, अविद्या, अविवेक, भ्रम ये सब एक हैं।

अर्वाचीन अन्य देशस्थ विद्वान् लोग तत्व शब्द का लक्षण असम्पृक्त (=न मिले हुए) वस्तु विशेष ऐसा करते हुए आर्य शास्त्रकारों की पञ्चभूत (अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, आकाश) की जो मान्यता है उस पर दोषापत्ति करते हैं परन्तु यह दोष आता। कारण, रूप, रस, गन्ध इन गुणों का जो जो अधिकरण. उसे पृथक् पृथक् नाम दिया है। और वह पञ्चभूत है। सांख्यशास्त्र में २५ पदार्थों का निरूपण किया गया है।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

यास्काचार्य ने अलंकार शास्त्र बनाया।[4] इस पर वात्स्यायन ने

---

[1] सांख्य १।२५॥

[2] यह पाठ हमें नहीं मिला। कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

[3] यहां अविवेक पाठ होना चाहिए।

[4] यास्कमुनिकृत काव्यालंकार सूत्र और वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य का

भाष्य किया है। उस आर्य ग्रन्थ में बीभत्स और अधर्म की रीतियों पर कामोत्पादन करने वाले रस बिलकुल नहीं हैं। आजकल के अलंकार शास्त्रों को देखें। उनमें बीभत्स झूठ शृङ्गार रस भरा पड़ा है। जैसे—

नालिङ्गिता प्रेमभरेण नारी वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ।

हे स्त्री ! तेरा मुख चन्द्रमा के समान है इत्यादि। ऐसा पागलपन के अलंकार में निमग्न हुआ एकपत्नीव्रत करके गृहस्थाश्रम में जो पुरुष रहे उनकी उत्तम शास्त्रों में वर्णन किये गए ब्रह्मचर्य धारणा करने की योग्यता होगी ?

वेदान्त छठा दर्शन है, जिसके कर्ता व्यास हैं। उन्होंने कार्य जगत् और कारण ब्रह्म, इनको विचार करके कार्य, कारण इन दोनों पदार्थों का विवेचन किया है। व्यास ने आदि सृष्टि का वर्णन किया है। अब भिन्न भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रलय वर्णित है। वैशेषिक दर्शन में आपरिमण्डल पर्यन्त प्रलय का वर्णन है। गौतम ने परमाणुपर्यन्त प्रलय का वर्णन किय है। सांख्यशास्त्रकार ने प्रकृति नित्य और महत्तत्वपर्यन्त प्रलय का वर्णन किया है। वेदान्त में अत्यन्त प्रलय का वर्णन किया है। इस प्रलयकाल में परमात्मा और उसकी सामर्थ्यमात्र शेष रहता है। इस प्रकार छहों दर्शनों का विरोध नहीं है। उन उन के प्रकार में एकवाक्यता है ऐसी दिखाई देती है। अस्तु,

अब मूर्तिपूजा के विषय में पुनः[1] विचार करें।

उल्लेख सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० (१८७५) के पृष्ठ ७८ तथा संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कार में भी इनको पढ़ने का उल्लेख किया है।

[1] इस पाठ के आगे भण्डारकर शोध प्रतिष्ठान पुणें से प्राप्त मराठी संस्करण की जो प्रतिकृति प्राप्त हुई है उसमें इस व्याख्यान के पृष्ठ ५-६ की प्रतिकृति नहीं है। प्रतीत होता है कि पुणें की मूल कापी से ये पृष्ठ नष्ट हो गये। हमने इन पृष्ठों का संशोधन श्री हरि सखाराम तुंगार सम्पादित मराठी संस्करण के अनुसार किया है। पुणें से प्राप्त मूल प्रति के और तुङ्गार जी सम्पादित पाठ में बहुत स्वल्प अन्तर है।

पारस्कर[1] और आश्वलायन इन ग्रन्थों[2] में मूर्तिपूजा बिलकुल नहीं है। मानव कल्पसूत्र में भी मूर्तिपूजा बिलकुल नहीं है। इन ग्रन्थों पर परिशिष्ट रचे गये हैं। उन में मूर्तिपूजा है तो भी उनकी योग्यता[3] क्या है ? यह सब विद्वान् लोग जानते हैं। इस दृष्टि से इन में मूर्तिपूजा को शास्त्र की दृष्टि से आधार नहीं है।

अब फिर इतिहास का विषय चालू करते हैं। शन्तनु ने सत्यवती से विवाह किया। उसके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य थे। पश्चात् भीष्म काशी के राजा से तीन कन्याएं लाया। उनमें से अम्बा ने शल्य[4] से विवाह किया। और शेष दोनों अम्बिका और अम्बालिका इनका चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के साथ विवाह हुआ।[5] इन सब का वंश न चला। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी पुत्र विदुर ये पैदा हुए। पाण्डु ने दो विवाह किये। उनके नाम कुन्ती और माद्री था। माद्री ईरान के राजा की कन्या थी। धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धारी यह क़ाबुल कन्धार की रहनेवाली थी। गान्धारी का भाई शकुनि काबुल कन्धार का राजा था। वह दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर में रहता था। कुन्ती और माद्री इन दोनों ने सन्तति के लिये नियोग किया था। उनमें [कुन्ती ने] वायु से, इन्द्र से और यम[6] से नियोग किया और उससे धर्म[7] भीम और अर्जुन[8] हुए और उसी प्रकार अश्विनी-

---

१. हिन्दी संस्करणों में 'पराशर' पाठ है। तुङ्गारजी के मराठी सं० में पारस्कर ही पाठ है।

२. पारस्कर गृह्यसूत्र है अतः यहां आश्वलायन भी गृह्यसूत्र जानना चाहिये। ३. अर्थात् प्रामाणिकता। ४. 'शाल्व' नाम होना चाहिये।

५. ऐसा ही लेख सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सन् १८७५) पृष्ठ १४६, तथा संशोधित सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १६२ (रालाकट्रस्ट मुद्रित आसशसं० २) मिलता है। परन्तु महाभारत के अनुसार चित्राङ्गद अविवाहित ही मर गया था। विचित्रवीर्य का विवाह अम्बा और अम्बालिका से हुआ था (महा० आदि० १०२।६५)। अतः यहां विचित्रवीर्य की ही दो स्त्रियों से नियोग हुआ था, ऐसा जानना चाहिये।

६. यम अर्थात् धर्म। ७. धर्म अर्थात् धर्मपुत्र युधिष्ठिर।

८. यहां यम से धर्म, वायु से भीम और इन्द्र से अर्जुन उत्पन्न हुए ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिये।

कुमार के नियोग से नकुल और सहदेव ये उत्पन्न हुए। इसमें इन्द्र वायु [यम] ये मनुष्यों के नाम समझने चाहियें। अन्यथा वायु से सन्तानोत्पत्ति हुई ऐसा कहना सयुक्तिक न होगा। इसी प्रकार धृतराष्ट्र के एक ही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए, यह कहना असम्भव है।

इन सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयंवर होता था। आजकल के समान बकरी विवाह अथवा पशु-विवाह[1] नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने सब को शिकस्त दी है [अर्थात् सब से आगे बढ़ गये हैं]। वे गर्भ में ही वाङ्निश्चय (=मंगनी) कर देते हैं। यह क्या है? धर्म, अर्थ और काम इनके विषय में विवाह काल में प्रतिज्ञा होती है। उस प्रतिज्ञा को [उचित] वय प्राप्त किये विना पुत्र और पुत्री कैसे पूर्ण कर सकते हैं? प्राचीन आर्य लोगों में सबको विद्याभ्यास करना चाहिये, ऐसा नियम था। विद्याभ्यास से विवाह के लिये वधु और वर के योग्य हुए विना राजसभा विवाह नहीं होने देती थी। अस्तु,

जनमेजय के राज्य होने तक चारों वर्णों में परस्पर व्यवहार होता था और सामाजिक नियम, राजसभा, धर्मसभा, विद्यासभा के प्रबन्ध में यथावत् चलते थे। चारों वर्णों का व्यवहार परस्पर होता था। इस विषय का प्रमाण राजसूय-पर्व[2] और अश्वमेध-पर्व में देखो तो अच्छी तरह विदित हो जायेगा। मनु ने कहा है कि—

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्।[3]

प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार बराबर थे।[4] इस समय तो सब [प्रबन्ध] उलटे हो गये हैं। एक आध घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे लोगों के धर्म के टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी खुली रखी कि धर्म गया, अंगरखा लम्बा

---

[1] अर्थात् बकरी और पशु को कान से पकड़ कर दूसरे को दे देते हैं उस प्रकार लड़की का विवाह करना।

[2] महाभारत के सभापर्व के अन्तर्गत। [3] मनु० ५।१२९॥

[4] **अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।**
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ निरु० ३।४ में उद्धृत।

पहना कि धर्म गया । खाने-पीने के प्रतिबन्ध तो अत्यन्त कड़े हो गये । युद्ध करने वाले लोगों का ऐसे प्रतिबन्ध के प्रति लक्ष्य देने से खुले मन से लड़ना तो एक तरफ रह गया, परन्तु उनकी सारी पवित्रता पर चौका लगा दिया । प्राचीन काल में सब क्षत्रिय राजा और ऋषि आदि ब्राह्मण एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन किया करते थे । इस समय इस प्रकार की रीति सिक्ख लोगों में रणजीतसिंह के समय तक थी । व्यर्थ झूठी बातों की प्रतिष्ठा से तो सिद्धि कभी होती नहीं । ब्राह्मण लोग शुद्धाशुद्ध का ढोंग मचाते हैं, परन्तु वह ढोंग हींग शक्कर ऐसे पदार्थों का सेवन करते समय कहां चला जाता है ? दृष्टि पड़े तो दोष होता है, ऐसा कहते हैं तो जो भूल से (=विना देखे) भांग खा ली जाये तो क्या वह नहीं चढेगी ?

मुख्य जातियों में छोटी छोटी गौण जातियों की अधिकता होने से जाति-संबन्धी खर्च बहुत बढ़ गया है । कोई मरे, अथवा किसी का विवाह हो, सब लोगों को गुजरात में खिलाना पड़ता है । इसका क्या अर्थ है ? एक का मरना और उसके वंशजों को कर्ज में जन्म-जन्मान्तर तक डुबाना । इससे बढ़ कर बड़ा पागलपन क्या है ? अस्तु इन जातियों के झगड़ों और खाने पीने में प्रतिबन्ध होने से युद्ध में कैसी कैसी अड़चनें आती हैं, इस बिषय की एक बात कहता हूं, वह सुनने योग्य है ।

पञ्जाब के राजा रणजीतसिंह का हरिसिंह [नलवा एक प्रसिद्ध] सरदार था । उसने काबुल कन्धार पर चढ़ाई की और काबुल कन्धार पर अधिकार कर लिया । उस समय मुसलमानों ने 'हिन्दू शत्रु है' ऐसा समझकर उनके लिये एक युक्ति सोची । वह ऐसी थी कि इनकी जो अन्न-सामग्री आ रही थी उसे रास्ते में रोक दिया । दोपहर का समय हो गया तब हरिसिंह के सिपाही लोग भूख से व्याकुल होकर घबड़ाने लगे । तब स्वाभाविक रू से सब सिपाही हरिसिंह के पास गये । अनन्तर हरिसिंह ने उलटी युक्ति निकाली । उसने सिपाहियों को ऐसी आज्ञा दी कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा करो । आज्ञा के अनुसार सिपाहियों ने धावा कर दिया और मुसलमान लोगों ने जो अन्न अपने लिये तैयार किया था [वह सब लूट

लाये और] उसका एक ढेर हरिसिंह के पास लगा दिया फिर हरिसिंह ने कहा सूवर का एक दांत ले आओ [वेदांत ले आये] हरिसिंह ने सूवर का दांत उस प्राप्त हुए अन्न के चारों ओर फेर दिया और अन्न शुद्ध कर दिया और सिपाही लोगों को आज्ञा दी अब यह सारा अन्न शुद्ध हो गया। हिन्दुओं को इस अन्न के खाने में कुछ दोष नहीं ५ है। अनन्तर सिपाही इस अन्न को खाकर संकट से पार हुए। तो ऐसा शूरपना विना होये हमारा बेड़ा पार लगेगा नहीं। इसका सुनने वालो विचार करो।

—:o:—

बारहवां-प्रवचन

इतिहास-विषयक

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ३१ जुलाई[1] के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया। उसका सारांश—

ओं यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥[2]

(ऐसी ऋचा पढ़ी।)

(इतिहास आगे चालू)

पूर्व प्रसङ्ग में प्राचीन आर्य लोगों का इतिहास चित्रांगद और [वि]चित्रवीर्य इनके शासन तक पहुंचा था। प्राचीन आर्य लोगों में ब्रह्मचर्य बहुत वर्ष पर्यन्त पालन करने की रीति थी। बाल-विवाह का प्रचार बिलकुल नहीं था। कारण, प्राचीन लेखों में सब प्रसङ्गों में स्वयंवर का ही वर्णन किया है। विधवा-विवाह केवल शूद्रों में चालू था और नियोग ब्राह्मण आदि तीन वर्णों में चालू था। विधवा-विवाह के निषेधक पक्ष को उपस्थित करके उस का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है, परन्तु इतना कहने के लिये विवश हूं कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं। कारण, ईश्वर न्यायकारी है। अतः उसमें पक्षपात का लेश भी सम्भव नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की स्वतन्त्रता है तो स्त्रियों का दूसरा विवाह क्यों न होवे। प्राचीन आर्य लोग जितेन्द्रिय, विचारशील और ज्ञानी थे। आजकल के लोग अनार्य हो गये। पुरुष चाहे जितनी स्त्रियां कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र-मर्यादा का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं? क्या यह अधर्म नहीं?

---

[1] श्रावण कृष्णा १४, सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में आषाढ़ कृष्णा १४)।

[2] यजु: ३६।२२॥

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि ऐसी विदुषी स्त्रियां हो गई हैं। [आजकल] 'स्त्री को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं और वह शूद्र के समान है' ऐसे अर्वाचीन पण्डितों के पागलपन युक्त भाषणों को [वे] सर्वथा न सुनती, एक घड़ी में खण्डन करके फेंक देतीं। अब यदि इस समय हम लोगों में बाल-विवाह का प्रचलन न होता तो विधवाओं की संख्या कम होती, इतनी बाल हत्यायें न होतीं और लोगों में रोग न्यून होते। प्राचीन आर्य लोगों में कोई एक आध धनाढ्य पुरुष निस्सन्तान होता था तो सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नियत करने के लिये आर्यसभा में विचार होता था। विधवा स्त्री होती, तो उसको पुत्रोत्पत्ति के लिये नियोग की आज्ञा दी जाती थी। शेष सब प्रसङ्गों में विधवाएं ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन जैसे विद्वान् कुलों में प्रायः नियोग से निर्वाह होता था। अब नियोग और पुनर्विवाह में क्या अन्तर है? ऐसा कोई विचार करे तो इसका उत्तर है कि पुनर्विवाह से स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी के रूप में जन्मभर के लिये संबन्ध होता है और जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे द्वितीय पति की समझी जाती हैं। [इसके विपरीत] नियोग का सम्बन्ध एक या दो सन्तान उत्पन्न होने तक रहता है। इसके पश्चात् स्त्री-पुरुषों का सर्वथा वियोग होता है [अर्थात् परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता है]। वे एक या दो पुत्र पूर्व पति के ही समझे जाते हैं। और उसी का नाम चलाते हैं। आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है। कारण, विधवा-विवाह की आज्ञा मिल जाये तो स्त्रियां पूर्व पति को विष देकर मारना आरम्भ कर दें और पहले पति की सम्पत्ति लेकर स्त्री दूसरे पति से विवाह कर लेगी तो सहज ही ऐसी स्त्रियों और से पति के मध्य पूर्व पति के सम्बन्धियों से बहुत से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों की कोटि में गिनी जाती थी। अस्तु,

मम हृदये हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि।
मम वाचनेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्ति॥'

---

१. द्र० हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १।५।११। गृह्यसूत्र में अन्तिम चरण 'बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्' है। यह मन्त्र हि० गृह्यसूत्र में उपनयन के

इस रीति से प्रतिज्ञा होने पर बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इनका अर्थ कुछ नहीं जानते और उन [मन्त्रों] का अर्थ कोई बताता नहीं। आजकल के ब्राह्मण कहते हैं कि केवल मन्त्र सुनने से पुण्य होता है; चाहे उसका अर्थ मन्त्र बोलने वाला समझे वा न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा दी कि सब धर्मविधि सिद्ध हो गई। वाह रे! तुम्हारी सामाजिक-व्यवस्था? आजकल के लोगों की सामाजिक व्यवस्था देखकर 'विधवा-विवाह सब प्रकार अच्छा है' ऐसा मानना पड़ता है। और यह बात प्राचीन आर्य लोगों के व्यवहार के विरुद्ध नहीं है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में व्याख्या की है, उसे देखो।

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥
ऋ० सं०[1]

प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को बराबर अपने साथ रखकर प्रवास करते थे। इस व्यवहार में ऊपर कहे गये मन्त्र

प्रकरण में पढ़ा है। प्रवक्ता ने विवाह प्रकरणस्थ प्रतिज्ञा में उद्धृत किया है। इस गृह्यसूत्र में विवाह प्रकरण में यह मन्त्र नहीं है। परन्तु अन्य गृह्यसूत्रों में उद्धृत मन्त्र पाठ के अनुसार यहां **बृहस्पतिस्त्वा** के स्थान में **प्रजापतिस्त्वा** का ऊह करके विवाह प्रकरण योग्य उपपन्न हो जाता है। यथा—

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन प्रकरण २।२।१६ में मन्त्र पढ़ा है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

पारस्कर गृह्य में ही विवाह प्रकरण (१।८।५) में यही मन्त्र **बृहस्पतिष्ट्वा** के स्थान में **प्रजापतिष्ट्वा** पाठ भेद से पठित है। उपनयन का संबन्ध विद्या के साथ है। उसका देवता 'बृहस्पति' है। विवाह का सम्बन्ध प्रजा के साथ है। उसका देवता 'प्रजापति' है। इस प्रकार एक ही मन्त्र यथोचित देवता के ऊह से स्वप्रकरणानुसारी बन जाता है। अतः यहां प्रवक्ता के मत में विवाह प्रकरण में उक्त मन्त्र में **प्रजापतिस्त्वा** ऊह के द्वारा निर्देश में तात्पर्य जानना चाहिये।

[1] ऋ० १०।४०।२॥ मराठी सं० में मन्त्र पाठ में छपी अशुद्धि दूर कर दी है।

का सम्बन्ध है। **विधवा देवरमिव** इस मन्त्र में देवर शब्द का अर्थ 'पति का छोटा भाई' ऐसा करते हैं वह अशुद्ध है। निरुक्त में 'पुनर्विवाहित स्त्री का दूसरा पति' ऐसा देवर शब्द का अर्थ लिखा है—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरुक्त०[1]।

ऋग्वेद में **उदीर्ष्व नारि**[2] ऐसा मन्त्र है, उसे देखो!

इसी प्रसङ्ग में एक बात और बताने योग्य है। वह यह कि पति के जीवित रहते हुए भी सन्तानराहित्य आदि कितने ही प्रसङ्गों में नियोग की आज्ञा मिलती थी। नियोग दस बार करने की आज्ञा थी।

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिः तुरीयस्तु मनुष्यजाः॥ ऋ० सं०[3]
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥[4]

इस मन्त्र का असंगत अर्थ करते हैं, वह ग्राह्य नहीं है। सजातीय पति तो पति नहीं, तो यों ही व्यर्थ इन्द्र वायु इत्यादि विजातीय को डालकर संख्या भरने की क्या आवश्यकता[5]?

फिर नियोग के विषय में मनु ने ऐसा कहा है कि—

---

[1] निरुक्त ३।१५॥ निरुक्त का उक्त पाठ मराठी सं० में अगले 'ऋग्वेद में ·········उसे देखो' के आगे अस्थान में मुद्रित है।

[2] ऋ० १०।१८।८॥ पूरा मन्त्र पाठ इस प्रकार है—

उदीर्ष्वनार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूव॥

[3] ऋ० १०।८५।४०॥ [4] ऋ० १०।८५।४५॥

[5] यहां जिस अर्थ को असंगत कहने का संकेत है, वह किस भाष्यकार की ओर है, हमें ज्ञात नहीं। इन्द्र वायु आदि को डालकर १०-११ संख्या की पूर्ति किस ने की है, यह भी हमें ज्ञात नहीं। हो सकता है पूर्व (पृष्ठ ४००) पाण्डु की स्त्रियों में इन्द्र वायु यम अश्विनीकुमारों से जिस नियोग का उल्लेख किया है, उसमें पौराणिक इन्द्रादि को सजातीय मनुष्य न मानकर विजातीय देव विशेष मानते हैं, उसकी ओर यह संकेत हो।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥[1]

प्राचीन आर्य लोगों में पति के जीते हुए भी नियोग होता था। इस में भारत की कथा के पुष्कल उदाहरण हैं।

व्यास बड़े पण्डित और भद्र पुरुष (=धर्मात्मा) थे। उन्होंने [वि]चित्रवीर्य और चित्राङ्गद की स्त्रियों से नियोग किया और उनमें से एक से धृतराष्ट्र और दूसरी से पाण्डु ये पुत्र उत्पन्न हुए। तदनन्तर पाण्डु के जीवित रहते हुए उसकी स्त्रियों ने परपुरुषों के साथ नियोग किया था। ऐसा वर्णन पहले कर चुके हैं। इस प्रकार [नियोग का] उस समय प्रचार था। इस कारण पुनर्विवाह की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी। इस समय में नियोग और पुनर्विवाह दोनों के बन्द होने से आजकल के आर्य लोगों में जो भ्रष्टाचार फैला हुआ है उसे आप लोग देखें। हजारों गर्भ गिराये जाते हैं। दो भ्रूण हत्या हुई कि मानो एक ब्रह्म हत्या हुई। इस तरह इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें होती हैं। इसकी गणना नहीं हो सकती। परन्तु इन सब पापों का बोझ आजकल के आर्य लोगों के सिर पर है।

प्राचीन उत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था के बिगड़ने से हमारे देश की कैसी दुर्दशा हो रही है, उसे देखो। वेदमार्ग को एक ओर ढकेल कर पुष्टिमार्ग चमक रहा है। महन्तों और महाराजों के चारों ओर इधर-उधर चैन चल रहो है [अर्थात् राजसी ठाठ लगे हुए हैं]। देवालयों, मन्दिरों और मठों में पाप का जमघट लगा है। कितने गर्भ गिराये जाते हैं कौन जाने। यह समय पाप दुराचार और अनर्थ का है। अस्तु,

जब तक सामाजिक व्यवस्था में योग्य विचारों का बल नहीं चलता, भटों (स्वार्थी लम्पट) भिक्षुओं के और शास्त्री लोगों के कहने के अनुसार लोकाचार की जबरदस्ती चलेगी और परम्परा हो खरी की बड़ी है, ऐसा मानते रहेंगे तब तक देश की उन्नति कभी नहीं होगी। धर्म-सम्बन्ध में लोग परम्परा श्रेष्ठता मानते हैं, परन्तु लौकिक व्यवहार में बाप गरीब होवे तो क्या परम्परा के

---

[1] मनु ९।५९॥ मराठी सं० में 'प्रजेप्सिताविमन्तव्या' अपपाठ है।

अभिमान से लोग गरीब रहते हैं क्या ? बाप अन्धा है तो लोग परम्परा के अभिमान से आंखें फोड़ लेते हैं क्या ?

मध्यकाल की झूठी परम्परा का अभिमान हमें छोड़ना चाहिये और सत्य और सदुपदेश करनेहारे जो ऋषि-मुनि और वेद, इनके द्वारा कही गई परम्परा का अभिमान रखना चाहिये। अस्तु,

अब इतिहास का विषय पुनः चालू करते हैं—

धृतराष्ट्र राजा स्वभाव से कपटी था और पाण्डु स्वभाव से शुद्ध (=धर्मात्मा) था। पाण्डु की एक स्त्री माद्री सती हो गई थी। वेद की आज्ञा सती होने के लिये नहीं है। अतः वेद-विरुद्ध यह कुरीति सती होने की बात पाण्डु राजा के समय प्रथम घटी थी। दोनों कौरवों और पाण्डवों के विद्याभ्यास के विषय में बहुत उत्तम लक्ष्य दिया और धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के आधीन कर दिया। उस समय ब्राह्मण आचार्य युद्ध-क्रिया के कार्य में अग्रसर हाते थे। अनन्तर गुरु से अर्जुन ने धनुर्वेद में सब से अधिक अध्ययन करके युद्ध-क्रिया में उत्तम योग्यता और कीर्ति प्राप्त की। अर्जुन की बराबरी करने वाला एक कर्ण ही था। परन्तु कर्ण सूतपुत्र था अर्थात् हलकी स्थिति में था। इस लिये अर्जुन ने कर्ण का तिरस्कार किया, परन्तु कर्ण का पराक्रम जानकर अर्जुन का बदला लेने के लिये दुर्योधन ने उसे बंगाल का राजा बनाकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार दे दिया। इस प्रकार इस प्राचीन राजकुन में दुरभियान उत्पन्न होकर झगड़ा हुआ और उस झगड़े के कारण अपने सम्पूर्ण आर्यावर्त की दुर्दशा हुई। वह वर्णन करने योग्य नहीं है।

उस समय धृतराष्ट्र के पास एक कामुक नीच छिछोरा कनक नाम का शास्त्री रहता था। उसने धृतराष्ट्र के मन में असंगत बातें पाण्डवों के सम्बन्ध में भर दीं। फिर इसी दुष्ट शास्त्री के परामर्श से धृतराष्ट्र के मन में 'लाक्षा-गृह बना कर पाण्डवों से छल करो' ऐसा भर दिया। और राजसभा की व्यवस्था तो पहले ही बिगड़ चुकी थी। राजसभा का अधिकार एक के ही पास था और शकुनि, दुःशासन, धृतराष्ट्र[1] और

---

[1] यहां 'धृतराष्ट्र' के स्थान में 'दुर्योधन' शब्द होना चाहिये।

कनक शास्त्री इनकी एक चण्डाल-चौकड़ी जम गई। अनन्तर इस चण्डाल-चौकड़ी की सलाह से जो जो राज्यव्यवस्था हुई, उसका भयानक परिणाम कुल-नाश देश-नाश कैसा हुआ यह महाभारत में वर्णित है।

विदुर को इस दुर्योधन की चण्डाल-चौकड़ी के मनसूबे ज्ञात थे। लाक्षा-गृह विषय का परिज्ञान विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में करा दिया। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी। इस कारण पाण्डव सावधान होकर संकट से पार हो गये [अर्थात् लाक्षा-गृह में जलने से बच गये]। ऐसा वर्णन है।

देखो, भीष्म को, विदुर को [और युधिष्ठिर को] बहुत सी भाषाएं आती थीं और वे म्लेच्छ भाषा में से ही अरबी भाषा बोलते थे। यह बात आजकल के शास्त्री जनों से कहो और म्लेच्छ भाषा अथवा यावनी भाषा सीखने में कोई दोष नहीं, ऐसा कहें तो—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।। मतलब सिन्धु

इस श्लोक का शास्त्री लोग हमारे मत पर प्रहार करने के विना न रहेंगे।

मत्स्यवेध के विषय में अर्जुन की बड़ी प्रशंसा की जाती है, परन्तु हमारे देश में शूर कुशल पुरुष नहीं से हो गये [अर्थात् नहीं रहे], ऐसा नहीं है। मैंने मत्स्यवेध की अपेक्षा नाना प्रकार के दूसरे कठिन और वेध करते हुए राजपूत लोगों को देखा है।

कर्ण के थोड़े से अपमान से[1] उसने द्रौपदी को [राजसभा में बुलाकर] यन्त्रणा देने का प्रबन्ध किया। यह कथा सब को ज्ञात ही है।

राजसभा ने निर्णय किया कि राज्य युधिष्ठिर के पास होना चाहिये [अर्थात् युधिष्ठिर को राजा बनाया जावे]। परन्तु अत्याचार से धृतराष्ट्र ने [अधिकार] हथिया लिया। इसके पश्चात् जो-जो कष्ट पाण्डवों को भोगने पड़े, वे सब को विदित हैं। फिर पाण्डवों

---

[1] कर्ण का अपमान स्वयंवर के समय दौपदी ने 'सूत-पुत्र' कह कर किया था। उसका बदला कर्ण ने लिया।

का जब वैभव हुआ तब उन्होंने राजसूय यज्ञ किया। और मय नामक एक बड़ा शिल्पी था। उसने एक विलक्षण सभा बनाई। (प्राचीन आर्य लोगों की शिल्प-विद्या का इतिहास सुनने योग्य है)।[२] अस्तु,

इस राजसूय यज्ञ में सहस्रों मनुष्य आये थे। उस सभा में रचना-कौशल से पक्की जमीन के स्थान में जल का आभास होने से पानी समझकर दुर्योधन ने जमीन पर चलते हुए वस्त्रों को जब उठाकर समेट लिया तब 'अन्धे का पुत्र भी अन्धा ही है' ऐसा भीमसेन ने उद्धतपने (=अक्खड़पने) से कह दिया। उधर कनक शास्त्री ने अपने स्वभाव के अनुरूप कपटी योजना बनाकर चिड़ाया। उस समय अर्जुन और कृष्ण ने दुर्योधन को समझा-बुझा दिया। अनन्तर एक बड़ा भोज आरम्भ हुआ जिसमें ऋषि-मुनि [ब्राह्मण] क्षत्रिय राजे, वैश्य और शूद्र इन सब ने आनन्द से एक स्थान में बैठकर भोजन किया।

अनन्तर कपट-द्यूत करके युधिष्ठिर आदि को साहसिक प्रतिज्ञा में फंसा कर बनवास और अज्ञातवास दिया। विराट नगरी में रहते हुए अर्जुन ने विराटराजा की कन्या उत्तरा को नृत्य सिखाया था। इस प्रकार प्राचीन काल में राज-कन्याएं नृत्य सीखती थीं [यह स्पष्ट है]। चक्रवती राज्य का नाश आपस में लड़ाई बखेड़ा हुए बिना कभी नहीं होता। ऐसा प्रसंग कुरुकुल में उत्पन्न हुआ। इसी समय प्राचीन आर्य लोगों में बहुत से दुर्गुण उत्पन्न होने लगे। इन के उदाहरण—

भीष्म सरीखे व्रतस्थ और ज्ञान-संपन्न पुरुष ने स्वतन्त्र अधिकार से कौरव और पाण्डवों के मध्य मध्यस्थता न करके दीनपने से परवशता स्वीकार करके सारे कुल का नाश होने दिया। उस भद्र पुरुष का वचन इस प्रकार है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति मत्वा महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

---

२. यह पाठ सन् १८७५ के मराठी संस्करण में ही (   ) कोष्ठान्तर्गत छापा है।

'धन ने मुझे कौरवों से बांध रक्खा है' यह भाषरग भीष्म सदृश भद्र पुरुष का अतिनिन्द्य था ।

इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट होने से और कलह बढ़ने से भीष्म द्रोरग दुर्योधन आदि कौरव एक तरफ हुए और पाण्डव दूसरी तरफ हुए और बड़ा भारी युद्ध हुआ । इसमें कृप, कृतवर्मा, सात्यकि, पाण्डव और कृष्ण ये ही जीवित रहे[1] और शेष सब कौरव-पाण्डव-कुल का नाश हो गया । प्राचीन आर्य लोगों का इस युद्ध से सर्वथा ही नाश हो गया ।

इस [अनर्थ] का कारण इतना ही था कि ऐरे गैरे लोगों के आधीन सम्मति देने का अधिकार चला गया और अयोग्य लोग उपदेश (=परामर्श) देने लगे । जहां शकुनि सदृश [क्षुद्रमनस्क] की सम्मति से राज्य चले और कनक शास्त्री सदृश धर्माधर्म का निर्णय करें, वहां घर का घर में युद्ध होकर नाश हो गया, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

इसी प्रकार जिस देश में केवल सचाई के अभिमान से [मार्टिन] लूथर सदृश धीर हजारों पुरुष लोक-विरुद्ध पक्ष होते हुए पोप के अधिकार के विरुद्ध उपदेश करने लगे और अपने प्राण न्योछावर कर दिये वहां उन्नति हुई, ऐश्वर्य प्राप्त हुआ तो इसमें आश्चर्य क्या ?

इस प्रकार कुरु-कुल का नाश हो गया । द्वारका में कृष्ण राज्य करते थे ।[2] वहां यादव कुल का बड़ा संघ था । उनमें दुर्बुद्धि और दुर्व्यसन के कारण आपस में वैर बढ़ने लगा । उससे एक साथ यादव कुल समूल नाश हो गया । स्त्रियां मात्र बच गईं, पुरुष मर गये । देखो दुर्गुणों का चमत्कार !! बलदेव मद्य पीकर पागल हो गया, वह डूबकर मर गया । सात्यकि सांप से लड़ा । जहां ऐसे व्यसन और साहस (= मूर्खता) के काम होने लगें, वहां श्रीकृष्ण

---

[1] यहां प्रधान पुरुषों का उल्लेख है । अश्वत्थामा आदि अनेक जन युद्ध में बचे थे ।

[2] श्रीकृष्ण वस्तुतः अभिषिक्त राजा नहीं थे, परन्तु वे विना अभिषेक के ही सब के हृदय-सम्राट् थे । अतः उनका निर्देश प्रायः सभी मानते थे । इस रूप मेंउन के लिये 'राज्य करते थे' कहा गया है । ऐसा जानना चाहिये ।

सदृश भद्र पुरुष की बात कौन सुने ? इस प्रकार प्राचीन लोगों के मध्य युद्ध होने के पश्चात् केवल उनकी स्त्रियां ही शेष रह रईं ।

इन में परिक्षित नाम का एक बच्चा शेष रहा। वह सहजरूप से मूर्ख निकला। उसे आर्य (आर्ष) ग्रन्थ समझ में नहीं आते थे। इसी कारण उस के समय से पुराणों की प्रवृत्ति होने लगी। उसके पश्चात् दूसरा एक जनमेजय नाम का विक्षिप्त सा राजा हुआ। उसके पीछे वज्रनाभ[1] ने राज्य किया। अस्तु इतने समय में जो कुछ वैभव था, वह नहीं सा हो गया [अर्थात् नष्ट हो गया]। राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा तीनों डूब गईं। केवल एक ही राजा की इच्छा पर अवलम्बन (=आधरित) रहने लगा। श्रेष्ठ और विद्वान् लोगों का प्रवर्तन और निर्वर्तन (=विधि-निषेध) का अधिकार नष्ट हो गया। व्यास जैमिनि और वैशम्गमन आदि मर गये। चक्रवर्ती राजा नहीं से होकर सब माण्डलिक राजा हो गये। ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी हो गई और अभिमान बढ़ गया। **ब्रह्मवाक्यं जनार्दन। ब्राह्मणास्तु भूदेवाः**। इस प्रकार की पागलपन की समझ लोगों में फैलने से लोगों के मन पशुतुल्य जड़ हो गये।

पदे विप्रस्य दक्षिणे सर्वाणि तीर्थानि[2] ।

ऐसे मतलब सिन्धु लोगों के जाल रूप विचारों में विचारे भोले लोग फंस गये। अनन्तर इस प्रकार ब्राह्मण लोगों की सत्ता बढ़ी। उन्होंने सब लोगों में अपना चसका लगाकर अपनी जिविका जैसा करने से चले उस प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, प्रायश्चित्त, श्राद्ध और मूर्तिपूजा आदि मूर्खतापूर्ण चालें (प्रथाएं) लोगों में चालू कीं। मुहूर्त बताने की खटपट से मूर्ख जड़ लोगों को अपने आधीन कर लिया और राजकार-स्थान से भ्रष्ट हुए।

---

[1] जनमेजय के पश्चात् वज्रनाथ नाम हमें भारतवर्ष की पुरानी राजवंशावलियों में कहीं नहीं मिला। स० प्र० समु० ११ के अन्त में जनमेजय के पश्चात् अश्वमेध[दत्त] का नाम मिलता है। भागवत पुराण में शतानीक नाम है, अन्यपुराणों में सहसानीक नाम मिलता है।

[2] इस का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि सर्वाणि सागरे।
सागरे यानि तीर्थानि पदे विप्रस्य दक्षिणे ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ।।
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ।।

प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में क्षेपक वचन डालकर और [ऊपर] लिखे हुए श्लोकों के समान नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता बढ़ाई और अपने पक्ष के पक्षपाती विषय बनाकर [मन्त्रादि स्मृतियों में] डाल दिये । इसका दृष्टान्त मनु[1] यह वाक्य देखो—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं हि दैवतं तत् ।। म०अ० ९

ऐसे ब्राह्मणों का द्वेष करनेवाला कोई निकला कि उसे 'ब्रह्मद्रोही' ऐसा नाम देकर उसकी हड्डी-हड्डी निकाल लेते थे । ब्राह्मणों को कभी भी दण्ड न मिलने से उनमें सब दुर्गुण उत्पन्न हो गये । और पुण्य (=सदाचार) क्षीण होने से दम्भ और अत्याचार बढ़ गया और उसी प्रमाण में अज्ञान भी बढ़ा । [जब] देश की ऐसी दुर्दशा हुई तब गाजीपुर नगरी में बौद्ध राज-पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने वेदों की निन्दा करके ब्राह्मणों के अत्याचार से दूसरे सब वर्णों को मुक्त करने का मार्ग निकाला । इसके उपदेश से हजारों लोग बौद्ध धर्मानुयायी बन गये । बौद्ध और उसके अनन्तर जैन मत का प्रसार होने से एकेश्वर की भक्ति समाप्त हो गई और मूर्ति-पूजा उत्पन्न (प्रचलित) हुई । बौद्ध और जैन धर्म[3] में ईश्वर को नहीं मानते । [उन में जो] तीर्थंकर अर्थात् भद्रपुरुष उत्पन्न हो चुके, उनकी ही भक्ति करना बताया । इस सम्बन्ध से बौद्ध लोगों में अपने से श्रेष्ठ पुरुषों की पत्थर की मूर्तियां बनाकर रखने का प्रचलन है । बौद्ध लोग वा जैन लोग पारसनाथ, आदिनाथ, महावीर इन को तीर्थंकर अर्थात् श्रेष्ठ [पुरुषों को] देव समान समझकर प्रतिष्ठा देते हैं । और प्रथम जैन लोगों ने पारसनाथ आदि की मूर्ति बनाकर पूजना आरम्भ

---

१. अर्थात् मनु के नाम से बनाया हुआ ।

२. प्रवक्ता धर्म एक ही मानते है । अतः उन के मत में शेष सब 'मत' अथवा 'सम्प्रदाय' हैं ।

३. द्र० इसी पृष्ठ की टि० २।

किया। अनन्तर वेद-प्रणीत (=वेद-प्रतिपादित) जो एकेश्वरी धर्म वह एक ओर पड़ गया (=नष्ट हो गया) और ईश्वरप्रणीत वेदमार्ग डूब गया। इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों की मूर्तियों और चित्रों की पूजा होने लगी और उसी समय मूर्ति की स्थापना करके मन्दिर बनाने का खटाटोप (=महान् प्रयत्न) करने लगे और सारा पुण्य मन्दिरों में जाकर मूर्ति के दर्शन करने में है, ऐसा लोग मानने लगे। जैन लोग बड़े खटपटी होते हैं। उन्होंने 'वेदमार्ग का लोप होवे' इसलिये उन (वेदों) पर बड़े दूषण दिये [अर्थात् आक्षेप किये]। "वेद में अश्लील कथाए हैं, वेद में हिंसा है, वेद में बहुदेवतावाद है और वेदों में क्षत्रिय वैश्य इन जातियों के सम्बन्ध में पक्षपात है।" ऐसे झूठे दूषण जैन न देकर पूर्णतया ब्राह्मणों का खण्डन किया। इससे वर्णाश्रम आदि सामाजिक नियम नष्ट हुए। इतना ही नहीं, किन्तु हजारों प्राचीन आर्य (आर्ष) ग्रन्थ जलाकर नष्ट कर किये।[1]

अनन्तर गौड़पाद आचार्य के प्रख्यात शिष्य शङ्कराचार्य उत्पन्न हुए। शङ्कराचार्य वेदमार्ग और वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले थे। इन की योग्यता कितनी थी, यह उनके बनाये शारीरक भाष्य के अवलोकन से जानी जाती है। शंकराचार्य के समय में जो-जो नानाविध पाखण्ड मत चालू थे और जिनका उन्होंने खण्डन किया था, उनके विषय में शंकरविजय के नीचे लिखे वचन से जाना जाता है—

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवैर्
अन्यैरप्यखिलैः [2]खलैः खलु खिलं दुर्वादिभिर्वैदिकम्। इत्यादि

ऐसा जो लेख है इससे शङ्कराचार्य ने [वेद विरुद्धमतों के खण्डन में] कितना उद्योग किया, यह जाना जा सकता है।

—:o—

---

[1] प्राचीन ग्रन्थों के नष्ट करने का उल्लेख पूर्व व्याख्यान ५ (पृष्ठ ३०९, पं० १५-२०) तथा व्याख्यान १० (पृष्ठ ३८४, पं० १९-२०) में भी किया है।

[2] शंकरदिग्विजय सर्ग १५, श्लोक ६४ में 'खिलं खलु खलैर्दु०' पाठ है।

तेरहवां-प्रवचन

आह्निक अथवा नित्यकर्म और मुक्ति[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २ अगस्त[2] के दिन [रात्रि के आठ बजे] आह्निक अथवा नित्यकर्म और मुक्ति विषय पर व्याख्यान दिया। उसका सारांश—

ओम् भद्रं कर्णेभिःशृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।।[3]

प्रतिदिन प्रत्येक स्त्री-पुरुष के करने के जो कर्म हैं, उनको 'आह्नि-कर्म' ऐसा कहते हैं। धर्म-सम्बन्धी करने के जो कर्म वे नित्य-कर्म कहाते हैं। इन कर्मों को कोई किस प्रकार और कहां तक करे और कौन न करे, इस विषय में अधिकार के तारतम्य (=नैयूनाधिक्य) का विचार [किया जाता] है। बालक मूर्ख होने तथा छोटा होने से माता-पिता के आधीन रहता है। साथ ही साथ आठ वर्ष का

---

[1] मराठी सं० (१८७५) में तेरहवां व्याख्यान 'आह्निक अथवा नित्य-कर्म और मुक्ति' विषय पर है। हिन्दी संस्करणों में तथा तुंगार महोदय के मराठी संस्करण में यह विषय चौदवें व्याख्यान में छपा हुआ मिलता है। और मराठी सं० (१८७५) में चौदहुां व्याख्यान 'इतिहास-विषयक' है, जो हिन्दी संस्करणों में तथा तुंगार महोदय के मराठी सं० में तेरहवें व्याख्यान के रूप में छपा है। इस अदला बदली का कारण सम्भवतः इतिहास-विषयक व्याख्यानों को क्रमशः देना है। परन्तु इससे १३ वें १४ वें व्याख्यानों की तारीखों में अन्तर पड़ जाता है। हिन्दी संस्करणों में तो तारीखें दी नहीं हैं और नुंगार महोदय के मराठी सें १२ वें व्याख्यान से १५ वें व्याख्यान तक की तारीखें कल्पित हैं। द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २५०-२५२।

[2] श्रावण कृष्णा १४, सं० १९३९ (दाक्षिणात्य मत में आषढ कृष्णा १४)।

[3] यजुः २५।२१

होने तक उसके शरीर में धर्म-सम्बन्धी क्रिया करने का सामर्थ्य नहीं होता है। इसलिये हमारे शास्त्रों के अनुसार व्रतबन्ध (=यज्ञोपवीत) होने तक कर्म-अकर्म का छोटे बालकों के लिये प्रतिबन्ध नहीं रखा है। इसी प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, वय और शारीरिक सामर्थ्य इत्यादि के अनुसार नित्यकर्म के विषय में स्थिति देखकर व्यवस्था शास्त्रों में कही है। धर्मानुष्ठान-सम्बन्धी नित्यकर्म नीचे कहे अनुसार हैं—

प्रथम नित्यकर्म ब्रह्मयज्ञ—वह नित्य अध्ययन-अध्यापनरूप है। ब्रह्म अर्थात् विद्या, ब्रह्म अर्थात् वेद, ब्रह्म अर्थात् परमात्मा। ऐसे ब्रह्म शब्द के अर्थ हैं। यज्ञ अर्थात् विचार। इससे ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेद-विचार, परमात्म-विषयक विचार, ऐसा अर्थ होता है। ब्रह्मयज्ञ का यह शुद्ध अर्थ मन में भासता है। आजकल जो ब्रह्मयज्ञ प्रचलित है, वह केवल निष्फल विधि है, ऐसा सहज ही जाना जाता है। तो फिर आजकल का ब्रह्मयज्ञ अशास्त्रीय है, ऐसी शंका नहीं होगी क्या? नित्य ब्रह्मयज्ञ करना यह मनुष्यों का ही अधिकार और बड़ा अधिकार है। अस्तु—

नित्यकर्मों में प्रथम ब्रह्मयज्ञ, **दूसरा देवयज्ञ**—

यत्स्वाध्यायमधीते स ब्रह्मयज्ञः। यदग्नौ क्रियते स देवयज्ञः। (ब्राह्मण और मनु में देखो)[1]।

देवयज्ञ का अर्थ कोई लोग प्रचलित देवपूजा समझते हैं। परन्तु उसका शुद्ध अर्थ होमविधि, अग्निहोत्र कर्म यह है। अग्नि दो प्रकार की है—जठराग्नि और बाह्याग्नि।

होमैर्देवान् यथाविधि अर्चयेत्।[2]

होम शब्द का लाक्षणिक रीति से [अर्थात् लक्षणा से] कभी कभी दान और प्रतिग्रह(=दान लेना) भी होता है। परन्तु जड़ मूर्ति पूजा का किसी रीति से देवयज्ञ में समावेश नहीं होता है।

---

१. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः।·········य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्याय-मधीते। शत० ११।५।६।३॥

२. मनु ३।८१॥ ऊपर के उद्धरण में 'अर्चयेत्' पद का वाक्यपूर्त्यर्थ '**स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन्**' से अनुषङ्ग (योग) है।

तीसरा नित्यकर्म पितृ-यज्ञ—यत् पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः । यहां 'पितृ' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिये।

न तेन वृद्धो भवति० स्थविरं विदुः ॥[1]
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥[2]
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥[3]

सुनीति, धर्म, सत्य, सदाचरण, इस प्रकार के गुणों का आधिक्य अथवा शील का आधिक्य जिसमें अधिक हो वह महान् अथवा महात्मा। इस प्रकार जो पूर्वकाल में महात्मा हो गये उनको तपश्चर्या के सामर्थ्यानुसार वसु, रुद्र, आदित्य ऐसी संज्ञा दी जाती थी और वे महात्मा ऋषि ही खरे (=यथार्थ) पितर थे। उनका आदर करना इसका नाम ही पितृयज्ञ है। चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य जिसने किया वह वसु, चवालीस वर्ष पर्यन्त [ब्रह्मचर्य जिसने किया वह] रुद्र और अड़तालीस वर्ष पर्यन्त [ब्रह्मचर्य] जिसने किया वह आदित्य। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रातः मध्य और सायं सवन[४] का वर्णन किया है। इस सब बातों पर विचार करना चाहिये। पितृ अर्थात् विद्या के योग से जन्म देने हारे विद्वान् ऐसा समझें। और ऋषि अर्थात् यथार्थ द्रष्टा। मन्त्रार्थ—द्रष्टा ऐसा अर्थ होता है।

आजकल प्रचलित पितृ-यज्ञ कहने से [मृत पितरों का] सन्तर्पण वा श्राद्ध ऐसा अर्थ समझा जाता है वह बराबर नहीं है। कारण, मनु ने कहा है—

अक्रोधान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥[५]
अनुप्यायनेद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥[६]

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ मनु २।१५६॥

२. मनु २।१५४ ॥ मराठी सं० की अशुद्धि दूर कर दी है।

३. मनु २।१५३ ॥ ४. छां० उ० ३।१६ ॥ वहां तृतीय-सवन का निर्देश है। ५. मनु ३।२१३ ॥ ६. अनुपलब्ध तथा अशुद्ध पाठ है।

इन वचनों से श्रद्धा से जो कर्म किया जाता है वह श्राद्ध, सन्तर्पण अर्थात् तृप्त करना। इस प्रकार सब बातों को विचार करने से आजकल का देवयज्ञ और उसी प्रकार पितृयज्ञ, काव्यों [अर्थात् कवियों की अत्युक्तिरूप कर्म] की रीति से यथार्थ सिद्ध कैसे हो सकता? इस पर विचार करें। विद्या-सत्कार अर्थात् ऋषि-सत्कार, पितृ-सत्कार अर्थात् विद्वानों का सत्कार। इसको ही पितृयज्ञ मानना चाहिये।[1] श्रद्धा से रहित जो कर्म वह धर्म-कर्म अथवा श्राद्ध नहीं होता है। मनु ने कहा है कि--

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥[2]

वेद की मूल परम्परा को छोड़कर सत्य और यथार्थ सिद्ध [श्राद्ध] कर्म को छोड़कर समुद्र, पर्वत, नदी [और वृक्ष] इन्हें तर्पण में सम्मिलित किया और नवीन पद्धति से श्राद्ध[3] होने लगे। यह पाखण्ड नहीं तो इसे और क्या कहें? परम्परागत शिष्टाचार लेना है तो फिर पूर्व ऋषियों की परम्परा को स्वीकार करो।

नित्य-कर्मों में **चौथा कर्म भूत-यज्ञ—यद्भूतेभ्यः करोति स भूत-यज्ञः**। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

नित्य-कर्मों में **पांचवां कर्म अतिथि-यज्ञ**—मनु [कहते हैं]—

अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते।[4]

अतिथि जाति से कोई होवे वह अतिथि-यज्ञ अर्थात् सत्कार का पात्र होता है। यह नियम बहुत उत्तम है।

अब पुनः ब्रह्म-यज्ञ का विचार करना चाहिये। इस यज्ञ के संबन्ध से सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिये। इस उपासना विषय

---

[1] पितृयज्ञ के सम्बन्ध में प्रवक्ता ने सं० १९३२ (सन् १८७४) में लिखित **सभाष्य सन्ध्योपासनविधि** में ऐसा ही लिखा है। द्र० दयानन्दीयलघुग्रन्थसंग्रह पृष्ठ ३४८-३४९।

[2] मनु० ४।३०॥

[3] मूलपाठ 'आणि चटावर श्राद्ध होऊन लागले'।

[4] मनु० ३।१०२॥

45097

की **सन्ध्योपनिषद्**[1] नाम की एक पुस्तक है। उसमें विशेष विचार किया है।

इस उपासना का अधिकार उचित वय होने पर लड़के-लड़कियों दोनों को ही है। दिन और रात की सन्धिवेला में यह उपासना करनी चाहिये। ऐसी (=दिन-रात की) सन्धिवेला दो बार ही आती है, तीन समय नहीं आती। इसलिये तीसरी मध्याह्न सन्ध्या की उपपत्ति नहीं होती। सामवेद और यजुर्वेद का ब्राह्मण देखो—

> **तस्मादहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासीत**। सामब्रा०[2]
> **उद्यन्तमस्तं [3]यान्तमादित्यमभिध्यायन्**। यजु ब्रा०[4]

सन्ध्योपासन के सम्बन्ध में गायत्री महामन्त्र के अर्थ का विचार करना चाहिये। इस मन्त्र में सम्पूर्ण सृष्टि के उत्पन्न करने हारे परमात्मा का जो उत्कृष्ट तेज है उसका ध्यान करने से अपनी बुद्धि की जड़ता (=मलिनता) नष्ट होकर धर्मानुष्ठान के विषय में उसकी प्रेरणा होवे, ऐसी इस मन्त्र में प्रार्थना है। इस प्रकार की दूसरे किसी धर्म (मत) की प्रार्थना में गम्भीरता और यथार्थता नहीं है। ईसाइयों की प्रार्थना में 'प्रत्येक दिन की रोटी हमें खाने को मिले' ऐसा मांगा है। इसकी अपेक्षा इस [गायत्री] महामन्त्र का अर्थ कितना गम्भीर है!! इसी प्रकार आजकल के जो-जो सम्प्रदाय निकले उनके गुह्य मन्त्रोपदेश इस [गायत्री] महामन्त्र की अपेक्षा कितना तुच्छ है। इसका सब को विचार करना चाहिये।

---

[1] यह सन्ध्योपनिषद् अभी तक छपी नहीं है। इसके दो प्रकार के पाठ हैं। प्रवक्ता द्वारा उल्लिखित सन्ध्योपनिषद् के कुछ वाक्य गुजराती प्रेस बम्बई से छपे 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' में संगृहीत मिलते हैं।

[2] षड्विंश ब्रा० ४।५। यह सामवेदीय ताण्ड्य (पञ्चविंश) ब्राह्मण का अन्त्य भाग है।

[3] तै० आ० २।२।२ में 'यन्तं' पाठ है। परन्तु प्रवक्ता ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी यान्तं' पाठ ही उद्धृत किया है। द्र०—स० प्र० समु० ४ (आसशसं० २; रालाकट्रसं०)। पञ्चमहायज्ञविधि, सं० १९३२ तथा सं० १९३४ के, 'अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनायोः प्रमाणानि' प्रकरण में।

[4] तै० आ० २।२।२॥ यह कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक है। आरण्यकों का ब्राह्मणों मे परिगणन होता है।

सन्ध्योपासना प्रातःकाल और सायंकाल में करना सर्वथा योग्य है। इन दोनों समयों में मन की एकाग्रता होने में सहज प्रवृत्ति होती है। सन्ध्या सूतक काल में भी अवश्य करनी चाहिये। अनध्याय के विषय में मनु ने ऐसा कहा है—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
न निरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥[1]

नित्यकर्मों का उद्देश्य परमात्मा के प्रति अपना लक्ष्य लगाना, यह है अर्थात् प्रत्येक कर्म के अन्त में **तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु** ऐसा कहने की परिपाटी है।

यहां तक नित्यकर्म का विचार हुआ। अब मुक्ति विषय पर थोड़ा विचार करें—

मुक्ति शब्द का अर्थ 'छूटना' ऐसा है। किस से छूटना। ऐसा कोई पूछे तो दुःख से अथवा बन्धन से छूटना, यही मुक्ति है। जहां बन्धन नहीं वहां मुक्ति नहीं। जीव बद्ध है, इस से उसे मुक्ति की अपेक्षा है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन-रहित है। मुक्ति मिलना यह दुर्घट (=कठिन) काम है। मुक्ति की स्थिति में शाश्वत (=नित्य) सुख का अनुभव होता है। सस्ती भाजी की तरह मनमाने कर्मों से मुक्ति मिलती है, ऐसी आजकल के लोगों की समझ हो गई है, परन्तु यह समझ मूर्खता की है। इसी प्रकार मुक्ति के जो भिन्न भिन्न चार प्रकार लोग वर्णन करते हैं, वह भी विचार मिथ्या है। मुक्ति एक प्रकार की ही है। सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य, इस प्रकार लोग वर्णन करते हैं। परन्तु इस रीति से मुक्ति के चार प्रकार हैं, इस मत का वेद में कोई आधार नहीं मिलता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। इत्यादि[2]

इस वचन से स्पष्ट है कि मुक्ति का मार्ग एक ही है, और वह मार्ग परमेश्वर का ज्ञान ही है, ऐसा सिद्ध होता है। वह परमेश्वर कैसा है तो—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।[3]

---

[1] मनु० २।१०५॥

[2] यजु० ३१।१८॥

[3] यजु० ३२।३॥

तलवकार (=केन) उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् देखो–

य आत्मनि तिष्ठन्०[1] इत्यादि ।
यद् वाचानभ्यु०[2] ॥१॥ **यन्मनसानभ्यु०**[3] ॥२॥
यच्चक्षुषा न पश्यति[4] ॥३॥ **यच्छ्रोत्रेण न शृणोति०**[5] ॥४॥
यत् प्राणेन०[6] ॥५॥

ऋग्वेद को देखो—**कस्मै देवाय हविषा विधेम**[7] ।
एको विष्णुः०[8] । **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**[9] ॥

इस प्रकार के वचनों से अर्थापत्ति प्रमाण से अर्थात् परमेश्वर के ज्ञान और भजन इनके विना मुक्ति की स्थिति प्राप्त होने का दूसरा मार्ग नहीं है। ऐसा सिद्ध होता है । वह परमेश्वर अरूप, अनाद्यनन्त, महतः पर और ध्रुव (=निश्चल) है ।[10]

आजकल मुक्ति कहने से 'जीव और परमात्मा एक ही हैं', ऐसा ज्ञान होना, इसे ही वेदान्ती लोग मुक्ति कहते हैं। परन्तु यह सच्चा वेदान्त नहीं है । वेदों का सत्य रहस्य यह नहीं है, यह बात छहों

---

[1] पूरा वाक्य इस प्रकार है—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् । आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्यम्यमृतः ॥ बृ० उ० (माध्य०) ३।८।३०॥ शत० ब्रा० १४।६।७।३०॥

[2] यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनो० १।४

[3] यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव······केनो० १।५॥

[4] यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति । तदेव······॥ केनो० १।६॥

[5] यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव···। केनो० १।७॥

[6] यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।······ । केनो० १।८॥

[7] ऋ० १०।१२१।१-६॥ [8] शरभोप० २५; वासुदेवोप० ६ ॥

[9] पैंगलोपनिषद् १।१। द्र०—'एकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुः ।
छान्दो० ६।२।१॥

[10] द्र०—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
कठोप० १।३।१५ ॥

दर्शनों के बनानेवालों ने मुक्ति के विषय में क्या कहा है, इसका विचार करने से स्पष्ट हो जाता है।

जैमिनि कृत पूर्वमीमांसा दर्शन में प्रथम (=मुख्य)[१] धर्म से अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है, ऐसा कहा है। और उसी में **यज्ञो वै विष्णुः**[२] ऐसे शतपथ आदि के प्रमाण हैं। इनका विचार करो। कणादकृत वैशेषिक शास्त्र में तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, ऐसा कहा है। न्यायसूत्रकार गौतम ने दुःखध्वंस अर्थात् अत्यन्त विमोक्ष, इसे अपवर्ग अर्थात् मुक्ति ऐसा कहा है। मिथ्याभास (=अज्ञान) का नाश हुआ अर्थात् बुद्धि वाक् शरीर इस की सुप्रवृत्ति होती है और शुद्ध ज्ञान होता है, यही मुक्ति की स्थिति है। योगशास्त्रकार, चित्त के निरोध करने से शान्ति और विज्ञान उत्पन्न होता है और उससे कैवल्य नामक मुक्ति मिलती है, ऐसा कहते हैं। सांख्यसूत्रकार कपिल महामुनि कहते हैं कि[३] [तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होना ही परमपुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति है]। अब उत्तर-मीमांसा सूत्रकार बादरायण के मत का विचार करना चाहिये। वे क्या कहते हैं देखो--

आत्माप्रकरणात् ।[४] अविभागेन दृष्टत्वात् ।।[५]
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।[६]
अभावं बादरिराह ह्येवम् ।[७]

इस प्रकार अवशिष्ट [उत्तर मीमांसाकार] बादरायण के मत में 'उभयविध' है, ऐसा कहा है। अर्थात् मुक्ति में अभाव और भाव ये दोनों ही प्रकार रहते हैं। अर्थात् मूल जीवात्मा का व्याप्य व्यापक

---

[१] द्र०—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ० १०।९०।१६।। यजु० ३१।१६।। मीमांसाभाष्य १।१।२।। [२] शत० ब्रा० १३।१।८।८।।

[३] इस से आगे मराठी सं० में "**इतरानूनं**" पाठ है। इसका अभिप्राय अज्ञात है। हमने मुक्ति विषयक सांख्य के प्रथम सूत्र का भाव [ ] कोष्ठक में दिया है। हिन्दी संस्करणों में भी यही पाठ है।

[४] वेदान्त ४।४।३।। [५] वेदान्त ४।४।४।।

[६] वेदान्त ४।४।६।। [७] वेदान्त ४।४।१०।।

संबन्ध परमेश्वर के साथ होता है। [दोनों का] अभेदरूप से एकत्व नहीं होता है।

भोगमात्रसाम्यं लिङ्गाच्च ।[1]

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्द जीव को कुछ प्राप्त होता है। परमेश्वर का आनन्द निर्मर्याद (=असीम) है। वैसा [आनन्द] मुक्त पुरुष को हो नहीं सकता। जीवात्मा का ब्रह्म में अभेदरूपी लय की कल्पना करने से धर्मानुष्ठान का योग, साधन-षट्क अर्थात् [श्रवण, मनन][2] निदिध्यासन, साक्षात्कार, शान्ति, शम ये सब व्यर्थ (=निष्फल) हो जायेंगे। इसलिये [जीवात्मा और परमात्मा के] अभेद की कल्पना बराबर नहीं है। व्याप्य-व्यापक, सेव्य-सेवक, सृष्ट[3]-स्रष्टा ये सम्बन्ध मूल-स्थिति में ही रह सकते हैं। अज्ञ जीवात्मा का जन्म-मरण के सम्बन्ध से छुटकारा होता है॥

—:o:—

---

[1] वेदान्त ४।४।२१॥

[2] यह पाठ सत्यार्थप्रकाश समु० ६, पृष्ठ ३८१ (आसशसं० २) के अनुसार ६ संख्या की पूर्ति के लिये बढ़ाया है। स० प्र० समु ६, पृष्ठ ३८० में साधन षट्क-सम्पत्ति में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान गिनाये हैं।

[3] जीव अनादि है, अतः वह ब्रह्म से सृष्ट (=उत्पन्न किया हुआ) नहीं हो सकता। अतः यहां 'सृष्ट' शब्द से शरीर-सम्बन्ध का अभिप्राय जानना चाहिये।

चौदहवां-प्रवचन

इतिहास-विषयक[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ३ अगस्त[2] के दिन 'इतिहास'[3] इस विषय पर व्याख्यान दिया, उसका सारांश—

ओं यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं [नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः] पशुभ्यः ॥[4]

(ऐसी ऋचा[5] पढ़ी ।)

(इतिहास आगे चालू है)

[6]सुधन्वा नाम के जैन राजा और शंकराचार्य का वाद (=शास्त्रार्थ) हुआ। इसमें यह ठहराव (=निश्चय) हुआ कि वाद का

---

[1] हिन्दी उर्दू के छपे संस्करणों में यह व्याख्यान १३ वीं संख्या पर है। विशेष द्रष्टव्य १२ वें प्रवचन की पृष्ठ ४१६ की टि० १।

[2] श्रावण शुक्ला १, सं० १९३२।

[3] मराठी संस्करण में इस व्याख्यान में तथा अगले १५ वें व्याख्यान में १३ वें व्याख्यान का विषय 'आह्निक किंवा नित्यकर्म वा मुक्ति विषयावर' ही छपा है। यह मुद्रण दोष है। इस पर विशेष विचार पूर्व पृष्ठ २४९-२५० पर किया है, वहां देखें। प्रकृत में मन्त्र पाठ के विषय में (इतिहास पुढ़ें चालू) स्पष्ट छपा है। अतः हमने 'इतिहास' ऐसा संशोधन किया है।

[4] यजुः ३६।२२। पूर्व पृष्ठ ४०४ पर छपे इस मन्त्र के पाठ में '**नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः**' को [ ] कोष्ठक में देना रह गया है, पाठक शोध लें।

[5] यजुर्वेद के अन्तर्गत होने पर भी यह मन्त्र पादबद्ध है अतः इसे ऋचा कहा है। यही टिप्पणी पूर्व पृष्ठ ४०४ पर भी समझें।

[6] सुधन्वा राजा और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ का उल्लेख प्रवक्ता ने अपने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ संवत् १८७५ के तथा संशोधित (१८८३) के दोनों संस्करणों के ११ वें समुल्लास में किया है।

निर्णय शंकराचार्य के विपरीत होवे तो शंकराचार्य बौद्धधर्मी[1] होवें।

बौद्ध लोगों के पण्डित वेद की निन्दा करते हुए ऐसा कहते थे कि **त्रयो वेदस्य कर्त्तारो धूर्तभाण्डनिशाचराः**।[2] इस प्रकार वेदों पर झूठे दोष देते (=लगाते) थे। महीधर ने **यकासकौ**[3] इस ऋचा[4] का जैसा अर्थ किया वैसा अर्थ किया तो फिर इससे सरसरी दृष्टि से बौद्ध लोगों के कहने की पुष्टि होती है। 'गभ' अर्थात् 'भग' ऐसा महीधर ने अक्षरों का विपर्यास करके अर्थ का अनर्थ किया है। भग अर्थात् प्रजा, राज्य, अथवा श्री। ऐसा 'भग' का शतपथ का अर्थ छोड़कर महीधर ने 'भग' का असंगत ही बीभत्स अर्थ किया है[5] और उसी का अनुकरण शास्त्री लोग करते हैं। **अग्निर्वै अश्वः**[6] ऐसा [अर्थ] शतपथ का आधार लेकर **यकासकौ शकुन्तिका**[7] इस यजुर्वेदीय ऋचा का अर्थ लगाया जाये तो बौद्ध लोग जो बीभत्स अर्थ का दोष वेद पर देते हैं तो कैसे शोभेगा? [अर्थात् बीभत्स अर्थ का दोष नहीं ठहरेगा]। परन्तु महीधर सरीखे अनाड़ी टीकाकार के आग्रह का अनुकरण करने पर बौद्ध लोगों के कहे गये [दोष] कैसे हटेंगे? इसका विद्वान् लोगों को विचार करना चाहिये। [वेद का] महीधर सरीखे ऊटपटांग अर्थ करने से निर्वेदवादी (=वेद से विमुख)

---

[1] वाक्य के आरम्भ में सुधन्वा को 'जैन राजा' लिखा है। अतः यहां 'जैनधर्मी' पाठ होना चाहिये। इस विषय में सत्यार्थप्रकाश समु० ११ में शङ्कराचार्य और सुधन्वा राजा के शास्त्रार्थ का प्रकरण (पृष्ठ ४४९) देखें।

[2] सर्वदर्शन-संग्रह, चारवाक दर्शन। स० प्र० समु १२, के आरम्भ में (पृष्ठ ६३४)।

[3] यजु० २३।२३॥

[4] यह यजुर्वेदान्तर्गत होने पर भी पादबद्ध होने से ऋचा है।

[5] इस मन्त्र का महीधर का बीभत्स और तथा शतपथानुसारी शुद्ध अर्थ प्रवक्ता के ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषय' (पृष्ठ ३७३-३७४) में दर्शाया है।

[6] शत० ३।६।२।५॥ प्रकृत प्रसंग में इस उद्धरण की उपादेयता समझ में नहीं आती है। सम्भव है व्याख्यान के लेखन में यहां कुछ पाठ छूट गया हो अथवा अन्यथा लिखा गया हो।

[7] यजु० २३।२३॥

निरीश्वरवादी (=ईश्वर से विमुख) तीर्थंकर, कैवली, स्वभाववादी ऐसे पन्थ उत्पन्न हुए। सुधन्वा का वाद में पराजय होने पर वह वेदमार्ग पर लग गया [अर्थात् वैदिक धर्मी बन गया]।

इसके पश्चात् शंकराचार्य बुद्ध-गया गये। वहां का राजा कट्टर बौद्ध धर्माभिमानी था। वह राजा ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि वर्णाश्रम व्यवस्था को बिलकुल नहीं मानता था। उसे शंकराचार्य ने जीत कर वेदमार्ग चालू किया। बौद्ध मत का ह्रास होने लगा। उस समय उसका रूपान्तर होकर जैन-मत की स्थापना हुई। जैन लोग युक्तिवादी थे और वे कीड़े मकोडे कुत्ते आदि के जीवों का बहुत ही ध्यान रखनेवाले (=रक्षक) होने के कारण मनुष्यों के जीव के विषय में अधिक व्याकुल नहीं होते थे [अर्थात् मनुष्यों पर विशेष दया नहीं करते थे][1]। बौद्ध और जैन लोगों के मत का प्रचार होने से आर्य क्षत्रिय लोगों में वीर्य (=पराक्रम) की हानि हुई।

पश्चात् विक्रमादित्य, भर्तृहरि, भोज, शालिवाहन[2], ऐसे राजा हुए। इस समय कालिदास उत्पन्न हुआ। भिण्ड नाम का ग्वालियर राज्य में एक शहर है। इस गांव में मिश्र नाम के लोग हैं। उन के पास 'संजीवनी' नामका ग्रन्थ है।[3] उसमें महाभारत ग्रन्थ के विषय में ऐसी कथा है कि व्यास ने पहले एक हजार श्लोक बनाये, फिर उस एक हजार के व्यास के शिष्यवर्ग ने छ हजार कर दिये। और अब असंख्यात श्लोकों की भरती हो गई है। जैन लोगों का जब ऐश्वर्य (=उत्कर्ष) था तब ब्रह्मवैवर्त, वायु ऐसे दो तीन ही पुराण ज्ञात थे। अब अठारह पुराण ऐसा नाममात्र (=कथनमात्र) है, परन्तु पुराण कितने हैं और उनमें क्या लिखा है, इसका निश्चय करना अशक्य (=कठिन) हो गया है।[4]

---

[1] शंकराचार्य को एक जैनी ने ही विष दिया था (द्र० स० प्र० समु० ११)। [2] यहां राजाओं का कालक्रम अपेक्षित नहीं है।

[3] इस संजीवनी नामक ग्रन्थ का तथा महाभारत में श्लोकों की उत्तरोत्तरवृद्धि के विषय में प्रवक्ता ने सत्यार्थप्रकाश के दोनों संस्करणों में भी उल्लेख किया है। उसे अन्त में प्रथम परिशिष्ट में देखें।

[4] पौराणिक लोग १८ पुराण और १८ उपपुराण मानते हैं, परन्तु इनमें कौन पुराण है, कौन उपपुराण है, इसमें एकमत्य नहीं है। इन १८ पुराणों

न वदेद् यावनीं भाषां [प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि] न विशेज्जैनमन्दिरे ॥[1]

ऐसे विचार शून्य श्लोक हजारों बना लिये और होम करने का स्थान, अर्थात् देवायतन, उनको छोड़कर लोग [मूर्तियों के स्थान को] देवालय कहने लगे और जैन लोगों के मन्दिरों में रखी मूर्ति को देव मानकर उसकी पूजा करने लगे और जैनियों के मन्दिरों में मूर्ति बिठाकर साक्षात्कार की (=अनुभव-सम्बन्धी) गप्प मारने लगे और नाना प्रकार की कपट युक्तियों से लोगों को देवों के चमत्कार दिखाने लगे। लोग आजकल के समान चतुर न थे, इसलिये कहीं कहीं पुजारियों के नाटक में फंसने लगे ।

सर्वं भगलिङ्गात्मकं जगत् ऐसी वाममार्गी लोगों ने वाक्य रच लिये । इसका नमूना देखो—

सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिः । काश्यां तु मरणान्मुक्तिः ।

हरिस्मरणान्मुक्तिः । अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।

ऐसे ऐसे श्लोक बना लिये और इन श्लोकों का अभिमान रखने वाले मतलबी पुजारी, बैरागी, गोसांई, सम्प्रदायी इन लोंगों की प्रबलता बढ़ने लगी । **अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः** ऐसे प्रमाण पुराणों के विषय में देने लगे । इसके परिणाम स्वरूप [कल्पित] मन्त्रों का सुकाल और ज्ञान का दुष्काल, ये दोनों बातें सहज ही बढ़ीं । प्रतिष्ठा-मयूख और प्रतिष्ठा-भास्कर, इनमें मन्त्रों के विषय में देखो—

[प्राणा इहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु स्वाहा]
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु स्वाहा ।[2]

इस प्रकार प्राण-प्रतिष्ठा के गपोड़ों को आर्य ग्रन्थों का आधार

और १८ उपपुराणों के बाद भी कुछ ग्रन्थ ऐसे बच जाते हैं, जिनके नाम के साथ पुराण शब्द का प्रयोग होता है ।

[1] इस श्लोक का निर्देश १२ वें प्रवचन पृष्ठ ४१० में भी मिलता है । वहां चतुर्थचरण का पाठ '**न गच्छेज्जैनमन्दिरे**' है ।

[2] इस विषय का वर्णन चौथे प्रवचन (पृष्ठ २९६-२९७) में विस्तार से किया है । तथा प्राण-प्रतिष्ठा के प्रायः सभी मन्त्र स० प्र० प्रथम संस्करण पृष्ठ ३२८ में उद्धृत हैं । देखो प्रथम परिशिष्ट ।

बिलकुल नहीं मिलना । प्राण-प्रतिष्ठा के ग्रन्थों में उक्त एक भी मन्त्र का प्रयोग चारों वेदों की संहिता में दीखता नहीं । केवल अर्वाचीन अशुद्ध और स्वकपोलकल्पित नवीन मन्त्र पौराणिक काल में लोगों ने बनाकर प्राण-प्रतिष्ठा से मूर्ति में पूज्यत्व के लिये पाखण्ड रचा है ।

इस प्रकार मूर्त्तिपूजा जैन लोगों से हम लोगों ने सीखी है और पुराणादि ने इस आचार को उत्तेजना दी, ऐसा दीखता है ।

अवतार विषय वर्णन भी पुराणों में ही प्रथमतः पाया जाता है । हरिवंश[1] में नरसिंह (नृसिंह) अवतार की कथा है और अवतारों की कथाओं से तथा मूर्तिपूजा के प्रचार से लोगों की विचार-शक्ति नष्ट होकर कर्म-मार्ग में मन की प्रवृत्ति हुई । और असंगत (मनमाने) कठिन व्रत उपवास लोग करने लगे । उससे बल की हानि और रोग की वृद्धि होती है । इस प्रकार एक दुष्परिणाम होता है । इतना ही नहीं, दूसरा—शैवों का और वैष्णवों का द्वेष, वल्लभ और रामानुज का पन्थ, ऐसे नाना प्रकार के लोगों के पन्थ उत्पन्न होकर द्वेष की वृद्धि हुई । तीसरा—जड़ मूर्त्ति के आगे राजभोग, बालभोग चढ़ाना (रखना), [सुलाने के लिये] शय्या बनाना, रासक्रीडा करना, इस प्रकार के मनमाने आचारों में [लोगों को] फंसाने से अनादि वेद-प्रणीत धर्म का तिरस्कार होता है और देश में पाप की वृद्धि होती है । इस प्रकार मूर्तिपूजा से हानि होती है । मन्दिरों में जैसी दक्षिणा चढ़ाओ वैसा प्रसाद पुजारी लोग देते हैं । इस प्रकार मन्दिर दुकानें बन गईं । पुजारी लोग अपने लाभ के लिये आलस्य और अज्ञान बढ़ाने वाले बहुत से नवीन वचन बनाकर लोगों को फंसाते हैं । मनमाने वाक्यों का प्रयोग करते हैं—

पठितव्यं तदपि मर्तव्यम्, दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ॥
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा सर्वपापं विनश्यति ॥

वाह क्या पुरुषार्थ है ? ज्ञान के विना भोग पुरुषार्थ और आनन्द नहीं है । परन्तु जहां इस प्रकार (ऊपर कहे अनुसार) पुरुषार्थ के

---

[1] हरिवंश यह महाभारत का परिशिष्ट रूप भाग है । इसे हरिवंश पुराण भी कहते हैं ।

विषय में समझ हो, वहां भागवत सदृश पुराणों की प्रवलता क्यों न होगी ? ज्ञान-प्राप्ति को एक तरफ ढ़केल कर पुराणों के श्रवण से ही सब माहात्म्य लाकर धर दिये हैं और प्रत्येक पुराण की समाप्ति पर पुराण के सुनने से कौन से लाभ होते हैं, इस से होने वाले फलों की भरमार है । अस्तु,

इस प्रकार धर्म-बुद्धि के भ्रष्ट होने से लोग निर्बल और कायर हो गये । इसलिये नवग्रहों से अपनी हानि होगी ऐसी चिन्ता करने लगे । इस आधार पर फलित ज्योतिष के नवग्रहों के जप के मन्त्र तैयार किये (=बनाये)[१] । इन मन्त्रों के अर्थों का उसकी योजना[२] के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । इसका विचार कभी किसी ने किया नहीं । उदाहरण के लिये **शन्नो देवी**[३] इसको शनि [ग्रह] का मन्त्र ठहराया और ज्योतिषियों ने अपना धन्धा पकाया (चलाया) ।

इसी प्रकार सम्प्रदायी लोगों ने 'उनका तन मन धन गोसांईजी के अर्पण[४] [के लिये है]' ऐसे उपदेश से भोले-भाले लोगों के मन भ्रष्ट कर दिये । अहो श्रोता गण ! इस विषय पर भली प्रकार विचार कीजिये ।

प्रमा-ज्ञान क्या है और भ्रम-ज्ञान क्या है ? इसे देखो (पहचानो)। 'जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान तत्प्रकारक ज्ञान इसे ही प्रमा-ज्ञान जानो और **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**[५] इस वचन के अनुसार कसौटी लगाकर (कसौटी पर कसकर) सत्यासत्य का निर्णय करो । हमारे बन्धु शास्त्री लोग आग्रही बन कर बैठे हैं । यह हमारा सब का दुर्भाग्य है । हमारे भरतखण्ड से वेद-प्रणीत धर्म बहुतसा

---

१. 'तैयार किये=बनाये' का अभिप्राय मन्त्र घड़ने से नहीं है, अपितु वैदिक मन्त्रों का नवग्रहों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से है । यह अभिप्राय अगली पंक्ति से स्पष्ट है ।

२. अर्थात् नवग्रहों के मन्त्रों के जप की योजना । ३. यजुः ३६।१२॥

४. पूर्व चौथे व्याख्यान (पृष्ठ ३०१) में साधु लोगों द्वारा तन मन धन अर्पण कराने के विषय में लिखा है । उस प्रसङ्ग का सम्बन्ध यहां भी लगावें ।

५. न्याय-वात्स्यायन भाष्य १।१।१॥

नष्ट हो गया और [रहासहा] सम्प्रति हमारे सामने नष्ट हो रहा है और उसके स्थान में अनाचार, पाखण्ड, तथा दम्भ बढ़ रहे हैं। अनन्तर स्वाभाविक सत्य और सदाचार नष्ट हो गये और हम सब की दुर्दशा हो गई। इसमें आश्चर्य मानने की क्या बात है? सनातन आर्य ग्रन्थों की अवहेलना होकर पुराणादि की ऐरीगैरी दुराचार की कथा सत्कार पाती है। इस पागलपन का कोई उपचार है क्या? ऐसा कोई पूछे तो मेरा कहना ऐसा है कि इसका उपचार है। यद्यपि देश की अत्यन्त दुरवस्था हो गई है, तथापि परमेश्वर की कृपा होवे तो रोग दुःसाध्य नहीं है। **वेद और छः दर्शनों[1] के से सनातन (प्राचीन) ग्रन्थों के विभिन्न भाषाओं में भाषान्तर करके सब लोगों को सनातन ज्ञान सहज ही मिले, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये।** और सुशिक्षित विद्वान् लोगों को सद्धर्म का उपदेश करने में लक्ष्य देना चाहिये और ग्राम-ग्राम में आर्य-समाज स्थापन करके मूर्तिपूजन आदि अनाचार को दूर करके ब्रह्मचर्य से अपने सामर्थ्य को बढ़ाकर शारीरिक और मानसिक सम्पत्ति सब वर्णाश्रम के लोगों को प्राप्त कराई जाये तो सहज ही सब लोगों की आंखें खुल जायें तथा नीचावस्था (=दुर्दशा) दूर होकर उत्तमावस्था प्राप्त होगी। मुझ जैसे एक साधारण मनुष्य के हाथ से यह कार्य कैसे होगा? आप सब सुज्ञ(=बुद्धिमान्) लोग देवेंगे, ऐसी मुझे आशा है॥

—:o:—

---

[1] ऋषि दयानन्द वेद के अनन्तर मनुस्मृति और छ दर्शनों को अधिक महत्त्व देते थे। इसका कारण यह है कि मनुस्मृति मनुष्यमात्र के कर्त्तव्यों का बोध कराती है और दर्शनशास्त्र मनुष्य की बुद्धि को सत्यासत्य के निर्णय के योग्य बनाती है। इसी दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह को और शाहपुरा (मेवाड़) के महाराजा नाहरसिंह को ये ग्रन्थ स्वयं पढ़ाये थे। ऋषि दयानन्द स्वयं छ दर्शनों का भाष्य लिखना चाहते थे। पं० लेखराम जी कृत जीवन चरित (हिन्दी सं०) पृष्ठ ६०१ पर लिखा है—'दरबार (=महाराणा सज्जनसिंह) ने स्वामी जी से कहा कि आप छ दर्शनों की टीका छपवा दें। इस के लिये मैं २० हजार रुपये तक व्यय करूंगा। स्वामी जी ने कहा—**'इनकी टीका करना आवश्यक जानता हूं, वेद-भाष्य के पश्चात् इसका प्रबन्ध करूंगा।'**

पन्द्रहवां-प्रवचन

अपना पूर्व चरित्र

(स्वयं कथित जीवन-चरित्र)[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ४ अगस्त[2] के दिन [रात्रि के आठ बजे] 'अपने पूर्व चरित्र[3]' विषय पर व्याख्यान दिया। उसका सारांश—

अपने पूर्व के चरित्र, सर्वत्र किये गये कार्य की सूचना के सम्बन्ध में दिये व्याख्यान का सारांश—

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥[4]

(यह ऋचा स्वामीजी ने पहले पढ़ी और अनन्तर अपने चरित्र को कहना आरम्भ किया।)

अनेक लोग 'तुम ब्राह्मण हो, यह कैसे जानें' ऐसा प्रश्न करते हैं और किसी इष्ट मित्र आप्त (=प्रामाणिक पुरुष) के पत्र मंगा देने अथवा किसी परिचित व्यक्ति को बताने के लिये कहते हैं।

गुजरात देश में अन्य देशों की अपेक्षा लोगों में मोह अधिक है। और मैं अपने पुराने इष्ट मित्र तथा आप्त पुरुषों की पहचान दूं तो उससे मुझे अत्यधिक पीड़ा होगी और जिस उपाधि (=जंजाल) से मैं छूट चुका हूं वह सब उपाधि मेरे पीछे लग जायेगी। इस कारण ही मैं पत्र आदि का उद्योग (=यत्न) नहीं करता।

---

[1] इसकी तुलना के लिये द्वितीय परिशिष्ट में 'स्वयं लिखित आत्म-चरित्र' दे रहे हैं।

[2] श्रावण शुक्ला ३, सं० १९३६॥

[3] यह विषय हमने उत्तर वाक्य के अनुसार लिखा है। मराठी सं० (१८७५) में यहां भी १४ वें व्याख्यान के समान **'आह्निक किंवा नित्यकर्म व मुक्ति या विषयावर'** अशुद्ध पाठ ही छपा हुआ है। इस विषय में पूर्व पृष्ठ ४२५ की टि० ३ देखें।

[4] यजुः २५।२१॥

धांगध्रा नाम का एक संस्थान (=राज्य) गुजरात में है। उस की सीमा पर मोरवी शहर है। उस में मेरा जन्म हुआ है। मैं औदीच्य ब्राह्मण हूं। औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मैंने शुक्ल यजुर्वेद पढ़ा। मेरे घर में अच्छी जमीदारी है। इस समय मेरा वय ४६।५० वर्ष का होगा। आठवें वर्ष[1] में मेरे पीठ की (=पीछे की) एक बहिन उत्पन्न हुई थी। मेरा एक चाचा[2] था। वह मुझ से बहुत प्रीति करता था। मेरे घराने में अब पन्द्रह घर हो गये होंगे।

मुझ को बचपन में रुद्र[3] (=रुद्राध्याय) आदि सिखाकर (=कण्ठस्थ कराकर) शुक्ल यजुर्वेद पढाना आरम्भ किया। मेरे पिता ने शिवार्चन करने में लगा दिया। दश वर्ष [की अवस्था] से मैं पार्थिव-पूजन करने लगा। मेरे पिता ने शिवरात्रि[4] [का व्रत] करने

---

[1] १. स्वलिखित आत्मचरित्र के अनुसार २ वर्ष छोटी थी।

[2] २. मराठी सं० (१८७५) 'माझा एक चुलत अजा होता' पाठ है। हिन्दी संस्करणों में 'चुलत अजा' का अनुवाद 'चचेरा दादा' मिलता है। तात्पर्य इसका 'दादा का भाई' से है। मराठी सं० में अगले सदर्भों में 'अज्याने' 'अज्यालाही' शब्दों का प्रयोग किया है। मराठी में 'अजा' और 'आजा' का प्रयोग दादा और नाना दोनों के लिये होता है। इसी प्रकार 'अजी' और 'आजी' का प्रयोग दादी और नानी के लिये होता है। किन्तु मराठी सं० में आगे 'काकाप्रमाणे' का प्रयोग भी उसी व्यक्ति के लिये उपलब्ध होता है जिसके लिये पहले 'चुलता अजा' 'अज्याने' 'अज्याला' शब्दों का प्रयोग किया है। थियोसोफिस्ट पत्रिका के लिये प्रवक्ता द्वारा लिखे मूल आत्मचरित्र में सर्वत्र 'चाचा' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। द्र० परोपकारी पत्र (अजमेर) का मार्च सन् १६७५ का अंक। इस अंक में मूल हस्तलिखित पृष्ठों की प्रतिकृति (फोटो) छापी है। उसके द्वितीय और तृतीय पृष्ठ पर सर्वत्र 'चाचा' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। हिन्दी संस्करणों में कहीं 'चचेरा दादा', कहीं दादा, कहीं 'चाचा' विविध प्रयोग उपलब्ध होते हैं। हमने ऋ० द० द्वारा लिखित आत्मचरित को प्रमाण मानकर सर्वत्र 'चाचा' शब्द का प्रयोग किया है।

[3] ३. आत्मचरित्र में 'रुद्राध्याय' पाठ है। मराठी संस्करण में केवल 'रुद्र' एक देश का निर्देश है। शैवों में रुद्राष्टाध्यायी पढ़ने का अधिक प्रचलन है।

[4] ४. मूलपाठ 'मला बापाने शिवरात्र करावयाला सांगितली' है। यहां शिवरात्रि के व्रत का अभिप्राय है, यह स्पष्ट है।

को कहा, परन्तु मैंने शिवरात्रि [का व्रत] नहीं किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई। तब वह कथा मेरे को बहुत सुन्दर लगी और मैंने उपवास करने का निश्चय कर लिया। माता 'उपवास मत कर' ऐसा कहती थी, परन्तु उसे (=माता का कहना) न मानकर मैंने उपवास किया। परन्तु उपवास मुझ से किया नहीं गया।

मेरे गांव में गांव से बाहर एक बड़ा देवालय[1] है। उसमें शिवरात्रि के दिन रात में बहुत लोग जाते थे और पूजा अर्चा करते थे। मेरे पिता, मैं, और भी बहुत से लोग वहां इकट्ठे हुए थे। पहले प्रहर की पूजा पूरी करली। दूसरे प्रहर की भी पूजा हो गई। अनन्तर बारह बजने पर धीरे धीरे लोग जहां के तहां ही झपकी लेने लगे। मेरे पिता को भी झपकी आ गई। इतने में पुजारी बाहर गया। उपवास निष्फल होने के भय से मैं सोया नहीं। इतने में ऐसा चमत्कार हुआ कि मन्दिर में बिल से चूहे बाहर निकले और [महादेव की] पिण्डी के आसपास फिरने लगे। पिण्डी के चावलों को ही खाने लगे। मैं जगा हुआ ही था। इसलिये यह सब चमत्कार देख रहा

---

[1] यह देवालय ऋ० द० के पिता ने टंकारा में डेमी नदी के किनारे पर बनाया था। यद्यपि यह देवालय बड़ा नहीं है, परन्तु टंकारा में प्रायः हर घर में छोटे छोटे देवालय हैं, उनकी तुलना में यह बड़ा है। अनन्तर इस देवालय के आस पास और भी देवालय बन गये हैं, परन्तु उस समय यही एक देवालय था। इसके चारों ओर खुला स्थान था। पं० देवेन्द्रनाथ 'बड़ा' विशेषण से भ्रान्त हो गये और उन्होंने टंकारा से ७-८ मील दूर जड़ेश्वर के देवालय में जाने का उल्लेख किया है। वह असंगत है। दूसरे पहर की पूजा की समाप्ति के पश्चात् घर आकर भोजन करके १ बजे सो जाना (थियोसोफिस्ट में छपा आत्मचरित) कथापि संभव नहीं। हम टंकारा में २ वर्ष रहे हैं। जड़ेश्वर महादेव का मन्दिर भी देखा है। कर्शन जी के पिता ने जीवापुर में भी नदी के किनारे कुबेरनाथ का मन्दिर बनाया था, जो अभी विद्यमान है। कर्शनजी कुबेरनाथ महादेव के भक्त थे। अतः उन्होंने टंकारा में भी उसी के सर्वथा अनुरूप कुबेरनाथ का मन्दिर बनाया। अपना स्वनिर्मित स्व-इष्टदेव का देवालय टंकारा में विद्यमान होते हुए टंकारा से ७-८ मील दूर जड़ेश्वर के देवालय में जाना युक्ति संगत नहीं है। अतः शिवरात्रि में इसी देवालय में ही शिवार्चना की थी।

था। [इससे] पूर्व दिन शिवरात्रि की कथा सुनी थी। उसमें शिव के अक्राल-विक्राल (=भयंकर) गण, उसके पाशुपतास्त्र, उसके वाहन वृषभ, और उसके अद्भुत वीर्य आदि विषय में बहुत सुन चुका था। इसलिये जब चूहों की यह लीला देखी तब मेरी बाल-बुद्धि में ऐसा लगा कि जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े से बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारता है, वह ऐसे चूहों को देखकर [अपने ऊपर से] क्यों नहीं हटाता? ऐसे अनेक तर्क मेरे मन में उत्पन्न हुए। और मैंने पिता को जगाकर पूछा कि इतना महान् शिव इन क्षुद्र चूहों को भी क्यों नहीं हटाता? पिता ने कहा कि तेरी बुद्धि अत्यन्त भ्रष्ट है। यह केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने संकल्प किया कि जब उस त्रिशूलधारी [शिव] को मैं प्रत्यक्ष देखूंगा, तभी पूजा करूंगा, अन्यथा [पूजा] नहीं करूंगा। ऐसा निश्चय करके मैं घर चला गया और भूख लगी हुई थी। इसलिये माता से खाने को मांगा। माता ने कहा—मैंने तुझ से पहले ही कहा था कि उपवास तुझ से नहीं होगा। तूने ही हठ किया। माता ने मुझे फिर खाने को दिया। और दो दिन तू उनके (=पिता के) पास न जाना और [उनसे] मत बोलना, नहीं तो मार खायगा, ऐसा कहा। खाकर मैं जाकर सो गया तो दूसरे दिन आठ बजे उठा। मैंने [सारी कथा] चाचा[1] से कही। 'अध्ययन के कारण मुझ से उपवास आदि नहीं होते' ऐसा चाचा[2] ने पिता को कहकर समझा दिया। उस समय मैं यजुर्वेद पढ़ रहा था और कोई एक पण्डित मुझ को व्याकरण पढ़ाता था। सोलहवें अथवा सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ।

अनन्तर मैं अपनी जमीदारी के गांव में अध्ययन करने के लिये गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच हो रहा था। मेरे पीठ की (=बाद की=छोटी) बहन की प्राणोन्मुख (=मरणासन्न) अवस्था हो गई थी। मैं [वहां] गया और उसके बिस्तर के पास भींत का सहारा लेकर खड़ा हो गया। मरता हुआ मनुष्य जीवन में मुझे तभी दृष्टि में आया [अर्थात् मरते हुए मनुष्य को मैंने जीवन में पहली

---

[1] मराठी सं० में 'अज्याला'। द्र० पूर्व पृष्ठ ४३३ टि० १।

[2] मराठी सं० में 'अज्याने'। द्र० पूर्व पृष्ठ ४३३ टि० १।

वार देखा]। और जब बहिन मर गई तब मुझे अतिशय भय लगा। सब को इसी प्रकार मरना है, ऐसा भय मेरे मन में उत्पन्न हुआ। सब लोग रो रहे थे, परन्तु मेरे हृदय में भय का आघात बैठ गया था। इस कारण एक भी आंसू मेरी आंखों से नहीं गिरा। पिता ने मुझे पाषाण हृदय कहा। मेरी माता मुझ पर प्रीति करती थी, उसने भी वैसा ही कहा। मुझे सोने के लिये कहा परन्तु मुझे स्वस्थ नींद नहीं आई। बराबर (=हर घड़ी) भय से चौंक उठता था। और बराबर मन में नाना प्रकार के विचार और तरङ्ग उठती थी। हमारे देश की प्रथा के अनुसार मेरी बहन के [मरने के] कारण रोने के पांच छ प्रसंग आने पर भी मैं नहीं रोया। इस कारण सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

मेरे १९ वें वर्ष में मुझ पर प्रीति करने वाले मेरे चाचा[1] को भी विषूचिका (=हैजे) ने जकड़ लिया। मरने के समय उन्होंने [मुझे] निकट बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं [उनके] पास बैठा था। मुझे देखकर उनकी आंखों से लगातार आंसू बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत ही रोना आया। मेरी रोते रोते आंखें सूज गई। इतना रोना मुझे कभी भी नहीं आया। उस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मुझे भी चाचा[2] के समान एक दिन मरना है। मैं अपने मित्रों और पण्डितों से सलाह करने लगा, अमर होने का उपाय पूछा, तो उन्होंने योगाभ्यास करने के लिये कहा। अनन्तर मेरे मन में 'घर छोड़ कर चला जाऊं' ऐसा [विचार] आया। इस समय मेरा वय २० वर्ष का था।

मुझे अच्छा नहीं लगता [अर्थात् उदासीन] ऐसा देखकर पिता ने जमीदारी का काम करने के लिये कहा, परन्तु मैंने वह नहीं किया। तब 'इसका विवाह कर दिया जाये, ताकि यह बिगड़े नहीं' ऐसा पिता ने निश्चय किया। यह विचार घर में होने लगा। तब मैंने विवाह नहीं करना, ऐसा अपना निश्चय अपने मित्र पर प्रकट किया, परन्तु उसे मेरा विचार पसन्द नहीं आया और विवाह के

---

[1] मराठी सं० में 'अज्यालाही'। द्र० पूर्व पृष्ठ ४३३ टि० १।

[2] मराठी सं० में 'काकाप्रमाणें' शुद्ध पाठ है। काका=चाचा।

लिये आग्रह करने लगा। मेरे मन में तो घर छोड़ कर चले जाने का था, परन्तु वैसी सलाह कोई नहीं देता था। प्रत्येक विवाह के लिये उपदेश करता था। एक महिने के भीतर विवाह की तैयारी हो गई।

विवाह की पूरी तैयारी हो गई है, यह देखकर मैं एक दिन सायंकाल शौच जाने का निमित्त (बहाना) करके धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और 'एक मित्र के घर गया हूं' ऐसा एक सिपाही से कहला दिया। मैं एक समीप के गांव में चला गया। इधर घर में मेरी प्रतीक्षा रात के १० बजे तक होती रही। उसी रात को तड़के चार घड़ी रात रही तो मैं [गांव से] निकल पड़ा और अपने गांव से लगभग १० कोस के अन्तर के एक गांव में हनुमान् के मन्दिर में ठहरा। वहां से सायला जोगी नाम का कोई पुरुष था उस के पास गया, परन्तु वहां मुझे शान्ति नहीं मिली। लाला भगत इस नाम का कोई योगी है, ऐसा लोग कहते थे। इसलिये मैं उधर (=उसके पास) गया। मार्ग में एक वैरागी ने एक मूर्ति बना रखी थी, 'हाथ में सोने की अंगूठी पहनकर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी?' इस प्रकार मुझे चिड़ाकर मेरे से उसने उन तीनों अंगूठियों का मूर्ति के प्रति समर्पण करा लिये। लाला भगत के पास जाकर मैं योग-साधन करने लगा। रात्रि में एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, उस (वृक्ष) पर पक्षी घू घू करने लगा।[1] उसे सुन कर भूत का भय मेरे मन में उत्पन्न हुआ और मैं वापस मठ[2] में आ गया। वहां से निकला फिर अहमदाबाद के निकट कोठकांगड़[3] एक गांव है, वहां आया। बहुत से वैरागी थे और एक कहीं की रानी उनके फन्दे में आई हुई थी। उस (रानी) ने मुझ से हंसी ठट्ठा आदि करना आरम्भ किया, परन्तु मैं उसके फन्दे से छूट गया। मैं यहां तीन महिने रहा। यहां वैरागी मुझ पर हंसने लगे। इसलिये [मैंने] रेशमी किनारेदार धोती फेंक दी और पास में तीन रुपये थे उन्हें खर्च करके सादी धोती खरीद ली। अनन्तर मैंने 'ब्रह्मचारी' ऐसा नाम धारण कर लिया। और सिद्धपुर में कार्त्तिक

---

[1] यह शब्द उल्लू का था। उल्लू का शब्द रात में भयानक प्रतीत होता है। इसे अमंगल भी मानते हैं।

[2] मठ=साधुओं का स्थान।

[3] थियोसोफिस्ट में छपे आत्मचरित्र की मूल प्रति में 'कोठकांगड़' को छोटा राज्य कहा है; उसकी यह राजधानी थी।

के महिने में मेला भरता है। वहां कोई तो योगी अपने को मिलेगा और अमर होने का मार्ग बतावेगा। इस आशा से मैंने सिद्धपुर का मार्ग पकड़ा। मार्ग में मुझे अपने गांव का कोई मनुष्य मिला और उसने [जाकर] मेरे पिता को 'मैं सिद्धपुर की ओर गया हूं' ऐसा कह दिया।

इधर मेरे पिता और घर के लोग [मेरी] खोज करते ही थे। तभी उस मनुष्य से मेरी बात सुनते ही मेरे पिता चार सिपाही साथ लेकर सिद्धपुर आये और एक दिवस मैं मठ[1] में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता और चार सिपाही मेरे सामने आकर खड़े हो गये। मेरे कलेजा धड़कने लगा और पिता कदाचित् मेरी दुर्दशा करेंगे (=मारेंगे) इस डर से मैंने उठकर उनके पांव कसकर पकड़ लिये। वे मुझ पर बहुत क्रुद्ध हुए। मैंने उनसे कहा कि मुझे एक धूर्त बहकाकर यहां लाया है, परन्तु मैं तो घर आने को तैयार ही था कि आप आ गये। उन्होंने मेरा तूंबा फोड़ डाला और छांटी[2] फाड़ डाली और मुझे अपने देश की रीति के वस्त्र दिये[3] और मेरे पीछे (साथ) सर्वदा दो सिपाही रख दिये (कर दिये)। रात्रि में मैं सोता था तो एक सिपाही मेरे सिराहने [बैठा] जागता रहता था। उस सिपाही को चकमा देकर निकल जाऊं, ऐसा मेरा विचार था। इसलिये सिपाही रात्रि में सोता है कि नहीं, यह देखने के लिये मैं जागता रहता था और सिपाही को 'मैं सो रहा हूं' ऐसा मालूम पड़े, इसलिये नाक से घुर्र घुर्र ऐसा शब्द करता था। इस प्रकार तीन दिन जागरण करता रहा। चौथे दिन सिपाही को झपकी लगी (नींद आ गई)। तब एक लोटा हाथ में लेकर बाहर निकला। न जाने कोई देख ही लेवे तो लघुशंका के लिये गया था, ऐसा कह सकूं। इसलिये लोटा लिया था। घर से बाहर निकला तो गांव के बाहर

---

[1] पूर्व निर्दिष्ट आत्मचरित के अनुसार नीलकण्ठ महादेव का मन्दिर।

[2] यह मराठी का शब्द हैं। इसका अर्थ ब्रह्मचारी वा साधुओं का छाती पर बंधा हुआ वस्त्र, जिसकी गले के पीछे गांठ होती है। मारवाड़ी में इसे 'गाती' कहते हैं। आत्मचरित्र में 'गेरु के रंगे वस्त्र' पाठ है।

[3] मराठी सं० में—मला आमच्या तिकड़च्या रिवाजा चा पोसाख दिला' पाठ है।

एक बाग था, वहां गया और प्रकाश की वेला आते ही पेड़ पर चढ़ कर बैठ गया। उसी तरह एक दिन उस पेड़ पर भूखा रहकर बिताया। रात्रि में ७ बजते नीचे उतर कर मार्ग पकड़ा (आगे चल दिया)। यही गांव के अथवा घर के मनुष्य को अन्तिम भेंट कही जाय तो चलेगा। इसके अनन्तर एक बार प्रयाग में मेरे गांव के कुछ लोग मुझे मिले, परन्तु मैंने उन्हें परिचय नहीं दिया। तब से आज तक किसी से भेंट नहीं हुई।

सिद्धपुर से मैं बड़ोदा आया और वहां से नर्मदा तट पर घूमने गया। नर्मदा के तट पर योगानन्द स्वामी रहते थे। वहीं एक कृष्णशास्त्री नाम का चित्पावन दक्षिणी ब्राह्मण रहता था। उनके समीप मैं कुछ पढ़ा। अनन्तर राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा।[1] २३वें वा २४वें वर्ष में चाणोदकन्याली में एक संन्यासी से मेरी भेंट हुई। अध्ययन करने की इच्छा अत्यधिक थी और संन्यासाश्रम में पढ़ने के लिये सुभीता होता है। इसलिये उनके उपदेश के अनुसार मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास लिया[2] और तब से दयानन्द ऐसा नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के समीप ही धर दिया [अर्थात् उनके सामने ही दण्ड का परित्याग कर दिया]।

चाणोद गांव में दो गोस्वामी (गोसाईं) आये। वे राजयोग करते थे। मैं उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां एक ब्रह्मचारी से मेरी भेंट हुई। परन्तु उस ब्रह्मचारी को मुझे कुछ दिनों में छोड़ना पड़ा। वहां से मैं जाते-जाते हरिद्वार गया। वहां उस समय कुम्भ का मेला भरा हुआ था। वहां से हिमालय में अलखनन्दा जहां से निकली है वहां गया। वहां केवल बर्फ थी, पानी अत्यन्त ठण्डा था। वहां पानी में मेरे पैर में कुछ लग जाने से घाव हो गया और रक्त बहने लगा। हिमालय पर्वत पर जाकर यहां देह छोड़ दूं, ऐसी मेरी इच्छा हुई। परन्तु पुनः विचार मन में आया कि ज्ञान-प्राप्ति करने

---

१. थियोसोफिस्ट पत्रिका में छपने के लिये लिखे गये आत्मचरित्र में चाणोदकन्याली में योगानन्द स्वामी से योग सीखने और छिन्नोर में कृष्ण शास्त्री से व्याकरण पढ़ने का उल्लेख है। राजगुरु से वेद पढ़ने का उल्लेख नहीं है।

२. यहां आत्मचरित्र में घटनाक्रम में भी पौर्वापर्य है।

के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया । वहां मुझे एक संन्यासी सत्पुरुष गुरु मिले । उनका नाम **विरजानन्द स्वामी** था । वे पहले अलवर में रहते थे । उनका वय उस समय ८१ **वर्ष** का था । उनकी वेदशास्त्रादि आर्ष ग्रन्थों में अधिक अभिरुचि थी । वे दोनों आंखों से अन्धे थे और उन्हें पेट-शूल का रोग था । उनको आधुनिक कौमुदी-शेखरादिक ग्रन्थ अच्छे नहीं लगते थे । भागवतादि पुराणों का वे बहुत तिरस्कार (=खण्डन) करते थे । सब आर्ष ग्रन्थों पर उनकी अत्यधिक भक्ति थी । अनन्तर उनका परिचय होने पर उनके द्वारा 'तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है' ऐसा कहने पर मैंने उनके पास पढ़ने का निश्चय किया । मथुरा में एक भद्र पुरुष **अमरलाल** नाम के थे । उन्होंने मेरे अध्ययन करते समय जो मुझ पर उपकार किया, उसे मैं भूल नहीं सकता । पुस्तकादि सामग्री और खाने-पीने की व्यवस्था उन्होंने बहुत ही उत्तम कर दी थी । उन्हें स्वयं बाहर भोजन के लिये जाना होता तो पहले मुझे भोजन कराकर पश्चात् स्वयं जाते थे । ऐसा वह पुरुष अत्यन्त उदार मन का था ।

अध्ययन समाप्त कर में आगरा में दो वर्ष रहा, परन्तु बरोबर पत्र द्वारा अथवा प्रत्यक्ष भेंट करके मैं स्वामी जी से शंकाओं के समाधान कर लेता था । वहां से मैं ग्वालियर गया और वहां थोड़ा थोड़ा वैष्णव मत का खण्डन करना आरम्भ किया । वहां से भी स्वामी जी को पत्र भेजता रहता था । वहां एक माध्व 'अनुमताचार्य[1]' नाम का था । वह कारकून (लिपिक बाबू[2]) के वेश में वाद आदि सुनने बैठा करता था । एक आध बार मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला तो उसने [अशुद्धि] पकड़ ली । मैंने अनेक बार उससे 'आप कौन हैं ?' पूछा, परन्तु 'मैं यों ही एक लिपिक हूं, सुनते सुनते मुझे कुछ बोध हुआ है' ऐसा उसने उत्तर दिया । एक दिन 'वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं इस विषय में बातचीत में मैंने कहा कि 'एक खड़ी रेखा लगाने से यदि स्वर्ग मिलता है तो सारे मुंह को काला करने से स्वर्ग से अधिक कोई पद मिलता होगा ?' ऐसा सुनते ही उसे

---

[1] शुद्ध नाम हनुमन्ताचार्य है ।

[2] मराठी हिन्दी कोश के अनुसार ।

बहुत क्रोध आया और वह उठकर चला गया। तत्पश्चात् मुझे जानकारी प्राप्त करने पर 'यह अनुमताचार्य[1] है' ऐसा ज्ञात हुआ।

ग्वालियर से मैं 'करौली' गया। वहां एक कबीर पन्थी मिला। उसने 'एकवीर' इसका 'ये कबीर' ऐसा अर्थ किया था और एक कबीरोपनिषद् भी है, ऐसा मुझ से कहा। फिर जयपुर में हरिश्चन्द्र नाम के एक बड़े पण्डित थे। वहां पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत की स्थापना की। जयपुर के महाराज [सवाई] रामराज (रामसिंह), ये भी शैवमत के अनुयायी बन गये। इस कारण शैवमत का प्रसार होने से हजारों रुद्राक्ष की मालाएं मैंने अपने हाथ से लोगों को दीं (पहनाईं)। वहां शैव मत इतना फला फूला कि हाथी घोड़े सब के गले में रुद्राक्ष माला हो गई [अर्थात् पहराई गई]।

जयपुर से मैं पुष्कर गया और वहां से अजमेर गया। अजमेर में जाकर शैव मत का खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच जयपुर के महाराजा लाट साहब से मिलने के लिये आगरा जाने वाले थे। वृन्दावन में 'रंगाचार्य' नाम के एक पण्डित थे। वहां कहीं शास्त्रार्थ हो जावे, इस कारण राजा रामसिंह ने मुझे बुलाने के लिये [आदमी] भेजा। और मैं जयपुर गया। परन्तु मैंने शैव मत का ही खण्डन करना आरम्भ कर दिया, यह जानकर राजा को [मेरे प्रति] अप्रसन्नता हुई और मैं भी जयपुर छोड़कर चला गया। पुनः स्वामी जी के समीप जाकर शंका समाधान किया। वहां से पुनः मैं हरिद्वार गया। वहां 'पाखण्ड-मर्दन' ये अक्षर लिखकर ध्वज अपने स्थान पर लगा दिया। वहां बहुत वाद-विवाद हुआ। फिर मेरे मन को ऐसा लगा कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर और गृहस्थों से भी अधिक पुस्तक आदि का जंजाल साथ रख कर क्या करना है? [अर्थात् जंजाल रखना ठीक नहीं है]। इस अभिप्राय से मैंने सब कुछ छोड़ दिया [अर्थात् सब कुछ बांट दिया]। और कौपीन लगा ली और मौन धारण कर लिया। वहां से मैंने शरीर पर राख (भस्म) लगाना आरम्भ किया, उसे गत वर्ष मुम्बई आने तक लगाता रहा। जब से रेल में बैठने लगा तब से कपड़े पहनने लगा। अस्तु, वहां (=हरि-

---

[1] शुद्ध नाम 'हनुमन्ताचार्य' था।

द्वार में) मैंने जो मौन धारण किया वह अधिक दिन टिका नहीं। कारण, बहुत लोग मुझे पहचानते थे। और एक दिन मेरी पर्ण कुटी के द्वार कोई **'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्'** भागवत की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं, वेद भी भागवत से नीचे (घटिया) हैं। ऐसा बकने लगा। तब मुझ से यह सहन नहीं हुआ और मौनव्रत छोड़कर मैंने वहां भागवत का खण्डन किया। अनन्तर ऐसा विचार किया कि ईश्वर की कृपा से मुझे जो थोड़ा बहुत ज्ञान हुआ है उसे सब लोगों में प्रकट करना चाहिये। इस विचार को धारण करके मैं फर्रुखाबाद आया। वहां से फिर रामगढ़ गया।

रामगढ़ से वाद (शास्त्रार्थ) आरम्भ किया। वहां पर जब जब दो चार शास्त्री एक साथ बोलने लगते थे तब मैं 'कोलाहल' ऐसा कहता था। इसलिये आज तक वहां के लोग मुझे **'कोलाहल स्वामी** कहते हैं। वहां चक्रांकित मत के दस मनुष्य मुझे मारने को आये; परन्तु मैं उनसे बड़े संकट (=बड़ी कठिनाई) से बचा। [वहां से फर्रुखाबाद गया।] फर्रुखाबाद से मैं कानपुर आया। और कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मुझे मारनेवाले मारने के लिये आये थे, परन्तु माधवप्रसाद नाम का एक भद्र पुरुष था उसने [मुझे] बचा लिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत स्वीकार करने को तैयार था और उसने सब पण्डितों को नोटिस (=विज्ञापन) दे रखी थी कि अपने आर्य धर्म के विषय में मेरी खात्री (=विश्वास) तीन महिने के भीतर न करा दी तो मैं ईसाई मत को स्वीकार कर लूंगा। मैंने उसकी आर्य धर्म विषयक खात्री करा दी और वह ईसाई होने से बच गया।

प्रयाग से मैं रामनगर गया। रामनगर के राजा के कहने के अनुसार काशीस्थ पण्डितों से वाद-विवाद (=शास्त्रार्थ) करने के लिये [काशी] गया। उस वाद (=शास्त्रार्थ) में प्रतिमा[1] आदि शब्द वेद में हैं वा नहीं? ऐसा विषय निकला था [अर्थात् निश्चित हुआ था]। प्रतिमा शब्द वेद में है, परन्तु इस का अर्थ माप (=

---

[1] मराठी सं० में 'प्रतिमा वगैरे शब्द' पाठ है। परन्तु शास्त्रार्थ का मुख्य विषय 'मूर्तिपूजा का विधान वेद में है वा नहीं' था। उसी प्रसंग में प्रतिमा शब्द पर भी विचार हुआ था।

तौल) ऐसा है, ऐसा मैंने सिद्ध करके दिखा दिया। वह वाद (=शास्त्रार्थ) अलग से छपकर प्रसिद्ध (=प्रकाशित) हुआ है। उसे सब लोग पढ़कर देखे। इतिहास से ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्वीकार करने चाहियें। ऐसा भी वाद वहां हुआ। गत वर्ष भाद्र मास[1] में मैं काशी में था और आज पर्यन्त चार बार काशी गया हूं। और जब जब मैं [काशी] जाता हूं तब तब 'किसी ने [मूर्ति पूजा का] वेद में वचन पाया हो तो [मेरे पास] लावे' ऐसा विज्ञापन देता हूं, परन्तु आज तक कोई वेद में [मूर्ति पूजा का] वचन नहीं निकाल सका।

इस प्रकार उत्तर भारत[2] के सब भागों में मैं गया। आज दो वर्ष से कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जबलपुर आदि स्थानों में मैंने बहुत लोगों को धर्मोपदेश किया और फर्रुखाबाद काशी आदि स्थानों में आर्ष विद्या पढ़ाने के लिये तीन या चार[3] पाठशालाएं स्थापित कीं। उनसे शिक्षक लोगों की उच्छृंखलता[4] के कारण जितना उपयोग (=लाभ) हो सकता था उतना नहीं हुआ। गत वर्ष मैं मुम्बई आया। मुम्बई में गोसाईं महाराज के मत[5] की छानबीन बहुत प्रकार से की और मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना[6] की। मुम्बई से अहमदाबाद और राजकोट जाकर इन

---

[1] गत वर्ष=सन् १८७४ में ऋषि दयानन्द ज्येष्ठ और आषाढ मास (सं० १९३१) में लगभग दो मास काशी में रहे थे। आषाढ (द्वितीय) कृ० २=१ जुलाई १८७४ से आश्विन=अक्टूबर तक लगभग तीन मास सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०) के लिखाने के लिये प्रयाग में रहे थे। अतः यहां पाठ में कुछ भूल प्रतीत होती है।

[2] मराठी सं० में 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग है।

[3] ऋ० द० ने कासगंज फर्रुखाबाद, मिर्जापुर और काशी में पाठशालाएं स्थपित की थीं।

[4] मराठी सं० में 'लबाड़ी' पाठ है। इसका अर्थ कोश में बदमाशी, लुच्चापन, कपट, चालाकी आदि दिये हैं। हिन्दी सं० में 'उच्छृंखलता' पाठ है। हम ने इसे ही ठीक समझा है।

[5] हिन्दी संस्करण में 'चरित्र' पाठ है। मराठी सं० में 'पक्ष' शब्द है। इसका अर्थ 'मत' भी है।

[6] मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना चैत्र शुक्ला ५ सं० १९३२

स्थानों में कुछ दिन धर्मोपदेश किया और आपके इस शहर में दो महिने से आया हूं।

इस प्रकार मेरा पिछला चरित्र है। आर्य धर्म की उन्नति होवे, इसके लिये मेरे सदृश बहुत से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहियें। अकेले के हाथ से यह काम बराबर (भली प्रकार) नहीं हो सकता। फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार और सामर्थ्यानुसार मैंने जो दीक्षा ली उसे चलाऊंगा ऐसा संकल्प (=निश्चय) किया है। आर्यसमाज की सर्वत्र स्थापना होकर मूर्ति-पूजा आदि दुष्ट आचार, ये सर्वत्र बन्द होवें; वेदशास्त्र के शुद्ध अर्थ [सब लोग] समझें और उसके अनुसार आचरण होने से देश की उन्नति होवे, ऐसी ईश्वर से प्रार्थना है। आप सब लोगों के मनोयोग पूर्वक साहाय्य से यह [कार्य] सिद्ध होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

सन् १८७५ में मराठी भाषा में प्रकाशित पूना के प्रवचनों का
युधिष्ठिर मीमांसक कृत
आर्यभाषानुवाद
पूर्ण हुआ
भाद्र कृष्णा अमावास्या (द० भा०—श्रावण कृष्णा अमावास्या)
बृहस्पतिवार संवत् २०३९
१९ अगस्त १९८२

—:o:—

(गुज० १९३१) शनिवार १० अप्रेल १८७५ को हुई थी। काकड़वाड़ी आर्य समाज बम्बई में लगे शिलालेख में चैत्र शु० १ बुधवार, ७ अप्रेल १८७५ खुदा हुआ है। यह शिलालेख अप्रामाणिक है। इस विषय में 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' भाग २, के चौथे परिशिष्ट पृष्ठ ९४३-९५९ तक विस्तार से विचार किया है। शोध-प्रिय पाठक इसे अवश्य देखें।

प्रथम परिशिष्ट

पूना-प्रवचन और सत्यार्थ-प्रकाश (प्रथम सं०)

ऋषि दयानन्द ने पूना नगर में सन् १८७५ में विविध विषयों पर १५ व्याख्यान दिये थे। उन्होंने सन् १८७५ में प्रकाशित होने वाले सत्यार्थ-प्रकाश का लेखन सन् १८७४ में किया था। दोनों का काल लगभग समान होने से पूना-प्रवचन के अनेक विषय ऐसे हैं, जिन का सत्यार्थ-प्रकाश (प्र० सं०) में भी लगभग समान रूप से उल्लेख मिलता है। हमने पूना-प्रवचन के इस संस्करण में कतिपय विशिष्ट स्थलों पर टिप्पणी में लिखा है कि 'इस **की तुलना के लिये सत्यार्थ-प्रकाश (प्र०सं०) का पाठ प्रथम परिशिष्ट में दे रहे हैं।**' अतः सत्यार्थ प्रकाश (प्र० सं०) के उन सभी पाठों को पृष्ठ संख्या और टिप्पणी संख्या का निर्देश करके नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

पूना-प्रवचन पृष्ठ २६७, टि० ५—

सत्यार्थ प्रकाश (प्र० सं०)—"श्रीकृष्ण विद्वान् धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। ऐसा महाभारत की कथा से यथावत् निश्चित होता है।·········उस (भागवत) में ऐसी ऐसी बात लिखी जिस्से यथावत् श्रीकृष्ण की निन्दा होय।·········इसमें विचारना चाहिये कि श्री कृष्ण धर्मात्मा थे, ऐसा काम कभी नहीं करेंगे। और जो श्री कृष्ण ऐसा कर्ते, तो कुम्भीपाक [नरक] से कभी न निकलते। इस्से श्रीकृष्ण ने कभी ऐसा काम नहीं किया। क्योंकि वे बड़े धर्मात्मा थे।" (पृष्ठ ३७०-३७१)

सत्यार्थप्रकाश (संशोधित सं०)—"देखो श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उन का गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्णजी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी नहीं किया। और इस भागवत वालों ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।······ (पृष्ठ ५२९; आसशसं० २)

पूना-प्रवचन पृष्ठ २९३, टि० २—

सत्यार्थप्रकाश (प्र० स०)—"प्रश्न वेद अनन्त हैं क्योंकि यजुर्वेद की शाखा १०१ सामवेद की १००० ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की ९ शाखा है सो बहुत शाखा गुप्त हो गई है उनमें पाषाण पूजनादि लिखा होगा तुम क्या जानते हो। 'अनन्ताः वै वेदाः' यह ब्राह्मण की श्रुति है इस का यह अभिप्राय है कि वेद अनन्त हैं अर्थात् अनन्त शाखा हैं। उत्तर शाखा जो होती है सो स्वजातीय होती है क्योंकि जिस वृक्ष की शाखा होती है उस वृक्ष के तुल्य पत्र, पुष्प, फल, मुल और स्वाद तथा रूप ऐसी ही जो जो शाखा प्रसिद्ध हैं उन उन शाखाओं की लुप्त शाखा भी अवश्य होंगी कि जैसा इनमें सत्य सत्य अर्थ प्रतिपादित हैं वैसा उनमें भी होगा इसमें जाना जाता है कि इन प्रसिद्ध शाखाओं में मूर्त्तिपूजन का लेश नहीं है तो लुप्त शाखाओं में भी नहीं होगा। ऐसा जो कोई कहै कि आपने क्या वे शाखा देखीं हैं फिर आप लोग क्यों कहते हो कि उन लुप्त शाखाओं में लिखा होगा और आप लोग अनुमान भी नहीं कर सक्ते क्यों कि इन शाखाओं में थोड़ा सा भी प्रतिपादन होता तो उन शाखाओं में भी अनुमान हो सक्ता अन्यथा नहीं और जो हठ से मिथ्या कल्पना कर्ते हो तो हम भी कर सक्ते हैं कि उन शाखाओं में चोरी, मिथ्या-भाषण, विश्वासघात, कन्या, माता, भगिनी इनसे समागम करना वेश्यागमन परस्त्रीगमन करना और वर्णाश्रम व्यवस्था न होगी इत्यादिक अनुमान मिथ्या कर सकते हैं और फिर तुमने भी वे शाखा देखी नहीं वा कोई नहीं देख सक्ता फिर कैसे निश्चय होगा कभी न होगा क्योंकि कभी भ्रम की निवृत्ति न होगी न जाने उन शाखाओं में ब्राह्मण का नाम चांडाल होय और चाण्डाल का नाम ब्राह्मण होय इस्से ऐसा आप लोग मिथ्या अनुमान न करैं।" (पृष्ठ ३३१-३३२)

सत्यार्थप्रकाश (संशोधित सं०)—"मूर्तिपूजक सम्प्रदायी लोग प्रश्न करते हैं कि वेद अनन्त हैं ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखा हैं। इनमें से थोड़ी शाखा मिलती हैं शेष लोप हो गई है। उन्हीं में (मूर्ति) पूजा और तीर्थों का प्रमाण होगा। जो न होता तो पुराणों में कहां से आता ?

जब कार्य [को] देखकर कारण का अनुमान होता है, तब पुराणों को देखकर मूर्तिपूजा में क्या शङ्का है ?

उत्तर—जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है, उसके सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहे शाखा छोटी बड़ी हों, परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखा मिलती हैं, जब इन में पाषाणादि मूर्त्ति और जल स्थल विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था। और चार वेद पूर्ण मिलते हैं। उनसे विरुद्ध शाखा कभी नहीं हो सकतीं। और जो विरुद्ध हैं, उनको शाखा कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। जब यह बात है, तो पुराण वेदों की [लुप्त] शाखा[ओं के अनुसार] नहीं, किन्तु सम्प्रदायी लोगों ने परस्पर विरुद्ध रूप ग्रन्थ बना रखे हैं।

वेदों को तुम परमेश्वरकृत मानते हो, तो 'आश्वलायनादि' ऋषि मुनियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को वेद क्यों मानते हो ? जैसे डाली और पत्तों के देखने से पीपल वड़ और आम्र आदि वृक्षों की पहिचान होती है, वैसे ही ऋषि मुनियों के किये वेदाङ्ग चारों ब्राह्मण अङ्ग उपाङ्ग और उपवेद आदि से वेदार्थ पहिचाना जाता है। इसीलिये इन ग्रन्थों को 'शाखा' माना है। जो वेदों से विरुद्ध है उसका प्रमाण और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।

जो तुम अदृष्ट शाखाओं में मूर्त्ति-पूजा आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे, तब जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रम-व्यवस्था उलटी, अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया गमनीया, अकर्त्तव्य कर्त्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म [और] सत्य-भाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा। तो तुम उसको वही उत्तर दोगे जो कि हमने दिया—'अर्थात् वेद और प्रसिद्ध शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मणादि और शूद्रादि का नाम शूद्रादि लिखा है, वैसा हि अदृष्ट शाखाओं में जानना चाहिये। नहीं तो वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जायेंगे।'

भला जैमिनी व्यास और पतञ्जलि के समय पर्यन्त तो सब शाखा विद्यमान थीं वा नहीं ? यदि थीं तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे। और जो कहो कि नहीं थीं तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है ?

देखो, जैमिनी ने मीमांसा में सब कर्मकाण्ड, पतञ्जलि मुनि ने योगशास्त्र में सब उपासना काण्ड, और व्यास मुनि ने शारीरिक सूत्रों में सब ज्ञान काण्ड वेदानुकूल लिखा है। उनमें पाषाणादि मूर्त्ति-पूजा वा प्रयागादि तीर्थों का नाम तक भी नहीं लिखा। लिखें कहां से ? जो कहीं में होता, लिखे विना कभी न छोड़ते। इस लिये लुप्त शाखाओं में भी इस मूर्त्ति-पूजादि का प्रमाण नहीं था।" (पृष्ठ ५४६–५४८, आसशसं २)

पूना-प्रवचन पृष्ठ २९६, टि० १, तथा पृष्ठ २९७, टि० १—

सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०)—"प्रश्न वेद शास्त्र में मूर्त्तिपूजन लिखा है और वेद मन्त्रों से प्राण प्रतिष्ठा होती है उसमें देव की शक्ति भी आ जाती है फिर आप खण्डन क्यों कर्ते हैं उत्तर वेदशास्त्र में मूर्त्ति पूजन कहीं नहीं लिखा और न प्राण प्रतिष्ठा और न कुछ उसमें शक्ति आती है प्रश्न **सहस्रशीर्षा पुरुषः उद्बुध्यस्वाग्ने प्राणदा अपानदा ॥** इत्यादिक मन्त्रों से षोडशोपचार पूजा और प्राणप्रतिष्ठा भी होती है तथा प्रतिष्ठामयूख ग्रन्थ और तन्त्र ग्रन्थों में **आत्मेहागच्छतु सुखं चिरं तिष्ठतु स्वाहा ॥ प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरन्तिष्ठन्तु स्वाहा ॥ अन्तःकरणमिहागच्छतु सुखं चिरन्तिष्ठतु स्वाहा ॥** इत्यादिक लिखे हैं फिर कैसे खण्डन हो सकता है उत्तर इन मन्त्रों के अर्थ नहीं जानने से आप लोगों को भ्रम होता है क्योंकि पुरुष नाम पूर्ण ईश्वर का है सहस्रशीर्षा इत्यादिक पुरुष के विशेषण हैं सो पुरुष के निराकार होने से शिरादिक अवयव कभी नहीं हो सक्ते और जो साकार बनता तो व्यापक नहीं बन सक्ता। तथाहि **पूर्णत्वात्पुरुषः** इत्यादिक निरुक्त में अर्थ किया है सो उसका सहस्रशीर्षा इत्यादिक विशेषण हैं उसका अर्थ इस प्रकार का होता है। **सहस्राणि शिरांसि सहस्राण्यक्षीणि तथा सहस्राणि पादाः असंख्याताः यस्मिन् पूर्णे पुरुषे सः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात् पुरुषः ॥** जितने शिर, जितनी आंख और जितने पग, असंख्यात वे सब पूर्ण जो परमेश्वर उसी में बास करते हैं क्योंकि सब जगत का अधिकरण परमेश्वर ही है और बहुव्रीहि समास ही अन्य पदार्थ के होने से होता है तथा सहस्रपात् शब्द होने से बहुव्रीहि निश्चित होता है व्याकरण की रीति से सोई अर्थ मन्त्र के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है **सभूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । पुरुष एवेदं सर्वं वेदाहमेतम्पुरुषम् ॥** इत्यादिक

उत्तर मन्त्रों से यही अर्थ निश्चित होता है। और सब जगत् की उत्पत्ति भी पुरुष से लिखी है विना परमेश्वर के किसी में नहीं घट सक्ती इस्से जो कोई कहे कि इन मन्त्रों से षोडशोपचार पूजा होती है उसकी बात मिथ्या जाननी और प्राण प्रतिष्ठा शब्द का यह अर्थ है कि प्राण की स्थिति और स्थापना का होना जो मूर्त्ति में प्राण आते तो मूर्त्ति चेतन ही हो जाती सो जैसी पहले जड़ थी वैसी ही सदा रहती है क्योंकि चलना, फिरना, खाना, पीना, बैठना, देखना और सुनना इत्यादिक व्यवहार वह मूर्त्ति नहीं करती इस्से जो कोई कहे कि प्राण प्रतिष्ठा होती है यह बात उसकी मिथ्या जाननी और मूर्त्ति ठस होती है उसमें प्राण के जानें आने का छिद्र अवकाश ही नहीं फिर प्राण उसमें कैसे घुस सकेगा और जो कहें कि हम प्राणप्रतिष्ठा कर्ते हैं उनसे कहना चाहिये कि आप लोग मुरदे के शरीर में क्यों नहीं प्राणप्रतिष्ठा कर्ते हैं किसी राजा बाबू और सब जगत् के मनुष्यों को मुरदे में प्राणप्रतिष्ठा करके जिला दिया करो तो तुम लोगों को बहुत धन मिलेगा और बड़ी प्रतिष्ठा होगी फिर क्यों नहीं ऐसी बात कर्ते हो जो वे कहें कि जैसा परमेश्वर ने नियम कर दिया है वैसा ही मरने जीने का होता है उसको मरे पीछे कोई नहीं जिला सक्ता तो उनसे हम लोग पूछते है कि जिन पदार्थों को परमेश्वर ने प्राण और चेतनता रहित बनाये हैं उनको तुम चेतन और प्राण सहित कैसे बना सकोगे कभी नहीं और जो कहैं कि देव और सिद्ध पुरुष मृतक को जिला देते हैं उनसे पूछा जाता है कि वे देव और सिद्ध क्यों मर जाते हैं इस्से प्राणप्रतिष्ठा की सब बात झूठी है **प्राणदा अपानदा** इनका अर्थ पूर्वार्द्ध[1] में कर दिया है वहीं देख लेना और **उद्बुध्यस्वाग्ने**। इस्का भी अभिप्राय वहीं[2] देख लेना **आत्मेहागच्छतु चिरं सुखं तिष्ठतु स्वाहा**। इत्यादि संस्कृत मिथ्या ही लोगों ने रच लिया कोई सत्य शास्त्र में नहीं है।" (पृष्ठ ३२८-३३०)।

सत्यार्थप्रकाश (संशोधित सं०)—"प्रश्न—अजी ! जब तक वेदमन्त्रों से आवाहन नहीं करते, तब तक देवता नहीं आता। और आवाहन करने से झट आता है और विसर्जन करने से चला जाता है।

उत्तर—जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन करने से देवता आ जाता

---

[1] सत्यार्थप्रकाश पूर्वार्ध में।

[2] अर्थात् स० प्र० के पूर्वार्ध में।

है, तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती ? और विसर्जन करने से चली क्यों नहीं जाती ? और वह [देवता] कहां से आता और कहां जाता है ? सुनो भाई पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है। जो तुम मन्त्रबल से परमेश्वर को बुला लेते हो, तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को नहीं बुला लेते ? और शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते ? सुनो भाई भोले भाले लोगों ! ये पोप जो तुम को ठग कर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

प्रश्न—**प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥**
आत्मेहागच्छतु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥ इत्यादि वेदमन्त्र हैं। क्यों कहते हो नहीं है ?

उत्तर—अरे भाई ! बुद्धि को थोड़ी सी तो अपने काम में लाओ। ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध तन्त्र ग्रन्थों की पोपरचित पङ्क्तियां हैं, वेद वचन नहीं।

प्रश्न—क्या तन्त्र झूठा है ?

उत्तर—हां, सब झूठा है। जैसे आवाहन, प्राणप्रतिष्ठादि पाषाणादि—मूर्तिविषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं, वैसे **स्नानं समर्पयामि**' इत्यादि वचन भी नहीं। अर्थात् इतना भी नहीं कि—**पाषाणादि-मूर्ति रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्**' अर्थात् पाषाण की मूर्त्ति बना मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन अक्षतादि से पूजे, ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं, तो खण्डन भी नहीं है। और खण्डन है, तो '**प्राप्तौ सत्यां निषेधः**' मूर्ति के होने ही से खण्डन हो सकता है।

उत्तर—विधि तो नहीं, परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानने [का विधान] और [मूर्ति का] सर्वथा निषेध किया है।" (पृष्ठ ४८४–४८५)

पूना-प्रवचन, पृष्ठ ३०५, टि० २—

सत्यार्थ-प्रकाश (प्र० सं०)—"प्रश्न—देशभाषा भिन्न भिन्न सब

कैसे बन गई और किस्से बनी उत्तर सब देश भाषाओं का मूल संस्कृत है क्योंकि संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश कहाता है फिर अपभ्रंश से देशभाषा होती है जैसे कि घट शब्द से घड़ा घृत शब्द से घी दुग्ध शब्द से दूध नवनीत शब्द से नैनू अक्षि शब्द से आंख कर्ण शब्द से कान नासिका शब्द से नाक जिह्वा शब्द से जीभ मातर शब्द से मादर यूयं शब्द से यू वयं शब्द से वी गूढ शब्द का गोड इत्यादिक जान लेना और एक पदार्थ के बहुत नाम है जैसे कि गौः नाम गाय ग्मा, ज्मा, क्ष्मा क्षा, क्षमा, क्षोणी, क्षिति, अवनी, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इडा, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातुः, गोत्रा, ए २१ नाम पृथिवी के नाम है सो भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न, २१ नामों में से भिन्न भिन्न का अपभ्रंश होने से भिन्न भिन्न भाषा बन जाती है और एक नाम बहुत अर्थों का होता है जैसे कि सिङ्ह, वानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव और चोर इत्यादिक का नाम हरि है इस्से भी भिन्न भिन्न देश में भिन्न भिन्न भाषा होती है क्योंकि किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का व्यवहार किया किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया किसी देश में हरि शब्द से घोड़े को लिया किसी देश में हरि शब्द से सूर्य को लिया किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया इस हेतु देशभाषा भिन्न भिन्न हो गई और मनुष्यों का उच्चारण भेद से भिन्न भिन्न भाषा हो जाती है जैसे कि ञ्ज यह दोनों अकार में मिलने से अक्षर यह ञ्ज होता है सो आज काल इसका लेख ऐसा हो गया है ज्ञ इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गये हैं गुजराती लोग गकार और नकार का उच्चारण करते हैं महाराष्ट्रादिक दाक्षिणात्य लोग द और नकार का उच्चारण कर्ते हैं और अन्य लोग गकार और यकार का उच्चारण करते हैं तथा तालव्य श मूर्द्धन्य ष और दन्त्य स इन तीनों के स्थान में बगाली लोग तालव्य शकार का उच्चारण कर्ते हैं मध्य और पश्चिम देश वाले तीनों के स्थान में दन्त्य सकार का उच्चारण कर्ते हैं तथा किसी की जीभ कठिन होती है वह प्रायः शब्दों को अन्यथा उच्चारण कर्ता है और जिस देश में विद्या का लेश भी न होय उस देश में संकेत व्यवहार करने के हेतु शब्दों का कर लेते हैं कि इस शब्द से इसको जानना और इस शब्द से इसको जानना जैसे दाक्षिणात्य लोगों ने घी का

नाम तूप रख लिया और उत्तर देश पर्वत वासियों ने घी का नाम चोखा रख लिया और गुजरातियों ने चावल का नाम चोखा रख लिया। इस्से भी देश देशान्तर की भाषा भिन्न भिन्न हो गई है इसी प्रकार के अन्य कारणों को भी विचार लेना।" (पृष्ठ २५०-२५१)

पृष्ठ ३२५, पं० ७ से, पृष्ठ ३२६, पं० ७; टि० १—

सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०)—"प्रश्न सुख वा दुःख राजा और दरिद्र को तुल्य ही देख पड़ता है क्योंकि जो राजा को सुख वा दुःख हैं वे दरिद्रों को भी हैं विचार करके देखें तो सुख वा दुःख सब को तुल्य ही देख पड़ता है उत्तर ऐसा कहना योग्य नहीं क्योंकि इच्छा के अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति का होना सुख कहाता है और इच्छा के प्रतिकूल पदार्थों की प्राप्ति का होना दुःख कहाता है सो हर्ष और प्रसन्नता सुख के पर्याय हैं और शोक तथा अप्रसन्नता दुःख के पर्याय हैं जब राजादिक धनाढचों के गर्भवास में जीव आता है उसी दिन से अनुकूल पदार्थों का सेवन होता है फिर जन्म जब होता है तव अनेक ओषधादिक व्यवहारों की प्राप्ति होती है और बिना इच्छा के भी अनेक पदार्थ अनुकूल प्राप्त होते है वह जब दूध पीने की इच्छा करता है तब विना इच्छा से भी मिश्री और सुगन्धादिक से युक्त दूध यथेष्ट मिलता है और जब वह कुछ अप्रसन्न वा रोने लगता है तब अनेक सेवक परिचारक मधुर वचन और खिलोने से शीघ्र ही प्रसन्न कर देते है और फिर वह बड़ा होता है तब जिसके ऊपर दृष्टि करता है वह हाथ जोड़ के अनुकूल वचन तथा अनुकूल व्यवहार करता है सदा प्रसन्न उसको सब लोग रखते हैं और वह रहता है फिर जब कभी दुःखी भी होता है तब अनुकूल वचन और ओषधादिकों से उसको प्रसन्न कर देते हैं और जो विद्यावानों के गर्भवास में आता है उसको भी अधिक सुख होता है परन्तु कोई कभी उनमें से नष्ट बुद्धि के होने से दुःखी हो जाता है सो पूर्व जन्म के पापों से और इस जन्म के व्यवहारों से पीड़ित होता है और जो मूर्ख वा दरिद्र के गर्भवास में जीव आता है उसी समय से उसको दुःख होने लगते हैं जब वह स्त्री घास वा लकड़ी को काटने लगती है तब गर्भ में प्रहार के होने जीव पीड़ित होता है और कभी क्षुधातुर

रहती है कभी बहुत कुत्सित अन्न को खा लेती है उससे भी उस जीव को अत्यन्त पीड़ा होती है फिर जब जन्म होता है तब कोई प्रकार का औषधवास नियम तथा कोई परिचारक उस समय नहीं रहता किन्तु मार्ग वन वा खेत में प्रायः पाषाण की नांई गर्भ से बालक गिर पड़ता है फिर वही स्त्री उसको पोंछ पोंछ वस्त्र में बांध के पीठ में बांध लेती है फिर कभी उस स्त्री को घास वा लकड़ी बेचने की शीघ्रता होती है उस समय बालक दूध पीने के हेतु रोता है सो दूध तो उसको नहीं मिलता परन्तु वह स्त्री उस बालक को थपेड़ा मारती है फिर अधिक अधिक जब रोता है तब अधिक अधिक मारती है फिर वह रोता रहता है परन्तु दूध नहीं पिलाती फिर वह जब कुछ बड़ा होता है तब उसको यथावत् खाने को भी समय के ऊपर नहीं रहता फिर वह मजूरी करता है तो भी उसको यथावत् इच्छा के अनुकूल नहीं मिलता और सदा उसकी सुख की तथा उत्तम पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा होती है परन्तु प्राप्ति के नहीं होने से सदा दुःखी रहता है जो ऐसा कहता है कि सुख वा दुःख सबको तुल्य है सो पुरुष विचारवान् नहीं है क्योंकि सुख वा दुःख प्रत्यक्ष ही अधिक वा न्यून देख पड़ते हैं।” (पृ० २८०, पं० २५ से पृष्ठ २८२, पं० १०)

पूना-प्रवचन, पृष्ठ ३२८, टि० २ तथा ३२६, टि० ६—

सत्यार्थ-प्रकाश (प्र० सं०)—‘आदिसृष्टि में सब मनुष्य उत्पन्न भए थे न कोई राजा न कोई प्रजा न मूर्ख न पण्डित इत्यादिक भेद नहीं थे। इस्से आदिसृष्टि में दोष नहीं आया प्रश्न जैसे आदिसृष्टि में दुग्धपानादिक का व्यवहार सुख और दुःख आदिक प्रवृत्ति वा निवृत्ति भई थी वैसे आजकाल भी होती है फिर वह जो आपने कहा कि अनुभवादिकों से विना प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं होती सो बात विरुद्ध हो गई उत्तर विरुद्ध नहीं होती क्योंकि आदिसृष्टि में गर्भवास से उत्पत्ति नहीं भई थी और **किसी को बाल्यावस्था भी न थी** किन्तु सब स्त्री और **पुरुषों की युवावस्था ही ईश्वर ने रची थी** फिर वे उस समय अच्छा वा बुरा कुछ नहीं जानते थे जहां जिस का नेत्र था अथवा बुद्ध्यादिक **जिस बाह्यपदार्थ में युक्त भये उस को टकटक देखते थे परन्तु यह अच्छा वा बुरा ऐसा नहीं जानते थे कि ऐसी**

चेष्टा करनी वा न करनी फिर चेष्टा होने लगी बाह्य पदार्थों के साथ स्पर्शादिक व्यवहार होने लगे उनमें से किसी ने कुछ पत्ता वा फूल घास स्पर्श किया वा जीभ के ऊपर रखा तथा दांतों से चबाने लगे उसमें से कुछ भीतर चला गया कुछ बाहर गिर पड़ा उसको देख दूसरा भी ऐसा करने लगा फिर कर्ते कर्ते व्यवहार बढ़ता चला तथा संस्कार भी होते चले होते होते मैथुनादिक व्यवहार भी होने लगे **पांच वर्ष पर्यन्त उस समय किसी को पाप वा पुण्य नहीं लगता था वैसे ही आजकाल भी पांच वर्ष तक बालकों को पाप पुण्य नहीं लगता** फिर व्यवहार कर्ते कर्ते अच्छा बुरा भी कुछ कुछ जानने लगे फिर परस्पर उपदेश भी करने लगे कि यह अच्छा है यह बुरा है और परमेश्वर ने भी उक्त पुरुषों के द्वारा वेद विद्या का प्रकाश किया।······(पृष्ठ २८२–२८३)

पूना-प्रवचन, पृष्ठ ३३८, टि० ३—

सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०)—'फिर जब मरण होता है तब स्थूल और लिंग शरीर का वियोग होता है सो स्थूल शरीर से लिंग शरीर निकल के बाहर का जो वायु उसमें मिलता है फिर वायू के साथ जहां तहां घूमता है कभी सूर्य्य के किरणों के साथ ऊंचे और चन्द्र की किरणों के साथ नीचे आ जाता है अथवा वायु के साथ नीचे ऊपर और मध्य में रहता है फिर उक्त प्रकार से शरीर धारण कर लेता है प्रश्न स्वर्ग और नरक लोक है वा नहीं उत्तर सब कुछ है क्योंकि परमेश्वर के रचे असंख्यात लोक है उनमें से जिन लोगों में अधिक सुख है और दुःख थोड़ा उनको स्वर्ग कहते हैं तथा जिन लोकों में दुःख अधिक और सुख थोड़ा है उनको नरक कहते हैं और जिन लोकों में सुख और दुःख तुल्य है उनको मर्त्यलोक कहते हैं इस प्रकार के स्वर्ग, मर्त्य और नर्क लोक बहुत है उनमें भी अनेक प्रकार के स्थान और पदार्थ है कि जिनमें सुख वा दुःख अधिक वा न्यून है सो इसी हेतु परमेश्वर ने सब प्रकार के स्थान और पदार्थ रचे हैं कि पापी पुण्यात्मा और मध्यस्थ जीवों को यथावत् फल मिलै अन्यथा न होय जैसे कि राजा के उत्तम मध्यम और नीच स्थान होते हैं जिन से उत्तम मध्यम और नीचों की यथावत् व्यवहार की व्यवस्था होती है परमेश्वर का यथावत् अखण्डित सम्पूर्ण जगत् में राज्य है और यथावत् न्याय से जिसकी व्यवस्था है फिर परमेश्वर के राज्य में

स्वर्ग नर्क और मर्त्य लोकादिकों की व्यवस्था कैसे न होगी किन्तु अवश्य ही होगी प्रश्न मरण समय में यमराज के दूत आते हैं उस जीव को जाल में बांध लेते हैं बांध के मारते मारते यमराज के पास ले जाते है और यमराज यथावत् न्याय से दण्ड देते हैं यह बात सत्य है वा मिथ्या है उत्तर यह बात मिथ्या है क्योंकि जीव अत्यन्त सूक्ष्म है जाल से बांधने में कभी नहीं आता और गरुड़ पुराणादिकों में लिखा है कि पिण्ड देने से जीव का शरीर बन जाता है और वैतरणी नदी के तरने के हेतु गोदानादिक करना चाहिए और यमदूतों का कज्जल पर्वत के नांई शरीर लिखा है वे नगर के मार्ग और घर के दरवाजे के भीतर जीव के पास कैसे आ सकेंगे चिवंटी आदिक सूक्ष्मछिद्र में एक काल में अनेक जीव मरते है वहां कैसे जायेंगे तथा वन वा नगरादिकों में अग्नि के लगने और युद्ध से एक पल में बहुत जीवों का मरण होता है एक एक जीव को पकड़ने हेतु बहुत दूत जाते है उतने दूत कहां रहते हैं तथा उनका होना कैसे बन सके सो यह बात अत्यन्त मिथ्या है और जो वेदादिक सत्य शास्त्रों में यमराज तथा धर्मराज नाम लिखे हैं वे सब परमेश्वर के हैं और वायु तथा सूर्य के भी हैं इस्से क्या आया कि जैसी व्यवस्था जीने और मरने में परमेश्वर ने रची है वैसी ही होती है सो वायु और सूर्य के आधार से सब जीवों का जाना और आना होता है तथा यही परमेश्वर की आज्ञा है कि जैसा जो कर्म करै वह वैसा ही फल पावै ।" (पृष्ठ २६३, पं० २५ से पृष्ठ २६५, पं० ८)

पूना-प्रवचन, पृष्ठ ४०८, पं० ३० से पृष्ठ ४०९, पं० २ तक की तुलना—

सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०)—किसी का पिता दरिद्री होवे और उसके कुल में पुत्रादिक धनाढ्य होते हैं फिर परम्परा से जो दरिद्रता उसको क्यों छोड़ते है किसी का पिता अन्धा होय उसका पुत्र आंख को क्यों नहीं निकाल डालता है । पृष्ठ ३३३)

—:o—

द्वितीय परिशिष्ट

ऋषि दयानन्द द्वारा स्वलिखित आत्म-चरित

पूना के पन्द्रहवें प्रवचन में ऋषि दयानन्द ने अपना पूना पहुंचने तक के पूर्व चरित्र का वर्णन किया था। उसका सारांश पूना-प्रवचन के पन्द्रहवें प्रवचन में छपा है। उसके लगभग चार वर्ष पश्चात् थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवर्तकों में अन्यतम कर्नल एच० एस० आल्काट के अनुरोध पर ऋषि दयानन्द ने आत्म-चरित्र लिखने का उपक्रम किया था। परन्तु कार्याधिक्य के कारण वे इसे एक साथ नहीं लिख पाये। कुछ कुछ पृष्ठ लिखकर कर्नल आल्काट को भेजते रहे। अभी तीन अंश ही लिख कर दे पाये थे कि ऋषि दयानन्द ने कर्नल आल्काट आदि से मतभेद हो जाने के कारण थियोसोफिकल सोसाइटी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। इस कारण आगे आत्म-चरित्र का लिखना बन्द हो गया।

ऋषि दयानन्द ने आत्म-चरित्र आर्यभाषा (हिन्दी) में लिखकर दिया था। उसे अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराकर थियोसोफिस्ट पत्रिका के अक्टूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ तथा नवम्बर १८८० के तीन अङ्कों में छापा गया था।

परोपकारिणी सभा अजमेर के उपमन्त्री डा० श्री भवानीलाल भारतीय ने परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान मुंशी समर्थदान के बस्ते में से आतमचरित के प्रथम दो अंश प्राप्त करके उनको प्रतिकृति सहित परोपकारी पत्र के मार्च १९७५ के अंक में प्रकाशित किया था। तृतीय अंश श्री पं० भगवदत्त जी द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्द का जन्म-चरित्र [स्वयं लिखित वा कथित] से लेकर छापा है। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने पूना-प्रवचन और स्वयं लिखित आत्म-चरित्र को मिलाकर एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया था। वह रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से छप रहा है। ट्रस्ट इसके कई संस्करण प्रकाशित कर चुका है।

पूना-प्रवचन में मुद्रित आत्म-चरित उनके दिये गयें भाषण का

सारांश रूप है । इस भाषण के संक्षिप्त अंश के लेखन और मराठी में अनुवाद करते समय कई स्थानों में कुछ अशुद्धियों का और घटना क्रम के पौर्वापर्य का होना स्वाभाविक है। इस स्वलिखित आत्म-चरित्र में केवल नर्मदा-तट-परिभ्रमण पर्यन्त घटनाओं का ही वर्णन है । यद्यपि स्वलिखित आत्म-चरित्र पूनाप्रवचन की अपेक्षा स्वल्प काल का है, तथापि इसमें घटनाओं का कुछ अधिक विस्तार से उल्लेख है और यह आत्म-चरित्र स्वलिखित होने से पूना-प्रवचन में संगृहीत आत्मचरित्र की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है । इन प्रमुख कारणों से हम स्वलिखित आत्म-चरित्र को पाठकों के ज्ञान-वृद्ध्यर्थ तथा सुरक्षा की दृष्टि से यहां छाप रहे हैं ।

डा० श्री भवानीलाल भारतीय ने प्रथम दो अंशों को हस्तलिखित प्रति के अनुसार छापा है तथापि उसके लेखन वा मुद्रण दोष से कुछ स्खलन हो गया है । हमने छापने से पूर्व पुनः हस्तलिखित प्रति की प्रतिकृति से मिलाकर स्खलन दोष ठीक कर दिये हैं ।

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्म चरित्र लिखता हूं ।।

संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त देश काठियावाड़ का मजोकठा देश मोर्वी का राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था, यहां **अपना पिता का और निज निवास स्थान के प्रसिद्ध नाम इसलिये मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों मेरे पास आवें तो इस सुधार के काम में विघ्न हो क्योंकि मुझको उनकी सेवा करना उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय कराना नहीं चाहता**[1] मैंने पांचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था । और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता पिता आदि किया करते थे, बहुत से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादिक भी कण्ठस्थ कराया करते थे । फिर आठवें वर्ष में मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री संध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गई थी । और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें

---

[1] स्थूलाक्षरों में मुद्रित पाठ ऋ०द० ने स्वहस्त से हाशिये पर बढ़ाया है ।

से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था, और मेरे कुल में शैव मत था उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिवपूजन अर्थात् मट्टी का लिङ्ग बनाके तू पूजा कर। और माता मने किया करती थी कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिये क्योंकि कुल की रीति है। तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठमात्र भी मुझ को पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहां तहां मन्दिर और मेल-मिलापों में ले जाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार १४ वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता संपूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। और शब्दरूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिता जी जहां-जहां शिव-पुराण आदि की कथा होती थी, वहां-वहां मुझ को पास बैठा कर सुनाया करते थे। और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु जमीदारी और लेन-देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिवपूजन का आरम्भ करा दिया था। जब शिवरात्रि आई तब १३ त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया। परन्तु माता ने मने भी किया कि इससे व्रत नहीं रहा जायगा, तथापि पिताजी ने व्रत का आरम्भ करा दिया। और जब १४ चतुर्दशी की साम हुई तब बड़े-बड़े वस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मन्दिरों में जागरण करने को गये वहां मैं भी अपने पिता के साथ गया और प्रथम प्रहर की पूजा भी करी दूसरे प्रहर की पूजा करके पुजारि लोग बाहर निकलके सो गये। मैंने प्रथम से सुन रक्खा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है। इसलिये अपनी आंखों में जल के छींटे मार के जागता रहा और पिता भी सो गये तब मुझ को शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी वही यह महादेव है वा अन्य कोई क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता फिरता, खाता पीता त्रिशूल हाथ में रखता डमरु बजाता वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था, तब पिता जी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा

का महादेव है वा कोई दूसरा तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है। तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं अब कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिये पाषाणादि को मूर्ति बना के उन महादेव की भावना रख कर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूं। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझ को भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया उसको खाकर १ एक बजे पर सो गया। पिताजी प्रातः-काल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुये कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों करूं। मन में तो श्रद्धा नहीं रही परन्तु ऊपर के मन पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूं। तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को समझाया इस कारण पिता भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु निरुक्त और पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझसे छोटी १ बहन फिर उससे छोटा एक भाई फिर भी एक बहन और एक भाई अर्थात दो बहन और दो भाई और हुए थे तब तक मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझसे छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी उनको हैजा हुआ एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहां से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये औषधि भी की तथापि चार घण्टे में उस बहन का शरीर छूट गया सब लोग रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा शोच विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह दुःख छूटे और मुक्ति हो

अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ पड़ गई। परन्तु यह विचार अपने मन में ही रक्खा किसी से कुछ भी न कहा। इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझसे अतिप्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों मे कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा माता-पिता ने विचारा कि इसका विवाह शीघ्र कर देना चाहिये। जब मुझको मालूम पड़ा कि कि ये २० बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता-पिता को समझा दो अभी विवाह न करें। तब उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका तब तक २० बीसवां वर्ष पूरा हो गया। तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिये कि मैं व्याकरण ज्योतिष और वैद्यक आदि [के] ग्रन्थ पढ़ आऊं। तब माता-पिता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढो। और अगली साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़की बाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है जितना पढ़ा है वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ कर आऊं तब विवाह होना ठीक है तब माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी बिवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर ३ कोश ग्राम में अपनी जिमीदारी थी वहां एक अच्छा पण्डित था माता-पिता की आज्ञा लेके वहां जाकर उस पण्डित के पास मैं पढ़ने लगा। और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता-पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैय्यारी कर दी तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप संवत् १९०३ के वर्ष घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा चार कोश पर एक ग्राम था वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के १५ कोश चला परन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच-बीच में नित्य चलने का प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़ कर चला गया उसको खोजने के लिये सवार

और पैदल आदमी यहां तक आये थे । जो मेरे पास थोड़े से रुपैये और अंगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया । मुझसे कहा कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होंगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दो फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया । फिर लाला भगत की जगह जो कि सायले शहर में है वहां बहुत साधुओं को सुन कर चला गया वहां एक ब्रह्मचारी मिला उसने मुझसे कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्धचैतन्य मेरा नाम रखा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये । जब मैं वहां से अहमदाबाद के पास कौठगांगड़ जोकि छोटासा राज्य है वहां आया तब मेरे गाम के पास का जान पहचान वाला एक वैरागी मिला उसने पूछा कि तुम यहां कहां से आये और कहां जाया चाहते हो । तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देशभ्रमण किया चाहता हूं । उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया । मैंने कहा कि हां मैंने घर छोड़ दिया और कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर को जाऊंगा । फिर मैं वहां से चल कर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे । उनका सत्संग और जो-जो कोई महात्मा वा पण्डित मेले में सुन पड़ा उन सब के पास गया और उनसे सत्संग किया । जो मुझको कौठगांगड़ में वैरागी मिला था उसने मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषाय वस्त्र धारण किये मुझ को मिला और कार्त्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया । ऐसा सुन के सिपाहियों के सहित पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोज कर पता लगाके जहां पंडितों के बीच में मैं बैठा था वहां पहुंच कर मुझ से बोले कि तूँ हमारे कुल में कलंक लगाने वाला पैदा हुआ । जब मैंने पिताजी की ओर देख के उठके चरणस्पर्श किया और नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये मैं किसी आदमी के बहकाने से चला आया और मैंने बहुतसा दुःख पाया । अब मैं घर को आने वाला था । परन्तु अब आप आये यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ-साथ घर को चलूंगा । तौ भी क्रोध के मारे मेरे गेरु के रंगे वस्त्र और एक तूंबे को तोड़ फार के फेंक दिये और वहां भी बहुत कठिन-कठिन बातें कह कर बोले कि तूँ अपनी माता की हत्या लिया

चाहता है । मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूंगा तो भी मेरे साथ सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और इस पर रात्रि को भी पहरा रक्खो । परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था । सो जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पहरे वाला बैठा-बैठा सो गया उसी समय मैं लघुशंका का बहाना करके भागा । आध कोश पर एक मन्दिर के शिखर की गुफा में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिपकर बैठ रहा जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों में से एक सिपाही मालियों से मुझ को पूछता सुना तब मैं और भी छिप गया ऊपर बैठा सुनता रहा वे लोग ढूँड कर चले गये मैं उसी मन्दिर की शिखर में दिन भर रहा । जब अन्धेरा हुआ तब उस पर से उतर सड़क को छोड़ के किसी से पूछ के दो कोश पर एक ग्राम था उसमें ठहर के अहमदाबाद होता हुआ बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा । वहां चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें की । और मैं ब्रह्म हूं अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया । प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु वहां ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूं । फिर वहीं बड़ोदे में एक बनारसीबाई वैरागी का स्थान सुनकर उसमें जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र-विषयक बातें हुई फिर वहां सुना कि आजकल चाणोदकन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी ब्रह्मचारी और विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं । वहां जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संभाषण हुआ । फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार आर्य्याहरिमीड़े तोटक वेदान्तपरिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महिनों में विचार कर लिया । उस समय ब्रह्मचर्य्यावस्था में कभी-कभी अपने हाथ से रसोई बनाने पड़ती थी इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है । फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहां जो दीक्षित स्वामी विद्वान् थे उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये । क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जोकि अब तक बना है । तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है इस-

लिये हम नहीं देते । इसके अनन्तर दो महिने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जो कि जंगल में था उसमें ठहरे उनको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्ती पण्डित और मैं दोनों उसके पास जाके शास्त्रविषयक संभाषण करने से मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं । और वे शृंगीरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था । उनसे उस वेदान्ति के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं । यह मैं ठीक जानता हूं कि किसी प्रकार का अपगुण इनमें नहीं है इनको आप संन्यास दे दीजिये संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें । तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो म[हा]राष्ट्र हैं । तब उनसे कहा कि दक्षिणी स्वामी गौडों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इसमें क्या चिन्ता है । तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा । परन्तु मैंने दण्ड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के साम्हने कर दिया क्योंकि दण्ड की भी बहुत सी क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था । फिर वे स्वामी जी द्वारिका की ओर चले गये । मैं कुछ दिन चाणोदकन्याली में रहके व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं उन के पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिन्नौर शहर के बाहर रहते थे उनको सुनके व्याकरण पढ़ने के लिये उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोद में आकर ठहरा वहां दो योगी मिले कि जिनका नाम ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि था । उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुई और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहां हम नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे । वहां आवोगे तो योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे । वहां से वे अहमदाबाद को चले गये फिर एक महिने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी । फिर आबूराज पर्वत में योगियों को सुनके वहां जाके अर्वदाभवानी आदि स्थानों में भवानी गिरि आदि योगियों से मिल के कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के

संवत् १९११ के वर्ष के अन्त में हरद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब हृषीकेश में जाके सन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा॥

इसके आगे फिर लिखेंगे।

दयानन्दसरस्वती

फिर वहां से एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ आए हम सब जने टिहरी में आए वहां बहुत साधु और राजपंडितों से समागम हुआ। वहां एक पण्डित ने एक दिन मुझे और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन के लिये निमंत्रण दिया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया। तब मैं और ब्रह्मचारी उसके घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुस करके देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था। उसको देखकर जब भीतर गये तब बहुत से पण्डितों को एक सिमियाने के भीतर बैठे देखे और वहां बकरे का मांस, चमड़ा और शिर देख के पीछे लौटे। पण्डित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उत्तर दिया कि आप अपना काम कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कह कर अपने स्थान पर चले आये। तब पण्डित भी हमको बुलाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो। हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पण्डित बोले कि आपके लिये तो सब पदार्थ बनाये हैं। मैंने उनसे कहा कि आपके घर में मुझ से भोजन कदापि न किया जावेगा। क्योंकि आप लोग मांसाहारी है। और मुझ को मांस देखने से घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे वहाँ कुच्छ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं देखना चाहता हुँ। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष और तन्त्र ग्रन्थ बहुत मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूं। तब उन्होंने छोटे बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखी कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चांडाली, आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना। मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा अर्थात्

ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्य्यन्त एकत्र भोजन करना और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना इन पांच मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उन में देख के चित्त को खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्टबुद्धि थे । फिर वहां से श्रीनगर को जाके केदारघाट पर मन्दिर में ठहरे और वहां भी तन्त्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में संवाद होता रहा । इतने में एक गंगागिरि साधु जो कि सब दिन पहाड़ में ही रहता था उससे भेंट हुई और योग विषय में कुच्छ बातचीत होने से विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है । कई बार उससे बातें हुईं । मैंने उससे पूछा उसने उत्तर दिया, उसने मुझसे पूछा उसका उत्तर मैंने दिया । दोनों प्रसन्न होकर दो महिने तक वहां रहे । जब वर्षा ऋतु आई तब आगे रुद्रप्रयागादि देखता हुआ अगस्त मुनि के स्थान पर पहुंच कर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहां जाकर चार महिने निवास करके पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी को वहां छोड़ के अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्त काशी में पहुंचा । वहां कुच्छ दिन रह कर वहां से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरीकुण्ड देखता हुआ भीम गुफा देख कर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुंच कर निवास किया । वहां कई एक साधु पण्डे और केदार के पूजारी जङ्गम[1] मत के थे उनसे समागम हुआ तब तक पांच छः दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी वहां आ गये । वहां का सब चरित्र देखा । फिर इच्छा हुई कि इन बर्फ के पहाड़ों में भी कुच्छ घूम के देखें कि कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं परन्तु मार्ग कठिन और उन पहाड़ों में अतिशीत भी है । वहां के निवासियों से भी पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं । उन्होंने कहा कि कोई नहीं । फिर वहां २० बीस [दिन] रहकर पीछे को अकेला ही लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रह कर शीत से घभरा के प्रथम ही चले गये थे । फिर मैं वहां से चल के तुङ्गनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया । उसका मंदिर पूजारी बहुत सी मूर्ति आदि की सब लीला को देख कर तीसरे पहर वहां नीचे को उतरा । बीच में से दो मार्ग थे

---

[1] यह कौन सा मत है, हम नहीं जानते । अथवा यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है ।

एक पश्चिम को और एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को जाता था जो जङ्गली मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे दूर जाकर देखा तो जंगल पहाड़ और बहुत गहरा सूखा नाला है उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर चढ़े तो रात हो जावेगा पहाड़ का मार्ग कठिन है वहां पहुँच नहीं सकता। ऐसा विचार उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ नीचे उतर कर नाले के किनारे पर चढ़ कर देखा तो पहाड़ और जङ्गल है कहीं भी मार्ग नहीं। तब तक सूर्य्य अस्त होने को आया विचारा कि जो रात हो जावेगी तो यहां जल अग्नि कुच्छ भी नहीं है फिर क्या करेंगे ऐसा विचार कर आगे को बढ़ा जङ्गल में चलते अनेक ठोकर और कांटे लगे शरीर के वस्त्र भी फट गये। बड़ी कठिनता से पहाड़ के पार उतरा तब सड़क मिला। और अंधेरा भी हो गया। फिर सड़क-सड़क चल के एक स्थान मिला वहीं के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है कहा कि ओखी मठ का। फिर वहां रात्रि को रहकर क्रम से गुप्त काशी आया वहाँ थोड़ा ठहर कर ओखी मठ में जाकर उसमें ठहर के देखा तो बड़ी भारी पोप लीला [वा] बड़े भारी कारखाने। वहां के महान्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ हो जावेंगे मेरे पीछे तुम्ही महान्त होंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बंधु, कुटुम्ब, और घर आदि ही क्यों छोड़ता क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो। मैंने जिस लिये सब छोड़े हैं वह बात तुम्हारे पास किंचिन्मात्र भी नहीं है उनने पूछा कि कह क्या बात है। मैंने उत्तर दिया कि सत्य विद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा का पवित्रता आदि गुणों से धर्म्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है। तब महान्त ने कहा कि अच्छा तुम कुच्छ दिन यहां रहो। मैंने उनको कुच्छ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठके मार्ग में चलके जोशी मठ की पहुंच के वहां के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिल कर वहां ठहरा।।

दयानन्दसरस्वती

और बहुत से योगियों और विद्वान् महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उनसे वार्तालाप में मुझको योग विद्या सम्बन्धी और बहुत नई बातें ज्ञात हुई।

उनसे पृथक् होकर पुनः मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान् रावल जी उस समय उस मन्दिर का मुख्य महन्त था। और मैं उस के साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद विवाद रहा। जब उनसे मैंने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान् और सच्चा योगी भी है या नहीं, तो उसने यह जताने में बड़ा शोक प्रकट किया कि इस समय इस परिस्थिति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि प्रायः ऐसे योगी इसी मन्दिर के देखने के लिए आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया, कि समस्त देशों में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा।

एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलखनंदा नदी के तट पर जा पहुँचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किंचित् इच्छा न थी। क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा ग्राम माना नामक देखा, अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रख कर नदी के वेग के साथ साथ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत, मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुये थे। और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अतः अलखनन्दा नदी के स्रोत तक पहुंचने में मुझ को अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहां गया तो अपने आप को सर्वथा अपरिचित और अजान जाना। और अपने चारों ओर ऊंची ऊंची पहाड़ियां देखीं तो मुझे आगे जाने का मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् पथ सर्वथा लुप्त हो गया, और उस मार्ग का मुझ को कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच वा चिन्ता में था कि क्या करना चाहिये। अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैंने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैं एक हिम का टुकड़ा खा कर उसको बुझाने का विचार किया, परन्तु उससे किंचित् आराम वा संतुष्टि प्रतीत न हुई। पुनः मैं नदी में उतर उसे पार करने लगा।

कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी

बहुत कम था। परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गहरा कहीं न था। किन्तु विस्तार अर्थात् पार में दस हाथ तक था अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पांव को अति घावयुक्त कर दिया सो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा। मेरे पांव शीत के कारण नितान्त सन्न हो गये थे। जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा। इस स्थान पर अतिशीत के कारण मुझ पर अचेतनता सी छाने लगी। यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहां पर इसी प्रकार गिर गया तो पुनः यहां से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। एवं दौड़ धूप करके जैसे हुआ मैं प्रवल प्रयत्न करके वहां से कुशल मंगल पूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा। वहां जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही जो जीवत की अपेक्षा मृतवत् थी तथापि मैंने अपने शरीर के उपरिभाग को सर्वथा नंगा कर लिया और अपने समस्त वस्त्रों से जो मैंने पहने हुए थे जानु वा पांव तक जंघा को लपेट लिया। और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले जिससे मैं आगे को चलूं। परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहां से ?

सहायता की आशा में था, परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखाई नहीं देता। अन्त को पुनः एक बार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुये देखा जो मेरे समीप आये और अपने काश सम्भ से (?) मुझ को प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिये मुझे बुलाया और कहा, “आओ, हम तुमको वहां खाने को भी देवेंगे।” “जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना और मेरे वृत्त को श्रवण किया तो कहने लगे “हम तुमको सिद्धपत पर भी जो एक तीर्थस्थान है, पहुंचा देवेंगे। “परन्तु उनका मुझको यह सब कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा “महाराज, शोक ! मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मुझ में चलने की किंचित् शक्ति नहीं है।” यद्यपि उन्होंने

मुझको वहुत आग्रह पूर्वक बुलाया और आने के लिये अत्यधिक अनुरोध किया, तथापि मैं वहीं अपने पांव जमाये खड़ा रहा और उनकी आज्ञा वा इच्छानुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूं। ऐसा कहकर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बंद कर दिया अर्थात् पुनः उन्हें न सुना। उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता इतने में वह दोनों सज्जन वहां से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये।

वहां जब मुझे शांति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधारा (प्रसिद्ध तीर्थ व यात्रा स्थान) पर विश्राम करके माना ग्राम के निकटवर्ती प्रदेश में होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे ब्रद्रीनारायण जा पहुंचा। मुझे देख कर रावलजी और उनके साथी जो घबराये हुए थे, विस्मय प्रकाश पूर्वक पूछने लगे—"आज सारा दिन तुम कहाँ रहे?" तब मैंने सब वृत्तान्त क्रमवद्ध सुनाया उस रात्रि कुछ आहार करके जिससे मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी, मैं सो गया। दूसरे दिन प्रातः शीघ्र ही उठा और रावल जी से आगे जाने की आज्ञा मांगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर की ओर चल पड़ा। उस सायं चलता-चलता एक योगी के घर पहुंचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्च कोटि के ऋषि होने का गौरव रखता था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उसका मेरा वार्तालाप हुआ। अपने संकल्पों को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रातः उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिलका घाटी से उतर कर में अन्ततः रामपुर[1] पहुंच गया। वहां पहुंच कर मैंने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अतिप्रसिद्ध था। मैंने उसको विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया। अर्थात् वह सोता नहीं था, वरन् सारी-सारी रातें उच्चस्वर से बातें

---

[1] यहां 'रामनगर' नाम होना चाहिये।

करने में व्यतीत करता। वह बातें प्रकट में अपने साथ करता हुआ ही प्रतीत होता था। प्रायः हमने उच्च स्वर से चीख मारते हुये उसे सुना। पुनः कई बार रोते हुये और चीख मारते हुये उसे सुना। पर वस्तुतः जब उठ कर देखा तो उसके कमरे में उसके अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखाई न दिया। मैं ऐसी वार्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ। जब मैंने उसके चेलों और शिष्यों से पूछा तो उन विचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि ऐसी इनकी प्रकृति ही है।" पर मुझे यह कोई न बता सका कि इसका क्या रहस्य है। अन्त को स्वयं जब मैंने उस साधु से कई बार एकान्त में चर्चा की तो मुझे ज्ञात हो गया कि वह क्या बात थी ? इस प्रकार मैं इस निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है वह पूरी-पूरी योग विद्या का फल नहीं है, प्रत्युत पूरी में अभी उसे न्यूनता है और यह वह वस्तु नहीं कि जिसकी मुझे जिज्ञासा है। यह पूरा योगी नहीं यद्यपि योग में कुछ गति रखता है।

उससे[1] चलकर में काशीपुर गया। वहां से द्रोण सागर जा पहुँचा। वहीं मैंने सारा शरद् ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुंच कर देह त्याग करना चाहिये, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये। अतः वहां से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल आ पहुंचा। वहां से गढ़मुक्तेश्वर से होते हुये पुनः मैं गंगा तट पर आ निकला। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्नलिखित पुस्तकें भी थीं। शिव संध्या, हठ योग प्रदीपिका, केशाराणि संगीत (?) प्रायः मैं इन्हीं पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था। उन में से कई पुस्तकों का विषय नाड़ी चक्र था। पर उनमें इस विषय का ऐसा लम्बा चौड़ा विवरण था कि पुरुष पढ़ता-पढ़ता थक जाता। मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका और न ही समझ कर स्मरण कर सका। अतः मुझे विचार हुआ कि न जाने ये सत्य भी हैं वा नहीं। ऐसा संदेह होता ही गया, यद्यपि मैं अपने संशय मिटाने का यत्न करता रहा। परन्तु वह संदेह दूर न हुये और न ही उनके दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ।

---

[1] रामगिरि के स्थान से।

एक दिन दैव संयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे उनका निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को जो मेरे पास थीं, समीप ही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा मैं नदी के भीतर गया और शीघ्र वहां जा शव को पकड़ तट पर आंया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका उसे यथायोग्य काटना प्रारम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। ऐसे ही शिर और ग्रीवा को काट कर सामने रक्खा। यह निश्चय करके कि दोनों अर्थात् पुस्तक और शव लेश मात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़ कर उनके टुकड़े कर डाले और शव को फेंक साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनैः शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया, कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योग विद्या पर लिखी गयीं मिथ्या और अशुद्ध हैं। ऐसे ही कुछ दिन और गंगा तीर पर विचरते हुये फर्रूखाबाद पहुँचा। और शृंगीराम पुर से होकर छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर जाने वाला था, जब संवत् १९१२ विक्रम समाप्त हुआ।

१९१३ वि० अगले पांच मास में कानपुर वा प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे। भाद्रपद के प्रारम्भ में मिर्जापुर पहुँचा। वहां एक मास से अधिक विंध्याचल अशोलजी के मन्दिर में निवास किया। असूज के आरम्भ में काशी पहुंचा। वहां जाके मैं उस गुफा में ठहरा जो वरणा और गंगा के संगम पर है। और जो उस समय भवानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहां पर कई शास्त्रियों अर्थात् काकाराम, राजाराम आदि से मेरा परिचय हुआ परन्तु वहां केवल १२ दिन रहा।

तत्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था उसके अर्थ आगे को चल दिया। और असूज सुदि २ सं० १३१३ को दुर्गाकुण्ड के मन्दिर पर जो चण्डालगढ़ में है, पहुंचा। वहां दस दिन व्यतीत किये। यहाँ मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिये और केवल दूध पर अपना निर्वाह

करके दिन-रात योग विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दौर्भाग्यवश वहाँ मुझे एक बड़ा दोष लग गया, अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता। एक दिन मंदिर से निकल कर चण्डालगढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम आता था तो एक पुराना साथी मिला। ग्राम के दूसरी ओर कुछ ही दूर शिवालय था। वहाँ जाकर मैंने रात काटी। रात्रि के समय भांग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था तो मैंने एक स्वप्न देखा। वह ऐसे था। मुझे विचार हुआ कि मैंने महादेव और उसकी स्त्री पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे और उनकी बातों का पात्र मैं था, अर्थात् मेरे ही सम्बन्ध में वे कह रहे थे। पार्वती महादेव जी से कहती थी "उत्तम हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जावे" परन्तु देवता इससे भेद प्रकट कर रहे थे और उनका संकेत भांग की ओर था। मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा। तब मुझे बड़ा दुःख और क्लेश हुआ। उस समय धारासार वर्षा हो रही थी। मैंने उस बरामदे में जो मन्दिर के मुख्य द्वार के सन्मुख था विश्राम किया। वहां नन्दी वृष देवता की एक बिशाल मूर्ति खड़ी थी। अपने वस्त्र और पुस्तकादि उसकी पृष्ठ पर रखकर मैं उसके पीछे बैठ गया और निज विचार में निमग्न हुआ। सहसा नन्दी मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उसमें छिपा हुआ है। मैंने अपना हाथ उसकी ओर फैलाया। इससे वह अति भयभीत हुआ, क्योंकि मैंने देखा कि उसने तत्काल छलांग मारी और छलांग मारते ही वेग से ग्राम की ओर भागा। तब उसके जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया और अवशिष्ट रात्रि भर वहां सोता रहा। प्रातः काल एक वृद्धा वहां आई। उसने वृष देवता की पूजा की, जिस अवस्था में कि मैं भी उसके अन्दर ही बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी। मेरी पूजा करके और भ्रान्ति से मुझे ही देवता समझकर उसने कहा "आप इसे ग्रहण कीजिये और इसमें से कुछ खाइये।" मैंने क्षुधार्त्त होने के कारण वह सब खा लिया। दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अतः भांग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया। उससे मादकता जाती रही और मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४–वहां से आगे चला और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे और जहां से नर्मदा निकलती है, अर्थात् नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की। मैंने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया। शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़, निर्जन स्थान में पहुंच गया जहां चारों ओर बहुत घने वन और जंगल थे। वहां जंगल में अनियमित दूरी पर बिना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोंपड़ियां थी। कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् ठीक झोंपड़ियां भी दृष्टिगोचर होती थीं। उन झोंपड़ियों में से एक पर मैंने किंचित् दुग्धपान किया और पुन: आगे की ओर चल दिया। परन्तु इसके आगे लगभग पौन कोस चलकर मैं पुन: एक ऐसे ही स्थान पर पहुंचा जहां कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखाई न देता था। अब मेरे लिये यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे-छोटे मार्गों में से (जिन्हें मैं न जानता था कि कहां जाते हैं।) कोई एक चुनूं और उस ओर चल दूं। सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन वन से प्रविष्ट हुआ। उस जंगल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे। परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था। वहां मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ। वह पशु बड़े वेग और उच्च स्वर से चींखा। चिंघाड़ कर अपनी पिछली टाँगों पर खड़ा हो मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला। कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा। पश्चात् शनै: शनै मैंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया। उससे भयभीत हो वह उलटे पाँव लौट गया। उसकी चिंघाड़ वा गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्राम वाले जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुन कर लठ ले शिकारी कुत्तों सहित मेरी रक्षार्थ वहां आये। उन्होंने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूं। वे बोले "इस जंगल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत या वन में बहुत से भयानक क्रूर और हिंसक जंगली पशु अर्थात् रीछ, हाथी, शेर आदि तुमको मिलेंगे।" मैंने उनसे निवेदन किया कि आप मेरे कुशल मंगल का कुछ भय न करें क्योंकि मैं कुशल मंगल, और रक्षित हूं। मेरे मन में तो यहीं सोच थी कि किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अत: समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे। जब उन्होंने देखा कि उनकी भयानक बातें मेरे लिये कोई भय उत्पन्न

नहीं करतीं और मैं अपने संकल्प में पक्का हूं तो उन्होंने मुझे एक दण्ड दिया जो मेरे सोटे से बड़ा था और जिससे मैं अपनी रक्षा करूं। परंतु मैंने उस दण्ड को तुरन्त अपने हाथ से फेंक दिया।

उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार न छाया मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। कई घण्टों तक मानव वस्ती का मुझे कोई चिह्न न मिला। दूर-दूर तक कोई ग्राम दिखाई न दिया। कोई झौपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी और न हो कोई मनुष्य जाति मेरी आंखों के सामने आई। पर वह वस्तुएँ जो प्राय: मेरे मार्ग में आई, वृक्ष थे। उनमें से अनेक टूटे पड़े थे कि जिन की जड़ों को मस्त हस्तियों ने तोड़ और उखेड़ कर फेंक दिया था। इससे कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखाई दिया। उसमें प्रवेश करना कठिन था अर्थात् बेर आदि कांटे वाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उनके भीतर से निकल कर वन में पहुंचना अति दुस्तर प्रत्युत असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उसके भीतर से किकलना असम्भव दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे मैं शनैः शनैः सर्पवत् उन वृक्षों में से निकला और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझ को अपने शरीर के मांस को भी भेंट करना पड़ा। मैं इसमें से घायल और अधमरा होकर निकला। उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका हुआ था और दिखाई न देता था तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को तोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ही आवेगा। अतएव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा। अन्त को मैं एक ऐसे भयानक स्थान में पहुंचा कि जहां चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे कि जिन पर घनी औषधियाँ और वनस्पतियाँ उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्यवास के वहां कुछ-कुछ चिह्न और संकेत पाये जाते थे। अस्तु। शीघ्र ही मुझे कई झोंपड़ियां और कुटियायें दिखाई पड़ीं। उनके चारों ओर गोबर के ढ़ेर लगे हुये थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत सी बकरियां चर रही थीं। झोंपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था

जो जाते हुये पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहां एक विशाल वृक्ष के नीचे जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था रात्रि व्यतीत की। प्रातः उठकर मैं अपने क्षत पांव, हाथ, और दण्ड को नदी जल से धोकर संध्या वा प्रार्थना के लिये बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु को गर्ज मेरे कर्ण गोचर हुई। वह ध्वनि 'टमटम' का उच्च स्वर था। कुछ काल पश्चात् मैंने एक बड़ी सवारी या जन समूह को आते हुये देखा। उसमें बहुत से स्त्री-पुरुष और बालक थे। उनके पीछे बहुत सी गौएं और बकरियां थीं। वे एक झोंपड़ी या घर से निकले। अनुमान है कि वे किसी धार्मिक त्यौहार की रस्में पूरी करने के लिये जो रात्रि को हुआ, आये थे। जब उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे उस स्थान में एक अजान पुरुष जाना तो बहुत से मेरे चारों ओर एकत्र हुये। अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़कर मुझ से पूछा तुम कहां से आये हो ? मैंने उन सबसे कहा कि मैं काशी से आया हूं और अब नर्मदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिये जा रहा हूं। इतना पूछ कर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़ कर चले गये। उनके जाने के आधा घण्टा पश्चात् उनका एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया और एक दिशा में बैठ गया। वह वस्तुतः उन सबकी ओर से प्रतिनिधि बन कर मुझे अपनी झोंपड़ियों में बुलाने को आया था परन्तु पूर्ववत् मैंने अब भी उनका निमन्त्रण अस्वीकार किया क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। तब उसने अपने साथ वालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश किया। और दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रि भर मेरी रक्षा करते हुये जागते रहें। जब उसने मुझ से मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पीकर निर्वाह करता हूं तो उस दयावान् अध्यक्ष व नेता ने मुझ से मेरा तूंबा मांगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया और वहां से उसे दूध से भर कर मेरे पास भेज दिया मैंने उस रात्रि उसमें से थोड़ा सा दूध पिया। वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देने वालों के ध्यान में छोड़ कर लौट गया। उस रात्रि मैं घोर निद्रा में सोया और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने संध्या आदि से अवकाश प्राप्त करके मैं उठा और यात्रा के लिये चला।

तृतीय परिशिष्ट

म० मुंशीराम (स्वा० श्रद्धानन्द) जी द्वारा लिखित उपदेशमञ्जरी (उर्दू) की भूमिका

हमने पूर्व पृष्ठ २४४, टि० ३ तथा २५५, टि० १ में लिखा था कि 'म० मुंशीराम जी द्वारा लिखित उपदेशमञ्जरी (उर्दू) की भूमिका पूना-प्रवचन के अन्त में छाप रहे हैं'। इस सूचना के अनुसार म० मुंशीराम जी द्वारा लिखित उपदेशमञ्जरी की भूमिका नीचे उन्हीं के शब्दों में अर्थात् उर्दू भाषा में दे रहे हैं भूमिका की प्रतिलिपि श्री प्रा० राजेन्द्र जी जिज्ञासु ने प्रतिलिपि करके भेजी है। उसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

दीवाचा (प्र० सं० का)

"जमाना हाल[1] के आर्यसमाज के बानी ने शहर पूना में भी पन्द्रह सिलसलावार तकरीरें उसी तरीके पर की थीं जिस तरह पर कि वह हर जगह वैदिक धर्म उपदेश दिया करते थे बरखिलाफ और जगहों के पूना के किसी लायक सज्जन ने इन पन्द्रह तकरीरों का खुलासा कलमबन्द करके किसी अखबार में छपवा दिया था। स्वामी दयानन्द ने अपनी तकरीरें संस्कृत[2] में की थीं लेकिन छपवाने वाले ने खुलासा तकरीरों का महाराष्ट्र (भाषा) जबान में करके शाया किया था। कुछ अर्सा गुजरा कि पं० गणेश रामचन्द्र जी

---

[1] वाजह हो कि वैदिक धर्म को मानने वाले समाज का नाम आर्यसमाज है जो हर जमाना में मौजूद था। जमाना हाल में उसे अजसरे वो ताजा करने वाले स्वामी दयानन्द हुए हैं। (यह टि० उर्दू सं० में म० मुंशीराम जी की है)

[2] यह अशुद्ध है। **भाषण हिन्दी में हुए थे।** इस विषय में पृष्ठ २४४, २४५ पर **व्याख्यानों की भाषा** उपशीर्षक सन्दर्भ देखें।

साबिक उपदेशक आर्यसमाज जोधपुर ने इस गुजराती[1] रिपोर्ट का देवनागरी में तर्जुमा किया और उनमें से ९ लैक्चरों को दुरुस्त करके बाबू रामबिलास सारडा मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने सभा मोसूफ की तरफ से छपवा भी दिया था। इसी असना में (शायद पं० लेखराम जी की दर्खास्त पर) आर्यसमाज के दो पुरुषार्थी और धार्मिक सभासदों यानी ठाकुर गोविन्द सिंह साहिब मन्सबदार व पंडित श्री निवास राव जी नायब मुहासब धाराशिव रियास्त हैदराबाद ने पं० भगवती प्रसाद शुक्ल साकन मौजा कलंब से उन्हीं पन्द्रह व्याख्यानों का देवनागरी में तर्जुमा कराया। मैंने इस उर्दू तर्जुमे में जो कि इस वक्त पबलिक के रूबरू पेश करता हूं ९ लैक्चरों तक इन दोनों देवनागरी अनुवादों से काम लिया है, और आखरी छ: लैक्चरों के लिए मजबूरन मुझे सिर्फ शुक्ल जी के तर्जुमा पर ही इक्तफा करना पड़ा है।

इन लैक्चरों की रिपोर्ट ही जाहिर कर रही है कि मौजूदा सूरत में इन्हें श्री स्वामी जी के असल इल्फाज नहीं कह सकते, क्योंकि असल तकरीरें स्वामी जी ने जबान संस्कृत में की थीं। उनके नोट लिए गये। उनका फिर मरहठी में तर्जुमा किया गया। उसका तर्जुमा देवनागरी में हुआ और अब उस तर्जुमा दर तर्जुमा का तर्जुमा मैं पेश करता हूं और यही वजह है कि अजमेर के छपे हुए और पं० भगवतीप्रसाद के लिखे तर्जुमों में बहुतसी बातें समझ में नहीं आतीं। मैंने कोशिश की है कि इस किस्म का कोई भी नुक्स बाकी न रहे। चुनांचे जिस जगह इल्फाज के रद्दोबदल से मतलब आसानी से जाहिर हो सकता था उस जगह बिला तामुल रद्दोबदल कर दी गई है। और बाज जगहों में मतलब को ज्यादा वाजह करने के लिए खतूत वहदानी में अपनी तर्फ से मजमून डाला गया है और बहुत ही जगहों में नोट देकर मतलब को साफ किया गया है।

इन लैक्चरों के शाया करने की वजह जतलाना इस जगह जरूरी है। दौराने तर्जुमा में बाज भाइयों ने मुझ से पूछा था कि जब सत्यार्थप्रकाश सी मुफसल किताब श्री स्वामी जी के सिद्धान्तों को जाहिर करने वाली मौजूद है तो फिर इन लैक्चरों के तबा कराने

---

[1] पं० गणेश रामचन्द्र ने मराठीभाषा से आर्यभाषा में उल्था किया था। द्र० पृष्ठ २५४।

की क्या जरूरत है। मेरा जवाब यह है कि इन लैक्चरों में बाज अमूर ऐसे ब्यान हुए हैं जो कि सत्यार्थप्रकाश के बाज अमूर पर ज्यादा रोशनी डालेंगे और आर्यसमाज के बाज सिद्धान्तों को ज्यादातर वाजह तौर पर जाहिर करेंगे। एक ही मिसाल से मेरे इस दावा की ताईद हो जायेगी। महर्षि पतञ्जलि के योगशास्त्र के विभूति पाद की निस्बत अक्सर आर्य समाजस्थ पुरुषों को दिकत मालूम दिया करती है। अनीमा गरिमा बगैरा सिद्धियों का जिस्म के साथ तालुक असम्भव सा मालूम होता है लेकिन स्वामी जी महाराज ने एक लैक्चर में इस दिकत को बिल्कुल दूर कर दिया है। उन्होंने वहां बयान किया है कि चूंकि योगाभ्यास आत्मा का विषय है इस लिए सिद्धियां जिस्म को नहीं हासिल होती बलकि आत्मा को। इसी तरह पर और बहुत सी जगहों में नई नई बातें मालूम होती हैं न सिर्फ यही बलकि महर्षि के अपने जीवन के बहुत से नये हालात इन लैक्चरों से मालूम होते हैं। मेरी राय में यह लैक्चर सत्यार्थप्रकाश के जमीमे का काम देंगे और बाज हालात में एक उमदा तफसीर से कम कारामद न होंगे। अगर इस तरह पर हर एक जगह के लैक्चरों का खुलासा हमारे लिए महफूज रहता तो शायद बाज शुबहात जो अक्सर भाइयों को सिद्धान्तों के समझने में पैदा होते हैं साफ हो जाते।

काम का बोझ चूंकि मुझ पर ज्यादा है। इसलिए मजबूरन मुझे इस तर्जुमे में तेजी से काम लेना पड़ा है और तर्जुमे में नजरसानी बिल्कुल नहीं कर सका। इसलिए मुमकिन है कि बहुत सी गलतियां रह गई हों। अपने आलिम आर्य भाइयों से इल्तमास है कि अगर उन्हें कोई गलती दिखाई देवे तो फौरन मेरे पास लिख भेजें। आइंदा अशायत में सब गलतियां दरुस्त कर दूंगा।

प्यारे वेद शास्त्र की कदर करने वाले भाइयो! इस नाचीज तुहफे को कबूल करो और एक बजुर्ग के कलाम को ख़ाह वह कैसी ही अदना जरीए से तुम्हारे पास पहुँचे सिदकदिली से सुनो।

ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति

जालन्धर शहर मुन्शीराम 'जिज्ञासु'
१४ जनवरी १८९८ ई०

तबा दोम का दीबाचा

जैसी कि उम्मीद थी तबा अव्वल की १०५० जिल्दें फरोख्त हो चुकीं और मुझे मौका मिला है कि जो नुकायस कि तबा अव्वल में बवजह अदीम-उल-फुरसती और उजलत के रह गये थे वोह दूर कर दूं । अक्सर जगहों में तो किताबत की गलतियां थीं जो आसानी से दुरस्त हो गई हैं । लेकिन बाज जगह तर्जुमे में मुनासिब अलफाज इस्तैमाल नहीं हुये थे, उनकी जगह अब मुनासिब अलफाज को दाखिल कर के तर्जुमे की हैसियत में तरक्की कर दी गई है । **बाज जगहों में जिन वेद मन्त्रों का तर्जुमा असल में मौजूद न था और तबा अव्वल में भी जल्दी में रह गया था, वोह अब कर दिया गया** है ।[1] शास्त्रों के प्रमाण देते हुए बाज जगहों में अध्याय वगैरह का हवाला नहीं दिया गया था, वोह भी अब हत्तुलवसा दुरस्त कर दिया गया है । और खास खास नोट जायद बढ़ा कर मैंने कोशिश की है कि हर एक उर्दू ख्वां की समझ में इन लेक्चरों मतलब आ जावे ।

जालन्धर शहर मुंशीराम जिज्ञासु
तारीख ९ मई १९०१

—:o—

---

[1] इससे स्पष्ट है कि पं० बदरीदत्त के संस्करण में १०-१४ तक के व्याख्यानों में कहीं कहीं प्रमाणों का अर्थ दिया हुआ है उसका मूल भी यही उर्दू संस्करण है ।

चतुर्थ परिशिष्ट

पूना-प्रवचन में परिवर्तन–परिवर्धन–संशोधन

पृष्ठ २४५, पं० १८—"पूना-प्रवचन के अन्त में परिशिष्ट रूप में छापा है।" इसके स्थान में **शोधन** करें--"पूना-प्रवचन के अन्त में परिशिष्ट ३ में छापी है।"

पृष्ठ २५१, पं० ९—"तथा ७-९ व्याख्यानों" के स्थान में **शोधें**—"तथा ८-९ व्याख्यानों।"

पृष्ठ २५५, पं० २७—"अन्त में छाप रहे हैं" के स्थान में **शोधें**—"अन्त में तीसरे परिशिष्ट में छाप रहे हैं"।

पृष्ठ २५६, पं० १९—"उपलब्ध होती है" के आगे **बढावें**—

म० मुंशीराम जी द्वारा उर्दू में प्रकाशित उपदेश-मञ्जरी (सं० २) का पं० बदरीदत्त शर्मा के संस्करण से सरसरी तौर पर तुलना करने पर ज्ञात हुआ कि प० बदरीदत्त शर्मा ने १-९ व्याख्यानों का प० गणेश रामचन्द्र कृत भाषानुवाद को स्वीकार कर लिया है और १०-१५ तक के व्याख्यानों का म० मुंशीरामजी के उर्दू संस्करण से भाषा में अनुवाद किया है।

पृष्ठ २५९, पं० २५—"अनुवाद करके सन् १८९८ (सं० १९५५) में" के स्थान में इस प्रकार **शोधन करें**—"अनुवाद के प्रथम संस्करण सन् १८९८ (सं० १९५५) में तथा द्वितीय संस्करण सन् १९०१ (सं० १९५८) में"।

पृष्ठ २६०, प० ९—"हमने सं० २०२६ (सन् १९७९) में" के स्थान में **शोधें**—"हमने सं० २०२६ (सन् १९६९) में"।

पृष्ठ २६५, पं० १८—प्रथम दो व्याख्यानों को छोड़कर" के स्थान में **शोधन करें**—"प्रथम दो व्याख्यानों तथा १३ वें, १४ वें, और १५ वें व्याख्यान को छोड़कर"।

पृष्ठ २६७, पं० २५—"पृष्ठ २७०" के स्थान में "पृष्ठ ३७०"।

पृष्ठ २६६, पं० १—"दो प्रमाण मानते" पर टिप्पणी बढ़ावें—

'महर्षि जैमिनि दो प्रमाण मानते हैं, ऐसा आगे पृष्ठ ३६०, पं० १७, १८ पर भी लिखा है। परन्तु जैमिनि धर्म में शब्द प्रमाण भी मानते हैं। आधुनिक मीमांसकों में भट्ट कुमारिल के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये ६ प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी अनुपलब्धि को छोड़कर शेष ५ प्रमाण ही मानते हैं। कौन दार्शनिक कितने प्रमाण मानते हैं। इसका संग्राहक श्लोक इस प्रकार है—

चार्वाकास्तावदेकं द्वितीयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ,
भासर्वज्ञश्च सांख्यास्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः,
षट्कं, पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात् ।।

अर्थात्—चार्वाक १, बौद्ध और वैशेषिक २, सांख्य ३, उदयनादि (नैयायिक) ३, प्राभाकर (मीमांसक) ५, भाट्ट (मीमांसक) तथा वेदान्ती ६, और पौराणिक सम्भव तथा ऐतिह्य को मिलाकर ८ प्रमाण मानते हैं।

पृष्ठ २६६, पं० १-४—इस प्रकरण में वैशेषिक शास्त्रकार कितने प्रमाण मानते हैं, यह छूट गया है। आगे पृष्ठ ३६१, पं० २ में वैशेषिक शास्त्रकार भी दो ही प्रमाण मानते हैं, ऐसा कहा है।

पृष्ठ २७२, पं० २७—यहां "बृ० उप० (माध्य०) ३।८।३०" इतना अंश बढ़ावें।

पृष्ठ २८१, पं० २७—"छूट गया है।" के आगे बढ़ावें—"पूना के छपे मराठी संस्करण में है।"

पृष्ठ २८२, पं० ६—'जोजन एक' आदि पाठ सम्प्रति तुलसीदास की रामायण में नहीं मिलता है। परन्तु ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा संशोधित, खेमराज कृष्णदास वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में सं० १६५१, सन् १८६६ में प्रकाशित तुलसी-रामायण में निम्न प्रकार पाठ मिलता है—

अतियकार तनु चितै न जाई। चौंतीस योजन की चकलाई ।।
योजन तीनि तीनि के काना। बाईस योजन बाहु अजाना ।।

सत्रह योजन जांघ लम्बाई । शत योजन तनु वरणि न जाई ।।
दुर योजन के नाक जो बाढ़ी । योजन एक मूछ रहै ढाढ़ी ।।
सुन्दर काण्ड पृष्ठ ४०५ ।।

पृष्ठ ३०९, पं० १५-२०—ग्रन्थ जलाने का निर्देश व्याख्याता ने आगे १० वें व्याख्यान में पृष्ठ ३८४, पं० १९, २० तथा १२ वें व्याख्यान में पृष्ठ ४१५, पं० १३ में भी किया है ।

पृष्ठ ३१०, पं० ३०—"निकड़म" के स्थान में **शोधें**—'तिकड़म'।

पृष्ठ ३२८, पं० ३०—"सन् १८७५, पृष्ठ २८४, पं० २" के स्थान पर **शोधें**—"सन् १८७५, पृष्ठ २८२, पं० १५ तथा आगे पृष्ठ २८४, पं० २" ।

पृष्ठ ३७७, पं० २५,२६—'मराठी सं० में "कौशीतकी' ब्राह्मण पाठ है" यह अंश **निकाल देवें** ।

पृष्ठ ३७९, पं० ३० 'अधिक गुण-सम्पन्न था' के आगे **बढ़ावें**—'अथवा राम का पूर्वज था' ।

पृष्ठ ३८४, पं० १७-२०—ग्रन्थ जलाने का निर्देश पूर्व ५ वें व्याख्यान में पृष्ठ ३०९ पं० १५-२० तथा १२ वें व्याख्यान में पृष्ठ ४१५, पं० १३ में भी मिलता है ।

पृष्ठ ३९२, पं० २१, टि० १ के आगे टिप्पणी **छूट गई है**—"२. यजुः २५,२१ ।।" इस प्रकार जोड़ें ।

पृष्ठ ३९२, पं० २२-२३ पर टिप्पणी संख्या "२,३" के स्थान में "३,४" **बनावें** ।

पृष्ठ ३९६, पं० ९ पर टिप्पणी की "५" संख्या और ५ वीं टिप्पणी **निकाल देवें** ।

पृष्ठ ४०४, पं० ७—"**शं नः**" इत्यादि पंक्ति का मुद्रण "**शं [नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः] पशुभ्यः** ।।" इस प्रकार होना चाहिये ।

पृष्ठ ४०८, पं० २८—"की बड़ी" इतना अंश **निकाल देवें** ।

पृष्ठ ४०९, ऊपर—"(१०)" यहां "(१२)" **शोधें** ।

—:o:—

दयानन्द-प्रवचन-संग्रह

(अन्तर्गत)

बम्बई-प्रवचन

बम्बई-प्रवासकाल सन् १८८२ (जनवरी–जून) में
ऋषि दयानन्द द्वारा किये गये प्रवचनों का सार,
जो कि आर्य-समाज, काकड़वाड़ी, बम्बई के
मन्त्री द्वारा उसी समय सभा की कार्य-
वाहीसंग्रह में गुजराती भाषा में
लिखा जाता था
उसका
आर्यभाषानुवाद

अनुवादक तथा सम्पादक
युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादकीय

ऋषि दयानन्द ३० दिसम्बर १८८१ को ५ वीं बार बम्बई गये थे। उस प्रवास में वे २४ जून १८८२ तक लगभग ६ मास बम्बई में रहे। इस बार विविध विषयों पर उनके २४ व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों का संक्षिप्त सार आर्यसमाज काकड़वाड़ी, बम्बई में सुरक्षित उस समय के साप्ताहिक अधिवेशनों की कार्यवाही में निर्दिष्ट है। हम वहीं से ऋषि दयानन्द के २४ प्रवचनों का सार यहां **बम्बई-प्रवचन** के नाम से दे रहे हैं। यद्यपि यह प्रवचन-सार पूना के प्रवचनों की अपेक्षा अत्यन्त संक्षिप्त हैं, तथापि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ विषय तो ऐसे हैं, जिन का पूना-प्रवचनों में वर्णन ही नहीं है।

पुरानी कार्यवाही की उपलब्धि का इतिहास

आज से लगभग १६-१७ वर्ष पूर्व आर्यसमाज काकड़वाड़ी, बम्बई के पुरोहित एवं आचार्य स्व० श्री पं० ऋषिमित्र जी ने मुझे लिखा था कि “मुझे आर्यसमाज की रद्दी में से आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों की आर्यवाही का एक पुराना रजिष्टर मिला है, उस में ऋषि दयानन्द के व्याख्यानों का सार संगृहीत है।’ मुझे उसी समय से इस कार्यवाही को देखने की उत्कण्ठा रही, परन्तु कुछ समय तक मैं बम्बई न जा सका और कुछ वर्षों के अनन्तर श्री पं० ऋषिमित्र जी का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् बहुत वर्षों तक वह रजिस्टर गुम सा रहा और अन्त में आर्यसमाज को प्राप्त हुआ।

जनवरी ८१ में मुझे बम्बई जाना पड़ा। विशेष कारणवश मैं ३ दिन आर्यसमाज काकड़वाड़ी में ठहरा। इसी समय अपने मित्र श्री पं० दयाशंकर जी वेदोपदेशक, जो इसी आर्यसमाज से सम्बद्ध हैं, से आर्यसमाज की उक्त कार्यवाही के रजिस्टर की बात की। उन्होंने कहा कि वह रजिस्टर इस समय आर्यसमाज में विद्यमान है। उन्होंने श्री माननीय मन्त्री जी से कह कर उसे दिखाने की व्यवस्था कर दी। उसे पढ़कर प्रबल इच्छा हुई कि ऋषि दयानन्द के बम्बई-निवास काल के समय की साप्ताहिक अधिवेशनों की आर्य-

वाही को प्राप्त करके उसमें ऋषि के उपदेशों के जो सारांश संगृहीत हैं, उन्हें बम्बई-प्रवचन के नाम से प्रकाशित कर देना चाहिये, अन्यथा ये अमूल्य विचार नष्ट हो जायेंगे।

मैंने माननीय श्री मन्त्री जी से प्रार्थना की कि इस कार्यवाहीं के पृष्ठ ७० से १०२ तक के पृष्ठों की फोटोस्टेट (भ़ेरोक्स) कापी मेरे लिये करा दीजिये। उन्होंने सहृदयता पूर्वक इसे स्वीकार किया। बम्बई से वापस लौट कर श्री पं० दयाशंकर जी के माध्यम से उक्त अंश की भ़ेरोक्स कापी करा देने का अनुरोध करता रहा। मई १९८१ में पूना में सम्पन्न हुई पाणिनिविषयक अन्ताराष्ट्रिय विद्वद्-गोष्ठी से निवृत्त होकर बम्बई आया। श्री पं० दयाशंकर जी से दूरभाष के द्वारा संपर्क किया। उन्होंने कहा कि आ० स० के साप्ताहिक अधिवेशनों की कार्यवाही की भ़ेरोक्स कापी तैयार हो गई है, आपी सायंकाल आकर ले जावें। इस समाचार को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। सायंकाल आर्यसमाज में जाने पर ज्ञात हुआ कि मन्त्री जी ने सुरक्षा की दृष्टि से पूरी कार्यवाही की ही भ़ेरोक्स कापी करा ली है। मैंने उनके इस महनीय कार्य के लिये उन्हें धन्यवाद दिया। उन्होंने ३ मास के लिए मुझे उक्त कार्यवाही की भ़ेरोक्स कापी उपयोग के लिये दे दी।

यह कार्यवाही गुजराती भाषा में लिखी हुई है। मुझे मुद्रित गुजराती भाषा पढ़ने वा समझने में तो कुछ कठिनाई नहीं होती है, परन्तु हस्तलिखित गुजराती लिपि पढ़ने में कठिनाई होती है, उस पर इस भ़ैरोक्स कापी में अनेक पृष्ठ साफ न आने से पढ़े भी नहीं जाते। इस कारण मैं इस को हिन्दी भाषा में अनूदित न कर सका। इसी मध्य हमारी वेदवाणी के पाठक ऋषि दयानन्द के भक्त एवं आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता विसनगर (महसाना-गुजरात) के निवासी श्री चौकसी छगनलाल गंगाराम जी पटेल के सुपुत्र गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक श्री कमलेशकुमार जी मुझ से मिलने के लिये बहालगढ़ आये। उस समय मैंने कुछ पृष्ठों के गुजराती भाषा के लेख को नागराक्षरों में लिखवा लिया। तदनन्तर १६-१८ अक्टूबर १९८१ को उदयपुर में हुई सत्यार्थप्रकाश-शताब्दी-समारोह से पूर्व ४-५ दिन के लिये मैं श्री भाई छगनलाल जी के यहां चला गया और

वहीं श्री कमलेशकुमार जी से आवश्यक अंश के शेष भाग को नागराक्षरों में परिवर्तित करा लिया ।

ऋषि दयानन्द के बम्बई प्रवास काल (३० दि० १८८१ से २४ जून ८२) तक के आर्यसमाज के साप्ताहिक तथा नैमित्तिक अधिवेशनों की कार्यवाहो, जिनमें ऋ० दयानन्द के प्रवचनों का अति संक्षिप्त सार संगृहीत है, उसका श्री जगदेवसिंह जी आर्यकृत आर्य भाषानुवाद हम वेदवाणी' के वर्ष ३४ अंक ४-५ अर्थात् फर्वरी मार्च १९८२ के अङ्कों में छाप चुके हैं। उसी मूल गुजराती भाषा में लिखित पूर्वोक्त कार्यवाही में से ऋ० द० के प्रवचनों का सारांश संगृहीत करके हम आगे छाप रहे हैं। परन्तु गुजराती का यह आर्यभाषानुवाद मेरा किया हुआ है। इस का श्री जगदेवसिंह जी आर्य के द्वारा किये गये अनुवाद से मिलान कर लिया है। दोनों में अनुवादों में कहीं कहीं कुछ भेद है, जो साधारणतया दो अनुवादकों के अनुवाद में होना स्वाभाविक होता है।

इस प्रवचन-संग्रह में कतिपय व्याख्यान ऐसे हैं, जिनका सारांश मूल कार्यवाही से संगृहीत करना संभव नहीं था। अतः ऐसे स्थानों पर हमने कार्यवाही का पाठ ही [ ] कोष्ठक में दे दिया है।

ऋषि दयानन्द के भाषणों का विस्तृत अंश उस समय के जामे-जमशेद और मुंबई समाचार आदि गुजराती पत्रों में छपते थे। कोई ऋषि-भक्त व्यक्ति अपने अमूल्य समय को इनके संग्रह में लगावे तो यह एक महती उपलब्धि होगी। सन् १८८२ के गुजराती दैनिक पत्र उन पत्रों के कार्यालयों, बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा बम्बईस्थ अन्य प्राचीन संग्रहालयों में अभी अनुपलब्ध हो सकते हैं। कालान्तरों में ये नष्ट हो जायेंगे। उस समय प्रकाशित होने वाला **'मुंबई समाचार'** (गुजराती दैनिक) अभी तक छप रहा है।

मैं अपनी अस्वस्थता से इतना असमर्थ हो चुका हूं कि अत्यन्त चाहना होते हुए भी मैं स्वयं इस कार्य को करने में असमर्थ हूं। यदि इस बात का परिज्ञान ५-६ वर्ष पूर्व हो जाता तो मैं स्वयं इस कार्य को पूर्ण कर लेता। अब तो प्रभु किसी आर्य व्यक्ति के हृदय में ऋ० द० के उपदेशों को संगृहीत करने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये प्रेरणा देवें,' यही प्रार्थना करता हुआ अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

युधिष्ठिर मीमांसक

बम्बई-प्रवचन[1]

प्रथम प्रवचन

धर्मोन्नति (१)

[2][पौष शुक्ल पक्ष १२, रविवार, सं० १८३८, ता० १ जनवरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे आर्यसमाज के स्थान में "धर्मोन्नति" विषय पर व्याख्यान हुआ ।]

[3][स्वामी जी ने धर्माधर्म के विषय में लोगों को किस प्रकार विवेक पूर्वक विचार करना चाहिये, यह अपने भाषण में पूरी तरह

---

[1] ऋषि दयानन्द ने ३० दिसम्बर १८८१ से २४ जून १८८२ तक के अपने बम्बई-प्रवास-काल में जो व्याख्यान आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में तथा अन्य समय में दिये, उनका संक्षिप्त सारांश आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई कीकार्यवाही की पुरानी संचिका में लिखा हैं, उसी के अनुसार हम ऋषि दयानन्द के भाषणों का सारांश आगे दे रहे हैं ।

[2] [ ] कोष्ठ में दी गई तिथि तारीख उपदेश का समय स्थान और विषय का जो निर्देश किया है, वह सर्वत्र पूर्व निर्दिष्ट कार्यवाही-संचिका के अनुसार है ।

[3] इस से पूर्व कार्यवाही के लेखक मन्त्री वा उपमन्त्री ने लिखा है—

'सामयिक पत्रों में छपाई गई सूचना के अनुसार जगत् प्रसिद्ध पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी जी (आर्यसमाज के संस्थापक) जो हमारे पर कृपा करके बम्बई पधारे हैं, उनने समाज को पवित्र करके 'धर्मोन्नति' विषय पर जो सरस मनोवेधक भाषण दिया, उस भाषण का प्रत्येक शब्द लिखने योग्य था, परन्तु हम लोगों में कोई शार्टहेण्ड राइटिंग का लिखने वाला न होने से यह लाभ मिला नहीं और अमूल्य भाषण की सुगन्ध सब को प्राप्त नहीं हुई ।

विशेष—जहां जहां लिखित कार्यवाही से भाषण का सार संगृहीत

दर्शाया तथा भारतवर्ष में धर्म सम्बन्धी महत् विचार में लोग कितने पिछड़े हुए हैं, और मतवादी लोगों ने स्वार्थवश धर्म के नाम पर जाल फैलाकर जनता को किस प्रकार नष्ट भष्ट कर दिया है, और भाग्य के आधार पर उसे स्वत्वहीन बनाकर अज्ञान की स्थिति में पहुंचा दिया है। इस विषय में विवेचन करके इसका वास्तविक चित्र श्रोता जनों के हृदय पटल पर आङ्कित कर दिया।]

[सभा साढे सात बजे विसर्जित हुई]

—:०:—

द्वितीय प्रवचन

धर्मोन्नति (२)

[पौष कृष्ण पक्ष[1] ४, रविवार, सं० १९३८, ता० ८ जनवरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे आर्यसमाज के स्थान में 'धर्मोन्नति' विषय पर दूसरा व्याख्यान हुआ।][2]

[3][स्वामी जी ने वेद मन्त्र से ईश्वरोपासना करके धर्मोन्नति विषय पर दूसरा व्याख्यान दिया। इस भाषण में स्वामी जी ने चार सम्प्रदायों के मतवाद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—]

करना अशक्य हुआ, वहां-वहां हमने व्याख्यान का भाव दर्शाने के लिये कार्यवाही में लिखित पूरा अंश ही [ ] कोष्ठक में दे दिया है।

[1] यहाँ 'पौष कृष्ण पक्ष' का निर्देश गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है। उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार 'माघ कृष्ण पक्ष' जानना चाहिये।

[2] इस व्याख्यान में कार्यवाही के लेखानुसार 'एक हजार से ऊपर' सद्-गृहस्थ सम्मिलित हुए थे।

[3] प्रवचन संग्रह में जहां कहीं भी आदि मध्य वा अन्त में [ ] कोष्ठक में पाठ दिया गया वह पाठ सारांश लेखक का है, उसे हमने प्रसङ्ग को जोड़ने, भाव को व्यक्त करने तथा पाठ पूर्ति के लिये दिया है।

(अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत[1]) इन मतों में और इन मतवादी ग्रन्थों में जो बताया गया है वह वेद विरुद्ध है। वेदान्त का अद्वैत मत है। मैं उसके विरुद्ध नहीं हूं।[2] परन्तु उन्होंने आजकल जीव-ब्रह्म की एकता आदि से संबद्ध अनुचित विचार फैलाया है और इन विचारों से संबद्ध महावाक्यों की रचना करके जो कहते हैं, वह बिलकुल असत्य है। और **अहं ब्रह्मास्मि**, **तत्त्वमसि** इत्यादि वाक्य जो प्रमाण में देते हैं वे वेद के नहीं है, परन्तु ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों के हैं। तथा इन वाक्यों का जो अर्थ ये लोग करते हैं वह मूल ग्रन्थ में नहीं है। उनके पूर्वापर का सम्बन्ध देखने से इनका अर्थ उनसे भिन्न ही है। इस समय इन लोगों से [इन का] जो अर्थ बताया जाता है, वह वेद-विरुद्ध है और जाति के लिये हानिकारक है। तथा उस पर बुद्धिमान् और निष्पक्षपात पुरुषों को अवलोकन और विचार करना उचित है। जो अद्वैत मत से भिन्न दूसरे विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत ये तीन मत हैं, ये उतरोत्तर एक दूसरे से अधिक घोटाला भरे [भ्रमोत्पादक] हैं।

[सभा आठ बजे विसर्जित हुई।]

—:o—

---

[1] इन में अद्वैत शंकराचार्य का, विशिष्टाद्वैत रामानुजाचार्य का, द्वैताद्वैत निम्बार्काचार्य का और शुद्धाद्वैत वल्लभाचार्य का है।

[2] इस विषय में ऋ० द० विरचित वेदान्तिध्वान्तनिवारण पुस्तक पढनी चाहिये। सत्यार्थप्रकाश के ७ वें और ११ वें समुल्लासों में तथा पूना-प्रवचन के द्वितीय प्रवचन पृष्ठ २७१-२७४ में भी इस विषय की विवेचना की गई है; उसे भी देखना चाहिये।

तीसरा प्रवचन

धर्मोन्नति (३)

[पौष कृष्ण पक्ष[1] ११, रविवार सं० १९३८, ता० १५ जनवरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे आर्यसमाज के स्थान में 'धर्मोन्नति' विषय पर तीसरा व्याख्यान हुआ।][2]

[3][स्वामी जी ने वेद मन्त्र से परमात्मा की उपासना करके धर्मोन्नति विषय पर तीसरा व्याख्यान दिया। पिछले व्याख्यान में विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत मत की अच्छी प्रकार स्पष्टीकरण करके श्रोताजनों के मन को सन्तुष्ट कर और धर्माधर्म का विचार किस प्रकार करना उचित है यह दर्शाकर धर्म के विषय में घोटाला करके अधर्म को फैलाने से इस देश की किस प्रकार दुर्दशा हुई और उस उस धर्मवाद से परपस्पर भेद बढ़ा और उसने किस प्रकार अज्ञान में इन आर्यजनों को गिराया, यह भले प्रकार स्पष्ट दर्शाकर इस स्थिति से किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, यह विषय उत्तम रीति से समझाया और **लोगों का ध्यान संस्कृत भाषा के अध्ययन तथा वेदाध्ययन करने की ओर आकृष्ट किया।]**

[सभा ८ बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

---

[1] यहां पूर्व पृष्ठ ४८७, पं० २४ की **'विशेष'** संकेतित टिप्पणी देखें।

[2] इस व्याख्यान में कार्यवाही के लेखानुसार 'हजार से ऊपर' सद्गृहस्थ विराजमान थे।

[3] यहां कार्यवाही का ही अंश छापा गया है।

चौथा प्रवचन

अहिंसा और ईसाइयत (१)

[माघ शुक्ल पक्ष ३, रविवार, सं० १९३८,[1] ता० २२ जनवरी १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट' में 'अहिंसा और ईसाइयत' विषय पर व्याख्यान हुआ ।][2]

[प्रथम स्वामी जी ने हिंसा किसे कहना चाहिये और अहिंसा किसे कहना चाहिये, का स्पष्टीकरण किया—] मन वचन और शरीर इन से किसी को हानि पहुंचाना और हानि का विचार करना इसका नाम हिंसा है और ऐसा करने से दूर रहना, इसका नाम अहिंसा है । आजकल **इस देश में विदेशियों की संख्या बहुत बढ़ जाने से हिंसा** बहुत बढ़ गई है ।[3] **इस से इस देश को बहुत ही हानि पहुंची है । मनुष्यों का पालन करने हारे गौ आदि परोपकारी पशुओं को इस देश में हिंसा होने से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है**[2] और हिंसा करनेवाले ईश्वर के गुनहगार (=अपराधी) होते हैं । पश्चात् ऐसे पशुओं के वध से कैसी कैसी हानि होती है,[3] इस विषय का अच्छी प्रकार विवेचन करके इस विषय को अगले समय के लिये स्थगित किया और तत्पश्चात् सात बजे के लगभग **'क्रिश्चियन मत'** के विषय में व्याख्यान आरम्भ किया । उसमें ईसाई लोगों की बाइबल में कैसी कैसी न्याय शून्य लीला लिखी है उसे भली प्रकार दर्शाया ।]

[सभा आठ बजे विसर्जित हुई ।]

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९ ।

[2] कार्यवाही के लेखानुसार इस व्याख्यान में 'लगभग दो हजार गृहस्थ' उपस्थित हुए थे ।

[3] द्र० पूना प्रवचन—'इन दिनों मांसाहारियों ने राज्यबल के आधार से इतना जबर हाथ फेरना आरम्भ किया है······।' प्रवचन ७, पृष्ठ ३४७, पं० १७-१८ ।

[4] गौ आदि परोपकारी पशुओं को मारने से होने वाली हानियों का उल्लेख ऋ० द० ने पूना प्रवचन (७) पृष्ठ ३४७, गोकरुणानिधि तथा सत्यार्थप्रकाश १०वें समुल्लास में भी किया है ।

पांचवां प्रवचन

अहिंसा और ईसाइयत (२)

[माघ शुक्ल पक्ष[1] ६, शुक्रवार, सं० १९३८, ता० २७ जनवरी १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्राम्जी कावश जो इंस्टीट्यूट' में 'अहिंसा' विषय पर थोड़ा और 'ईसाइयत' पर विशेष व्याख्यान हुआ।][2]

[3][इस व्याख्यान में पहले दिन के प्रवचन का उल्लेख करके विशेष विवेचन किया—एक गाय का बध होने से कितने मनुष्यों के पोषण में हानि पहुंचती है, यह बात आंकड़ों के द्वारा सिद्ध करके बताया था कि इस प्रकार हजारों गायों का वध होने से खेतीवाड़ी के कार्य में और लोगों के पोषण में प्रति वर्ष कितनी हानि होती है इस बात को आंकड़ों द्वारा स्पष्ट रूप से बताया।[4] इस के पश्चात् किसी गृहस्थ के कहने पर **'ईसाइयों की लीला'** पर दूसरा व्याख्यान दिया।]

[सभा सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

---

[1] यहां कार्यवाही में 'इसी स्थल पर शुक्रवार को साढे पांच बजे समाज मिलने' का उल्लेख है। अतः ऊपर जो तिथि तारीख दी है, वह हमारी दी हुई है। उत्तरभारतीय सं० १९३९।

[2] यहां कार्यवाही में लिखा है—इस दिन बुद्धिमान् गृहस्थों को आमन्त्रण पत्र भेज कर बुलाया गया। कारण कि पहली सभा में समय से पूर्व ही श्रोता जनों के बहुत भीड़ हो गई थी। इससे अनेक योग्य गृहस्थों को स्थान न मिलने से वापस लौटना पड़ा था।

[3] यहां पूर्व पृष्ठ ४८७, पं० २४ की **'विशेष'** संकेतित टिप्पणी देखें।

[4] द्र० पूर्व पृष्ठ ४९१ की टि० ४।

छठा प्रवचन

अहिंसा

[माघ शुक्ल पक्ष ११, रविवार, सं० १९३८,[1] ता० २९ जनवरी १८८२ आर्यसमाज का अधिवेशन सायं साढ़े चार बजे 'भाटिया महाजन बाडी' में 'आर्य ज्ञानवर्धक सभा' के सभासदों द्वारा बुलाने पर हुआ। इस में 'अहिंसा' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

[गौ आदि की] हिंसा करने से स्वधर्म की हानि होती है और लोक की स्थिति निर्बल होती है। कोई कहे कि वेद में अश्वमेध गोमेध और अजामेध इत्यादि में पशु-होम का विधान है। इस का आप खण्डन किस प्रकार कर सकते हैं ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहना है कि उन स्थानों पर अश्व का अर्थ घोड़ा, गौ का अर्थ गाय और अजा का अर्थ बकरी ऐसा नहीं है, किन्तु अश्व नाम अग्नि, गौ नाम पृथिवी और अजा नाम प्रकृति, ऐसा अर्थ है। परन्तु पीछे से ब्राह्मणादि स्वार्थी वर्ग के लोगों ने ऐसा अर्थ घुसेड़ दिया। और जो आजकल लोग अशुद्ध अर्थ करते हैं, वह अमर कोश के आधार पर करते हैं। यह अमर कोश जैन पण्डित ने बनाया है तथा जैन लोग वेद-धर्म के विरोधी हैं। यह सब लोगों को ज्ञात है। अत: उनके द्वारा रचे गये कोश में वेद के शब्दों का शुद्ध अर्थ कैसे हो सकता है ? यदि वेद के शब्दों का शुद्ध अर्थ जानना हो तो उसके लिये यास्क मुनि कृत निघण्टु आदि अन्य अनेक कोश ऋषि मुनिकृत हैं उनमें देखें और शतपथ निरुक्त आदि ग्रन्थों में देखने से इस विषय में विश्वास हो जायगा।[2]

[इसी व्याख्यान में] ब्रह्मा ने कामुक (= मोहित) होकर अपनी पुत्री सरस्वती के साथ संग किया, शेष नाग ने पृथिवी को उठा रखा है और गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के साथ इन्द्र ने जार कर्म

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

[2] इस विषय के लिये सत्यार्थ-प्रकाश समु० ११, पृष्ठ ४४४-४४५ (आसशसं० २) देखें।

किया, गौतम के शाप से इन्द्र हजार भगवाला हो गया, इस प्रकार जो पुराणों में कथा लिखी है, उस का स्पष्टीकरण किया तथा ये कथाएं ऐतरेय ब्राह्मण आदि में रूपकालंकार से किस प्रकार वर्णित की गईं हैं, इसका स्पष्टीकरण किया।[1]

[इसके पश्चात् मूर्ति के विषय में थोड़ा व्याख्यान दिया।] माता, पिता, आचार्य और अतिथि ये चार दृश्य मूर्तियां हैं और पांचवी अदृश्य मूर्ति परमात्मा है। इन पांच मूर्तियों को मैं वेद के आधार पर मानता हूं।[2] इनके अतिरिक्त दूसरी किसी को और अन्य किसी मूर्ति को मैं नहीं मानता। और [अन्य को] मानने में कोई सार्थकता नहीं है और जिसमें कोई सार्थकता नहीं, वह मूर्ति किसी के मानने योग्य नहीं है।

[सभा साढे सात बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

सातवां प्रवचन

मनुष्योन्नति (१)

[माघ कृष्ण पक्ष[3] २, रविवार, सं० १९३८, ता० ५ फर्वरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'भाटिया महाजन बाड़ी' में 'मनुष्योन्नति' पर दूसरा व्याख्यान हुआ।]

शारीरिक बल को बढ़ाने और उत्तम बलवान् बुद्धिमान् तथा

---

[1] इन कथाओं का वेदभाष्य सम्बन्धी विज्ञापन (ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ७२-७४) तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य विषय (पृष्ठ ३१९—३२३, रालाकट्रसं०) देखें।

[2] इन पांच मूर्तियों के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृष्ठ ४९३-४९५ (आसशसं० २) में विस्तार से लिखा है। वहां पांचवी अदृश्य मूर्ति परमात्मा के स्थान में पति के लिये पत्नी और पत्नी के लिये पति रूप दृश्य मूर्ति का उल्लेख है।

[3] उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार 'फाल्गुन कृष्ण पक्ष', सं० १९३९।

दीर्घायु प्रजा की उत्पत्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। और उनको ब्रह्मचर्य व्रत (आश्रम) में रह कर बुद्धि बल को बढ़ाने और ज्ञान प्राप्त करने के लिये एकान्त में गुरु के गृह में अथवा पाठशाला में रहकर भले प्रकार विद्याभ्यास करना चाहिये। उसके लिये पुरुष को अधिक से अधिक ४८ वर्ष पर्यन्त और न्यून से न्यून २५ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। तथा स्त्रियों को अधिक से अधिक २४ वर्ष और न्यून से न्यून १६ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। ऐसी वेद की आज्ञा है। जो पुरुष ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का पालन करके चारों वेदों का पूर्ण अभ्यास करे तो वह पूर्ण पुरुषार्थी और न्यायशील हो जाता है। और ऐसे ही व्यक्ति राजा, प्रधान, और सेनापति के आसन (स्थान=पद) के योग्य होते हैं।[२] तथा उनके हाथों से ही आसनों (=पदों) के कार्य यथावत् पुरुषार्थ से सम्पन्न हो सकते हैं। और जो अन्य स्थान हैं, वे न्यून ब्रह्मचर्य पालन करने वाले के लिये हैं। यदि इस प्रकार व्यवस्था होवे तो राज-प्रकरण (=राज-व्यवस्था) और सांसारिक व्यवस्था सुधर जाये।

प्रारब्ध का आधार संचित और क्रियमाण कर्म हैं तथा संचित और क्रियमाण का सुधार पुरुषार्थ से होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ पर ध्यान देना चाहिये। इसी के द्वारा क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्म की स्थिति सुधरती है। इस से मनुष्य उत्तम स्थिति को प्राप्त होकर उन्नति के पात्र बनते हैं।[३]

[सभा साढे सात बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

---

[२] द्र० मनुस्मृति अ० १२, श्लोक १००—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

[३] इसके अनन्तर कार्यवाही में लिखा है—'यह स्वामी जी के भाषण का मुख्य अभिप्राय था। बाकी दूसरी बातें तो बहुत सी जानने योग्य विस्तारपूर्वक वर्णन की। परन्तु उन सब का समावेश इस स्थान में नहीं हो सकता;

आठवां प्रवचन

मनुष्योन्नति (२)

[माघ कृष्ण पक्ष[1] ९, रविवार, सं० १९३८, ता० १२ फवरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े चार बजे 'फ्राम जो कावशजी इंस्टीटयूट' में 'मनुष्योन्नति' पर दूसरा[2] व्याख्यान हुआ।]

[इस व्याख्यान में मनुष्यों की शारीरिक सम्पत्ति और बुद्धिबल किस प्रकार नष्ट भ्रष्ट हुए, और हो रहे हैं, यह सब पूरी तरह स्पष्ट कर के दर्शाया—]मनुष्यों को वीर्य की रक्षा करनी चाहिये, परन्तु वे करते नहीं, और वीर्यरक्षण-विद्या भूल जाने से मनुष्य पशु से भी नीच बन गये हैं अर्थात् पशु नियत काल में वीर्यदान करते हैं, परन्तु मनुष्य दिन वा रात्रि, ऋतुकाल या अनृतुकाल कुछ देखते नहीं।

थोड़ी सी प्रमुख बातें लिखी हैं। **सविस्तार जानने के लिये १२ फरवरी १८८९ का गुजराती के समाचार पत्र में पत्रकर्ता ने यथावत्** लिखी हैं। उसे लोगों का बांचा होगा।'

टिप्पणी—स्वामी जी ने व्याख्यान ५ फर्वरी १८८२ को दिया था। उसकी कार्यवाही जो लिखी गई वह १२ फर्वरी के साप्ताहिक अधिवेशन में पढ़ी गई। इसी कारण यहां १२ फर्वरी के समाचार पत्र में छपी विस्तृत रिपोर्ट का निर्देश किया गया है। यहां समाचारपत्र के नाम का निर्देश नहीं है। उस समय गुजराती के **'जामे जमशेद'** और **'मुम्बई समाचार'** आदि पत्र छपते थे।

अन्त में कार्यवाही में लिखा है—'इस व्याख्यान में अध्यक्ष पद पर **मोरवी के ठाकुर साहब बाघजी बहादुर राजा विराजमान थे।** और उनने स्वामी जी को उनके उत्कृष्ट श्रम (व्याख्यान) के लिये उपकार माना।'

[1] उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार 'फाल्गुन कृष्ण पक्ष', सं० १९३९।

[2] मूल कार्यवाही में यहां 'त्रीजु' (तीसरा) शब्द है। परन्तु इस से पूर्व ५ फर्वरी के व्याख्यान के अनन्तर और कोई व्याख्यान उल्लिखित नहीं है।

पुरुषों और स्त्रियों को वेदाज्ञा के अनुकूल वर्ताव कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वीर्य को सुदृढ़ और परिपक्व करना चाहिये, यह वे करते नहीं। उलटा अनुचित समय में बाल-विवाह करके कच्चे वीर्य को नष्ट भ्रष्ट करके अपने शारीर-बल और बुद्धि-बल को नष्ट भ्रष्ट करते हैं। तथा कई एक व्यभिचार में पड़कर वेश्यागमन और परस्त्री-भोग करते हैं। तथा उसी प्रकार स्त्रियां भी पति-व्रत-भंग करके परपुरुष-गमन करती हैं। इस प्रकार ये स्त्री-पुरुष अपने को नष्ट करके शरीर और बुद्धि को निर्बल करते हैं। तथा इस प्रकार के लोगों से जो प्रजा उत्पन्न होती है, वह भी अल्पवीर्य और अल्पायु होती है। और उनको वैद्य के घर का सदा सेवन करना पड़ता है। ऐसे लोगों से कोई महान् कार्य नहीं होता, क्योंकि उनके नष्ट-वीर्य होने से उनमें शौर्य और धैर्य नहीं होता। और बलहीन होने से नपुंसक हो जाते हैं। [इसी प्रकार अन्य बहुत कुछ स्पष्ट किया। परन्तु उस सब का तात्पर्य यही है कि वीर्य-रक्षण यथावत् नियमपूर्वक करके उचित काल में प्रतिमास एक बार वीर्यदान करना और उत्तम प्रजा उत्पन्न करनी, यही अभिप्राय था।]

[सभा साढ़े छ बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

नवमां व्याख्यान

मनुष्योन्नति (३)

[फाल्गुन शुक्ल पक्ष २, रविवार, सं० १९३८[1], ता० १९ फर्वरी १८८२ के दिन सायं साढ़े चार बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट' में 'मनुष्योन्नति' पर अन्तिम व्याख्यान हुआ।]

पुरुषार्थ सब प्रकार की उन्नति का मूल है। क्रियमाण संचित और प्रारब्ध ये तीनों अनुक्रम से उसके वृक्ष हैं।[2] जो पुरुषार्थ उत्तम

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

[2] अर्थात् पुरुषार्थ मूल का वृक्ष क्रियमाण कर्म है, क्योंकि वह पुरुषार्थ के विना नहीं होता। क्रियमाण कर्म का संचित कर्म वृक्ष रूप है, क्योंकि वह क्रियमाण से बनता है। सञ्चित ही प्रारब्ध का मूल है। अतः संचित का प्रारब्ध वृक्ष रूप है।

होवे तो तीनों क्रमशः उत्तम होवें और जो वह बिगड़ जाये तो जानो कि सब बिगड़ गया। और पीछे उनका फल भोग भी दुःखदायक ही होता है। परमेश्वर ने प्रारब्ध से पहले जगत् नहीं रचा। पुरुषार्थ और कर्मानुसार प्रारब्ध में बंधकर विद्वान् अविद्वान् सभी को सुख दुःख प्राप्त होता है। परमेश्वर स्वतन्त्र है, परन्तु सब जीव सभी बातों में स्वतन्त्र नहीं हैं। जीव केवल पुरुषार्थ करने में और कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु वे उन पाप-पुण्यों के फल भोगने में परतन्त्र हैं अर्थात् न्यायकारी परमात्मा उनके पाप-पुण्य के अनुसार सुख-दुःख का विधान करता है। **परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करने से वह न्यायकारी प्रसन्न नहीं होता और पाप-पुण्य के फलभोग से नहीं छूटता। परन्तु जो परमेश्वर की वेदयुक्त आज्ञा के अनुसार उत्तम पुरुषार्थ और उत्तम कर्म का आचरण करता है तो उस से विना स्तुति-प्रार्थना के परमात्मा अपने आप प्रसन्न होता है और उत्तम कर्म के अनुसार अपने आप उत्तम फल प्राप्त करता है।** आजकल मनुष्यों का आयुष्य जो न्यून होता जा रहा है, उसका कारण उनके पुरुषार्थ का बिगाड़ है, और वे अपने वीर्य को क्षीण करते जा रहे हैं। इसलिये यदि इस सब को सुधारना है तो वीर्य-रक्षण करना चाहिये। पुरुषार्थ और कर्म सुधरने से सब सुधरेंगे और उन्नति होगी। [इस प्रकार भाषण का सारांश था। तथा इसके अतिरिक्त **सगुण निर्गुण उपासना और स्तुति प्रार्थना** आदि पर अत्यन्त सरस विवेचन किया। और उसके पीछे अन्य विवेचन भी बहुतसा किया, परन्तु उस सब का यहां समावेश शक्य नहीं।]

[सभा छ बजे विसर्जित हुई।]

—.०.—

दसवां प्रवचन

अवतार

[फाल्गुन शुक्ल पक्ष ६, गुरुवार सं० १९३८[1], ता० २३ फर्वरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट' में 'अवतार' विषय पर व्याख्यान हुआ ।]

ईश्वर का अवतार मानना वेदविरुद्ध और समस्त आर्ष ग्रन्थों के विरुद्ध है [उन में] किसी भी स्थान पर अवतार मानने का प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु उनको देखें तो उलटा खण्डन मिलता है। "**स पर्यगाच्छुक्र०**[2]" इत्यादि वेद मन्त्रों से तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ईश्वर का अवतार लेना नहीं घटता है। युक्ति से भी ईश्वर का अवतार सिद्ध नहीं होता। [इस प्रकार युक्ति और वेदादि सब शास्त्रों के द्वारा अवतारवाद का खण्डन किया और उसके पश्चात् **नास्तिक मत का भली प्रकार खण्डन किया**।] तथा पुराणादि आधुनिक ग्रन्थों में जहां-तहां ईश्वर के अवतार का और मूर्तिपूजा का मण्डन किया दिखाई पड़ता है, वह वेदादिशास्त्रों से तथा ऋषि मुनिकृत आर्ष ग्रन्थों से एक दम विरुद्ध और न्याय-शून्य है। इन पुराणों और अन्य आधुनिक ग्रन्थों का अभिप्राय और मण्डन एक दूसरे के विरुद्ध है और **एक दूसरे का खण्डन करने हारा है** अर्थात् किसी ने शिव के २४ अवतार कहे हैं, तो दूसरे ने विष्णु के और तीसरे ने देवी के। इस प्रकार प्रत्येक पुराण में भिन्न भिन्न गप्पें हैं। तथा **इन में एक दूसरे की निन्दा और खण्डन है**। तात्पर्य यह है कि वेदादि सम्पूर्ण आर्ष ग्रन्थों का जैसे एक सिद्धान्त है, वैसा पुराणादिक आधुनिक ग्रन्थों का नहीं है। परन्तु उन का तो परस्पर भारी विरोध स्पष्ट दीखता है। अतः वे पुराणादि आधुनिक ग्रन्थ विद्वान् लोगों को प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं।

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९ । [2] यजु० ४०।८।।

ग्यारहवां प्रवचन

पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (१)

[फाल्गुन शुक्ल पक्ष ९, रविवार, सं० १९३८[1], ता० २६ फर्वरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े चार बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीट्यूट' में 'पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

जीवों का पुनर्जन्म अर्थात् पुनः-पुनः जन्म, भिन्न-भिन्न योनियों में अपने किये पाप-पुण्यों के अनुसार होता है। **पाप का भाग अधिक होने से उस उसके अनुसार पशु-योनि और वनस्पति-योनि में जीव देह धारण करता** है। पाप-पुण्य बराबर होवें तो मनुष्य देह को प्राप्त होता है तथा अधिक पुण्य होने से उत्तम मनुष्य होता है। मनुष्य देह में उत्तम ज्ञान गुण को प्राप्त कर पुरुषार्थ करके उत्तम क्रियमाण कर्म करे तो संचित प्रारब्ध सुधर कर अन्त में मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। [इत्यादि विषयों का विवेचन प्रथम भाग में था तथा उत्तर भाग में—]

सृष्टि-विद्या अर्थात् सृष्टि का निर्माण, पालन और उसका नाश कालान्तर में किस रीति से होता है तथा ऐसा करने का क्या प्रयोजन है [इत्यादि ईश्वर के महद् गुणों का उसमें विवेचन था।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

बारहवां प्रवचन

पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (२)

[फाल्गुन कृष्ण पक्ष[1] १, रविवार, सं० १९३८, ता० ५ मार्च सन् १८८२ के दिन सायं पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट' में 'पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या' पर दूसरा व्याख्यान हुआ।]

[2][‘पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या’ इन दो विषयों पर दूसरा भाषण करके उस विषय में विशेष व्याख्यान दिया तथा पुनर्जन्म मानने के प्रबल प्रमाण देकर श्रोताओं को इसके सम्बन्ध में विश्वस्त (= निःशंक) किया तथा पुनर्जन्म नहीं मानने में कितने दोष आते हैं, उन्हें सिद्ध करके बताया और सृष्टि रचना में विशेष जानने योग्य सब बातों का अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया।]

[सभा सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

तेरहवां प्रवचन

पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या (३)

[फाल्गुन कृष्ण पक्ष[3] ५, शुक्रवार, सं० १९३८, ता० १० मार्च १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट' में पुनर्जन्म और सृष्टि-विद्या' विषय पर तीसरा व्याख्यान हुआ।]

[2][इस सभा में सृष्टि-विद्या ही के संबन्ध में तीसरा भाषण दिया और सम्पूर्ण जानने योग्य आवश्यक विषय उस दिन पूरा किया।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

---

१. उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार ‘चैत्र कृष्ण पक्ष’ तथा सं० १९३९।

२. सारा सारांश कार्यवाही के रूप में ही लिखा गया है।

३. उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार ‘चैत्र कृष्ण पक्ष’ तथा सं० १९३९।

चौदहवां प्रवचन

मादक-द्रव्य-निषेध

[फाल्गुन कृष्ण पक्ष[1] ७, रविवार, सं० १९३८, ता० १२ मार्च १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'झबेर बाग' (मोती रुघ के बाग) में 'नशा-निषेध' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

[स्वामी जी ने प्रथम वेदमन्त्र से ईश्वरोपासना करके कहा—]

मद्य पदार्थ=मदिरा, ताड़ी, भांग, गांजा, अफीम, चण्डू आदि मादक द्रव्यों के सेवन करने से मनुष्यों की कितनी हानि हुई, होती है और होगी [इस विषय में पूरी तरह विवेचन किया।] अंग्रेजी लोगों की संगति से अभक्ष्य पदार्थ मदिरा और मांस हम लोगों में घुस गया है। और उन लोगों के उन दुर्गुणों को ग्रहण करके कितने भ्रष्ट और तमोगुणी पदार्थों के भक्षण करने से शरीर-बल और बुद्धि-बल का कैसा नाश होता है [यह भी अच्छी प्रकार दिखाया था।] और [इस से] आयुष्य न्यून हो रहा है। यह वैद्यक [शास्त्र] की रीति से सिद्ध किया तथा **अंग्रेजी डाक्टर इस देश की स्थिति प्रकृति को जाने विना प्रत्येक रोग पर योरोप के लोगों को अनुकूल पड़ने वाली दवा देते हैं। और उनमें विशेषकर मादक पदार्थ मिला कर देते हैं। इससे ये दवाएं बराबर लेते रहने पर जितनी चाहिये उतनी अनुकूल नहीं आतीं और यथावत् असर नहीं होता।** [इत्यादि वर्णन उत्तम रीति से किया।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

---

[1] उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार 'चैत्र कृष्ण पक्ष' तथा सं० १९३९।

पन्द्रहवां प्रवचन

वेद (१)

[चैत्र शुक्ल पक्ष १, सोमवार, सं० १९३८,[1] ता० २० मार्च १८८२ के दिन सायं पांच बजे 'आर्यसमाज के नये खरीदे गये मकान' में 'वेद' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

'वेद' सब विद्याओं के मूल का भण्डार है और यह ईश्वर-प्रणीत अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है। इस का कर्ता कोई मनुष्य नहीं हैं, परन्तु इस ज्ञान के द्रष्टा पूर्व ऋषि मुनि हो चुके हैं। इस वेद की पुस्तक से भिन्न कोई अन्य पुरानी पुस्तक इस भूगोल भर में नहीं है। इस वेद पुस्तक में किसी भी दूसरी पुस्तक का लिया हुआ कोई आधार दिखाई नहीं देता। उसमें जो कुछ दर्शाया है, उसमें कुछ भी न्याय-विरुद्ध और असत्य कि जिस पर कोई आपत्ति उठाये, ऐसा नहीं है। परन्तु जो कुछ है वह मनुष्य-मात्र के ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार उसे ईश्वर-प्रणीत मानने में कोई बाधा नहीं आती है। और जो पुराने ऋषि-मुनि आदि महात्माओं से लेकर साधारण मनुष्यों तक चारों वर्ण के आर्य लोग उसे ईश्वर-प्रणीत मानते आये हैं। इस कारण अब उसे विना कारण और विना दोष के ग्राह्य होने पर भी छोड़ देवें, यह अज्ञानता और दुराग्रह के कारण कहा जायगा। और ऐसे ही पुरुषों को मनुस्मृति में नास्तिक कहा और माना है[2], तथा ऐसे ही लोगों को 'अनार्य' संज्ञा दी गई है।

[सभा लगभग ८ बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

---

[1] यह गुजराती संवत् है, उत्तर भारतीय सं० १९३९।

[2] नास्तिको वेदनिन्दकः। मनु २।११॥

सोलहवां प्रवचन

वेद (२)

[चैत्र शुक्ल पक्ष ३, बुधवार, सं० १९३८[1] ता० २२ मार्च १८८२ के दिन सायं पांच बजे 'आर्यसमाज के नये खरीदे गये मकान' में 'वेद' विषय पर व्याख्यान हुआ ।]

[2][इस दिन भी स्वामी जी ने फिर वेद-विषय पर ही विशेष व्याख्यान दिया था । इसका सारांश भी उसी सिद्धान्त के अनुसार था । **और वेद में जो जो विद्याएं प्रदर्शित की हैं, उनका स्पष्टीकरण किया था ।]**

[सभा आठ बजे विसर्जित हुई ।]

—:o:—

सत्रहवां प्रवचन

आर्यसमाज और थियोसोफीकल सोसाइटी का संबन्ध

[चैत्र शुक्ल पक्ष ७, रविवार, सं० १९३८[3], ता० २६ मार्च १८८२ के दिन[4] सायं पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट' में 'आर्य-

---

[1] यह गुजराती संवत् है । उत्तर भारतीय सं० १९३९ ।

[2] यहां कार्यवाही में कुछ विशेष वर्णन नहीं है । अतः कार्यवाही का अंश ही छाप दिया है ।

[3] यह गुजराती संवत् है । उत्तरभारतीय संवत् १९३९ ।

[4] 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ५१२ (भाग २, पृष्ठ ५४५) के पत्र, जिसे ऋ० द० ने २२ मार्च १८८२ को मैडम ब्लेवेत्सकी के नाम लिखा था, में '२८ मार्च सन् १८८२ मंगलवार' को फ्रामजी कावशजी हाल में इन लोगों के विरुद्ध व्याख्यान देने का उल्लेख किया है।

समाज और थियोसोफिकल सोसाईटी का सम्बन्ध' विषय पर व्याख्यान हुआ ।]

[1][आर्य समाज का थियोसोफिकल सोसाइटी के साथ आरम्भ में किस प्रकार और किस की मांग पर सम्बन्ध हुआ और वह सम्बन्ध आज तक किस रीति से और किस प्रकार चलता रहा तथा इस समय कैसा सम्बन्ध है। इसका यथास्थिति और यथावत् वर्णन किया। कर्नल आल्काट और मेडम ब्लेवेत्सकी के वे सब पत्र जो उन्होंने स्वामी जी को भेजे थे, बांचकर सुनाये। उन पत्रों में इन लोगों द्वारा दी गई स्वीकारी तथा कथन से यहां आने के पश्चात् कितना उलटा चले और चल रहे हैं, इस सब का यथावत् वर्णन किया। साथ ही वे इन लोगों के सोसाइटी के नाम और उनके नियमों से कितना विरुद्ध आचरण कर रहे हैं, यह स्पष्ट किया। ये लोग मीठा-मीठा प्रभावकारक बोलकर किस प्रकार सत्य को ढंक कर इस देश के लोगों को मोहजाल में फंसाने के लिये, प्रत्यक्ष में प्रत्येक मत की किस प्रकार स्तुति करते हैं और स्वयं कितना विरुद्ध आचरण करते हैं इत्यादि यथावत् वर्णन किया। ये लोग भीतर से कितने नास्तिक मत के हैं तथा अपनी सोसाइटी के नाम के विरुद्ध होकर ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। ये सब बाते प्रकट कीं।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई की कार्यवाही के रजिस्टर के अनुसार ऋ० द० ने दो दिन पूर्व २६ मार्च रविवार १८८२ को ही फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट हाल में यह व्याख्यान दिया था, ऐया ज्ञात होता है। पं० लेखराम जी ने ऋ० द० के जीवन चरित (हिन्दी सं० पृष्ठ ८७८) में २८ मार्च को ही व्याख्यान देने का उल्लेख किया है। उसे अगले चरित-लेखकों को शोधना चाहिये।

[1] यहां कार्यवाही का अंश ही उद्धृत कर रहे हैं। प्रवचन का स्वरूप इस कार्यवाही के आधार पर बनाना संभव नहीं है।

अठारहवां प्रवचन

वेद (३)

[चैत्र शुक्ल पक्ष ११, गुरुवार, संवत् १९३८[1], ३० मार्च १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे इसी स्थान पर[2] 'वेद' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

[3][स्वामी जी ने फिर से तीसरी बार 'वेद विषय' पर व्याख्यान दिया। यह भाषण इसी विषय (वेद विषय) पर किये गये भाषणों का पूरक रूप में था।]

[सभा साढे सात बजे विसर्जित हुई।]

—:o:—

उन्नीसवां प्रवचन

आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के नियम

[चैत्र शुक्ल पक्ष १४, रविवार, संवत् १९३८[4], २ अप्रेल १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट हाल' में 'आर्यसमाज तथा ब्राह्मसमाज के नियम' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

[5][आर्यसमाज, बाह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज के नियमों को पढ़कर उनकी तुलना करके बताया कि इनके कितने नियम

---

[1] यह गुजराती संवत् है। उत्तर भारतीय सं० १९३९।

[2] 'इसी स्थान पर' का अभिप्राय 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट हाल' से प्रतीत होता है। क्योंकि १६ वें और १८ वें प्रवचन में इसी स्थान का निर्देश है।

[3] पूर्व पृष्ठ ५०५ की टि० १ देखें।

[4] यह गुजराती संवत् है। उत्तर भारतीय संवत् १९३९।

[5] पूर्व पृष्ठ ५०५ की टि० १ देखें।

समान हैं और कितने नियम विरुद्ध हैं। इस बात का लोगों के सन्मुख स्पष्टीकरण किया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के कौन कौन से नियम अयोग्य हानिकारक और इस देशहित में प्रतिकूल हैं, यह बताया।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

बीसवां प्रवचन

देशोन्नति (१)

[ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष ११, रविवार, सं० १९३८[1], २८ मई १८८२ के दिन सायं साढे चार बजे 'एस्प्लेनेड थियेटर' में 'देशोन्नति' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

[इस व्याख्यान में **बाल-विवाह, देशाटन, क्रय-विक्रय में प्रामाणिकता, विद्याभ्यास, सत्यभाषण** इत्यादि बहुत से देशोन्नति के विषयों पर भाषण किया था। उसका सारांश—]

बाल-विवाह करने से विद्यार्थी को जैसा विद्याभ्यास करना चाहिये वैसा नहीं होता, तथा अयोग्य समय में विषयानन्द के तुच्छ व्यसन में पड़कर शरीर का विनाश करते हैं। इससे आगे जाकर वीर्य-हीन, बुद्धि-हीन और बल-हीन होकर शरीर-सामर्थ्य तथा बुद्धि-बल खो देते हैं। ऐसे व्यक्ति जगत् में निरुपयोगी तथा अन्य लोगों के लिये विनाशक सिद्ध होते हैं। इसलिये बाल-विवाह की प्रथा बन्द करके वीर्य परिपक्व होने तक [बालक को] ब्रह्मचर्य-व्रत में रखकर भले प्रकार विद्याभ्यास करवाना चाहिये और उस का शरीर-बल तथा बुद्धि-बल बढ़े, ऐसा उपाय करना चाहिये। इससे पराक्रमी और देशोपयोगी पुरुष बन सकता है। [यह बाल-विवाह के सम्बन्ध में सारांश था।]

---

[1] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

देशाटन के सम्बन्ध में पुराणों के गपोड़ों में ऐसा कहा है कि परदेश में जाने से धर्म बिगड़ता (=नष्ट होता) है। यह बात सर्वथा झूठ है। वेदादि सत्य आर्ष ग्रन्थों में इस विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा है, परन्तु इन ग्रन्थों में इससे उलटा ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारे आर्य लोग और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जैसे पुरुष सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमते थे, और यहां के राजा दूर देश की कन्याओं को [विवाह करके] लाते थे। [इन बातों के कितने ही उदाहरण दिये थे। तत्पश्चात्] देशाटन करने से मनुष्य में शरीर-बल, बुद्धि-बल, साहस और जानकारी बढ़ती है, तथा परदेश की राजनीति, व्यापार और कला-कौशल के कामों को देख वा सीखकर उनका अपने देश में प्रचार करने तथा स्वदेशी लोगों के सुख में वृद्धि करने में उत्साह और आग्रहपूर्वक प्रयत्न करेंगे और उनका स्वदेश में प्रचार करने से स्वदेश की उन्नति (=समृद्धि) होगी। इसलिये देशाटन करने में लोगों के मार्ग में अडंगा लगाना मूर्खता है। इतना ही नहीं, अपने हाथों अपने देश का नाश करना है। इसलिये बुद्धिमान् और धनाढ्य व्यापारी लोगों को इस विषय में एक मत से विचार करके भावी दौर्भाग्य से बचने के लिये अवश्य सोचना चाहिये। शास्त्र के अनुसार परदेश जाने में कोई दोष वा धर्म-हानि नहीं है। [इस प्रकार स्वामी जी ने देशाटन के विषय में कह कर विशेष कहा कि—] परदेश के लोग वेद-वर्णित अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं वह धर्म-विरुद्ध अर्थात् अधर्म है। हम लोगों को ये पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये तथा खाने-पीने में ऐसे लोगों के संसर्ग से दूर रह कर अपने खाने-पीने की विधि सुरक्षित रहे, ऐसी परदेश में व्यवस्था होवे, ऐसा उपाय करना चाहिये। **जब तक इस प्रकार की व्यवस्था बराबर न बने तब तक अपने देश में चली आ रही रीति के अनुसार देह-शुद्धि की प्रायश्चित्त की विधि करनी चाहिये। यहां के लोगों को न चिड़ाना ही बुद्धिमत्ता युक्त है।**[1] अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण न करने के लिये अपने पर वेदोक्त धर्म का मानसिक अंकुश रखना चाहिये।

---

[1] यह कथन को उस समय की परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। सुना है कि इसी दृष्टि से गोपालराव हरि देशमुख ने अपने पुत्र के विदेश से लौटने पर प्रायश्चित्त कराया था।

क्रय-विक्रय के सम्बन्धी व्यवहार में हमारे प्राचीन आर्य लोग प्रामाणिक और न्याययुक्त थे। उस समय देशान्तर में उनकी प्रामाणिकता और प्रतिष्ठा प्रथम श्रेणी की थी। परन्तु आजकल हमारे देश के लोगों ने क्रय-विक्रय के व्यवहार में पूर्वजों की प्रामाणिकता सर्वथा छोड़ दी है और व्यापार में अति झूठ और नाना प्रकार की धोखाधड़ी करते हैं। इससे इन [व्यापारियों] की प्रतिष्ठा स्वदेशी लोगों में भी नहीं रही। लेन-देन में तथा दिये गये वचन पर बाप बेटे वा भाई-भाई का एक दूसरे पर विश्वास नहीं है। इसलिये इन लोगों ने आपस में धन आदि से एक दूसरे की सहायता करना छोड़ दी है। एक दूसरे का बिल्कुल विश्वास नहीं करते। विदेशियों को चाह चाहकर (=प्रेमपूर्वक) लोन (=ऋण) शेर (=शेयर) आदि अनेक बातों में करोड़ों रुपये दे देते हैं; और इस देश में व्यापार के लिये आये हुए विदेशियों को करोड़ों रुपया देकर उनकी कमाई में वृद्धि करते हैं, परन्तु अपने भाइयों को उनका अप्रामाणिक वर्ताव देखकर कोई एक फूटी कोड़ी भी ऋण नहीं देता। इससे देश की समृद्धि नष्ट होती है। हम अपनी आंखों से देखते हैं कि अपने लोग माल देने में अत्यधिक धोखाधड़ी करते हैं। बेचने वाला और खरीदने वाला दोनों माल का वास्तविक मूल्य नहीं जानते हैं। फिर भी एक अधिक और दूसरा कम मूल्य कहकर अपना-अपना समय व्यर्थ के झगड़े में नष्ट करते हैं। और मुफ्त में (=विना पैसा खर्च किये) [अपनी वस्तु पर दूसरे की] झूठी छाप लगाते हैं। साथ ही हमारे कितने ही व्यापारी दिखाते हैं एक वस्तु, और देते हैं दूसरी, तथा जिस माल में कोई मिलावट हो सकती है तो उसमें मिलावट करके देते हैं और कितने ही [व्यापारी] माप (=गज=मीटर तथा सेर=किलोग्राम आदि) भी झूठा व्यवहार में लाते हैं। तथा कितने ही बड़े व्यापारी तो अपना घर धनादि से भरकर दिवाला निकाल वा निकलवा कर दूसरों को जान बूझ कर रुलाते हैं और इसमें अपनी होशियारी समझते हैं। परन्तु ऐसा विचार नहीं करते कि इसमें अपनी और अपने वंशजों की भविष्य के लिये प्रतिष्ठा नष्ट होती है। और दुनिया में उस का विश्वास उठ जाने से आगे चलकर व्यापार के लिये कोई एक दूसरे को एक कोड़ी भी उधार नहीं देंगे। इससे अपने वंशजों की भविष्य में दुर्दशा

होगी और वे अत्यन्त दुःखी होंगे। ये लोग साधारण बुद्धि से भी नहीं देखते कि इस प्रकार के धिक्कार योग्य वर्त्ताव करने से कचहरी दरबार में अनेक प्रकार के झगड़े खड़े होते हैं और उसमें लाखों रुपया धूलधाणी (=नष्ट) हो जाता है। तथा उससे चतुर लोग सहज में लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कचहरी में जानेवाले लोग अन्त में अत्यन्त खस्ताहाल (=निर्धन) होकर पछताते हैं। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि क्रय-विक्रय मं जो झूठ और धोखाधड़ी चालाकी करते हो तथा विना कारण भाई-भाई की मूर्खता के कारण कचहरो दरबार में लड़ते हो उस सब को छोड़कर अपनी प्रामाणिकता का पालन करते हुए सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रय करो और आपस में विश्वास बढ़ाओ। एक दूसरे की सहायता करके अपनी एक दूसरे की समृद्धि बढ़ाओ और देश देशान्तर में अपनी साख जमाओ।

विद्याभ्यास—पारमार्थिक ईश्वर सम्बन्धी और व्यावहारिक पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान जिससे प्राप्त होवे उसी का नाम विद्या है। इससे पढ़ना-पढ़ाना तथा लोगों की उन्नति करना ही मानव धर्म है। इसका प्रत्येक मनुष्य आदर करे यही उसका पुरुषार्थ है। उस विद्या को हमें वस्तुतः प्राप्त करना होवे तो वेदादि आर्ष ग्रन्थों का, जिनका महान् ऋषि-मुनि आदर करते आये हैं उन ग्रन्थों का अच्छे प्रकार (=प्रयत्न-पूर्वक) अभ्यास करो। उनमें सत्य क्या है? ईश्वर कौन और कैसा है? उसको मनुष्य के प्रति क्या आज्ञा है? मनुष्य के कर्त्तव्य और उसके करने योग्य धर्म क्या है? इन सब वातों को पहले जान लेना चाहिये। इसो के साथ व्यावहारिक, राजकोय तथा पदार्थविद्या का उत्तमता पूर्वक ज्ञान सम्पादन करो **तथा भूगोल भर के परदेशी लोगों के तथा उनकी भाषा के ग्रन्थों में जो कुछ उत्तम ज्ञान मिले उसे भो प्राप्त करना चाहिये और उन की भाषा भी सीखनी पड़े तो निःसंकोच सीखनी चाहिये। और जो सत्य हो उसे सब में से ग्रहण करना और कराना चाहिये**। इसी का नाम विद्याभ्यास है। बाकी परदेशी भाषा को सीख कर उन लोगों के दुराचरण ग्रहण करना, अपनी भाषा में जो तत्त्वज्ञान है उसकी ओर से आंख मूंद लेना, उस पर विचार करके सत्य क्या है, इस विषय में मौन धारण करना (उपेक्षा करना) और थोड़ी विद्या पढ़ के दुराग्रह धारण करके सर्वज्ञ

को भाँति होकर होटलपन्थी[1] हो जाना, यह कोई विद्याभ्यास नहीं कहाता। जिससे अपना और जगत् का कल्याण न होवे उसे अविद्या (अंधकार) का प्रकाश कहना चाहिये। इस प्रकार का पढ़ा लिखा बाहर से शुद्ध, बोलचाल में मीठा, विनम्रता दिखाने में चतुर, थोड़ी विद्या से सन्तुष्ट मानकर सर्वज्ञता का अभिमान रखने वाला दुराग्रही और मन का मैला, पक्का स्वार्थी होता है। ऐसे व्यवहार के द्वारा प्राप्त किये धन से अत्यन्त मदोन्मत्त होकर विषयानन्द के भोगने में डूबा रहता है और वह अपने देशवासी भाई लोगों की स्थिति के विषय में कुछ भी परवाह नहीं रखता है। ईश्वर-सम्बन्धी कोई भय उसके मन में नहीं होता है। वह प्रत्येक विषय में आगे होकर देशी भाई जिससे दुःखी होवें और उनमें फूट पड़े, ऐसा रास्ता अपनाता है तथा उनमें क्लेश बढ़े, ऐसा सोचता है। उससे उलटी [उन्हीं] लोगों की दुर्दशा होती है। इसलिये जो अपने देश की अर्थात् देशी भाइयों की कुछ भी परवाह होये तो वेदादि आर्ष ग्रन्थों का अभ्यास करके पूर्व आर्य लोगों के समान उत्तम गुण और उत्तम ज्ञान को अभिमान और दुराग्रह छोड़कर ग्रहण करना चाहिये। यही हमारा मुख्य आर्य धर्म है।

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई]

—:o:—

---

[1] जैसे होटल में खाने वाले घर में बनाये सुस्वादु भोजन को छोड़ कर होटल के भोजन को ही अच्छा समझते हैं, उसी प्रकार अपनी भाषा वा उसके ग्रन्थों में निहित तत्त्व-ज्ञान की उपेक्षा करके परदेशी लोगों की भाषा वा उसके ग्रन्थों की प्रशंसा करना जिन का स्वभाव बन गया है, उनको यहां होटलपन्थी कहा है।

इक्कीसवां प्रवचन

देशोन्नति (२)

[ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष[1] २, शनिवार, संवत् १९३८[2], ३ जून १८८२ के दिन सायं साढ़े चार बजे 'गइटी थिएटर' में 'देशोन्नति'[3] विषय पर व्याख्यान हुआ ।]

[4][इस अवसर पर स्वामी जी ने अहिंसादि देशोन्नति विषय पर पहले भाषण का पूरकरूप में अत्यन्त ज्ञानवर्धक भाषण किया। इस भाषण का सार उपर्युक्त भाषण से बहुत-कुछ मिलता जुलता था। इसलिये उसका वृत्तान्त देने की आवश्यकता नहीं है ।[5]]

[सभा आठ बजे विसर्जित हुई ।]

—:o:—

---

१. उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार आषाढ़ कृष्णा २ ।

२. उत्तर भारतीय सं० १९३९ । मूल कार्यवाही में देशी तिथि नहीं दी है । वहां केवल अंग्रेजी तारीख लिखी है । हमने पूर्व की भांति पुराने पंचांग के आधार पर यह तिथि दी है ।

३. कार्यवाही में 'अहिंसादि देशोन्नति' विषय लिखा है । परन्तु आगे ही इस भाषण को पूर्व भाषण का पूरक कहा है । अतः हमने केवल 'देशोन्नति' पद ही रखा है ।

४. यह कार्यवाही का ही अंश है ।

५. यदि कार्यवाही लेखक इस भाषण की कार्यवाही को लिखने की उपेक्षा न करता तो बहुत लाभ होता ।

बाईसवां प्रवचन

मूर्ति-मन्त्र-देव-ऋषि-पितृ-उपासना आदि कर्त्तव्याकर्त्तव्य

[ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष[1] ११, रविवार, सं० १९३८[2], ता० ११ जून १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटयूट हाल' में "मूर्ति-मन्त्र-देव-ऋषि-पितृ-उपासना आदि कर्त्तव्याकर्त्तव्य" विषय पर व्याख्यान हुआ।]

मूर्ति-पूजन—यह वेद विरुद्ध [कर्म] जैन लोगों से आया है। इसमें कोई भी सार्थकता नहीं है। [ऐसा वेदादि आर्ष ग्रन्थों से सिद्ध करके कहा—] यह मूर्ति पूजा बच्चों के खेल के समान है। इससे ईश्वरादि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का कल्याण कारक ज्ञान कुछ भी नहीं होता। परन्तु उसके मोह में [पड़कर] और वह (मूर्ति-पूजन) कल्याण करेगा, इस भरोसे से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पदार्थों की सिद्धि के लिये जो ज्ञान पठन-पाठनादि कर्म के द्वारा सम्पादन करने योग्य है, उसे नहीं करते। आर्य लोगों में राम कृष्ण आदि समर्थ महात्मा पुरुष हो गये हैं जिनके गुणों का आचरण और पराक्रम का स्मरण करके अपने अन्दर ग्रहण करना चाहिये उसे न करके उन्हें ईश्वर का अवतार मान वा मनवा कर उनकी मूर्ति बना वा बनवाकर पूजते और पुजवाते हैं, और उनके नाम पर बड़े बड़े आचार्य बनकर देश के अज्ञानी भोले लोगों को धर्म के बहाने फंसाते हैं। अन्य साधु सन्त का स्वांग रचकर राम कृष्ण आदि महात्मा पुरुषों की मूर्तियां बनाकर उन्हें रास्ते की धूल और धूप छांव में बिठाकर उनके नाम से भीख मांग कर अपना पापी पेट भरते हैं और राम कृष्ण सरीखे महात्माओं तथा चक्रवर्त्ती राजाओं को जगत् में भिखारी ठहराते (=सिद्ध करते) हैं। यदि इस समय उनका राज्य होता तो इस प्रकार के ढोंगियों की कैसी दुर्दशा होती,

---

[1] उत्तर भारतीय पञ्चाङ्गानुसार आषाढ़ कृष्णा १२।

[2] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

इसका विचार सुज्ञ (=ज्ञानी) लोग सहज में कर सकते हैं। जो परमेश्वर सर्वव्यापक है और सब की पूर्ति करने हारा है, उसको तथा जो पुरुष सद्गुण और पराक्रम से चक्रवर्त्ती राजा माने जाते हैं उनकी मूर्ति बनाकर बालाजी और ठाकुरजी को 'आज बालभोग नहीं है' ऐसा कहकर अपना पेट भरने के लिये हरामखोरी करके भीख मांगना और दूसरे सद्गृहस्थों के द्वारा भीख देना, यह लज्जायुक्त नहीं है ? और समझदार देशी परदेशी लोगों में हास्य और तिरस्कार उत्पन्न करे, ऐसा नहीं है ? जो लोग अपने उत्पन्न करनेहारे और पोषण करनेहारे [परमात्मा] को भूखे मरते भिखारी जैसा प्रकट करते हैं, क्या वे मनुष्य नाम के लायक हैं ? जिस परमेश्वर ने अपनी महान् अद्भुत शक्ति से सूर्य चन्द्रादि अनेक लोक लोकान्तर बनाये, उसकी कल्पना पाषाणादि मनुष्यकृत मूर्ति में करना क्या यह बुद्धिमान् का काम है ? और क्या इससे ईश्वर की भक्ति तथा ईश्वरोपासना हो सकती है ? [इत्यादि मूर्तिपूजा के विषय में बहुत कुछ वर्णन किया।]

मन्त्र का अर्थ सद्विचार-दर्शक संक्षिप्त वचन है। इसी के आधार पर राजा के प्रधान आदि (=प्रमुख अधिकारियों) को 'मन्त्री' संज्ञा प्राप्त होती है। मन्त्र अर्थात् सद्विचार-दर्शक व्यक्ति। इस प्रकार मन्त्र और मन्त्री शब्द का मूल अर्थ है। इस को मतलबी (=स्वार्थी) लोगों ने मारण मोहन उच्चाटन की सिद्धता के साथ जोड़कर कितने ही मतलब सिन्धु[1] (=स्वार्थ साधक) वाक्य रचकर उन्हें मन्त्र नाम देकर उनसे लोक-ठगाई का व्यापार चलाया है। परन्तु उनसे यह कोई नहीं पूछता कि तुम्हारे पास मारण-मन्त्र है तो जीवन-मन्त्र क्यों नहीं है ? ईश्वर या कोई दूसरा तुम्हारा देव तुम्हारे मन्त्र से दूसरे का घात करने की शक्ति रखता है उसी प्रकार किसी को जीवित करवाने की शक्ति नहीं रखता ? क्या ये देवता खूनी (हत्यारे) ही हैं ? और तुम्हारी आज्ञा में रहकर काम करते हैं ? क्या उनमें तुम्हारी जितनी बुद्धि भी नहीं है, जो तुम्हारा इस

---

१. 'मतलब सिन्धु' इस शब्द का प्रयोग ऋ० द० ने पूना प्रवचन में अनेक बार किया है। इस शब्द का प्रयोग सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं०) में भी पृष्ठ ३२८, पं० १३ आदि में भी मिलता है।

प्रकार का दुष्ट-दासत्व भी करते हैं ? लोगों को यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर के ज्ञान-सम्बन्ध में ऐसी बाते उचित हैं और वे शोभा देती हैं। और **यदि इस प्रकार होवे तो ये लोग इस देश को परतन्त्र कैसे होने वा रहने** देते ? इसलिये बुद्धिमान् लोगों को इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिये और मन्त्र-सिद्धि इस प्रकार की गप्पाष्टक की बात कभी नहीं माननी चाहिये। परन्तु चारों वेदों के मन्त्र जो सद्विचार और सद्विद्या से युक्त हैं उनका मनन करना चाहिये और उनसे जो ज्ञान प्राप्त होवे उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को आचरण करना चाहिये। **यही मन्त्र सिद्धि है।** इसके अतिरिक्त दूसरी किसी भी प्रकार की मन्त्र-सिद्धि इस जगत् में नहीं है। इस प्रकार निश्चय पूर्वक जानना चाहिये। [इस प्रकार 'मन्त्र' के विषय में व्याख्यान किया।]

देव-ऋषि-पितृ और **उपासना** आदि शब्दों का सत्य अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये। **देव** अर्थात् दिव्य गुणवाला अपना कल्याण करने वाला। **ऋषि** अर्थात् पठन-पाठन कर्म करके ग्रन्थों की रचना करके विद्या का प्रकाश करनेवाला। तथा **पितृ** अर्थात् माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार प्रत्यक्ष देव तथा दूसरे जो बड़े लोग, महान् विद्वान्, वृद्ध पुरुष जीवित होवें उनको पितृ (पितर) जानना चाहिये और उनके जीवित रहते हुए श्रद्धा से तृप्ति करनी इसका नाम पितृ श्राद्ध तर्पण जानना चाहिये दूसरा नहीं। मरने के पश्चात् उनकी श्रद्धा से तृप्ति किसी के द्वारा नहीं हो सकती। मृत्यु के पश्चात् उसके पीछे [उनके निमित्त] जो ढोंग करना है वह सर्वथा असत्य (विपरीत) और धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।

[सभा साढे सात बजे विसर्जित हुई।]

—:०:—

तेईसवां प्रवचन

[पूर्व विषय का शेष]

[ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष १३,[1] भौमवार, संवत् १९३८[2], १३ जून १८८३ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट हाल' में 'गत व्याख्यान में शेष रहे' विषय[3] पर व्याख्यान हुआ।]

[इस दिन पिछले विषय पर शेष रहा हुआ विशेष व्याख्यान किया।]

[सभा साढ़े सात बजे विसर्जित हुई]

—:o:—

चौबीसवां प्रवचन

योग-विद्या

[आषाढ शुक्ल पक्ष २, शनिवार, सं० १९३८[4], १७ जून १८८२ के दिन सायं साढ़े पांच बजे 'फ्रामजी कावशजी इंस्टीटच्यूट' में 'योग-विद्या' विषय पर व्याख्यान हुआ।]

योग अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध। बुरा काम कराने वाली रजो [गुणवाली और] तमोगुणवाली वृत्ति को रोककर चित्त की

---

[1] उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार आषाढ़ कृष्णा १३।

[2] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

[3] पूर्व व्याख्यान के जो विषय उद्घोषित किये थे; उनमें से 'उपासना' विषय शेष रहा था। उपासना जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का सार संकलित नहीं किया गया यह बड़े दौर्भाग्य का विषय है।

[4] उत्तर भारतीय सं० १९३९।

वृत्ति को शुद्ध सत्त्वगुणवाली वृत्ति में प्रेरित करना, यह योग कहाता है। योग आत्मा के साथ और आत्मा परमेश्वर के साथ सम्बन्ध रखता है। वियोग-पूर्वक योग होता है । स्वयम्भू (=परमेश्वर) सर्वव्यापक है। उसका योग और वियोग कुछ नहीं होता। मन इन्द्रिय तथा आत्मा का विचार जो मनुष्य नहीं करता वह अयोगी रहता है। उसे भीतर की कोई समझ (=ज्ञान) नहीं होती। तथा इन्द्रियों के साथ मन, और मन के साथ आत्मा बहिर्मुख हो जाती है (जैसे नशे में)[1]। ध्यान से प्रत्येक पदार्थ को जानता है और अपने स्वरूप को बराबर पहचानता है।[2] [जो] आवृत्त-चक्षु होकर अर्थात् इन्द्रियों को अन्दर खींचकर मनन करे, उसे योग का ज्ञान होता है। तथा जिस पदार्थ (कारण) से जगत् बना है, उसके साथ आत्मा का योग होता है और उसके साथ सर्व कार्य रूप जगत् का भी ज्ञान होता है। कोई ऐसी शंका करे कि मन, इन्द्रिय तथा आत्मा को रोक कर एकान्त में बैठा रहे तो उससे मनुष्य मूढ़ बन जायगा । यह शंका असत्य है। किसी वस्तु को आप एक स्थान पर रोकोगे तो वह जल के समान दूसरी ओर फैलेगी। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जानना चाहिये। स्थूल जगत् में से मन की वृत्ति को हटाओगे तो मन की वृत्ति दूसरे स्थान पर लग जायेगी और भीतर का ज्ञान होगा। मनुष्य दिन-रात काम-काज करे और रात में निद्रा न ले तो उससे उस [मनुष्य] का शरीर और मन का कितना बिगाड़ होता है । इसी से विचारना चाहिये कि एकान्त में बैठने से कितना लाभ होता है। कोई वस्तु [या बात] यदि हम भूल गये हों तो उसे स्मरण करने के लिये मन की वृत्ति को स्थिर करना पड़ता है।

[शरीर के] भीतर के पदार्थ बहुत महान् और गुह्य हैं और इस स्थूल जगत् में जो गुण और चमत्कार देखने में आते हैं उससे करोड़ों गुने गुण और चमत्कार भीतर विद्यमान हैं। बाहर के चम-

---

१. इस भाषण में कुछ पद ( ) कोष्ठक में लिखे हुए हैं। वे मूल कापी में ही ( ) कोष्ठक में हैं।

३. यहां लिखने में पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया है। जब इन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं तब आत्मा बाह्य पदार्थों को देखती हैं और शरीर को ही अपना स्वरूप समझती हैं।

त्कार इन्द्रियों से ग्रहण करे जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य स्थिर (=एकाग्र) होकर शोध (=खोज) करे उससे बहुत अधिक चमत्कार भीतर के उसे दीखने में आयेंगे। इस प्रकार भीतर के चमत्कारों का कारण यह है कि योग में विभु पदार्थों के साथ आत्मा का संयोग होता है। उससे दुर्लभ ज्ञान होता है। दृश्य पदार्थों से मन को हटाने से मन अदृश्य स्वरूप को विषय बनाता है। जिसने कभी विचार नहीं किया है उसको भन आत्मा तथा भीतर का कुछ भी आभास ही नहीं होता। जिस समय आत्मा घबराहट में होता है उस समय कोई भी विचार का काम मनुष्य से नहीं होता। मनुष्य का सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार भीतर की व्यवस्था के कारण है। ध्यान में विचार करने से मनुष्य की वृत्ति परमेश्वर के साथ जुड़ी रहती है। तब इस प्रकार का ध्यानी पुरुष बाह्य वृत्ति में कैसे रहेगा। ऐसा पुरुष बाह्य व्यवहार और योग इन दोनों में ही शुद्ध रहेगा। मनुष्य पूरे दिन [=दिन रात] काम काज करता रहे[1] और सायं काल दो घड़ी भी समाधि (सन्ध्योपासन) नहीं करे उसकी शक्ति घटेगी, परन्तु जो व्यावहार के साथ योग करेगा उसकी शक्ति बहुत बढ़ेगी।

इस संसार में पांच प्रकार की वृत्ति चल रही है—(१) **प्रमाण** जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। (२) **विपर्यय ज्ञान** अर्थात् मिथ्याज्ञान। (३) **विकल्प वृत्ति** अर्थात् विद्या सत्संग के विना जैसा शब्द सुनें वैसा ज्ञान। जैसे एक ऐसा देखा कि उसमें मनुष्य शिर से चलता है और पैर से खाता है। (४) **निद्रा की वृत्ति**। (५) **स्मृति** अर्थात् अनुभव किये गये विषय का स्मरण करना। रजो [गुणवाली और] तमोगुणवाली वृत्ति क्लेशयुक्त और सात्त्विक गुणवाली क्लेश रहित होती है। संसार की इन पांच वृत्तियों को रोकने के दो उपाय हैं—(१) योगाभ्यास तथा (२) वैराग्य। अभ्यास अर्थात् जिससे मन इन्द्रिय तथा आत्मा स्थिर होवे, उसमें प्रयत्न करना। मन तथा आत्मा देखे जाने वाले पदार्थों को जानने का अभ्यास नित्य (=

---

[1] मूल पाठ 'मनुष्य आखो दिवस रटण करे' है। 'रटण' का अर्थ नामादि का रटना है। यह इस प्रसंग में सम्बद्ध नहीं होता। उत्तर वाक्य में 'व्यवहार के साथ योग करने वाले की शक्ति बढ़ने' का निर्देश होने से यहां भी 'दिन रात काम काज में लगा रहे' युक्ति संगत प्रतीत होता है।

(=प्रतिदिन) तथा बहुत लम्बे काल तक करना चाहिये। मन को वश में करना मानो समस्त संसार को वश में करने के बराबर है। **मन को वश में करना अर्थात् अभ्यास करने योग्य विषय से उसे बाहर नहीं जाने देना तथा समस्त बाह्य व्यवहार को स्थिर [होकर] करना।**

योगाभ्यास के लिये हजारों उपाय कहे हैं, उनमें प्राणापान अथवा श्वासोच्छ्वास लेना श्रेष्ठ है। श्वासोच्छ्वास (=भीतर प्राण खेंचना श्वास तथा बाहर निकालना प्रश्वास)। लोग कहते हैं कि [प्राण को] रोकने से मृत्यु होती है तथा बिगाड़ होता है। परन्तु अभ्यास से ऐसा नहीं होता। आत्मा को इस वायु का स्पर्श होने से यथावत् ज्ञान नहीं होता है। वायु को रोकने से आत्मा के ज्ञान की ज्योति बराबर प्रस्फुटित होती है। आजकल तो योगाभ्यास में बहुत बिगाड़ (=विकृति) आ गई है। प्राण को भिन्न रीति से रोकते हैं। योगी होने के लिये सकड़े मुंह की वायु बन्द हुई गुफा में जाकर बैठना चाहिये। ऐसा लोगों में विचार फैला हुआ है। परन्तु ऐसा करने से तो मनुष्य बिलकुल रोगी हो जायगा। अतः जिस स्थान पर बाहर के और भीतर के वायु का योग (=सम्बन्ध) होवे ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करना चाहिये। आजकल के प्रसिद्ध योगी जो मुख से कपड़ा पेट में उतार कर पुनः बाहर निकालते हैं, वह एक प्रकार का जुलाब [=पेट की शुद्धि] है।[1] तथा शरीर की हड्डियां टूट जायें इस प्रकार के महाकष्ट-दायक आसन करते हैं। यह एक प्रकार नट-क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। **आसन तो ऐसा होना चाहिये जिस से मन स्थिर होकर [अपने आप में] स्थिर होवे।**[2] योग का तो आत्मा तथा मन के साथ संबन्ध होता है, शरीर के साथ नहीं होता है।

जो मनुष्य क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ़ है वह कभी योग नहीं कर सकता। **योगी का सच्चा लक्षण और स्वरूप यह है कि वह प्रपञ्ची न होता है। बुरे काम से उसकी आत्मा दूर हो जाती है। भीतर और बाहर पवित्रता, आहार शुद्ध होता है, मद्य मांस का सेवन नहीं**

---

[1] द्र०—पूना-प्रवचन, पृष्ठ ३९७।

[2] द्र०—पूना-प्रवचन, पृष्ठ ३९६॥

करता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान=आत्मा को ईश्वर की आज्ञानुकूल बनाना। **विशोकवृत्ति**—शोक रहित वृत्ति और **प्रत्याहार**—इन्द्रिय का मन के साथ एकाकार होना। ऐसे लक्षणों के बिना पुरुष में योग का लेश भी नहीं होता। विशेष करके उनमें ये पांच लक्षण होने चाहियें—**अहिंसा, सत्य, अस्तेय** (चोरी न करना), **उपस्थेन्द्रिय-निग्रह** (ब्रह्मचर्य) और **अपरिग्रह**। योग के आठ अंग अष्टाङ्ग कहलाते हैं। उनमें **यम, नियम, आसन, प्राणायाम** और **प्रत्याहार** ये पांच बाह्य अंग तथा **धारणा, ध्यान** और **समाधि** ये तीन भीतर के अंग कहलाते हैं। इनमें आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग होता है। योगी परमेश्वर से वियुक्त नहीं होता। उसी के साथ करना योगी का मुख्य काम है। योग में होने वाले विघ्न—व्याधि, स्त्यान, चित्तमलिनता, संशय, प्रमाद, आलस्य, भ्रान्ति, अलब्धभूमिकत्व (बीच में छोड़ देना) और अनवस्थितत्व हैं। इन विघ्नों से योग फलीभूत (=सफल) नहीं होता। मन के शुद्ध करने के लिये चार प्रकार की भावना होनी चाहिये—सुखी जनों के साथ **मित्रता**, दुःखी जनों के साथ **करुणा**, पुण्यात्मा के साथ **हर्ष** और दुष्ट के साथ **उपेक्षा** (प्रीति अप्रीति कुछ नहीं)।

[इसके आगे मूल गुजराती भाषा में लिखी गई कार्यवाही की संचिका में एक पृष्ठ खाली छोड़ा हुआ है। प्रतीत होता है सारांश लेखक भाषण का शेष भाग भी लिखना चाहता था, परन्तु किसी कारणवश नहीं लिख सका। इससे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण अधूरा हो रह गया। सम्पा०]

आर्यसमाज, काकड़वाड़ी, बम्बई में सुरक्षित कार्यवाही संचिका से
युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा
संगृहीत और गुजराती से अनूदित
बम्बई-प्रवचन पूर्ण हुआ ॥

—:o:—

ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन

में

उद्धृत वचनों की सूची[1]

अकालमृत्युहरणं सर्व० ४२८, १४ ।
अक्रोधात् सुप्रसादात् ४१८,२२ ।
अग्निमीळे पुरोहितम् ६४,३ ।
अग्निर्देवता ६३,८ । ६४,१ ।
अग्निर्वा अश्वः ३४६,२ ।
अग्निर्वै अश्वः ३७८,९ । ४२६,१० ।
अग्निर्वै वज्रः ३७८,९ ।
अग्निवायुरविभ्यस्तु २३०,३० । ३१२,१४ ।
अग्निहोत्रं जुहोति २२२,२ ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् ३९,२४ ।
अजाह्वै ब्राह्मणानीतिहासान् २३४,६ ।
अज्ञो भवति वै बालः ४१८,६ ।
अतिथिदेवो भव २९५,७ ।
अथ स यदा पितॄनावाहयति ५३,२० ।
अथातोऽद्भुतशान्तिम् ३२,५ ।
अथातो धर्मजिज्ञासा २९१,१५ ।
अदत्तानामुपादानं हिंसा २८३,१७ ।
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः ६४,९ ।
अनन्ता वै वेदाः ३०३,१८ ।
अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता ३६७,१४ ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् ४१९,१९ ।

---

[1] इस सूची में प्रथम अङ्क से पृष्ठ संख्या और द्वितीय अङ्क से पंक्ति संख्या जाननी चाहिये ।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु २८१,४ ।
अनुष्यायनेद्ध देवान् ४१८,२४ ।
अन्यक्षेत्रे कृतं पापम् ६६,४ ।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता ३०४,१४ ।
अपि यत् सुकरं कर्म ३८६,१० ।
अभावं बादरिराहैवम् ४२३,१६ ।
अर्थकामेष्वसक्तानाम् ३८०,४ ।
अर्थस्य पुरुषो दासः ४११,२६ ।
अर्श से ले फर्श तक जिसका १४४,१८ ।
अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणो० ५७,१६ ।
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ४१४,१ ।
अविभागेन दृष्टत्वात् ४२३,१७ ।
अविमुक्ते कृतं पापम् ६५,७ ।
अशोकवनिकान्याय ३१३,१६ ।
अष्टमेऽहनि इतिहासपाठः २३६,२४ ।
अष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु २३७,३ ।
अष्टवर्षा भवेद् गौरी २८६,१८ ।
अष्टादशपुराणानां कर्त्ता ४२८,१७ ।
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ३६३,१ ।
असुर्या नाम ते लोकाः ६४,२५ ।
अहं ब्रह्मास्मि २७३,८ । ४८६,६ ।
अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ३१७,४ ।
अहिंसा परमो धर्मः २७६,७ ।
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य० २७६,१५ ।
आकाशस्तल्लिङ्गात् ३५८,१ ।
आग्रहेणारम्भं कुर्याच्छेषम् ३६५,१६ ।
आचार्यदेवो भव २६५,७ ।
आज्यं मेधः ३४६,२ ।
आत्मा प्रकरणात् ४२३,१७ ।
आत्मैव देवताः सर्वाः ६३,११ ।
आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत ३.।१६ ।
आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः २६७,१२ । ३७०,१३ ।

आवृत्तानां गुरुकुलाद् ३८७,१४ ।
इतिहासः पुराणः पञ्चमो० ४०,१४ ।
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम् ३१४,१३ ।
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इह ४२८,२३ ।
इमामिन्द्र त्वमीढ्वः ४०७,१२ ।
ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत् २७२,८ ।
ईश्वरासिद्धेः २६८,११ ।
उदीर्ष्व नारि ४०७,५ ।
उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति ३६,५ ।
उद्यन्तमस्तं यान्तम् ४२०,९ ।
उपासते ये गृहस्थाः ३६६,१८ ।
उभयतः पाशा रज्जुः ३५९,१४ ।
उभयथाप्यसत्करत्वम् २६८,१३ ।
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् ३५७,१० ।
ऋषिकालाङ्कचन्द्रेऽब्दे १०४,१२ ।
एकमेवाद्वितीयम् २७१,१९ ।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ४२२,७ ।
एकशतमध्वर्यु शाखाः २३१,३ ।
एका च मे तिस्रश्च मे ३०८,१९ ।
एको देवो निर्गुणश्च २७५,१३ ।
एको विष्णुः ४२२,७ ।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् २८२,२१ ।
एतमग्निं वदन्त्येके ६३,१५ । ३१५,१ ।
एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् ३७,१७ ।
एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणि० ६५,२७ ।
एते मनूंस्तु सप्तान्यन्यान् ३६८,१३ ।
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते ४१४,९ ।
एषोऽनुपरक्तः प्रोक्तः ३८७,११ ।
ओं खं ब्रह्म ३५८,२ ।
ओं तत्सत् श्री ब्रह्मणो० ८८,१ ।
ओ३म् खं ब्रह्म ३२०,७ ।

कलिः शयानो भवति १००,२२ ।
कस्मै देवाय हविषा विधेम ४२२,६ ।
काममारणात्तिष्ठेद् गृहे २८७,६ ।
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः ३७५,१ ।
काश्यां मरणान्मुक्तिः ६५,१० ।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिः ४२८,१३ ।
कुत्सिते ६५,४ ।
कुह स्विद् दोषा कुह वस्तो० ४०६,१० ।
कृत्वा पापं हि सन्तप्य ३३४,५ ।
गरीयान् ब्रह्मदः पिता ३०१,४ ।
गोमयाज्जायते वृश्चिकः २७१,१२ ।
घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा २५८,१७ ।
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ६९,१७ ।
चितितन्मात्रेण तदात्म० ४२३,१८ ।
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः २९,१। २२०,१९ ।
जनतायै यज्ञो भवति ३३८,१५ ।
जब पैगम्बर ने कहा हो १४४,२० ।
जालान्तर्गते भानौ ३६०,६ ।
जोजन एक मूंछ रहि ठाढ़ी २८२,९ ।
टका धर्मष्टका कर्म टकाहि ३१६,८ ।
तज्जपस्तदर्थभावनम् ६८,२४ ।
ततो मनुष्या अजायन्त ३२९,५ ।
ततो रात्र्यजायत ३६१,२२ ।
तत्त्वमसि २७३,१३ । ४८९,६ ।
तत्रध्यानजं ज्ञानं निरामयम् ३९६,४ ।
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ६९,१ । ३०२,११ ।
तत् सृष्टिं प्राविशत् २७४,५ ।
तथा क्षरात् सोम्येमाः प्रजाः ३२९,१२ ।
तदन्तर्यामी त्वमसि २७३,१८
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ६९,२९।३९५,१५
तदेवाग्निस्तदादित्यः ३१४,१० ।
तदेवार्थमात्रनिर्भासम् ६९,१० ।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् ३६०,१७ ।
तदैक्षत तदपोऽसृजत् ३६०,१९ ।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ३५६,२० ।
तपसोऽध्यजायत ३६१,११ ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ४२०,२४ ।
तस्माच्च देवा बहुधा प्रसूता: ३६१,१९ ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यम् ३३७,१५ ।
तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ४२०,८ ।
तस्माद् यत्राग्निं मन्थिष्यन् भवति ३७८,१० ।
तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: ३२९,१ । ३५७,१६ ।
तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य ६९,२ ।
तस्य वाचक: प्रणव: ६८,२७ ।
तुलामानं प्रतिमानम् ५९,१७
तेन पितृलोकेन महीयते ५३,२८ ।
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य ४८६,१४ ।
तै: सार्धं चिन्तयेन्नित्यम् ३८६,१२ ।
त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य: ६९,१४ ।
त्रयमेकत्र संयम: ३९७,२४ ।
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो० ४२६,३ ।
त्रातारमिन्द्रम् ३१,६।३४४,१० ।
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षीत गृहे २८७,२ ।
दयाया आनन्दो विलसति ७०,१० ।
दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराण० ४२,१७ ।
दृते दृꣳह मा मित्रस्य ३०३,६ ।
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम् २९०,८ ।
देवतायतनानि कम्पन्ते ३१,९ ।
देवनद्योर्यदन्तरम् ३७०,८ ।
देवर: कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ४०७;४ ।
देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया ४०८,१ ।
देवा एतं वज्रं ददृशु: ३७८,९ ।
देशबन्धचित्तस्य धारणा ६८,१७ ।
द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्ति: ३३६,६ ।

धावतः स्खलनं न दोषाय भवति ३६६,५ ।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम् ३०,८।२२१,५।२७९,८ ।
ध्यानं निर्विषयं मनः ३०२,१० ।
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ६९,१८ ।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते २६६,११ ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति ४२१,२८ ।
न तेन वृद्धो भवति ४१८,३ ।
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो २६५,१० ।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि ३०८,३ ।
न म्लेच्छितवै नापभाषितवै २३०,३ ।
न वदेद् यावनीं भाषाम् ४१०,१४।४२८,१ ।
न वयं षट्पदार्थवादिनो ३९८,७ ।
न सत आत्महानम् ८५,३ ।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन ४१८,४ ।
नाच न जाने आंगन टेढ़ा १८५,२१
नाना वस्तु ब्रह्मणि २७२,२० ।
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ६९,१८ ।
नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ६८,१८ ।
नालिङ्गिता प्रेमभरेण नारी ३९९,५ ।
नासत आत्मलाभः ८५,३ ।
नासदासीन्नो सदासीत् ३५५,१ ।
नासिकाग्रे धारयतः ५१,१७। ६२,१२ ।
निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् ४४२,३ ।
नित्यं शुद्धः कारुहस्तः ४०१,२० ।
निद्राज्ञानालम्बनं वा ६८,१३ ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ३७४,१४ ।
निषेकादीनि कर्माणि ३४९,१३ ।
पञ्चक्रोश्यां कृतं पापम् ६५,६ ।
पञ्चविंशे ततो पुरुषे २८८,३ ।
पठितव्यं तदपि मर्तव्यम् ४२९,२५ ।
पतिसेवा गुरौ वास गृहार्थो० २८५,६ ।
पतिसेवैव गुरौ वासः २८५,१६ ।

पदे विप्रस्य दक्षिणे ४१३,१७ ।
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ३००,१ ।
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसा २८३,१३ ।
परान्नं दुर्लभं लोके २८९,५ ।
पश्यकः सर्वदृक् परमात्मा ३१६,३ ।
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यम् २८३,१५ ।
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् ४१९,९ ।
पितृदेवो भव २९५,६ ।
पितृभिर्भ्रा० ३३७,८ ।
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः २९५,१२ ।
पित्र्यं वा लभते शीलम् ३६७,१६ ।
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा २९७,१९ ।
पीत्वा पीत्वा ब्रह्मापि मृतः २८९,७ ।
पूजितो गुरुः ३३७,१० ।
पूजितोऽतिथिः ३३७,१० ।
पूर्णत्वात् पुरिशयनाद् वा पुरुषः २९९,८ ।
प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः ३५६,११ ।
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ३९७,१४ ।
प्रज्ञानं ब्रह्म २७४,१ ।
प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म २७४,३ ।
प्राणा इहागच्छन्तु इह ४२८,२२ ।
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा ४२९,२६ ।
प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् ५२,९ ।
प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन० ३९२,१० ।
प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः २७९,३।४३०,२० ।
प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेया० ३०७,२० ।
प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति० ६५,११ ।
प्रशासितारं सर्वेषाम् ६३,१३।३१४,१८ ।
प्रातिभाद् वा सर्वम् ६९,१९ ।
प्राणेभ्यो नमः २९७,३ ।
फातू बिसूरतिम् मिम्मिस्त्निहि ११२।२१ ।
बहवः पुरुषा राजन् ३७१,१६ ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानम् २८५,१८ ।
ब्रह्मवाक्यं जनार्दन ४१३,१४ ।
ब्रह्मणा निर्मितं वेदस्य व्याख्यानं ब्राह्मणम् ३८५,५ ।
ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानि ३,९४ ।
ब्राह्मणास्तु भूदेवाः ४१३,१५ ।
ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोध्येयो० ३८७,१६ ।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् २९९,२ ।
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम......व्यशेम २७८,६ ।
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम......व्यशेमहि ३१८,६ । ३९२,६ । ४१६,७ ।
४३२,९ ।
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ६९,१७ ।
भोगमात्रसाम्यं लिङ्गाच्च ४२४,३ ।
मनो ब्रह्मेत्युपासीत ३५,१६।
मम व्रते हृदयं ते अस्तु ४०५,२८ ।
मरीचीमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यम् ३६७,११ ।
माता च ते पिता च ते ३१५,६ ।
माता चैव पिता चैव २८६,२० ।
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा २८१,२२ ।
मातृदेवो भव २९५,६ ।
मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् २६८,१२ ।
मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा० २६८,१४ ।
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ६९,१९ ।
मौलाञ्छास्त्रविदः शूरान् ३८६,८ ।
य आत्मनि तिष्ठन् २७२,१९-२० । ४२२,२ ।
यकासकौ० ४२६,४ ।
यकासकौ शकुन्तिका ४२६,११ ।
यच्चक्षुषा न पश्यति ४२२,४ ।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति ४२२,४ ।
यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे ४१,२२ ।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ६३,१ । २८५,१ ।
यतोयतः समीहसे ३५५,६ । ४०४,६ । ४२८,६ ।
यत् पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः ४१८,१ ।

यत् प्राणेन ४२२,५ ।
यत्र देवतोच्यते तत्र ६३,२७ ।
यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् २७०,२१ ।
यत्स्वाध्यायमधीते स ब्रह्मयज्ञः ४१७,१८ ।
यथाभिमतध्यानाद्वा ६८,९ ।
यथेमां वाचं कल्याणीम् २८६,६ ।
यथोक्तोपपन्नश्छलजाति० ५२,२३ ।
यदग्नौ क्रियते स देवयज्ञः ४१७,१८ ।
यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयन् ३७८,९ ।
यदागच्छत्यतिथिर्देवयानैः २३३,१० ।
यदाऽस्मात् शरीरात् प्राणाः ३८१,१० ।
यदास्यायुक्तानि यानानि २२२,५ ।
यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् ६८,१० ।
यद् दृष्टं तन्नष्टम् ३८४,११ ।
यद् भूतेभ्यः करोति स भूतयज्ञः ४१९,१६ ।
यद् वाचानभ्युदितम् ४२२,३ ।
यद्वित्तं यज्ञशीलानाम् ६४,२१ ।
यद्वै किञ्चन मनुरवदत् २७,३ ।
यन्मनसानभ्युदितम् ४२२,३ ।
यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते ३५८,१६ ।
यमो वैवस्वतो देवो यस्तव ३३२,१ ।
यस्य आत्मा शरीरम् २७२,२१ ।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ३३०,८ ।
यादृशी भावना यस्य २९५,१४ ।
यानि तीर्थानि सागरे तानि ३००,४ ।
यावान् जागरितावस्थाविषयः ५२,१६ ।
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ३३५,६ । ३८३,१४ ।
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ६९,२८ ।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ३६४,७ ।
रचनानुपपत्तेश्च २७,८ । २१९,२१ ।
रागोपहतिर्ध्यानम् ३०२,९ ।

राज्ञश्च ददयुरुद्धारम् ३८७,९।
रथांश्च हस्तिनं छत्रं धनम् ३८७,७।
रामनाम की ढाल बनाकर ३६७,९।
राम नाम लडुवा गोपाल नाम घी ३६७,७।
राम मेरा बानियां समज करे व्यापार ३६७,११।
वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः० १८५,१६-१७।
वापीकूपतडागादीनां पूर्तत्वम् २३३,११।
वाराह्योपानहोपनह्यामि ३०८,१७।
विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः २९७,९। ३६४,१४।
विद्याव्रतस्नातः ३१७,५।
विद्वांसो वै देवाः ३३७,६। ३८४,११।
विद्वांसो हि देवाः ३३३,८।
विधवा देवरमिव ४०७,१।
विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् ७०,४।
विशोका वा ज्योतिष्मती ६६,९।
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि ३४६,२०।
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना ५१,१६। ६५,२५।
वृक्षवृक्षो राज्यं भगश्रीः ३१५,१०।
वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् २८७,११।
वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तम् २६८,१८।
वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये ४१२,५।
व्रतेन दीक्षामाप्नोति २७९,१।
शं नो मित्रः शं वरुणः २६५,८।
शतं ये मनुष्याणामनन्दाः ३३४,९।
शन्नो देवी ४३०,११।
शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः ४१५,२०।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति २८६,९।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति शूद्रश्च ३००,८।
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको० ४१४,३।
श्रीर्वा राज्यस्याग्रम् ३४५,९।
संक्रमध्वजयष्टीनाम् ६०,४।

संस्कृतं हविः होतव्यम् ३३८,१९ ।
स उदीचीं दिशमन्वावर्त्तते २२२,१८ ।
सति कुड्ये चित्रम् २६६,४ ।
सतीर्थ्यः सब्रह्मचारी ३१७,५ ।
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ३५६,८ । ३९८,२३ ।
स दिवमन्वावर्त्तते २२२,२१ ।
सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता २८९,१४ ।
सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः ३२९,११ ।
स परं दिवमन्वावर्तते २२२,४ ।
स पर्यगाच्छुक्रमकायम् २६६,७ । २७५,१२ । ३९९,९ ।
स पृथिवीमन्वावर्तते २२२,१९ ।
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो० ५२,२४ ।
स प्राचीं दिगन्वावर्त्तत २३,११ ।
स प्राचीं दिशमन्वावर्तते ३३,२४ । २२२,१६ ।
समरथ को नहि दोष गुसाईं ३७६,३ ।
समुद्रयानकुशला देश० २८३,६ ।
समुद्रादर्णवादधि ३५७,१२ ।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म २७२,११ ।
सर्वं भगलिङ्गात्मकं जगत् ४२८,११ ।
सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानाम् २८०,१ ।
सर्वमात्मन्यवस्थितम् ६३,२१ ।
सहनाववतु सह नौ २९०,१३ ।
सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिः ४२८,१३ ।
सहस्रशीर्षादि सूक्त २६८,१७ ।
सहस्रारित्रां शतारित्रां नावम् ३०८,१८ ।
साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्ष० ५२,२० ।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता ३०७,१४ । ३१३,२२ । ३६१,१३ ।
सोमः प्रथमो विविदे ४०७,१० ।
स्थिरसुखमासनम् ३९६,१० ।
स्पप्नज्ञानालम्बनं निद्रा० ६८,२ ।
स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा ६८,१ ।

स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा ५२,३ ।
स्वर्गकामो यजेत ३४२,१ ।
स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् ६३,११ । ३३७,१८ ।
हरि को भजे सो हरि का होय ३६७,१३ ।
हरिस्मरणान्मुक्तिः ४२८,१४ ।
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे २७०,१४ ।
होमैर्देवान् यथाविधि ४१७,२३ ।

ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन

में

उद्धृत ग्रन्थों की सूची[1]

अंजील[2] १८८,२२ ।
अथर्ववेद ६५,१३ । २८८,१३ । ३८५,१ ।
अनुब्राह्मण ३८५,६ ।
अर्थवेद (उपवेद) ३८६,१३ ।
अलंकार-शास्त्र (यास्क कृत) ३९८,२६ ।
अल्लोपनिषद् २८८,१३ ।
अश्वमेध-पर्व (महाभारत) ३८०,१८ । ४०१,१८ ।
अष्टाध्यायी (पाणिनीय) २९७,१२ । ३८५,११ । ३८७,२० ।
आथर्वण संहिता २८०,१६ ।
आधुनिक वेदान्त २७२,४ । २७४,१४ ।
आयुर्वेद (उपवेद) ३८८,९ ।
आश्वलायन (ग्रन्थ) ४००,१ ।
आश्वलायन सूत्र (गृह्य) ३५३,६ ।

---

[1] जो नाम एक पृष्ठ में अनेक बार आये हैं, उनका एक बार ही निर्देश किया है ।

[2] 'इञ्जील' शब्द भी देखें ।

इञ्जील[1] ११९,१८।१२०,१।१२२,२६।१२८,१७।१३५,५।१३६,२८।१३७,२४।१५४,२८।१५६,३।१७१,५।२०२,२६।२०३,३ ।
उणादिगण ३८७,१९ ।
उत्तर-मीमांसा[2] २९४,७ ।
ऋ० सं० (द्र० ऋक्संहिता)
ऋक्संहिता[3] २७८,८।३४४,१०।३५६,३।३६४,१०।४०६,१२।४०७,११ ।
ऋग्वेद १३९,६।२०५,१७।३८४,२९[4]।४०६,९।४०७,५।४२२,६ ।
ऋग्वेद संहिता[5] २९७,११।३१३,२२।३१४,१५ ।
ऋग्वेदादि ४२,२१ ।
ऋग्वेदादि सत्यशास्त्र २३,४ ।
ऐ० (?) ३६०,१९ ।
ऐतरेय ब्राह्मण १००,२१ ।
ऐतरेयोपनिषद् २७३,२१ ।
कबीरोपनिषद् ४४१,५ ।
कुरान (शरीफ) ७९,११।८१,५।११२,१८।२०३,३।२०६,१८ ।
कृष्ण यजुर्वेद संहिता[6] २९०,१४ ।
केनोपनिषद्[7] ३४६,६ ।
कौमुदी शेखरादि ४४०,६ ।
कौषीतकि ब्राह्मण ३७८,१।३७९,१४ ।
गणपाठ—देखो 'प्रातिपदिक गण' शब्द ।
गणित-शास्त्र ३०९,२ ।
गन्धर्ववेद (उपवेद) ३८९,९ ।
गरुड पुराण ३३२,८ ।
गिनती की पुस्तक १७०,११ ।
गीता ४०,१ ।

---

१. 'अंजील' शब्द भी देखें ।

२. 'वेदान्त' और 'वेदान्त शास्त्र' शब्द भी देखें ।

३. 'ऋग्वेद' और 'ऋग्वेदसंहिता' शब्द भी देखें ।

४. यहां मुद्रण दोष से 'सामवेद' छप गया है । 'ऋग्वेद' होना चाहिये ।

५. 'ऋक्संहिता' शब्द भी देखें ।

६. 'तैत्तिरीय संहिता' शब्द भी देखें ।

७. 'तलवकार उपनिषद्' शब्द भी देखें ।

गुलिस्तां बोस्तां ११२,९।
गृह्य (सूत्र) २९७,१।
गोतमोक्त (वादलक्षण) ५१,२।
गौतम-सूत्र ३१५,६।
चरक २८७,८।३१२,९।
छान्दोग्य उपनिषद् ५४,२७।२८८,५।२९८,२०।३१७,३।३२९,१३।३३०,
८।३४९,१६।३५५,२०।३६०,१८।४१८,१५।
जबूर ७९,७।१३५,६।१३६,२८।
जाबालोपनिषद् ६५,१३।
जैमिनिसूत्रम्[1] ३०,८।
तन्त्र-ग्रन्थ २९७,१५।
तलवकार (केन) उपनिषद् ४२२,१।
तान्त्रिक ग्रन्थ २९७,२१।
तान्त्रिक मन्त्र २९७,१८।
तैत्तिरीय आरण्यक ३५७,१९।
तैत्तिरीय उपनिषद् २७५,२।३३३,१०।
तैत्तिरीय शाखा २३३,१०।
तौरेत ७९,७।११२,१४।११९,१८।१२०,१।१२२,२५।१२५,२३।११८,१७।
१३६,२८।१३७,२३।१४२,३।१४३,७।२०२,२६।
धर्मशास्त्र (मनु का) ३९५,३।
धातुपाठ ३८७,२०।
निरुक्त ६३,२७।२३३,१८।२९४,८।२९८,८।४०७,२।
नौका-शास्त्र ३०९,२।
न्यायदर्शन ३९१,४।
न्यायशास्त्र १६१,२२।३९४,१९।
पञ्चदशी ५६,२१।५७,३।
पञ्चमहायज्ञविधि ३६१,२३।
पद्धति-निरूपक-ग्रन्थ ३४५,१५।
पद्म पुराण २०१,१३।
पराशरस्मृति २३३,१४।

---

[1] 'मीमांसा', 'मीमांसा-शास्त्र'; 'पूर्वमीमांसा' शब्द भी देखें।

पाणिनिसूत्र ३७०,१३ ।
पातञ्जल महाभाष्य[1] २९४,८ ।
पातञ्जल शास्त्र (योगदर्शन) ५१,१४ ।
पातञ्जल सूत्र (योग सूत्र) ५१,८ ।
पारस्कर (ग्रन्थ) ४००,१ ।
पुराण ४१३,५ ।
पुरुष-सूक्त २९९,१ ।
पूर्वमीमांसा[2] २९४,६।४२३,३ ।
पूर्वमीमांसा शास्त्र ६२,२० ।
प्रतिष्ठाभास्कर ४२७,२० ।
प्रतिष्ठामयूख २९७,१५।४२८,२० ।
प्रातिपदिकगण (गणपाठ) ३८७,२० ।
बाईबल ७९,७।८१,२१।१३५,६।१३९,३।१५७,५।२०६,१८ ।
बाईबिल इन इण्डिया १३९,८ ।
बृहदारण्यक उपनिषद् २७२,२०।३८१,७।४२२,१ ।
ब्रह्मवैवर्त (पुराण) ४२७,२१ ।
ब्रह्मवैवर्तादि ४२,२।६१,१४।६२,६ ।
ब्राह्मण (ग्रन्थ) ३८५,६।४१७,१९।४४७,३ ।
ब्राह्मणादि ग्रन्थ २८४,२३।३६३,७ ।
भागवत (पुराण) २०१,१३।२६७,१२।४३०,१।४४२,३ ।
भारत[3] (महाभारत) २६७,११ ।
भाष्य (योगसूत्रभाष्य) ६६,२६।६७,१०।६८,२।६९,२ ।
भूमिका (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) १९८,१४ ।
मनु (स्मृति) २१९,९।२९५,९।३१५,३।३३४,६।३३७,१८।३४९,१४।३६०,
७।३६६,१९।३६८,१४।३८०,५।४१४,१०।४१७,१९ ।
मनुस्मृति २६,१६।६३,१०।६४,७।२८२,२३।२८३,८।२८५,६।३६४,११।
३६५,८।३८३,१७ ।
मन्वादि स्मृति ४१४,७ ।

---

[1] 'महाभाष्य' शब्द भी देखें ।

[2] 'मीमांसा', 'मीमांसाशास्त्र', 'जैमिनिसूत्र' शब्द भी देखे ।

[3] 'महाभारत' शब्द भी देखें ।

मय-संहिता ३८९,१३ ।
मशाफल की पुस्तक १६५,१८ ।
महाभारत[1] २१९,९।३३७,१५।३७३,१६।३७५,१७।३८०,१८।४१०,३।
४२७,१७ ।
महाभाष्य[2] ४१,१४।२०८,१८।२२९,१३।३६५,३।३८७,१६ ।
महावाक्यविवरण २७४,२ ।
मानव कल्पसूत्र ४००,२ ।
मीमांसा[3] २८४,२३।२९१,१५।३९०,१६।३९४,१९ ।
मीमांसा-शास्त्र ३९४,१४ ।
मुण्डकोपनिषद् ३०४,१६ ।
यजुब्राह्मण[4] ४२०,९ ।
यजुर्वेद ६३,८।३४६,१८।३५३,२७।३८४,२९ ।
य० सं० (द्र० यजुर्वेद संहिता) ।
यजुर्वेद संहिता[5] ३०८,६।३[illegible]९,५।३४६,२१।३५५,७।३५७,२ ।
यजुर्वेद (ब्राह्मण)[6] ४२०,७ ।
यजुर्वेदीय ऋचा ४२६,१२ ।
यन्त्राध्याय (सुश्रुत) ३८९,२० ।
योग (शास्त्र) २९४,७ ।
योग शास्त्र २९२,८।३०२,११।३०८,११।३९४,१३।३९५,५ ।
योग-सूत्र २७९,१६।२८१,३।२८२,४।
योहन्ना का पहला पत्र १७०,१४ ।
राजसूय-पर्व (महाभारत) ३८०,१८।४०१,१८ ।
लिङ्गार्चनचिन्तामणि २९७,१५ ।
लूका की इंजील १७०,१३ ।
वराहसंहिता ३८९,१४ ।

---

[1] 'भारत' शब्द भी देखें ।

[2] 'पातञ्जल महाभाष्य' 'व्याकरणभाष्य' शब्द भी देखें ।

[3] मीमांसा-शास्त्र' 'पूर्वमीमांसा' 'जैमिनि-सूत्र' शब्द भी देखें ।

[4] 'यजुर्वेद-ब्राह्मण' शब्द भी देखें ।

[5] 'वाजसनेय यजुःसंहिता' 'शुक्ल यजुःसंहिता' शब्द भी देखें ।

[6] यजु ब्राह्मण' शब्द भी देखें ।

वाजसनेय यजुः संहिता[1] २८६,८ ।
वायु पुराण ४२७,२१ ।
विश्वकर्मसंहिता ३८९,१४।
विश्वेश्वरपद्धति ३०१,१४ ।
वेद ४०,२०।४१,२१। आदि बहुत्र ।
वेदान्त[2] २६९,४।३९९,१० ।
वेदान्तशास्त्र २९२,१४।
वेदान्तसूत्र २१९,२०।
वैद्यक ग्रन्थ (चरक) ३०८,११ ।
वैशेषिक ३९०,२०।३९४,१९।
वैशेषिक दर्शन ३९९,१४।
वैशेषिक शास्त्र ४२३,६ ।
व्याकरणभाष्य[3] (महाभाष्य) ३०८,११ ।
व्यासवचन ५१,९।
व्याससूत्रम्[4] २७,९।३५८,१ ।
शंकर विजय ४१५,१९।
शतपथ ६०,२९।२३६,२४।२९४,८।३४६,१।४२३,५ ।
शतपथ ब्राह्मण २९९,१०।३१५.९।३३७,६।३२८,१५।३४५.९।३४६,२ ।
३८०,२६।३८१,७।४२६,८ ।
शारीरक भाष्य ६१,१।४१५,१६ ।
शिक्षा (वेदाङ्ग) ३८७,१९ ।
शिल्प शास्त्र ३८९,१३ ।
शीघ्र बोध २८६,१६ ।
शुक्ल यजुः संहिता[5] २७९,१ ।

---

[1] ‘यजुर्वेद’ ‘यजुर्वेद संहिता’ ‘शुक्ल यजुः संहिता’ शब्द भी देखें ।

[2] वेदान्त शास्त्र’, ‘उत्तर मीमांसा’, ‘व्यास सूत्र’ शब्द भी देखें ।

[3] ‘महाभाष्य’ ‘पातञ्जल महाभाष्य’ शब्द भी देखें ।

[4] ‘वेदान्त’ ‘वेदान्त शास्त्र’ ‘उत्तर मीमांसा’ शब्द भी देखें ।

[5] यजुर्वेद’ ‘यजुर्वेद संहिता’ ‘शुक्ल यजुर्वेद’ ‘वाजसनेय यजुः संहिता’ शब्द भी देखें ।

शुक्ल यजुर्वेद[1] २३६,२३।३१४,६।४३३,३ ।
श्रौत सूत्र २९७,१ ।
संजीवनी (ग्रन्थ) ४२७,१७ ।
सत्यार्थप्रकाश ३६१,२३।३८८,१० ।
सन्ध्योपनिषद् ४२०,१ ।
सभापर्व (महाभारत) ३७३,१६ ।
सांख्यशास्त्र २६८,७।३०२,१०।३५६,६।३९८,४ ।
सांख्यसूत्र ३५६,७ ।
साम ब्राह्मण[2] ४२०,८ ।
सामवेद २७.४।२२२,४।३८५,१ ।
सामवेद (–ब्राह्मण) ४२०,७ ।
सामवेद-ब्राह्मण[3] ३१,५ ।
सुश्रुत (ग्रन्थ) २८७,८।२८८,१।३१२,६।३८९,१९ ।
सू०, सूत्र (योगसूत्र) ६७,६।६८,१।६९,१।७०,४ ।
षड्दर्शन २९७,२ ।
हरिवंश (पुराण महाभारत-परिशिष्ट) ४२९,९ ।

* * *

---

[1] यजुर्वेद' 'यजुर्वेद संहिता' 'शुक्ल यजुःसंहिता' 'वाजसनेय यजुः संहिता' शब्द भी देखें। [2] 'सामवेद-ब्राह्मण' शब्द भी देखें।

[3] 'साम ब्राह्मण' शब्द भी देखें।

ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन

में

उद्धृत व्यक्ति, नगर, देश आदि नामों की सूची[1]

अकलकोट (महाराष्ट्रीय नगर) ११०,२।
अखेसिंह (बेगलियावास) १८९,२९।
उगमसिंह (किशनगढ के) १९०,२।
अग्नि (ऋषि) ३१३,१।३८४,२५।
अग्निष्वात्त (ऋषि) ३६९,९।
अङ्गिरा (ऋषि) ३१३,२।३८४,२५।
अङ्गिरा (मनुपुत्र) ३८४,२७।
अंग्रेज १३४,१।
अजमेर १२८,१२।१७४,५।४४१,१३।
अत्रि (मनुपुत्र) ३८४,२७।
अदूलसिंह (किपाय के) १९०,१।
अनन्तजी कोठारी १९०,६।
अनसूया ३५०,२३।
अनुभूति स्वामी ३६५,११।
अनुमताचार्य[2] (माध्व) ४४०,२१।४४१,१।
अमरलाल (जोशी) ४४०,११।
अमरसिंह जी कोठारी १९०,८।

---

[1] १. जो नाम एक पृष्ठ में अनेक बार उद्धृत हैं, उनका निर्देश एक बार ही इस सूची में किया है।

विशेष—(१) सूची में प्रथम अङ्क से पृष्ठ संख्या और द्वितीय अङ्क से पंक्ति संख्या जाननी चाहिये।

(२) शास्त्रार्थों वा प्रवचनों के आरम्भ में लिखे गये प्राक्कथन; सम्पादकीय आदि में उद्धृत नामों का इस सूची में समावेश नहीं है।

[2] २. शुद्ध नाम हनुमन्ताचार्य।

अमीचन्द (लाला)   ११७,२७ ।
अमीचन्द (सरदार बहादुर)   १२६;११।१२७,१६ ।
अमृतराव पेशवा   ३०९,१७ ।
अमेरिका   १५७,११।३४३,१२ ।३८०,१६ ।
अम्बा (काशीराज-पुत्री)   ४००,९ ।
अम्बालिका (काशीराज-पुत्री)   ४००,१० ।
अम्बिका (काशीराज-पुत्री)   ४००,१० ।
अयोध्या   ३७८,३।३७९,१ ।
अर्जुन   ४००,१९।४०९;१४।४१०,१८।४११,१० ।
अलकापुरी (कुबेर की नगरी)   ३८२,२ ।
अलखनन्दा   ४३९,२२ ।
अलवर   ४४०,३ ।
अल्काट (कर्नल)   १४१,२६।१४३,४ ।
अश्विनी कुमार (व्यक्ति)   ४००,१९ ।
असमंजा (सगर-पुत्र)   ३७५,१९ ।
अहमदाबाद   ४३७,२०।४३९,१९।४४३,१७ ।
आगरा   ११०,१।४४०,१७।४४१,१५ ।
आग्नेयास्त्र   ३११,७।३१२,३ ।
आदम   ९७,२९।९८,२।९९,२।१२३,२।१२४,१२।१२५,१ ।
आदित्य (ऋषि)   ३१३,२।४८३,२५ ।
आदित्य (१२ देव)   ३८१,८ ।
आदिनाथ (तीर्थङ्कर)   ४१४,२५ ।
आधुनिक वेदान्ती   २७२,१२ ।
आनन्दबाग (काशी)   ५८,२।२१५,२४ ।
आनन्दाराम (आनन्दबाग-काशी)   २३,२२ ।
आर्यखण्ड   ३७०,१४ ।
आर्यस्थान   ३७०,१४ ।
आर्यावर्त   २८३,२।३६९,२२।३७०,१।३८३,२ ।
आश्वलायन   २९२,१।२९४,२ ।
इक्ष्वाकु   ३६९.४।३७१,६।३७२,४।३७३,१५।३७५,६ ।
इंगलिस्तान   ९६,३२।१०१,२२।१५७,९ ।

इन्द्र (देव) ३४३,१०।३४६.१४।३८२,१६।३८३,२३।

इन्द्र (व्यक्ति) ४००,१८।४०१,२।

इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) ३८२,१६।

इन्द्रमणि मुंशी ७७,२७।७८,१९।१०४,९।

इबराहीम १२३,३।१३९,१।

इलाहाबाद[1] (प्रयाग) ४४३,१०।

ईरान ४००,१४।

ईसा (हजरत) १०९,१६।१९३।३।१६६,१९।१६८,५।

ईसामसीह[2] ७९,१३।८०,२२।८१,१०।९६,२४।९७,२।९९,६।१०१,३।
१६३,३१।१६७,२२।१८७,२३।१८८,१।

उज्जैन ३८३,१।

उत्तर मीमांसा सूत्रकार ४२३,१४।

उत्तरा (विराट् पुत्री) ४११,१६।

उद्दालक ऋषि ३९०,११।

उपरिचर (राजा) ३०९,२१।३७७,१८।

ऋतुपर्ण (अयोध्या का राजा) ३७८,३।३७९,१।

ऋषभदास जी वापना १९०,९।

ओनाड जी पिरोहित १९०,११।

औतार जी सोकला १९०,१३।

औदीच्य ब्राह्मण ४३३,२।

कजोड़ जी चौरड़िया १९०,७।

कजोड़ीमल जी नार १९०,१५।

कणाद (मुनि) ३०८,९।३९०,२०।३९४,१५।४२३,६।

कनक (शास्त्री) ४०९,२५।४१०,१।४११,८।१२४,१२।

कपिल (सांख्य शास्त्रकार) २६८,८।४२३,१३।

कबीर ६५,२८।१८९,१३।

कबीर पन्थी साधु १८९,५।

करौली ४४१,३।

कर्ण (सूत-पुत्र) ४०९,१६।४१०,२२।

कलकत्ता (कलिकाता) ४४३,१०।

---

[1] 'प्रयाग' शब्द भी देखें

[2] यीसु (यीशु) और 'मसीह' शब्द भी देखो।

कलिकाता (कलकत्ता) ४९,१५ ।
कल्याणसिंह जी कोठारी १९०,१४ ।
कल्लूजी चारण १९०,१८ ।
कश्यप ३१५,१४ ।
कात्यायन (?) २१९,९ ।
कात्यायनादि (श्रौत सूत्रकार) २९४;३ ।
कात्यायनी (याज्ञवल्क्य पत्नी) २८५,१४ ।
कानपुर ४४२,१५।४४३,१० ।
काबुल कन्धार ४००,१५।४०२,२१ ।
कालिदास ४२७,१५ ।
कालेपानी (अण्डेमान द्वीप) ११०,१ ।
काशी २३,२१।६५,२४।१८९,१३।२१५,२३।३८२,१७।४४२,२६।४४३,४ ।
काशीनगर २३,२४।५८,१ ।
काशी नरेश २४,१९ ।
काशीनाथ २८६,१६ ।
काशीराज २४,९।४९,६।५८,२४ ।
काश्मीर ३६३,४।३८२,१० ।
किशनजी कोठारी १९०,६ ।
किसना जी १९०,१५ ।
कुन्ती (पाण्डु-पत्नी) ४००,१३ ।
कुबेर (देव) २८२,२ ।
कुम्भकर्ण (रावण भ्राता) २८२,७ ।
कुरुकुल ४१२,२० ।
कुल्लूक भट्ट २८५,८ ।
कृतवर्मा ४१२,५ ।
कृप (कृपाचार्य) ४१२,५ ।
कृपाचार्य ४०९,१३ ।
कृष्ण[१] ६५,२५।४११,१०।४१२,६ ।
कृष्ण शास्त्री ४३९,१० ।
केदारखण्ड ३८२,३ ।

---

[१] 'श्रीकृष्ण' शब्द भी देखो ।

कैलाश (महादेव का स्थान) ३८२,२ ।

कोठकांगड़ (गांव) ४३७,२१ ।

कोत्लोस्मियों की पत्री १२३,१९ ।

कोरतीयों का तीसरा पर्व १२४,४ ।

कोलाहल स्वामी ४४२,१२ ।

कौरव ३८०,२०।४०९,११।४१२,४ ।

क्रिश्चन ६५,२७ ।

गंगा (शन्तनु-पत्नी) ३५०,२३ ।

गंगा (नदी) ६५,२४।३७०,८ ।

गङ्गा तट २३,४ ।

गम्भीरजी (थावड़ाके) १९०,४ ।

गाणपत्य (सम्प्रदाय) ६५,२७ ।

गाजीपुर नगरी ४१४,१६ ।

गान्धारी (दुर्योधन-माता) ४००,१४ ।

गार्गी (ब्रह्मवादिनी) २८५,१४।३००,२५।४०५,१ ।

गुजरात देश ४३२,१६।४३३,१ ।

गोतम[1] मुनिः ५२,११।५७,२०।६०,२७।

गोपवृन्द सेवकदास ३५०,१८।

गोपाल जी धूत १९०,१६ ।

गौडपाद आचार्य ४१५,१४

गौतम[2] (न्यायशास्त्रकार) २६८,२।३९१,४।३९२,६।३९३,२६।३९४,१७।
३९९,१५।४२३,७ ।

ग्रे[3] (पादरी) ११९,८ ।

ग्वालियर (नगर) ४४०,१९।४४१,३ ।

ग्वालियर राज्य ४२७,१५।

चतुरसिंह गहलोत (मसूदा के) १९०,२ ।

चतुर्मुख (ब्रह्मा) ३१३,३।

चम्पालाल जी कायस्थ १९०,१७ ।

---

[1] 'गौतम' शब्द भी देखें ।

[2] 'गोतम' शब्द भी देखें ।

[3] 'पादरी' (ग्रे) शब्द देखो ।

चरक (ऋषि) ३८८,६ ।
चाणोदकन्याली ४३६,१२ ।
चित्रवीर्य (द्र० 'विचित्रवीर्य' शब्द)
चित्राङ्गद (शन्तनु-पुत्र) ४००,७।४०४,१०।४०८,६ ।
चैनसिंह (आसीन के) १८६,३० ।
छगन जी कोठारी १९०,१५ ।
छगन जी बोहरा १९०,८ ।
छगनलाल (पं० कामदार) १७६,१२।१७९,१९ ।
छुट्टनलाल जी कायस्थ १९०,१७ ।
जगन्नाथ जोशी १७६,१२।१८१,६ ।
जनक (विदेहराज) ३६९,१९ ।
जनकपुर ३६९,१९ ।
जनमेजय (परीक्षित पुत्र) ४०१,१५।४१३,६ ।
जबलपुर ४४३,१० ।
जयनारायण तर्कपञ्चानन २०९,१५।२३८,१२ ।
जयपुर ३८३,१३।४४१,५ ।
जयपुर के राजा ३८३,१३ ।
जसवन्तसिंह जी कोठारो १९०,१४ ।
जान श्रुति (राजा) २९८,१९ ।
जाबाल (जबाला-पुत्र) २९८,१९ ।
जाबाल ऋषि की कथा २९८,२० ।
जैद ११४,१५ ।
जैमिनि (मीमांसाशास्त्रकार) ६२,२२।२६९,१।२९२,३।३०८,८।३९०,
१६।४१३,१२।४२३,३ ।
ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर ४९,१० ।
टी० जी० स्काट (पादरी) १३३,२१।१३४,२०।१३६,२१।१३७,१६।
१३८,१६।१४०,२४।१४१,२५।१४३,२।१४४,९।१४५,२०।१४६,१९।
१४७,१९।१४८,२०।१४९,२८।१५१,१।१५२,१२।१५३,२०।१५५,६।
१५६,१७।१५७,१८।१५८,२६।१६०,१।१६१,१८।१६३,१।१६४,१६।
१६५,२०।१६६,३०।१६८,२८।१७०,२९ ।
ठाकुर लोग (राजपूत) ३८३,१० ।
ढूंढिये (जैन) १७६,१५ ।

तर्करत्न (ताराचरण) ५१,८।५२,३।५३,३।५४,९।५५,७।५६,५।५७,११।५८,१।२१५,२७ ।
ताराचरण[1] (तार्किक, तर्करत्न, नैयायिक भट्टाचार्य) २५,१९।२६,१।४९,४।५०,३।५७,३।२१५,१।२१६,९।२१७,३।२१८,४।२१९,७।२२१,१६।२२२,१४।२२८,५।२३२,३।२३५,२३।२३६,५ ।
तिब्बत ३८३,२२ ।
तुलसीदास जी २८२,७ ।
त्रिमूर्ति (विष्णु-महादेव-ब्रह्मा) ३६९,१० ।
त्रिविष्टप (देश) ३८३,२२ ।
दक्ष ३१५,१४ ।
दक्ष प्रजापति ३१४,२ ।
दमयन्ती (नल-पत्नी) ३७८,४।३७९,२ ।
द० (दयानन्द स्वामी) २०६,२०।२०७,३।२०८,६ ।
दयानन्द २०६,११।२०९,१।२१४,७।२१६,११।२१७,१।२१८,१।२१९,१।२२०,४।२२१,४।२२२,३।२२४,१।२२५,१।२२६,१।२२७,२।२२८,२।२२९,३।२३०,७।२३१,२०।२३२,४।२३३,२।२३४,११।२३५,४।२३६,१।२३७,१।४३९,१५ ।
दयानन्द सरस्वती[2] २३,३।२४,११।२६,५।१३३,२०।१३५,१९।१३७,१५।१४४,८।१६८,२७।१७५,१९।१७९,१५।१८५,२२ ।
दयानन्द स्वामी ३।२७,२०।२८,३।३०,१।४०,२३।४२,३।४३,६।४४,१०।२०५,८।२०६,१५ ।
दर्बार साहब (सज्जनसिंह) २०६,२५ ।
दिल्ली ६२,२।३८२,१६ ।
दुःशासन ४०९,३० ।
दुर्गाकुण्ड (काशी) २३,२२।२१५,२३ ।
दुर्योधन ४००,१६।४०९,१९।४१०,५।४११,६।४१२,४ ।
दृषद्वती (नदी) ३७०,३ ।
देवजाति ३८४,११ ।

---

[1] 'तर्करत्न' शब्द भी देखें ।

[2] 'दयानन्द' दयानन्द स्वामी, 'स्वामी दयानन्द सरस्वती', 'स्वामीजी' और 'पण्डित जी' शब्द देखो ।

देवदत्त २३०,२३।२३१,३।
देवनदी ३७०,७ ।
देव नागरी (लिपि) ३७१,१८ ।
देव मामलादार ११०,३।२८२,१० ।
देवलोक ३८२,११।३८४,२।
द्रविड़ १३४,२।
द्रोणाचार्य ४०६,१२।
द्रौपदी ४१०,२२ ।
धनुर्वेद (उपवेद) ३७४,३।३८६,२।
धन्वन्तरि ३८८,१० ।
धर्म (धर्मराज=युधिष्ठिर) ४००,१६।
धर्मराज (युधिष्ठिर) ४१०,६।
धांगध्रा (राज्य) ४३३,१ ।
धृतराष्ट्र ४००,१२।४०१,३।४०८,७।४०६,७।४१०,२७।
नकुल (पाण्डव) ४०१,१ ।
नया शहर, नये शहर (व्यावर) १८८,२६।१८६,५।१७४,२२।१७५,
५।१८६,१० ।
नर्मदा तट ४३६,८ ।
नल (राजा) ३७८,४।३७६,१ ।
नसीराबाद १२८,१२ ।
नानक ६५,२८ ।
नामदेव जी (जगपुरा के) १६०,४ ।
नारद ३१४,२ ।
नारायणास्त्र ३८६,३ ।
नाहरसिंह (जामोड़ा के) १६०,२ ।
नेपाल ३६३,४ ।
नैपाल ३८२,१० ।
नैमिषारण्य ३८५,१० ।
नोबिल साहब (पादरी) ७६,१८।८०,४।८१,३।८६,१३ ।
न्यायसूत्रकार ४२३,७ ।
पञ्चशिखा[चार्य] २६०,१० ।
पञ्जाब ४०२,२० ।

पण्डित जी[1] (स्वा० दयानन्द सरस्वती) १३५,२१।१३६,१४।१३९, १९।१४२,११।१४८,२१।१५१,८।१५६,१९।१६०,२।१६४,१।१६६, २।१६९,१२।१७०,६ ।
पंढरपुर ३३९,१४ ।
पतञ्जलि (महाभाष्यकार) ३६६,३ ।
पतञ्जलि (योगशास्त्रकार) २६९,३।३०८,१२।३९६,३।३९७,२५ ।
पद्मा (नदी) ३७०,९ ।
परिक्षित ४१३,३ ।
पाणिनि ३८५,११।३८७,१७।३८८,१ ।
पाण्डव ३८०,२०।४०९,११।४१०,७।४१२,४ ।
पाण्डु ४००,१२।४०८,७।४०९,७ ।
पादरी[2] (ग्रे) पृ० १२१–१२७ ।
पादरी साहब[3] (टी० जी० स्काट) १३४,२८।१३५,४।१३८,१९।१४१, २२।१४३,१०।१४७,२२।१४८,८।१५०,१६।१५२,१४।१५३,९।१५५, १०।१५६,७।१५८,२८।१६१,२१।१६२,७।१६५,१।१६७,१२ ।
पादरी साहब (शूलब्रेड) १८६,१४ ।
पानजी कोठारी १९०,८ ।
पारसनाथ (तीर्थङ्कर) ४१४,२५ ।
पाशुपतास्त्र ३८९,३।४३५,२ ।
पिप्पलाद मुनि ३७५,५ ।
पुष्कर (तीर्थस्थान) ३८२,१७।४४१,१३ ।
पैगम्बर ७९,७।२६८,१ ।
पैगम्बर (हजरत मोहम्मद) ७९,१०।९७,१५ ॥
प्यारेलाल मुंशी ७७,१६ ।
प्रतापसिंह (केलू के) १८९,२९ ।
प्रतापसिंह (मेड़ता के) १९०,१
प्रतापसिंह (वरवाड़े के) १८९,३० ।

---

[1] 'द्र०', 'दयानन्द', 'दयानन्द सरस्वती', 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' और 'स्वामी जी' शब्द देखो । [2] 'ग्रे' (पादरी) शब्द देखो ।

[3] 'टी० जी० स्काट' (पादरी) और 'स्काट पादरी', 'स्काट साहब' शब्द देखो ।

प्रभुनारायणसिंह (काशी राजकुमार) २१५,२५ ।
प्रयाग[1] (इलाहाबाद) ४४२,१६ ।
फर्रुखाबाद ४४२,६।४४३,११ ।
बंगाल ४०६,१६ ।
बड़ोदा ४ ६,८ ।
बर्बर देश ४१०,६ ।
बलदेव (कृष्ण-भ्राता) ४१२,२४ ।
बलवन्तसिंह (किपाय के) १६०,५ ।
बलि (राजा) ३४३,१० ।
बल्लभ (द्र० 'वल्लभ') शब्द
बल्लभ जी कोठारी १६०,६ ।
बहादुरसिंह[2] (राव मसूदा) १७४,५।१७६,८।१८६,२० ।
बा०[3] (बिहारीलाल बाबू पादरी) १८६,२३।१८७,१।१८८,२३ ।
बादरायण ४२३,१५ ।
बालकिशन जी मेहता १६०,१० ।
बाल शास्त्री ३०,१६।३३,१।३४,१।३६,१०।४१,१०।५८,२।२०८,१८।
२१८,१४।२२०,८।२२३,१६।२२४,३।२२६,१३।२३०,३।२३५,१ ।
बिहारीलाल बाबू (ईसाई) १७४,२१।१८१,६।१८६,६ ।
ब्रह्मदेव (ब्रह्मा) ३१३,१।३१४,२।३६६,८।३८२,१७ ।
ब्रह्मपुत्र (नदी) ३७०,२ ।
ब्रह्मा ६२,२३।६३,२।३१२,१८।३६४,८।३७१ ६।३८४,२४ ।
ब्रह्मास्त्र ३८६,३ ।
भगतसिंह सरदार १२०,१२।१२७,१७।१२८,८ ।
भगीरथ ३७०,६ ।
भरतखण्ड ३७०,१।४३०,२३ ।
भर्तृहरि (राजा) ४२७,१४ ।
भागराम (असिसेण्ट कमिश्नर) १२०,६।१२७,१६ ।
भागीरथी (गंगा) ३७०,१० ।

---

[1] 'इलाहाबाद' शब्द भी देखें ।

[2] 'राव साहब' शब्द भी देखें ।

[3] 'बिहारीलाल बाबू' शब्द भी देखें ।

भाटपाड़ा (ग्राम) ४९,४।
भामा ३५०,२३।
भारतखण्ड ३८२ १५।
भारतवर्ष ३७९,८।
भिण्ड (शहर) ४२७,१५।
भीम (पाण्डु-पुत्र) ४००,१९।
भीमसेन (पाण्डु-पुत्र) ४११,७।
भीष्म ३८०,१०।४००,८।४१०,१०।४११,२२।४१२,१।
भुशुण्डी (बन्दूक) ३११,४।३७४,१०।
भूदेव मुकुर्ज्या ५०,२०।५८,८।
भृगुजी (मनुस्मृति के प्रवक्ता) ३७२,८।
भोज (राजा) ४२७,१४।
मथुरा ४४०,१,
मथुरादास ३५०,१८।
मनु (मनुस्मृतिकार) ५९,१५।६०,६।२८०,२१।२८३,४।२८७,१।२९०,७।
२९५,११।३००,७।३१३,१।३६५,३।३६५,९।३६८,१०।३७२,१।३८४,
२६।३८६,७।४०१,१९।४०७,१७।४१४,८।४१८,२१।४१९,८।४२१,४।
मय (शिल्पी) ४११,१।
मरीचि ३१५ १३।३६९,१।३८४,२७।
मसीह[1] (ईसा मसीह) १६९,२९।
मसूदा १२८,१२।१७४,५।१९०,२९।
महताबजी (थावड़ावाला) १९०,५।
महादेव ६२,२३।३६९,१०।३८२,२।३८३,१।
महाभाष्यकार ४१,११।
महाराज (काशीनरेश) २५,१।२०८,१९।२२४,१४।२२६,३।२३०,२१।
२३७,२७।
महाराज (सज्जनसिंह) २०६,२४।
महावीर (तीर्थङ्कर) ४१४,२५।
महीधर ३१५,७।४२६,४।
महीधरादि भाष्यकार ३४५,२।

---

[1] 'ईसा' 'यीसू' और 'ईसा मसीह' शब्द भी देखें।

महेन्द्र सरकार (डाक्टर) ३१२,८।
माद्री (पाण्डु-पत्नी) ४००,१३।४०६,८।
माधवप्रसाद ४४२,१७।
माधवाचारी[1] २३३,६।२३४,१।२३६,२३।२३७,३।
माधवाचार्य[2] ३६,५।३७,५।३८,१६।३६,३।४१,२१।
माधोसिंह (बेगलियावास के) १८६,३०।
मारवाड़ी लोग ४०१,६।
मार्टिन लूथर (द्रष्टव्य-'लूथर' शब्द)
मिथिला (देश) ३६६,१८।
मुंबई (बम्बई) ४४३,१५।
मुहम्मद कासम मौलवी ७८,२६।७६,२५।८०,८।८२,१३।६१,२१।६२,
२१।६७,८।
मुहम्मदी ६५,२८।
मूसा १२३,३।
मेनकादि अप्सरा ३४६,१४।
मैक्समूलर (देखो—मोक्षमूलर)
मैत्रेयी (ब्रह्मवादिनी) २८५,१४।४०५,१।
मोक्षमूलर (मैक्समूलर) १३६,५।२०५,१६।
मोरवी शहर ४३३,२।
मोहनलाल (पांड) २०६,२२।
मोहम्मद (हजरत) १०६,१४।
मोहम्मद साहब (पैगम्बर) ७६,१०।
मोहम्मद हुसैन महसूब ११७,३०।
मौलवी (अहमद हुसैन) पृष्ठ १०८ से पृ० ११६ तक।
मौलवी साहब (अब्दुर्रहमान) १६३,७ से पृ० २०६।
म्यूर साहब १६०,२२।१६४,३।१६६,८।
यम (व्यक्ति) ४००,१८।४०१,२।
यहूदी लोग ३६३,१५।
याकूब १२३,४।

---

[1] 'माधवाचार्य' शब्द भी देखें।

[2] 'माधवाचारी' शब्द भी देखें।

यादव कुल ४१२,२१।
यास्काचार्य ३९८,२६।
योसू[1] ६५,२५।
युधिष्ठिर (पाण्डु-पुत्र) ४१०,६।
युधिष्ठिरादिक ६२,२।
यूनानी १३४,१।
योगशास्त्रकार (पतञ्जलि) ४२३,१०।
योगानन्द स्वामी ४३९,९।
योरोप ३८०,१५।
योहन्ना (रसूल) १५६,७।१६३,१७।१६४,२६।१६७,७।
रघु (राजा) ३७९,८।
रघुनाथप्रसाद (कोतवाल) २५,१५।
रंगाचार्य ४४१,१६।
रणजीत सिंह ४०२,६।
रा० (राव साहब मसूदा) १८६,२२।१८७,२।
राजकोट ४४३,१७।
राजजी मेहता १९०,९।
राजपूत लोग ३८३,८।
राजमल जी कोठारी १९०,६।
राणा साहब (सज्जनसिंह) २०६,२३।
राम[2] (रामचन्द्र) ६५,२५।३७९,९।
रामगढ ४४२,९।
रामचन्द्र जी अग्रवाल १९०,१२।
रामदयाल जी ब्राह्मण १९०,१८।
रामनगर (काशी) ४४२,२४।
रामनारायण व्यास १८१‘६।
रामराज (रामसिंह राजा) ४४१,८।
रामसिंह (जयपुराधीश) ४४१,१७।
रामसिंह कूका ११०,१।

---

[1] 'ईसामसीह' शब्द भी देखें।

[2] 'श्रीराम' शब्द भी देखें।

महेन्द्र सरकार (डाक्टर) ३१२,८।

माद्री (पाण्डु-पत्नी) ४००,१३।४०९,८।

माधवप्रसाद ४४२,१७।

माधवाचारी[1] २३३,९।२३४,१।२३६,२३।२३७,३।

माधवाचार्य[2] ३६,५।३७,५।३८,१९।३९,३।४१,२१।

माधोसिंह (बेगलियावास के) १८९,३०।

मारवाड़ी लोग ४०१,६।

मार्टिन लूथर (द्रष्टव्य-'लूथर' शब्द)

मिथिला (देश) ३६९,१८।

मुंबई (बम्बई) ४४३,१५।

मुहम्मद कासम मौलवी ७८,२६।७९,२५।८०,८।८२,१३।९१,२१।९२,
२१।९७,८।

मुहम्मदी ६५,२८।

मूसा १२३,३।

मेनकादि अप्सरा ३४६,१४।

मैक्समूलर (देखो—मोक्षमूलर)

मैत्रेयी (ब्रह्मवादिनी) २८५,१४।४०५,१।

मोक्षमूलर (मैक्समूलर) १३९,५।२०५,१६।

मोरवी शहर ४३३,२।

मोहनलाल (पांड) २०६,२२।

मोहम्मद (हजरत) १०९,१४।

मोहम्मद साहब (पैगम्बर) ७९,१०।

मोहम्मद हुसैन महसूब ११७,३०।

मौलवी (अहमद हुसैन) पृष्ठ १०८ से पृ० ११६ तक।

मौलवी साहब (अब्दुर्रहमान) १९३,७ से पृ० २०६।

म्यूर साहब १६०,२२।१६४,३।१६६,८।

यम (व्यक्ति) ४००,१८।४०१,२।

यहूदी लोग ३६३,१५।

याकूब १२३,४।

---

[1] 'माधवाचार्य' शब्द भी देखें।

[2] 'माधवाचारी' शब्द भी देखें।

यादव कुल ४१२,२१ ।
यास्काचार्य ३९८,२६ ।
यीसू[1] ६५,२५ ।
युधिष्ठिर (पाण्डु-पुत्र) ४१०,६ ।
युधिष्ठिरादिक ६२,२ ।
यूनानी १३४,१ ।
योगशास्त्रकार (पतञ्जलि) ४२३,१० ।
योगानन्द स्वामी ४३९,९ ।
योरोप ३८०,१५ ।
योहन्ना (रसूल) १५६,७।१६३,१७।१६४,२६।१६७,७ ।
रघु (राजा) ३७९,८ ।
रघुनाथप्रसाद (कोतवाल) २५,१५ ।
रंगाचार्य ४४१,१६ ।
रणजीत सिंह ४०२,६ ।
रा० (राव साहब मसूदा) १८६,२२।१८७,२ ।
राजकोट ४४३,१७ ।
राजजी मेहता १९०,९ ।
राजपूत लोग ३८३,८ ।
राजमल जी कोठारी १९०,६ ।
राणा साहब (सज्जनसिंह) २०६,२३ ।
राम[2] (रामचन्द्र) ६५,२५।३७९,९ ।
रामगढ ४४२,९ ।
रामचन्द्र जी अग्रवाल १९०,१२ ।
रामदयाल जी ब्राह्मण १९०,१८ ।
रामनगर (काशी) ४४२,२४ ।
रामनारायण व्यास १८१‘६ ।
रामराज (रामसिंह राजा) ४४१,८ ।
रामसिंह (जयपुराधीश) ४४१,१७ ।
रामसिंह कूका ११०,१ ।

---

[1] ‘ईसामसीह’ शब्द भी देखें ।

[2] ‘श्रीराम’ शब्द भी देखें ।

रामानुज (आचार्य) ४२९,१४।
रामायण ३७९,११।
रायपुर (राजस्थान) १९०,२२।
रायपुर के ठाकुर १९०,२०।
रावण ३७९,१०।
रावणादिक २६६,१५।
राव साहब[१] (बहादुरसिंह जी) १७४,६।१७६,१।१८६,१२।१८९,२०।
१९०,६।
रुद्र (११ देव) ३८१,९।
रूमी १३४,१।
लक्ष्मण शास्त्री ७८,१।
लखनऊ ४४३,१०।
लखेसिंह (किपाय के) १९०,३।
लालजी पिरोहित (लोढाने के) १९०,११।
लाला भगत ४३७,१२।
लूथर (मार्टिन लूथर) ४१२,१६।
लोपामुद्रा ३५०,२३।
वज्रनाभ (राजा) ४१३,७।
वरुणास्त्र ३८९,३।
वल्लभ (आचार्य) ४२९,१४।
वसिष्ठ (ऋषि) ३१४,२।
वसु (८ देव) ३८१,१३।
वाचस्पति ५१,७।
वाचस्पत्यादिक ५६,१०।
वात्स्यायन ३९८,२६।
वात्स्यायनमुनि ६०,२८।३०७,१८।
वामनाचार्य ४०,२०।
वायव्यास्त्र ३८९,४।
वायु (ऋषि) ३१३,१।३८४,२५।
वायु (व्यक्ति) ४००,१८।४०१,२।

---

२. 'बहादुरसिंह' शब्द भी देखें।

वारुणास्त्र ३१२;३ ।

वाल्मीकि ३८२,१० ।

विक्रमादित्य (राजा) ४२७,१४ ।

विचित्र वीर्य ४००;८।४०४,११।४०८,६ ।

विदुर ४०८,१२।४१०,५ ।

विन्ध्याद्रि ३७०,३ ।

विरजानन्द स्वामी ४४०,२ ।

विराट् (ब्रह्मा का पुत्र) ३१४,२।३६४,९।३६९,९।३८४,२६ ।

विराट् राजा ४११,१६ ।

विशल्यौषधि ३१८,५ ।

वि० (विशुद्धानन्द स्वामी) २०७,१।२०८,३ ।

विशुद्धानन्द (स्वामी, सरस्वती) २७,८।२८,६।२९,१।३०,५।३४,१३।३५,७।३७,१७।३८,३।३९,१८।४०,९।४२,३।४३,१९।४४,७।२०६,१७।२१९,२०।२२०,१२।२२१,२।२२४,१४।२२५,४।२२६,७।२२७,५।२२८,१५।२२९,५।२३०,१५।२३२,२१।२३४,१३।२३५,६।२३७,२०।

विश्वकर्मा (शिल्पशास्त्रकार) ३६९,५ ।

विष्णु (देव) ६२,२३।३६९,९।३८२,१।३८३,२३ ।

वृद्धिचन्द्र पं०, श्रीमाली १७४,७।१८१,६।१८६,४।१८९,३।१९०,२९ ।

वृन्दावन ४४१,१६ ।

वृन्दावनचन्द्र मण्डल ४९,१५।५०,२।५८;१९ ।

वैशम्पायन (व्यास-शिष्य) ४१३,१२ ।

वैकुण्ठ (विष्णु की राजधानी) ३८२,१ ।

वैष्णव ६५,२७ ।

व्यास जी ६१,१७।६२,१।३१२,१८।४००;११।४०८,५।४१३,१२।४२७,१८ ।

शकुनि ४००,१५।४०९,३०।४१२,११ ।

शङ्कराचार्य ६१,१।२९०,१०।४१५,१४।४२५,१०।४२६,१।४२७,४ ।

शतघ्नी (तोप) ३११,४।३७४,९ ।

शन्तनु (राजा) ३७९,१९।३८०,१।४००,६ ।

शल्य ४००,९ ।

शाक्त ६५,२७ ।

शालिवाहन राजा ४२७,१४।
शाहजहांपुर ०४,८।
शिव[1] (देव) ६५,२५।४३५,१ ।
शिवकृष्ण वेदान्त सरस्वती २०९,१६।२३२,१३ ।
शिवदयाल ११०,१ ।
शिवसहाय ३४,३ ।
शुनः शेप ३४६,४।
शूलब्रेड (पादरी) १७४,२१ ।
शैतान ९६,१९।९७,३०।९८,२।९९,२।१६१,२६।१६४,८।१६६,९ ।
शैव (संप्रदाय) ६५,२७ ।
शैव-शाक्त-वैष्णवादिसम्प्रदाय ४४,३ ।
शौरीन्द्रमोहन ठाकुर ४४,१० ।
श्यामलदास (कविराज) २०६,२७ ।
श्योदान जी कोठारी १९०,७ ।
श्योदान जी मेहता १९०,११ ।
श्योबख्श जी १९०,१८।
श्योवाग जी कोठारी १९०,११ ।
श्रीकृष्ण[2] ७९,१३।२६८,११ ।
श्री राम[3] ७९,१२ ।
श्रौतसूत्रकार २९४,३।
श्वेत केतु ३९०,११ ।
सगर (राजा) ३७५,९।३७७,६ ।
सत्यवती ३८०,६।४००,६ ।
सनाई पर्वत १२३,३ ।
सम्मोहनास्त्र ३८९,३ ।
सरवाड़ (ज़ि० अजमेर) १७५,२२।
सरस्वती (नदी) ३७०,२ ।
सरी (इबराहीम की स्त्री) १२३,४ ।

---

१. 'महादेव' शब्द भी देखें ।

२. 'कृष्ण' शब्द भी देखो ।

३. 'राम' शब्द भी देखें ।

सहदेव (पाण्डु-पुत्र) ४०१,१।
सांख्य शास्त्रकार ३९९,१५।
सांख्यशास्त्रकार (कपिल) २६९,३।४२३,१२।
सात्यकि (यादव) ४१२,५।
साधु जी[1] (सिद्धकरण) १७५,२१।१७६,५।१७९,१७।१८०,२।१८५,२४।
सायला जोगी ४३७,११।
सिक्ख लोग ४०२,६।
सिद्धकरण[2] (साधु) १७५,१२।१७६,१३।१८१,३।
सिद्धपुर ४३७,२७।४३८,२।४३९,८।
सुजानमल कोठारी १८०,२।
सुधन्वा राजा ४२५,१०।
सिन्धु (नदी) ३७०,२।
सीता ३५०,२३।३६९,२०।
सुलभा २८५,१४।
सुश्रुत (ऋषि) ३८८,१०।
सोनमगरी[3] १८९,२१।
सोमसद् ३६९,९।
स्काट (पादरी) १३५,२०।
स्काट[4] साहब (पादरी) ८१,२६।८२,१।८९,७।९२,१७।९६,१६।१०२,
२९।१०३,१४।
स्वामी जी[5] (दयानन्द सरस्वती) २६,१५।२७,३।२८,१०।२९,५।३०,
७।३१,१।३२,५।३३,१७।३४,१।३५,३।३६,११।३७,११।३८,१।३९,
१।४०,१४।४१,६।४२,१६।५१,१०।५२,५।५३,५।५४,१०।५५,९।
५६,७।७७,२७।७८,२।९४,१।१०२,२७।१०३,४। पृ० १०८—११७।
१२०,५। पृ० १२१—१२८।१२८,२१।१७४,४।१७४,६।१७६,२।
१८०,३।१८६,१४।१८९,५। पृष्ठ १९३ से पृ० २०६।

---

[1] 'सिद्धकरण' शब्द भी देखें।

[2] 'साधुजी' शब्द भी देखें।

[3] मसूदा समीपस्थ सोन नामक मगरी=पहाड़ी।

[4] 'टी० जी० स्काट' (पादरी) 'स्काट पादरी', और 'पादरी साहब' शब्द देखो।

[5] 'दयानन्द सरस्वती', 'स्वामी जी' और 'पण्डित जी' शब्द देखें।

स्वामी दयानन्द सरस्वती[1] ८२,२६।८९,१५।९१,२८।९२,२३।९३,११।९४,५।९७,१९।११९,४।१३३,३।१३४,२१।१३६,२२।१३८,१७।१४०,२५।१४१,२५।१४३,३।१४५,२१।१४६,१८।१४७,२०।१४८,१९।१४९,२९।१५०,३२।१५२,१३।१५३,१९।१५५,७।१५६,१६।१५८,२७।१५९,३१।१६१,१९।१६२,३१।१६३,२।१६४,१७।१६५,१९।१६६,३१।

स्वायम्भुव मनु ३१४,३।३६४,१०।३७१,९।३९९,१।

स्वायम्भुव [मरीचि] ३७२,२।

हंसराज जी कोठारी १९०,१०।

हरिश्चन्द्र (राजा) ३४६,४।४४१,६ ।

हरिद्वार (हरद्वार) २३,२०।३३९,१६।३८३,१।४३९,२१।

हरिसिंह (मेड़ता के) १९०,३।

हरिसिंह (नलवा) ४०२,२०।४०३,१ ।

हरिहर तर्कसिद्धान्त ५०,२०।

हरे कृष्ण व्यास २०९,१५।२३८,१२।

हव्वा (आदम की पत्नी) ९८,९ ॥

हसबैण्ड (डाक्टर) ११९,८।१२०,१५।१२२;८।१२६,११।

हस्तिनापुर ४००,१६।

हिन्दु २९७ ५।३७०,१६।

हिन्दु शब्द का अर्थ २९७,६।३७०,१६।

हिन्दुस्तानी पादरी ८१,५।९१,१८।

हिन्दुस्तानी ईसाई ९३,८।

हिन्दुस्थान ३७०,१५।

हिन्दुस्थान शब्द का अर्थ ३७०,१७।

हिमालय ३६९,२।३७०,३।३८४,३।४३९,२२।

हिमालय के उच्च प्रान्त (प्रदेश) ३६१,४।३८२,१०।

हीरालाला जी तातेड़ १९०,७।

हुगली ४९,१५।

---

[1] १. 'द०', 'दयानन्द' 'दयानन्द स्वामी' 'दयानन्द सरस्वती', 'स्वामीजी' और 'पण्डित जी' शब्द देखें।

ऋ० द० के शास्त्रार्थ और प्रवचन सम्बन्धी

परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन

[**विशेष**—केवल पूना-प्रवचन संबन्धी परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन पूना-प्रवचन के अन्त में चौथे परिशिष्ट में पृष्ठ ४८०-४८२ तक देखें। उन से शेष नीचे दिये जाते हैं।]

पृष्ठ २७, टि० १ में बढ़ावें—सत्यार्थप्रकाश प्र० सं० (१८७५) के पृष्ठ १४७ पर ऋ० द० ने '**यद्वै किंचन**' वचन को छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति लिखा है। इसी पृष्ठ की २३ वीं पंक्ति में लिखा है—शङ्कराचार्य जी ने भी मनुस्मृति का ही प्रमाण लिखा है।

विशेष—शंकराचार्य से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती पर्यन्त सभी प्रमुख आचार्य '**यद्वै किञ्चन** वचन को मनुस्मृति के प्रामाण्य के लिये उद्धृत करते हैं। परन्तु प्रकरणानुसार इस वचन में स्मृत मनु वैवस्वत मनु है। उसके ऋग्वेद मं० ८ में २७-३१ तक सूक्त हैं। उनमें से धाय्या संज्ञक सामिधेनी मन्त्रों को ग्रहण करने का निर्देश है।

पृष्ठ २७, पं० २४—'**मै० सं० २।१।६**' के स्थान में '**मै० सं० २।१।५**' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ ८७, पं० १२-१३—'**जैन मत वाले और मुसलमान**……' इसके विषय में आगे पूना-प्रवचन पृष्ठ ३०९, पं० १५-२०; पृष्ठ ३८४, पं० १९, २० और पृष्ठ ४१५, पं० १३ में भी जैनियों और मुसलमानों के द्वारा ग्रन्थ जलाने का उल्लेख मिलता है।

पृष्ठ १२०, पं० ५—**साठ वाक्य**—पं० लेखराम जी ने ऋ० द० के जीवन चरित (हिन्दी सं०) पृष्ठ ७३८ में ६४ **वाक्य** लिखकर देने का उल्लेख किया है।

पृष्ठ १५३, पं० २१—'**द्वैतवादी वे होते हैं जो कि दो पदार्थ मानते हैं**'। पादरी स्काट का यह कथन अयुक्त है। द्वैत शब्द का अभिप्रेतार्थ है भेद, न कि दो संख्या। इसलिये ईश्वर, जीव, प्रकृति

तीन पदार्थों को माननेवाले माध्व मत के भी द्वैतवादी ही कहे जाते हैं। आर्यसमाज में भी 'अद्वैत' शब्द के अन्तर्गत 'द्वैत' शब्द को दो संख्या का वाचक मानकर **त्रैतवाद** शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह दार्शनिक पारिभाषिक अभिप्राय के विपरीत है। इतना ही नहीं, यदि 'अद्वैत' में दो संख्या का ही निषेध होवे तो ब्रह्म के दो से अधिक की व्यावृत्ति कैसे होगी। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती भी शास्त्रीय दृष्टि से **द्वैतवादी** ही हैं। पं० लेखराम कृत जीवन चरित (हिन्दी सं०) के अनुसार डुमरांव शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने कहा था—**हम द्वैत मानते हैं** (पृष्ठ २४१)।

पृष्ठ १९९, टि० १—**पूना-प्रवचन पृष्ठ** ६० तथा पृष्ठ २४०, टि० १ में पूना प्रवचन की जो पृष्ठ संख्या दी है, वह हमारे प्रथम संस्करण की है, जो भूल से छप गई है। प्रस्तुत संस्करण में यह विषय पृष्ठ ३३० (पं० १-६) में देखें।

पृष्ठ २४९, पं० १६—**'आयलें'** के स्थान में **'आपलें'** इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २५९, पं० १३—**'पृष्ठ ५७ को'** के स्थान में **'पृष्ठ ६७ को'** इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २५९, पं० १६—**'पृष्ठ ११३ को'** के स्थान में **'पृष्ठ ११२ को'** इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २८३, पं० २३—'चतुर्थ-प्रवचन में प्राण-तिष्ठा के प्रकरण में'—यह प्रकरण प्रस्तुत संस्करण में आगे पृष्ठ २९७ पर है। ऋ० द० ने पूना के आठवें प्रकरण के अन्त में पृष्ठ ३७० पर 'हिन्दुस्थान' शब्द का जो अर्थ किया है, उसे भी देखें।

पृष्ठ २९७, पं० ५-७—यहां 'हिन्दू' शब्द का जो अर्थ दर्शाया है, वैसा ही अर्थ आगे पृष्ठ ३७०, पं० १६-१८ में भी कहा है।

पृष्ठ ३३२, पं० १४—**'मतलब-सिन्धु'**—इस शब्द का व्यवहार 'पूना-प्रवचन' के पृष्ठ ३४३, पं० १५; पृष्ठ ४१०, पं० १५; पृष्ठ ४१३, पं० १८; बम्बई-प्रवचन' के पृष्ठ ५१४, पं० २१ तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' प्र० सं० (सन् १८७५) के पृष्ठ ३२८ पं० १३ में भी मिलता है। इस प्रकार ऋ० द० इस शब्द का प्रयोग सन् १८७४ से १८८२ तक बरा-

बर करते रहे। अतः यह उनका 'कोलाहल' तथा 'गप्प' शब्द के समान विशेष प्रयुक्त शब्द है।

पृष्ठ ३८२, टि० १—**केदारखण्ड**—इस विषय में हम दूसरे परिशिष्ट में लिखना चाहते थे, परन्तु अनवधानता से लिखना रह गया।

पृष्ठ ३८४, पं० २९—'**सामवेद की**' इसके स्थान में '**ऋग्वेद की**' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ ३९५ से पृष्ठ ३९७ तक योग के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसकी बम्बई-प्रवचन के **योग-विद्या** विषयक २४ वें प्रवचन (पृष्ठ ५१६-५२०) के साथ तुलना करें।

पृष्ठ ३९६, टि० ५ को इस प्रकार शोधें—'यमों के विषय में पूर्व व्याख्यान ३, पृष्ठ २७९,२८० में वर्णन उपलब्ध होता है। नियमों के सम्बन्ध में वहां वर्णन नहीं है। सम्भव है किसी अन्य प्रवचन में वर्णन किया हो और वह लिखने से छूट गया हो।

पृष्ठ ४१४, पं० ७—'[**मन्त्रादि**' के स्थान में '[**मन्वादि**' ऐसा शोधें।

पृष्ठ ४२१, पं० २१-२२—**सायुज्य सारूप्य सामीप्य सालोक्य**। चार प्रकार की मुक्ति के विषय में सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृष्ठ ३८५ तथा इसी पृष्ठ की टि० १ देखें। वेदविरुद्धमतखण्डन (दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ ४११) में भी इन चार प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख मिलता है।

पृष्ठ ४२५, पं० ४—'**दिन**' इसके आगे बढ़ावें—[रात्रि में आठ बजे]।

पृष्ठ ४४३, पं० ५—'आज पर्यन्त चार बार काशी गया'। जीवन चरित्रों के अनुसार सन् १८७४ में बम्बई जाने से पूर्व पांच बार काशी जाने का उल्लेख मिलता है—

१—आश्विन, सं० १९१३=सितम्बर, सन् १८५६।

२—कार्तिक, सं० १९२६=अक्टूबर, सन् १८६९।

३—चैत्र, सं० १९२७=अप्रैल, सन् १८७०।

४—फाल्गुन, सं० १९२८=दिसम्बर, सन् १८७१।

५—ज्येष्ठ, सं० १९३१=मई, सन् १८७४।

इन पांच बार की यात्राओं में से प्रकृत लेख में प्रथम वार की काशी-यात्रा को सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि वह यात्रा वैदिक-धर्म-प्रचार-सम्बन्धिनी नहीं थी।

पृष्ठ ५१६-५२० तक मुद्रित **योग-विद्या** विषयक प्रवचन की तुलना पूना-प्रवचन के ११ वें प्रवचन के पृष्ठ ३९४-३९७ के साथ करें।

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)-प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ३५-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३५-००।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग अप्राप्य है। द्वितीय भाग मूल्य २५-००।

३. **अथर्ववेद-भाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्यायकृत। १४-१७वां काण्ड २४-००, १८-१९ वां काण्ड २०-००, बीसवां काण्ड २०-००।

४. **तैत्तिरीय-संहिता**—सुन्दर सुदृढ़ कागज पर आफसेट से छपी पक्की सुन्दर जिल्द। मूल्य ४०-००।

५. **माध्यन्दिन—(यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। मूल्य २५-००।

६. **गोपथब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि। सब से शुद्ध और सुन्दर संस्करण। मूल्य ४०-००

७. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। मूल्य ३०-००

८. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कटमाधवकृत। व्याख्याकार—श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३०-००, साधारण २०-००

९. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक (संस्कृत–हिन्दी) २-००

१०. **वेदसंज्ञा-मीमांसा**— , ,, १-००

११. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक। नया संस्क० १५-००

१२. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा**—(संस्कृत-हिन्दी) यु० मी० ५-००

१३. **शिवशङ्करीय लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित **चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक-विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन ?** नाम के पांच निबन्ध हैं। मूल्य ५-००

१४. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा**—लेखक पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २०-०० साधारण १६-००

१५. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थ पूर्वक विस्तृत व्याख्या तथा अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम संस्करण १५-००, साधारण १०-००।

१६. **ईश-केन-कठ उपनिषद्**—हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य—ईशो० १-५०; केनो० १-५०; कठो० ३-५०।

१७. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत। सुन्दर, सजिल्द २५-००

१८. **संस्कार-विधि**—शताब्दी-संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १२-००, राज-संस्करण १५-००। सस्ता संस्करण मूल्य ५-२५; अच्छा कागज सजिल्द ७-५०।

१९. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों के पदार्थ और भावार्थ सहित। यु० मी० ३-००, सजिल्द ४-००

२०. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। मूल्य ०-६०

२१. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या। ०-५०

२२. **शिक्षा-सूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र शिक्षा-सूत्र २-५०

२३. **बौधायनश्रौत-(दर्शपूर्णमास)-सूत्र**—प्राचीन भवस्वामी और सायणाचार्य कृत दो व्याख्याओं के सहित। सुन्दर, सजिल्द मूल्य ४०-००

२४. **निरुक्त-श्लोक-वार्त्तिक**—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित श्लोकबद्ध विस्तृत व्याख्या। एक मात्र हस्तलेख के आधार पर डा० श्री पं० विजयपाल जी ने बड़े परिश्रम से इसका सम्पादन किया है। सुन्दर मोटा कागज, मनोरम छपाई वा पक्की जिल्द। मूल्य १००-००।

२५. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध-संस्करण। ३-००

२६. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ३-००

२७. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञ-व्याख्यया सहितम्। ८-००

२८. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग २०-००

२९. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग ८-००; द्वितीय भाग १०-००।

३०. The Tested Easiest Mathod of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत **'विना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि'** भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द मूल्य २५-००।

३१. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या यु० मी०। प्रथम भाग ५०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग २५-००।

३२. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द ८-००, सजिल्द १२-००

३३. **संस्कृत-धातु-कोश**—पाणिनीय धातुपाठ की धातुओं का अकारादि क्रम से गण, पद, आदि का निर्देश करते हुए हिन्दी में अथ दिये हैं। नवीन संस्करण। १०-००

३४. **दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम्**—लीलाशुकमुनि कृत। १०-००

३५. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ६-००

३६. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—संस्कृत रूपान्तर। यु० मी० १५-००

३७. **काशकृत्स्न व्याकरणम्**—संपादक और व्याख्याता यु० मी० ६-००

३८. **शब्दरूपावली**—विना रटे रूपों का ज्ञान करानेवाली। २-००

३९. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द ४-००

४०. Aryabhivinaya—English Translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। अजिल्द ४-००, सजिल्द ६-००

४१. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)**—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग १२-५०।

४२. **श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम्**—श्री पं० तुलसीराम स्वामी ६-००

४३. **मानवता की ओर**—श्री शान्तिस्वरूप जी कपूर के विविध विचारोत्तेजक सरल भाषा में लिखे लेखों का संग्रह। मूल्य ४-००।

४४. **अगस्य पन्थ के यात्री को आत्म-दर्शन**—चंचल बहिन। ३-००

४५. **सत्याग्रह-नीति-काव्यम्**—आ० स० सत्याग्रह १९३९ में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित। हिन्दी व्याख्या सहित। ५-००

४६. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया संस्करण। तीन भागों में। पूरा सैट ७५-००

४७. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए०। सजिल्द १२-००

४८. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस संस्करण में ऋषि दयानन्द के अनेक उपलब्ध नवीन पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गए हैं। दो भागों में ऋ० द० के पत्र हैं। तीसरे वा चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को लिखे गये पत्रों का संग्रह है। भाग–१ का ३५-००, भाग–२ का ३५-००, भाग–३ का ४०-००, भाग–४ का ३०-००।

४९. **विरजानन्द-चरित**—लेखक—भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्ध संस्करण। ३-००

५०. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित**—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। १-००

५१. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य को देन—लेखक–डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए०। सजिल्द १२-००

५२. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार–पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग मूल्य ४०-००, द्वितीय भाग ३०-००, राजसंस्क० ४०-००, तृतीय भाग ५०-००, चौथा भाग यन्त्रस्थ।

५३. नाडीतत्त्व-दर्शनम्—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत हिन्दी व्याख्या सहित। सजिल्द ४०-००।

५४. सत्यार्थप्रकाश—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) —राजसंस्करण १३ परिशिष्ट, ३५०० टिप्पणियां, तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित मूल्य ३०-००, सस्ता संस्करण २४-००।

५५. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। मूल्य लागत मात्र २५-००

५६. दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन—इस में प्रसिद्ध प्रामाणिक ८ शास्त्रार्थों, पूना के १५ और बम्बई के २४ प्रवचनों का संग्रह है, और अनेक परिशिष्ट दिये गये हैं। बढ़िया कागज सुन्दर छपाई वा. जिल्द लागत मात्र मूल्य ३०-००।

५७. दयानन्द-शास्त्रार्थ-सग्रह—साधारण संस्करण। मूल्य १०-००।

५८. पूना-बम्बई-प्रवचन—साधारण संस्करण। मूल्य १०-००।

५९. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य १-००

६०. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋ० द० कृत। मूल्य १-००

६१. आर्योद्देश्यरत्नमाला—,, ,, ०-५०

६२. अष्टोत्तरशतनाममालिका—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या। पं० विद्यासागर शास्त्री। ६-००

६३. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख—संकलयिता यु० मी०। मूल्य ८-००

६४. आर्य-मन्तव्य-प्रकाश—म० म० पं० आर्यमुनि। प्रथम भाग ५-०० द्वितीय भाग ५-००।

६५. Vegetarianism V/s Meet-Eating–कर्मनारायण कपूर ०-५०

शीघ्र मुद्र्यमाण ग्रन्थ

१. कात्यायन-गृह्यसूत्रम्। २. कातीयाऽऽधान-पद्धति।

३. ऋक्सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्य कृत व्याख्या सहित।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा)

89173

GURUKUL KANGRI LIBRARY
Acces on 10-6-84
Class on 24-8-86
Cat on
Tag etc. 25-8-86
Checked 29-8-86
Any Other

E.A.B.
UKsh
12.9.86

Entered in Database
Signature with Date